अकबर

लेखक

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल

प्रथम संस्करण : १९५७

प्रस्तुत संस्करण : १९९७

मुख्य वितरक

१. किताब महल एजेन्सीज,
८४, के० पी० कक्कड़ रोड,
इलाहाबाद -२११००३
फोन : ४००५४०

२. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स,
२८, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नई दिल्ली -११०००२
फोन : ३२७३२३०
३२६२४४२
३२८६६३५

३. किताब महल एजेन्सीज,
अशोक राजपथ,
पटना– ८००००४
फोन : ६५०५६६

मूल्य : १८०.००

प्रकाशक : किताब महल, २२-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद

मुद्रक : सेन्चुरी प्रिन्टर्स, २२ सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद

कम्प्यूटर मुद्रण : अम्बे कम्प्यूटर सेंटर, १६/१५ नई बस्ती सोहबतियाबाग, इलाहाबाद - २११००६ फोन : (०५३२) ६६१४०५

समर्पण

आधुनिक युग में अकबर को ठीक से समझने का प्रयत्न

करने वाले भारतीय

शम्शुल्-उल्मा मौलाना महम्मद हुसेन "आजाद"

और

अकबर की विशद जीवनी के लेखक

विन्सेन्ट स्मिथ को

कृतज्ञतापूर्वक

प्राक्कथन

हिन्दी में स्वनामधन्य कवि रहीम की कृतियों के आकर्षण तथा उनके मकबरे के दर्शन ने इस महाकवि की छोटी सी जीवनी लिखने की प्रेरणा दी। उस वक्त ख्याल नहीं था, कि "उँगली पकड़ते पहुँचा पकड़ने" की कहावत चरितार्थ होगी। अकबर के एक रत्न के बारे में लिख लेने पर दूसरे रत्नों पर कलम उठने लगी। फिर सोचा, हिन्दी में अकबर पर कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जिससे उस महापुरुष को ठीक तरह से समझा जा सके। (श्री रामचन्द्र वर्मा ने आजाद की पुस्तक "दरबार-अकबरी" का हिन्दी अनुवाद सालों पहले कर दिया।) आजाद पहले भारतीय है, जिन्होंने अकबर के साथ न्याय करने के लिए अपनी प्रभावशालिनी लेखनी को उठाया। उसमें अनेक गुण रहते भी कुछ कमियाँ थी, क्योंकि वह बहुत-कुछ उन पाठकों के सामने अकबर की वकालत करना चाहते थे, जो अकबर को इस्लाम का दुश्मन समझ कर उसके साथ घृणा करते थे। अकबर की बढ़िया जीवनी विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखी। यद्यपि पीछे की पुस्तकें और जानकारी देनेवाली है, तो भी स्मिथ की पुस्तक का मूल्य कम नहीं हुआ है। मैंने इन दोनो पुस्तकों से बहुत अधिक सहायता ली है।

अशोक के बाद हमारे देश में दूसरा महान् ध्रुवतारा अकबर ही दिखाई पड़ता है। कुषाण कनिष्क (ईसवी प्रथम सदी) अकबर से भी बड़ा विजेता और भारतीय संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित था। पर, उसे उन पहाड़ों के तोडने की आवश्यकता नहीं पड़ी, जिनसे अकबर को मुकाबिला करना पड़ा। समुद्रगुप्त (ईसवी चौथी सदी) बहुत बड़ा विजेता था, संस्कृति और कला का बड़ा प्रेमी तथा उन्नायक था। पर, उसने करीब-करीब भारत के सारे भाग को एकराष्ट्र कर दिया था। पर, उसके सामने भी वह दुर्लंघ्य भयंकर मार्ग-रोधक पर्वतमालायें नही आई, जो अकबर के सामने थीं। यही बात हर्षवर्धन (ईसवी सातवीं सदी) के बारे में है। उसके बाद तो कोई ऐसा पुरुष नहीं दीख पड़ता, जिसका नाम अकबर के सामने लिया जा सके।

अकबर सही अर्थों में देशभक्त, अपने राष्ट्र का परम उन्नायक था। अकबर से साढ़े तीन शताब्दी पहले भारत के एक बड़े भाग पर इस्लामिक शासन कायम हुआ। भारत की बहुत-सी सामाजिक और राजनीतिक कमजोरियाँ थीं। इन्हीं कमजोरियों के कारण उसे मुट्ठी भर विदेशियों के सामने पराजित होना पड़ा, उनका जूआ अपनी गर्दन पर उठाना पड़ा। उससे पहले भी यवनों, शकों, हेफ्तालों (श्वेत हूणों) ने भारत पर शासन किया था, पर थोड़े ही समय में वह भारतीय

संस्कृति से प्रभावित हो यहाँ के गण मे विलीन हो गये और उनकी उपस्थिति रो राष्ट्रीय जीवन के छिन्न-भिन्न होने का डर नही रह गया । पर, मुस्लिम विजेता भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर जनगण मे विलीन होने के लिए तैयार होकर नही आये थे, बल्कि जनगण को अपने मे विलीन करना चाहते थे और इस शर्त के साथ, कि तुम अपनी सस्कृति का चिन्ह भी नही रहने दोगे । भारत जैसे अत्यन्त उन्नत और प्राचीन संस्कृति के धनी देश के लिए यह चैलेंज ऐसा था जिसे वह मान नहीं सकता था । इस प्रकार हमारा देश सस्कृतियों के दो दल मे बॅट कर गुप्त या प्रकट भयंकर गृह-युद्ध का अखाड़ा बन गया । मुस्लिम शासन ने अपने जीवन में विरोधी सस्कृति के दल से लोगों को खींच कर अपने को मजबूत करने का प्रयत्न किया । तीन सदियॉ बीतते-बीतते भारतीय जनगण का काफी भाग उधर चला गया । दोनो का संघर्ष निरन्तर चलता रहा । यह मालूम होने में कठिनाई नही थी, कि दूसरे को खतम करके केवल एक संस्कृति को यहॉ रहने देना आसान काम नही था, इसके लिए युग चाहिये और जब तक वह समय नहीं आता, तब तक खूनी गृह-युद्ध चलता रहेगा, हिन्दू सांस्कृतिक दल के सैनिक अगुवा अपनी फूट की बीमारी से मुक्त होने के लिए तैयार नहीं थे और जब तक यह नहीं हो, तब तक उनकी वीरता और कुर्बानी का कोई लाभ नहीं था । हिन्दू धर्म के धार्मिक अगुवों के दिमाग मे गोबर भरा हुआ था । वह दूर तक सोचने की शक्ति नहीं रखते थे । आक्रमणात्मक नहीं प्रतिरक्षात्मक युद्ध लड़ना ही उनका ढंग था । जात-पाँत की जंजीरों को मजबूत करके अपनी जनता के 80 प्रतिशत लोगो को अपनी आन के लिए मरने का भी वह अधिकार देने को तैयार नहीं थे । म्लेच्छ के हाथ का एक घूँट पानी यदि किसी के गले के नीचे उतर गया, तो वह पतित है—जिसका अर्थ है शत्रुदल की सेना का सिपाही । उनके पक्ष में सिर्फ यही कहा जा सकता है, कि उन्होंने देश की सांस्कृतिक निधियों की बड़ी तत्परता से रक्षा की ।

मुस्लिम पक्ष के राजनीतिक अगुवा—सुल्तान, बादशाह—अपने प्रतिपक्षियों से कुछ बेहतर स्थिति मे थे । वह सामरिक रूढ़िवाद से उतने ग्रस्त नहीं थे । राजवंश के पुराने होने पर उनमें भी हिन्दू राजनीतिक अगुवों की तरह ही भयंकर फूट पड़ जाती थी, जिससे उनकी शक्ति निर्बल हो जाती थी । पर, इसी समय मध्य-एशिया से कोई नया विजेता आ टपकता और सभी लड़ने वाले उसके पक्ष में हो जाते । इस प्रकार इस पक्ष का पलड़ा भारी हो जाता । मुस्लिम पक्ष के धार्मिक अगुवा— मुल्लों को काम के लिए एक बड़ा सुभीता यह था, कि विरोधी के गले में एक बूँद पानी उतार कर वह उसे अपना बना लेते थे । पकी हुई फसल काटने का उन्हें कितना सुभीता था ? इसी से हिन्दू काफी संख्या में मुसलमान

हो गये । लेकिन यह सौदा बड़ा मँहगा था । देश मे समय-समय पर खून की नदियाँ बहती थी और एक ही देश के निवासी को दूसरे के ऊपर कभी विश्वास नहीं कर सकते थे । मुस्लिम पक्ष के पास हथियार मौजूद थे, लेकिन उतने नहीं, कि नजदीक भविष्य मे पूरी सफलता की आशा हो ।

जिस तरह चौबीस घंटे खुली या प्रकट लडाई, एक दूसरे के प्रति निराबाध घृणा चल रही थी, उससे हम मानवता से दूर हटते जा रहे थे । हर वक्त विदेशी आक्रान्ता के आ जाने का खतरा रहता था । तैमूर, नादिरशाह, अब्दाली के आक्रमणो ने सिद्ध कर दिया, कि विजेताओं - आक्रान्ताओं की तलवारें हिन्दू - मुसलमान का फर्क नहीं करतीं । मुसलमानों और हिन्दुओं के धार्मिक नेताओं में कुछ ऐसे भी पैदा हुए, जिन्होंने रामखुदैया के नाम पर लड़ी जाती इन भयंकर लड़ाइयों को बन्द करने का प्रयत्न किया । ये थे मुस्लिम सूफी और हिन्दू सन्त । पर इनका प्रेम सन्देश अपनी खानकाहो और कुटियो में ही चल सकता था, लडाई के मैदान में उनकी कोई पूछ नहीं थी । लाखों आदमी अपने-अपने धर्म के झण्डो के नीचे कटने-मरने के लिए तैयार थे । धर्म के नामपर आग लगाने वालों के इशारे पर जब दोनों ओर से कटाकटी होने लगती, तो सन्तों - सूफियों को कोई नहीं पूछता था । दोनो दल कहते थे - जो हमारे साथ नहीं, वह हमारा दुश्मन है । सन्तों - सूफियो के शांति और प्रेम के सन्देश ने हजारो-लाखो के मन को शान्ति प्रदान की, पर वह देश की सामाजिक समस्या को हल करने में असमर्थ रहा ।

भारत में दो संस्कृतियों के संघर्ष से जो भयंकर स्थिति पिछली तीन - चार शताब्दियों से चल रही थी, उसको सुलझाने के लिये चारों तरफ से प्रयत्न करने की जरूरत थी और प्रयत्न ऐसा, कि उसके पीछे कोई दूसरा छिपा उद्देश्य न हो । संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास हमारे देश में अनेक बार किया गया । पर, जो समस्या इन शताब्दियों में उठ खड़ी हुई थी, वह उससे कहीं अधिक भयंकर और कठिन थी । यह इससे भी मालूम है, कि आखिर उन्हीं के कारण बीसवीं सदी के मध्य में देश के दो टुकड़े हुए और वह भी खून की नदियों के बहाने के साथ ।

अकबर ने इसी महान् समन्वय का बीड़ा उठाया और आगे के पृष्ठों में हम देखेंगे, कि वह बहुत दूर तक सफल हुआ । अन्त में उन सफलताओं को मिटा देने के बाद भी उससे बढ़कर कोई दूसरा रास्ता आज भी दिखाई नहीं पड़ता । हम देखेंगे, जिन बातों के लिये अकबर को दोनों दल बदनाम करते थे, उन्हें अब हम चुपचाप अपनाये जा रहे हैं । हिन्दू-मुसलमान दोनों की संस्कृति —साहित्य, संगीत, कला, ज्ञान-विज्ञान का सब आदर करें, सभी उन्हें स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखें, यह पहला काम था, जिसे अकबर ने सबसे

पहले शुरू किया । फिर अकबर ने चाहा, दोनों की मिलकर एक जाति हो जाय—एक हिन्दी या भारतीय जाति बन जाये । इसके लिये उसने दोनों में रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित किया । हिन्दू अपनी जड़ता के कारण उसे अपनाने में पीछे रहे । मुसलमानों मे एकतरफा व्यापार पहले चला आता था, इसलिए उन्हे इतराज नहीं हो सकता था । अकबर ने अपनी सदिच्छा को साबित करने के लिये मुल्लों के सामने काफिर तक होना स्वीकार किया । ऐसा कदम उठाया, जिससे उसके तख्त और सिर दोनों खतरे में पड़ गये । पर, उसने दाँवपर सब कुछ रखना मंजूर किया । उसकी देशभक्ति राष्ट्रप्रेम अद्धितीय था । पर, जैसा कि आगे की पंक्तियों से मालूम होगा, समस्या इतनी जबर्दस्त थी, कि अकबर जैसे अद्धितीय महापुरुष का दीर्घ जीवन भी उसको सुलझाने के लिये पर्याप्त नहीं था । आगे ले चलने के लिये और वैसे दो महापुरुषों की आवश्यकता थी । काल और समाज से वह उल्टे जाना चाहता था और दोनों उसका जी जान से विरोध करने के लिये तैयार थे ।

अकबर का रास्ता आज बहुत हद तक हमारा रास्ता बन गया है । अकबर 16 वीं सदी नहीं, बल्कि 20 वीं सदी का हमारे देश का सांस्कृतिक पैगम्बर है । पर, आज भी इसे समझने वाले हमारे देश में कितने आदमी हैं ? कितने यह मानने के लिये तैयार है, कि अशोक और गाँधी के बीच में उनकी जोड़ी का एक ही पुरुष हमारे देश में पैदा हुआ, वह अकबर था ? अकबर को इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उसका ही रास्ता एकमात्र रास्ता था, जिसके द्वारा हमारा देश आगे बढ़ सकता था । आज से 400 वर्ष पहले (14 फरवरी 1556) अकबर भारत के शासन का सूत्रधार हुआ । फरवरी में किसी को मालूम भी नहीं हुआ, कि भारत के लिये यह एक महान् घटना थी । आज से आधी शताब्दी बाद 2005 ई० में अकबर का निर्वाण हुए 400 वर्ष बीत जायेंगे । आशा करनी चाहिए, उस वक्त इस दिन के महत्व को हमारा देश मानेगा ।

यदि इस पुस्तक से हमारे लोग अकबर को कुछ पहचान सकें, तो मैं अपने प्रयत्न को सफल मानूँगा ।

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का नाम इतिहास-प्रसिद्ध और अमर विभूतियों में गिना जाता है । राहुल जी की जन्मतिथि 9 अप्रैल, 1893 ई० और मृत्युतिथि 14 अप्रैल 1963 ई० है । राहुल जी का बचपन का नाम केदारनाथ पाण्डे था । बौद्ध दर्शन से इतना प्रभावित हुए कि स्वयं बौद्ध हो गये । 'राहुल' नाम तो बाद में पड़ा —बौद्ध हो जाने के बाद । 'सांकृत्य' गोत्रीय होने के कारण उन्हें राहुल सांकृत्यायन कहा जाने लगा । राहुल जी का समूचा जीवन घुमक्कड़ी का था । भिन्न-भिन्न भाषा साहित्य एवं प्राचीन संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं का अनवरत अध्ययन-मनन करने का अपूर्व वैशिष्ट्य उनमें था । प्राचीन और नवीन साहित्य-दृष्टि की जितनी पकड़ और गहरी पैठ राहुल जी की थी—ऐसा योग कम ही देखने को मिलता है । घुमक्कड़ जीवन के मूल में अध्ययन की प्रवृति ही सर्वोपरि रही । राहुल जी के साहित्यिक जीवन की शुरूआत सन् 1927 ई० से होती है । वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार उनके पाँव नहीं रूके, उसी प्रकार उनकी लेखनी भी निरन्तर चलती रही । विभिन्न विषयों पर इन्होंने 150 से अधिक ग्रंथों का प्रणयन किया है । अब तक उनके 130 से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके है । लेखो निबन्धों एवं भाषणों की गणना एक मुश्किल काम है ।

राहुल जी के साहित्य के विविध पक्षों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी पैठ न केवल प्राचीन-नवीन भारतीय साहित्य में थी, अपितु तिब्बती, सिंहली, अंग्रेजी, चीनी, रूसी, जापानी आदि भाषाओं की जानकारी करते हुए तत् साहित्य को भी उन्होंने मथ डाला । राहुल जी जब जिसके सम्पर्क में गये, उसकी पूरी जानकारी हासिल की । जब से साम्यवाद के क्षेत्र में गये, तो कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन आदि के राजनीतिक दर्शन की पूरी जानकारी प्राप्त की । यही कारण है कि उनके साहित्य में जनता, जनता का राज्य और मेहनतकश मजदूरों का स्वर प्रबल और प्रधान है ।

राहुल जी बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न विचारक हैं । धर्म, दर्शन, लोकसाहित्य, यात्रासाहित्य, इतिहास, राजनीति, जीवनी, कोश, प्राचीन, तालपोथियों का सम्पादन आदि विविध क्षेत्रों में स्तुत्य कार्य किया है । राहुल जी ने प्राचीन के खंडहरों से गणतंत्रीय प्रणाली की खोज की । 'सिंह सेनापति' जैसी कुछ कृतियों में उनकी यह अन्वेषी वृति देखी जा सकती है । उनकी रचनाओं में प्राचीन के प्रति आस्था, इतिहास के प्रति गौरव और वर्तमान के प्रति सधी हुई दृष्टि का समन्वय देखने को

मिलता है । यह केवल राहुल जी थे जिन्होंने प्राचीन और वर्तमान भारतीय साहित्य-चिन्तन को समग्रत: आत्मसात् कर हमे मौलिक दृष्टि देने का निरन्तर प्रयास किया है । चाहे साम्यवादी साहित्य हो या बौद्ध दर्शन इतिहास-सम्मत उपन्यास हों या 'वोल्गा से गंगा' की कहानियॉ—हर जगह राहुल जी की चिन्तक वृति और अन्वेषी सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण मिलता जाता है । उनके उपन्यास और कहानियाँ बिलकुल एक नये दृष्टिकोण को हमारे सामने रखते है ।

सम्भवत: यह कहा जा सकता है । कि राहुल जी न केवल हिन्दी साहित्य अपितु समूचे भारतीय वाङ्मय के एक ऐसे महारथी हैं जिन्होंने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य जिन पर साधारणत: लोगों की दृष्टि नही गई थी । सर्वहारा के प्रति विशेष मोह होने के कारण अपनी साम्यवादी कृतियों मे किसानों, मजदूरो और मेहनतकश लोगों को बराबर हिमायत करते दीखते है ।

विषय के अनुसार राहुल जी की भाषा-शैली अपना स्वरूप निर्धारित करती है । उन्होंने सामान्यतः सीधी-सादी सरल शैली का ही सहारा लिया है जिससे उनका सम्पूर्ण साहित्य—विशेषकर कथासाहित्य—साधारण पाठकों के लिए भी पठनीय और सुबोध है ।

प्रस्तुत ग्रंथ 'अकबर' में तत्कालीन सभी सामाजिक पहलुओं की सविस्तार चर्चा की गई है । ग्रंथ मे कुल 24 अध्याय है जिनमें पूर्वार्द्ध के 14 अध्यायों में अकबर के सहकारी और उसके विरोधियों का यथातथ्य लेखा जोखा प्रस्तुत किया गया है । हेमचन्द्र (हेमू), सैयद मुहम्मद जौनपुरी, मियाँ अब्दुल्ला नियाजी, शेख अल्लाई (मुस्लिम साम्यवादी), मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी, बीरबल, तानसेन, शेख अब्दुन नवी, हुसेन खाँ टुकड़िया, शेख मुबारक, कविराज फैजी, अबुल फजल, मुल्ला बदायूँनी, टोडरमल, रहीम, मानसिंह जैसे सहयोगियों की अलग-अलग अध्याय में व्यापक चर्चा मिलती है । इन सहकारियों का जीवन-परिचय ही नहीं, बल्कि सम्राट अकबर के साथ इनके गठजोड़ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक गंभीर विश्लेषण प्रामाणिक आधार पर अत्यन्त गहराई के साथ प्रस्तुत हैं । उत्तरार्ध के 10 अध्यायों में अकबर महान् के आरम्भिक जीवन से लेकर अन्तिम जीवन तक के सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को बहुत ही विस्तार के साथ और ठोस प्रामाणिक आधारों पर उजागर करने की चेष्टा की गई है । उसके युद्धों का वर्णन, उसकी विजयों, उसकी आकृति, पोशाक, दिनचर्या और उसके स्वभाव, भोजन, मद्यपान, शिकार, विनोद आदि उसके जीवन के विविध पक्षों पर बड़ी ईमानदारी से विस्तृत प्रकाश डाला गया है । कहा जा सकता है कि अकबर के बारे में शायद ही किसी दूसरे ग्रंथ में इतनी विशद और बेलाग सचाई प्राप्त हो सके । अकबर का समय भारतीय इतिहास में साहित्य और कला के क्षेत्र

में स्वर्ण-काल कहा जा सकता है । स्वयं राहुल जी के शब्दो मे "भारत मे दो संस्कृतियो के संघर्ष से जो भयंकर स्थिति पिछली तीन-चार शताब्दियों से चल रही थी, उसको सुलझाने के लिए चारों तरफ से प्रयत्न की जरूरत थी और प्रयत्न ऐसा, कि उसके पीछे कोई दूसरा छिपा उद्देश्य न हो । संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास हमारे देश मे अनेक बार किया गया । पर जो समस्या इन शताब्दियों मे उठ खड़ी हुई थी, वह उससे कही अधिक भयंकर और कठिन थी । अकबर ने इसी महान् समन्वय का बीड़ा उठाया और बहुत दूर तक सफल हुआ । . . . . अकबर का रास्ता आज बहुत हद तक हमारा रास्ता बन गया है । अकबर 16 वी सदी का नही, बल्कि बीसवी सदी का हमारे देश का सांस्कृतिक पैगम्बर है ।"

विषय सूची

पूर्वार्ध (अकबर के संहकारी और विरोधी)

उत्तरार्ध (अकबर)

पूर्वार्द्ध
(अकबर के सहकारी और विरोधी)

१. देश की स्थिति

मगध या पूर्व की प्रभुता के साथ भारत का इतिहास आरम्भ होता है। प्रायः एक हजार वर्ष तक मगध (बिहार) भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा। फिर ईसवी छठी शताब्दी से १२ वीं शताब्दी के अन्त तक कन्नौज केन्द्र बना जिसके वैभव को लूटने वाले तुर्की ने दिल्ली को विशाल भारतीय राज्य की राजधानी बनने का सौभाग्य प्रदान किया। तुर्क असाधारण लड़ाकू थे, उनमें गजब की एकता थी। यह भी निर्विवाद है कि इस्लाम के झण्डे ने उनकी शक्ति को दुगुना कर दिया था। लेकिन, यह समझना अवश्य मुश्किल है कि कैसे कुछ सैनिक भारत के इतने बड़े भाग पर अधिकार जमाने में सफल हुए। वस्तुतः जनसाधारण का हड्डी-मांस के ढेर से अधिक महत्त्व नहीं यदि उनमें सैनिक-शक्ति और एकता नहीं। उस समय हमारा देश अधिकतर ऐसा ही था।

गुलाम, खिलजी और तुगलक तीन तुर्क राजवंशों के बाद दिल्ली की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। मुसलमानों के जौनपुर, बंगाल, बहमनी जैसे शक्तिशाली अलग-अलग राज्य कायम हो गए। दिल्ली के तुर्क जैसे अपने को एकमात्र इस्लाम का अलमबर्दार कह सकते थे, वैसे यह छिन्न-भिन्न दिल्ली से बने मुस्लिम राज्य नहीं कह सकते थे। दिल्ली भारत का इस्लामिक केन्द्र रही। बड़े-बड़े धर्माचार्य और आलिम दिल्ली के थे, वह दिल्ली छोड़ दूसरे का समर्थन नहीं कर सकते थे। दिल्ली यह बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थी कि जौनपुर आदि के शासक अपने को बादशाह घोषित करके दिल्ली को अँगूठा दिखलायें। दिल्ली जेहाद के नाम पर अपने झण्डे के नीचे लड़ाकू देशी मुसलमानों को एकत्रित कर सकती थी। जौनपुर दिल्ली के मुकाबिले में ऐसा नहीं कर सकता था। उसने और उसकी तरह दूसरी मुस्लिम सल्तनतों ने अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए एक दूसरा शक्ति-स्रोत ढूँढ़ निकाला: हम दिल्ली के विदेशियों के खिलाफ हैं। मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भी मिलकर हम दिल्ली के अत्याचार का मुकाबिला करेंगे। जौनपुर ने इस तरह हिन्दू तलवारों का सहारा लिया और उसकी शक्ति इतनी मजबूत हो गई थी कि एक शताब्दी से ऊपर तक दिल्ली उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकी। जौनपुर में वर्तमान उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार का अधिक भाग शामिल था। मुहम्मद तुगलक का ही दूसरा नाम जौनाशाह था जिसके नाम पर जौनपुर शहर बसा था। हो सकता है, गोमती के किनारे पहले भी यहाँ कोई नगर रहा हो, पर हमें उसका पता नहीं है। जौनपुर मुसलमान बादशाहत की राजधानी था। लेकिन, वह ऐसी बादशाहत थी जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों

शामिल थे। हिन्दू दरबार में बराबर का दर्जा रखते थे। अभी दिल्ली में यह स्थान मिलने में डेढ़ सौ वर्षों की देर थी जब अकबर शासन की बागडोर अपने हाथ में सँभालता। लेकिन बागडोर सँभालते ही उसने दिल्ली छोड़कर सीकरी और आगरा को अपनी राजधानी बनाया। १५वीं शताब्दी जौनपुर के प्रताप की शताब्दी थी। जौनपुर ने उस भूमि को नहीं भुलाया जिसमें वह अवस्थित था, वहाँ की सस्कृति को नही भुलाया जिसमें वह साँस ले रहा था। भारतीय संगीत को उसने प्रश्रय दिया। अवधी भाषा और साहित्य का भी कितना समर्थन किया, इसका प्रमाण यही है किं अवधी के प्रथम महान् कवि मंझन, कुतबन, जायसी जौनपुर दरबार के थे। सभी मुसलमान थे। लेकिन उन्होंने अपने देश की भाषा, काव्य-शैली को अपनाया। जौनपुर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक बना। मुसलमानों ने अपने अहं को कम किया। हिन्दुओं ने अपने खोये आत्म-सम्मान को प्राप्त किया। एक ऊपर से एक सीढ़ी नीचे उतरा, दूसरा नीचे से एक सीढ़ी ऊपर उठा। दोनों कंधे से कंधा मिला कर खड़े हो गये। सचमुच ही इनके सामने भला दिल्ली कैसे आँख दिखा सकती थी ?

जौनपुर में दूसरी जगहों के भी कितने ही सूरमा लोग आ के बस गये थे। उनमें पठान भी थे, तुर्क भी थे, सैयद भी थे। इन्हीं में एक पठान नौजवान था जिसने जौनपुर के वातावरण में साँस लेकर उससे बहुत-कुछ सीखा। उसने समझ लिया कि सिर्फ तलवार काफी नहीं है, सिर्फ हिम्मत काफी नहीं है, बल्कि देश की मिट्टी से एकता स्थापित करना अजेय बनने के लिए आवश्यक है। देश की मिट्टी से एकता स्थापित करना तभी हो सकता है जब कि वहाँ के सभी लोगों के साथ भाईचारा स्थापित हो। उस जवान को मालूम था कि दिल्ली के आसपास के लोग भले ही किसी समय आग-पानी से खेलते रहे हों, वहाँ के हिन्दू अनेक रणों के सूरमा रहे हों, पर अब शताब्दियों के संघर्ष ने उनको ढीला कर दिया। पूर्व में अब भी वह आग मौजूद है। वहाँ के लोग लाठी और तलवार के धनी हैं। हाँ, अवधी और भोजपुरी दोनों के बोलने वाले लड़ने-भिड़ने में सबसे आगे रहने वाले थे। अँग्रेजों ने इसी गुण को पहचान कर उन्हें सबसे पहिले बड़ी संख्या में अपनी फौजों में सिपाही रखा। इन्हीं के बल पर वह काबुल और माँडले तक धावा बोलते रहे। १८५७ में जब ये लोग बिगड़ गये, तो एक बार अँग्रेजों को चारों ओर अँधेरा दिखलाई पड़ने लगा था।

उक्त तरुण ने आगे चल कर जौनपुर की चाकरी पर संतोष नहीं किया और दुनिया में उसने अपने लिए अलग स्थान बनाया। भोजपुरियों का आरा जिले का सहसराम उसका अपना केन्द्र हुआ। उनकी वीरता और उदार विचारों से आकृष्ट होकर भोजपुरी सैनिक और सामन्त दौड़-दौड़ कर उसके झण्डे के नीचे

खड़े होने लगे । बहुत समय नहीं बीता कि वह बिहार का शाह बन गया और शेरशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ । बाबर ने हिन्दुस्तान को जीता था, लेकिन उसके लड़के हुमायूँ को हरा कर शेरशाह ने हिन्दुस्तान से भागने के लिए मजबूर किया। एक के बाद एक हार खाते हुए सिन्धनद से भी पश्चिम भाग कर हुमायूँ को क्या आशा हो सकती थी कि वह फिर हिन्दुस्तान लौट कर गद्दी पर बैठेगा । शेरशाह के जीते जी हुमायूँ को यह नसीब नहीं हुआ । भोजपुरियों की तरह अवधी भाषी भी शेरशाह के सहायक हुए, क्योंकि शेरशाह को जौनपुर का अभिमान था ।

शेरशाह जौनपुर से भी एक कदम आगे बढ़ा । उसने उन बहुत-सी बातों को करने में पहल की जिनमें हम अकबर को आगे बढ़ते देखते हैं । देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सड़क के किनारे फलदार वृक्ष तथा थोड़ी-थोड़ी दूर पर सराय और कुएँ बनाने का काम शेरशाह ने शुरू किया था । सबसे जवाबदेह पदों के लिए हिन्दुओं पर पूर्ण विश्वास रखने का भी आरम्भ शेरशाह ने किया था । उसके शासन में हिन्दू बड़े से बड़े मंत्री और सेनापति के पद पर पहुँच सकते थे। लोग शेरशाह को न्याय और धर्म का अवतार मानते थे ।

शेरशाह जनसाधारण में पैदा हुआ और उन्हीं के सहयोग से ऊपर बढ़ा । बिहार का बेताज का शाह हो जाने पर भी वह एक साधारण सिपाही की तरह काम करने के लिए तैयार था । जिस वक्त हुमायूँ का दूत उसके पास पहुँचा था, उस समय वह अपने सिपाहियों की तरह फावड़ा लेकर खाई खोद रहा था और फावड़ा हाथ में पकड़े ही उसने हुमायूँ के दूत से बात की । वह बतलाना चाहता था कि मेरे लिए तख्त और जमीन दोनों सुपरिचित चीज हैं । मुसलमानी सुल्तानों ने सरकारी सेवाओं के बदले जागीर देने का नियम बनाया था । जागीरदार अपनी जागीर में मनमानी करते और बेचारे किसान पिसते थे । शेरशाह ने जागीर नहीं, वेतन मुकर्रर कर दिया । उसके सिपाही प्रजा को सता नहीं सकते थे । इतना कड़ा नियम था, तो भी सिपाही इसके कारण नाराज नहीं थे, वे अपने नेता को भगवान् मानते थे । शेरशाह ने ही वह सीधे-सादे लड़ाके सिपाही तैयार किये जो पीछे कम्पनी की सेना की रीढ़ बने । शाहबाद-सहसराम को अपना गढ़ शेरशाह ने जानबूझ कर बनाया था । भोजपुरी तरुण लाठी और तलवार के गुण को जानते थे, अब उन्होंने पलीतेवाली बन्दूकें चलाना भी सीखा । चौसा के नाम से सभी लोग परिचित है । शाहबाद के चौसा गाँव में ही शेरशाह ने हुमायूँ का छत्रभंग किया, वहाँ से पैर उखड़ा तो वह फिर जम न पाया ।

२. कुल

प्राचीन काल से ही व्यापारियों के सार्थ (कारवाँ) और देशों की तरह भारत में भी चलते थे । कितने ही सार्थवाह उस समय लखपति-करोड़पति थे, माल से भरी जिनकी नावें हमारे देश की नदियों और समुद्रों में चलती थीं । जहाँ नाव का

सुभीता नही था, वहाँ स्थलमार्ग पर व्यापारी बैलगाड़ियो और बैलों पर माल लादे एक जगह से दूसरी जगह उन्हें बेचने जाते थे । कम्पनी के राज में भी बलिया के रौनियार सार्थवाह बैलों पर कपड़े लादं कर नेपाल की राजधानी काठमाण्डू पहुँचते थे । साधारण सार्थवाह की चीजे साधारण होती थीं । कितने ही रौनियार गाढ़ा (खादी) का धुला, कोरा या रँगा कपडा नेपाल ले जाते । सन् १८५० से कुछ साल पहले उनका बहुत-सा माल बिका नही । माल लौटा लाना उनके लिए घाटे की चीज थी, इसलिए वह उन्हे बेचने के लिए वही रह गये । आज भी उनके वंशज काठमाण्डू मे रहते है । श्री शिवप्रसाद जी रौनियाऱ उनके मुखिया है । ब्याह करने के लिए वह बिहार या उत्तर प्रदेश के रौनियारों के पास आते है, नहीं तो वह वैसे ही नेपाली है, जैसे दूसरे ।

रौनियार पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के सार्थवाह है । शिवप्रसाद जी के पूर्वजो की तरह उनमें कुछ हजार-पूँजी वाले भी व्यापारी थे और दूसरे लाखों के स्वामी भी जिनकी कोठियाँ चटगाँव और समुद्र के कितने ही और बन्दरों में थीं । अपने प्रदेश के बडे-बड़े शहरों में भी उनका कारबार होता था । सार्थवाह का काम वह लोग नहीं कर सकते थे जिन्हे हम आजकल बनिया समझने के आदी है । सार्थों को जिन राज्यों में से गुजरना पड़ता था, उनमें सभी अपने यहाँ शांति स्थापित करने में समर्थ नहीं थे । जहाँ समर्थ शासक थे, वहाँ सार्थवाह भेंट-पूजा देकर अपना काम बनाते थे । जहाँ अशान्ति थी, वहाँ अपनी रक्षा का भार वह खुद अपने ऊपर लेते थे । इसके लिए वह सैकड़ों और कभी हजारों की संख्या मे चलते थे । इनके पास तलवार-भाले, तीर-धनुष ही नहीं, बल्कि उस समय का सबसे जबर्दस्त हथियार पलीतेदार बन्दूके भी होती थीं । नरम कलेजे वालों का सार्थ में गुजर नहीं था, इसलिए बैलों पर लादने, बैलगाड़ियों को चलाने के लिए वही जवान लिये जाते जो मौका पड़ने पर सिपाही बन जाते । भोजपुरियों में सिपाहीपन की स्वाभाविक आदत थी ।

सहसराम का एक ऐसा ही रौनियार सार्थवाह था जिसकी ख्याति अपने प्रदेश मे धन-वैभव, उदारता और बहादुरी के लिए थी । मामूली शासक नहीं, बल्कि अपने-अपने इलाको के प्रभु भी उसकी इज्ज़त करते और समय-समय पर सार्थवाह अपने धन से उन्हें मदद करके अनुगृहीत करता । यदि शेरशाह राजा होते भी फावड़ा भाँज सकता था, तो करोड़पति सार्थवाह भी साधारण बैल लादने वाले अपने आदमी के सभी कामों को करने के लिए तैयार था । उसने अपनी जवानी में यह किया था और चाहता था कि उसका लड़का भी इसे अच्छी तरह सीखे । इतने भारी कारबार के लिए विद्या पढना बहुत आवश्यक है । सार्थवाह ने अपने लड़के को उसे भी सिखलाया था और कई बार समुद्र (चट्टग्राम) की ओर जाने

वाले नदी सार्थों और कितनी ही बार स्थल की बैलगाड़ियों के सार्थों के साथ भी भेजा था । तरुण ने एक ओर अपनी विद्या-बुद्धि से अपने पिता को प्रसन्न किया था, तो दूसरी ओर अपनी बहादुरी को उसने कई बार डाकुओं के सामने दिखलाया था । इस लड़के का नाम हेमचन्द्र था जिसे प्यार से लोग हेमू भी कहा करते थे।

३. कार्यक्षेत्र में

इधर पिता के स्थान को हेमचन्द्र ने सँभाला और उधर शेर खाँ भारत के छत्रपति बनने के प्रयत्न में दूर तक आगे बढ़ चुका था तथा उसने सहसराम् को अपनी राजधानी बनाया था । शेर खाँ गुनियों का पारखी था । हमेशा उनको खोज निकालने की फिकर में रहता था । हेमचन्द्र कैसे उसकी नजर से ओझल रह सकता था ? उसने बुलाकर हेमचन्द्र को अपना कोष-विभाग सौंप दिया । वह यह जानता था कि हेमचन्द्र में किसी भोजपुरी से कम युद्धकला की निपुणता नहीं है । पर, राज्य के लिए कोष सेना से कम आवश्यक नहीं था । हेमचन्द्र ने कोष का इतनी योग्यता से प्रबन्ध किया कि शेरशाह की बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में भी वह कभी खाली नहीं हुआ । हुमायूँ का पीछा करते शेरशाह कन्नौज, दिल्ली और राजस्थान के रेगिस्तानों तक पहुँचा । वह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता था कि उसके सैनिकों को इस महीने का वेतन अगले महीने मिले और हेमचन्द्र कुबेर-भण्डारी था । कोष क्यों कभी खाली होने लगा ?

अपनी कार्यदक्षता के साथ-साथ हेमचन्द्र शेरशाह का बहुत विश्वासपात्र था । वह शेरशाह की सभी सफलताओं को अपनी ही सफलता समझता था । शेरशाह मुसलमान था और हेमचन्द्र हिन्दू, लेकिन दोनों अपने को एक देश, एक आदर्श की सन्तान मानते थे । शेरशाह ने जिस तरह दिल खोलकर हिन्दुओं को आगे बढ़ाया था और सदियों से चले आते भेदभाव को अपने यहाँ स्थान नहीं दिया था, उसके कारण सभी हिन्दू शेरशाह के भक्त थे । भोजपुरी तो उसे अपने ही जैसा भोजपुरी मानते थे, इसलिए उसके साथ उनकी विशेष आत्मीयता थी । यदि कम्पनी की सेना के साथ-साथ भोजपुरी सिपाही कलकत्ता से पेशावर तक पहुँचे थे, तो इस बात को उन्होंने चार सौ वर्ष पहले शेरशाह के समय को ही दोहराया था ।

१५३६ ई० में शेर खाँ शेरशाह का नाम धारण कर गौड़ में तख्त पर बैठा । १५४० ई० में हुमायूँ भारत छोड़ कर भागा । हुमायूँ के भागने के थोड़े ही दिनों बाद शेरशाह बंगाल से सिंध तक का बादशाह बन गया । जहाँ उसका शासन गया, वहाँ खुशहाली, शांति व्यवस्था के स्थापित होने में देर नहीं हुई । इसमें काफी हाथ हेमचन्द्र का भी था । शेरशाह को पाँच ही साल भारत का अधिराज रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । कालेंजर में अकस्मात् बारूद में आग लगने से शेरशाह

को प्राण खोना पड़ा । उसे दिल्ली नहीं, अपना सहसराम प्यारा था, यह सभी जानते थे । इसलिए उसे वहीं लाकर दफनाया गया । आज भी तालाब के बीच में अपने विशाल मकबरे के भीतर वह बहादुर सो रहा है जिसने अकबर का पथ-प्रदर्शन किया । कुछ बातों में यदि अकबर बढ़-चढ़ कर था, तो कितनी ही बातों में शेरशाह भी ।

सलीमशाह

शेरशाह के मरने के बाद उसका पुत्र इस्लामशाह गद्दी पर बैठा । उसके नौ वर्ष (१५४५-५४ ई०) के शासन में शेरशाही शासन-व्यवस्था चलती रही और उसी तरह हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं रहा । योग्यता का मान होना, प्रजा को खुश रखना शासन का ध्येय था । इस सारे काल में हेमचन्द्र को और भी अपना जौहर दिखलाने का मौका मिला । पहले शेरशाह की छाया में होने के कारण वह उतना प्रकाशमान नहीं दीखता था, अब वह शासन का सबसे बड़ा स्तम्भ था । भू-कर-व्यवस्था में ही नहीं, बल्कि सामरिक सूझ-बूझ में भी वह असाधारण समझा जाता था । हेमचन्द्र के बिना कोई काम पूरा नहीं समझा जाता था । इस्लामशाह अपने पिता के इस योग्य अमात्य को बड़ी आदर की दृष्टि से देखता ।

४. विक्रमादित्य

इस्लामशाह के मरने के बाद घर में फूट पड़ गई । इसके नाबालिग पुत्र को मार कर शेरशाह के भतीजे आदिलशाह ने गद्दी सँभाली । हेमचन्द्र को यह पसन्द नहीं आया, लेकिन कुछ करना सम्भव नहीं था । पठानों के आपसी झगड़े में जो कमजोरी पैदा हुई, उससे वह और भी चिन्तित था । हेमचन्द्र की योग्यता को देखकर आदिलशाह ने उसे अपना वजीर और सेनापति बनाया । घर में पठानों ने आग लगा दी थी, इसलिए हेमचन्द्र को पहले बिहार को सँभालना था । आखिर वहीं की सेना सूरी वंश की सेना का मुख्य अंग थी । दिल्ली में हेमचन्द्र के न रहने पर वह अरक्षित हो गई और हुमायूँ ने आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया । इसके छह ही महीने बाद (१५५५ में) हुमायूँ पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिर कर दिल्ली में मर गया और उसके १३ वर्ष के पुत्र अकबर को बैरम खाँ की अतालीकी में गद्दी सँभालना पड़ा। हेमू अपने वीरों की सेना लेकर दिल्ली की तरफ दौड़ा और मुगलों को भागने में ही खैरियत मालूम हुई ।

हेमचन्द्र को मालूम हुआ, जिस वंश के लिए वह लड़ रहा है, वह अब इस योग्य नहीं है कि इस बड़े भार को अपने कन्धे पर उठा सके । सभी सूरी नहीं, बल्कि सभी पठान शाहंशाह बनने के लिए तुले हुए थे । ऐसी स्थिति में सेना का विश्वास डिग सकता था । उसके सेनानायकों और सैनिकों ने जोर दिया और

हेमचन्द्र विक्रमादित्य के नाम से १५५५ में दिल्ली के सिहासन पर बैठा । पिथौरा और जयचंद के समय खोये सिंहासन को फिर हेमचन्द्र के रूप मे हिन्दू शासक मिला । अब भी मुगल-शक्ति का उच्छेद नहीं हुआ था । यदि पठानो में शेरशाह के समय की एकता होती, तो हेमचन्द्र को यह कदम न उठाना पडता । पठानों का भी उस पर विश्वास था, इसलिए वे उसके झण्डे के नीचे लड़ने के लिए तैयार थे । हेमचन्द्र ने मुगलों की सेना को हार पर हार दी । तुगलकाबाद में हेमू की साधारण सफलता नहीं थी । एक लेखक के अनुसार बड़े-बडे जत्थेवाले जंगी तजुर्बेकार अफगान और जग के भारी सामान, राजपूत, पठान और मेवातियों की ५० हजार सिपाहियों की जबर्दस्त फौज, एक हजार हाथी, ५१ दुर्गध्वंसक तोपें, ५०० घड़नाल और ऊँछनाल, जम्बूरक उसके साथ थे । यह दरिया अपने स्थान से हिला और जहाँ-जहाँ मुगल हाकिम बैठे थे, सबको रौदता हुआ दिल्ली पहुँच गया ।

आख़िरी फ़ैसला पानीपत के मैदान में हुआ जहाँ अकबर का सेनापति खानेजमाँ अली कुल्ली खाँ सीस्तानी अपनी फौज लिये खड़ा था । इस युद्ध के बारे में शम्शुल-उलमा मौलाना आजाद ने अपनी "दरबार-अकबारी" में लिखा है—" हेमू अपने हवाई नामक हाथी पर सवार हो सेना के मध्य को सँभाले खड़ा फौज को लड़ा रहा था । अन्त में मैदान का रंग-ढंग देखकर उसने हाथी होल दिये । काले पहाड़ों ने अपनी जगह से हरकत की और काली घटा की तरह आये । अकबरी नमकखार दिल में नहीं लाये, भागे, लेकिन अपने होशहवास के साथ । काले पानी की बाढ़ को उन्होंने रास्ता दिया । लड़ते-भिड़ते हटते चले गये । लड़ाई के समय सेना का रुख और नदी का बहाव एक हुकुम रखता है, जिधर को फिर गया, फिर गया । शत्रु के हाथियों की पंक्ति बादशाही फौज के एक पार्श्व को रेलती ले गई । खानेजमाँ अपनी जगह खड़ा था और सेनापति की दूरबीन से चारों तरफ नजर दौड़ा रहा था । उसने देखा कि काली आँधी जो सामने से उठी, बराबर को निकल गई । अब हेमू सेना के मध्य को लिए खड़ा है । एकाएक सेना को ललकार कर हमला किया । शत्रु हाथियों के घेरे में था । उसके चारों ओर बहादुर पठानों का झुण्ड था । उसने फिर भी घेरे को ही रेला । तुर्क तीरों की बौछार करते हुए बढ़े । उधर से हाथी तलवारें सूँड़ों में फिराते और जंजीरें झुलाते आगे आये । ...हाथियों के हमले को हौसले और हिम्मत से रोका । वह तैयार होकर आगे बढ़े । जब देखा कि घोड़े हाथियों से बिदकते हैं, तो कूद पड़े और तलवारें खींच कर शत्रु की पाँतियों में घुस गये । उन्होंने तीरों की बौछार से काले राक्षसों के मुँह फेर दिये और काले पहाड़ों की मिट्टी का ढेर-सा बना दिया । अद्भुत घमासान रन पड़ा । हेमू की बहादुरी तारीफ के लायक है । वह तराजू-बाँट का उठाने वाला, दाल-पपाती का खाने वाला हौदे के बीच में नंगे सिर खड़ा सेना की हिम्मत बढ़ा रहा था । ... जीत और हार भगवान् के हाथ में है ।...शादीखान

पठान हेमू के सरदारों की नाक था, कट कर मिट्टी पर गिर पड़ा। सेना अनाज के दानों की तरह खिड गई। फिर भी हेमू ने हिम्मत न हारी। हाथी पर सवार चारों तरफ फिरता था। सरदारों के नाम ले-लेकर पुकारता था कि समेट कर उन्हें फिर एकत्र कर ले। इतने मे एक मौत का तीर उसकी ऑख में लगकर आरपार हो गया। उसने अपने हाथ से तीर खीच कर निकाला और ऑख पर रुमाल बाँध लिया, मगर घाव से इतना बेहोश और बेकरार हुआ कि हौदे में गिर पड़ा। यह देखकर उसके अनुयायियों की हिम्मत टूट गई, सब तितर-बितर हो गये।"

पानीपत का मैदान अकबर के हाथ में रहा। खानेजमाँ ने मुगल सल्तनत की हिन्दुस्तान में नीव रख दी। शुक्रवार मुहर्रम महीने की दूसरी तारीख हिजरी सन् ६६४ (६ नवम्बर, १५५६ ई०) का पानीपत का रण भारत के भाग्य के निपटारे की तारीख है।

सेना भाग गई। तुर्कों ने हाथी को घेर लिया। हेमचन्द्र अब उनके बन्दी थे। उन्हें अकबर के सामने ले जाया गया। किसी सवाल का जवाब देना हेमचन्द्र ने अपनी शान के खिलाफ समझा। उन्हे अफसोस यही था कि युद्धक्षेत्र से मै जिन्दा क्यों यहाँ आया। बैरमखाँ ने अकबर से कहा : अपने हाथ से इस काफिर को मारकर गाजी की पदवी धारण कीजिए। अकबर ने मरणासन्न के ऊपर तलवार उठाने से इन्कार कर दिया। यदि अकबर अभी १४ वर्ष का छोकरा न होता और उसका ज्ञान और तजुर्बा परिपक्व होता, तो इसमें शक नहीं, हेमचन्द्र को वह अपनी तरफ करने की कोशिश करता और वह अकबर के नो रत्नों में होते।

हेमचन्द्र को मुसलमान इतिहासकारों ने बक्काल (बनिया) लिखा है। मौलाना आजाद ने उन्हें दूसर बनिया कहा है। दूसर बनिया आजकल अपने को भार्गव ब्राह्मण कहते है। समकालीन और अकबर के पुत्र जहाँगीर के इतिहासकार हेमचन्द्र के जन्म-स्थान के बारे में कोई निश्चित बात नहीं बतलाते। पिछले इतिहासकारो ने उन्हें पश्चिम का ही कोई बनिया माना है। परन्तु पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के रौनियार वैश्यों में दूसरी ही परम्परा पाई जाती है जो अधिक विश्वसनीय मालूम होती है। उसके अनुसार हेमचन्द्र रौनियार थे, सहसराम के आसपास के ही रहने वाले थे और अपनी योग्यता से इतने ऊँचे पद पर पहुँचे थे। शेरशाह और उनके वंशजों का यहाँ के लोगों को अधिक विश्वसनीय समझना स्वाभाविक था। हेमचन्द्र दाल-चपाती खाने वाले बनिये नहीं थे, रौनियार आज भी मांस-मछली के प्रेमी हैं और जैसा पहले कहा, सार्थवाह होने के कारण उनमें सैनिक की हिम्मत थी। भोजपुरी इलाके के तो हरेक जात का तरुण लाठी और हिम्मत का धनी होता है।

भारत का मुस्लिम-शासन हिन्दू-शासन की तरह ही परम निरंकुशता का शासन था । उसी तरह क्रूर और अखण्ड दास-प्रथा मुस्लिम शासन में भी चलती थी और हमारी अधिकांश जनता के लिए सामाजिक न्याय की जगह भीषण अन्धेर नगरी मची थी । हमारे सोचने-समझने वाले मस्तिष्क और हृदय इसे जरूर देखते थे, पर ब्रह्मा के रेख में मेख लगाने के लिए हिन्दुओं मे कोई नहीं दीख पड़ता था । इसी काल मे कबीर और दूसरे बडे-बडे संत हुए जिन्होंने कुछ शीतल बयार चलाने की कोशिश की, पर ठोस पृथ्वी की नहीं, बल्कि आसमानी । पृथ्वी की ठण्डी बयार का चलाना बहुत खतरे की बात थी, सिर की बाजी लगानी पड़ती, जिसके लिए कौन तैयार होता ? अपने विचारों के लिए मुसलमान संतों ने सिर की बाजी लगाई, सरमद का उदाहरण हमारे सामने है । इतना ही नही, आर्थिक विषमता दूर करने का प्रयत्न भी उनमें से कुछ ने किया जिसके लिए सिर देने या उससे भी अधिक त्रासत सहने के सिवा उन्हें कुछ नहीं मिला । उनकी कुर्बानियों को लोगों ने भुला दिया, क्या इतिहास भी उसे भुला देगा ? ऐसे तीन महापुरुष हमारे सामने हैं—सैयद मुहम्मद जौनपुरी, मियाँ अब्दुल्ला नियाजी और शेख अल्लाई ।

१. सैयद मुहम्मद जौनपुरी

गुलाम, खिलजी और तुगलक—तीन तुर्क-वंश दिल्ली के तख्त से भारत पर शासन कर चुके थे । तीनों के वंशधर विदेशी थे । उनकी कोशिश यही थी कि हिन्दुस्तानीपन का रंग उन पर न चढ़ने पाये । जनता के शोषण और उत्पीड़न से जो सम्पत्ति प्राप्त होती थी, वह विदेश से आये तुर्की शासकों के लिए थी । कुछ जूठे टुकड़े भारतीय मुसलमानों को मिल जाते थे और उनके छोड़े हुए टुकड़े हिन्दू लग्गू-भग्गू पाते थे । आर्थिक तौर से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक तौर से भी तुर्क-वंश अपने को भारत से निर्लिप्त रखना चाहते थे । यदि उसमें वह पूरी तौर से सफल नहीं हुए, तो अपने कारण नहीं । ११६२ ई० में दिल्ली तुर्कों की राजधानी बनी । उसके दो सौ वर्ष बाद १३६८ ई० में मध्य एशिया का एक तुर्क—तैमूर लंग—उसके पतन का कारण हुआ । इस प्रहार के कारण तुर्क-शासन सँभल नहीं सका और मुसलमानी सल्तनत कई टुकड़ों में बँट गई । दक्षिण के बड़े भाग को बहमनी सल्तनत ने सँभाला । इसी समय गुजरात में अलग गुजराती मुस्लिम सल्तनत, बंगाल में भी एक मुस्लिम सल्तनत कायम हुई । सबसे जबर्दस्त जौनपुर की थी जिसे शर्की (पूर्वी) सल्तनत कहते थे । दिल्ली से बागी होकर अस्तित्व में आई ये सभी मुस्लिम सल्तनतें भारत की मिट्टी से अपना घनिष्ठ

सम्बन्ध जोड़ने के लिए तैयार थी। वस्तुतः उसी के बल पर वह दिल्ली से लोहा ले सकी थी, क्योंकि बड़े-बड़े मुल्ले, शासक और सेनापति दिल्ली के समर्थक थे।

यह आश्चर्य की बात नहीं है यदि हिन्दू नहीं, बल्कि ये मुस्लिम सल्तनतें हमारे प्रादेशिक साहित्य के निर्माण में सबसे पहले आगे आईं। इस्लाम-प्रभावित हिन्दी अर्थात् उर्दू का साहित्य बहमनियों के समय शुरू हुआ। बंगाल की भी यही बात है। जौनपुर की शर्की सल्तनत ने हमें कुतुबन, मंझन, जायसी जैसे रत्न प्रदान किए। जौनपुर ने हमारी धरती में बहुत नीचे तक घुसने की कोशिश की। १५वीं सदी में, एक सौ साल से ऊपर तक, वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार की सांस्कृतिक और राजनीतिक राजधानी जौनपुर रही। उसके महत्व को आज बहुत कम लोग समझते हैं। इसी जौनपुर में सैयद मुहम्मद जौनपुरी का जन्म हुआ था। इनकी मृत्यु १५०५-६ ई० (हिजरी ६११) में हुई। जान पड़ता है, वह १५वीं शताब्दी के मध्य पैदा हुए। उनकी जवानी के समय देश की अवस्था बड़ी ही दयनीय थी। चारों ओर बदअमनी छाई हुई थी। जौनपुर ने काफिरों के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ कर कुफ्र की ओर एक कदम उठा लिया था। हिन्दू-मुस्लिम शासक या धर्माचार्य पसन्द नहीं करता था। चावल-उड़द की तरह उनका मेल हो, इसके मानने वाले भी बहुत नहीं थे, तो भी उसका उतना विरोध नहीं होता था। शेरशाह ने जौनपुर में हिन्दू-मुसलमान की एकता देखी, वहीं उसका बचपन बीता था। यही शेरशाह प्रायः हर बात में अकबर का मार्ग-प्रदर्शक रहा।

जौनपुर के अपेक्षाकृत उदार वातावरण और आर्थिक-राजनीतिक दुरव्यवस्था ने सैयद मुहम्मद पर प्रभाव डाला था। इस्लाम से पहले ईरान में साम्यवाद की लहर बड़े जोर-शोर से आई थी। ईसा की तीसरी सदी में संत मानी धार्मिक सुधार और समन्वय के साथ-साथ आर्थिक समानता के सिद्धान्त को लेकर चले थे जिसके लिए उन्हें देश से बाहर मारा-मारा फिरना पड़ा। पाँचवीं-छठी सदी में मानी के ही झण्डे को आगे लेकर मज्दक बढ़े और एक बार आर्थिक साम्यवाद ईरान में जंगल की आग की तरह बढ़ा। स्वयं सासानी शाहंशाह कवाद उसके प्रभाव में आ गया और सिंहासन से वंचित होना पड़ा। अन्त में वह और उसका पुत्र नौशेरवाँ ही मज्दक के मधुर स्वप्न को क्रूरतापूर्वक नष्ट करने के कारण हुए। उसके सौ वर्ष बाद ईरान इस्लाम के झण्डे के नीचे आने लगा और सातवीं शताब्दी बीतते-बीतते एक इस्लामिक देश के रूप में परिणत हो गया। जर्थुस्ती-धर्म अब बहुत कम ही रह गया था, लेकिन मज्दक और उसके लाखों शिष्यों की कुर्बानियाँ बेकार नहीं गईं। इस्लाम के दीर्घ शासन में, दूर से उस सुहावने युग और उससे

भी बढ़ कर सुन्दर संदेश की प्रतिध्वनियाँ विचारशीलों के कानो में पडती थीं। मज्दकी पंथ अब जिन्दीक के नाम से पुकारा जाने लगा था। जिन्दीक बाहर से दूसरे मुसलमानो ही की तरह थे, पर उनके भीतर आर्थिक साम्यवाद की भावना काम करती थी जिसके ही कारण इस्लाम के दूसरे पंथो की अपेक्षा जिन्दीकों में कम असहिष्णुता होती थी।

सैयद मुहम्मद जौनपुरी जैसे विद्वान् के लिए जिन्दीक अपरिचित नहीं हो सकते थे। शासकों और शोषकों के लिए खतरनाक विँचार उस समय धर्म की जबर्दस्त आड़ में ही पनप सकते थे। सैयद मुहम्मद ने उसी की आड़ ली। कबीर उनके समकालीन थे। कबीर ने पैगम्बर से कम होने का दावा नहीं किया, लेकिन उन्होंने इस्लाम के पारिभाषिक शब्द को अपने लिए इस्तेमाल नहीं किया। मुसलमानों को भी खींचने की कोशिश जरूर की, पर सफलता हिन्दुओं में ही मिली। कबीर की भाषा और रीति से अपरिचित मुल्ला उनकी तरफ अँगुली नहीं उठा सकते थे। कबीर ने आर्थिक साम्यवाद को भी नहीं हाथ में लिया। मुहम्मद जौनपुरी ने शायद तल्लीन होते समय आवाज सुनी—अन्त-ल्-मेहदी (तू मेहदी है)। मेहदी का शब्दार्थ शिक्षक या अंतिम है। इस्लाम में हजरत मुहम्मद के बाद आने वाले सबसे अन्तिम पैगम्बर को मेहदी कहा जाता है। मेहदी का इस्लाम में वही स्थान है जो कि हिन्दुओं मे कल्कि अवतार का। मुल्लों के लिए यह बड़ी कडवी घूँट थी। सौभाग्य से सैयद मुहम्मद दिल्ली में नहीं, जौनपुर में पैदा हुए जहाँ अधिक खुलकर साँस ली जा सकती थी।

मेहदी के प्रचार का ढंग और उनकी बातें ऐसी थीं कि लोग उनकी तरफ आकृष्ट होने लगे। अनुयायियों को बढ़ते देख इस्लाम के झण्डेबरदार चुप कैसे रह सकते थे? जौनपुर में उनका रहना असम्भव हो गया। वह वहाँ से चलकर गुजरात पहुँचे। गुजरात में भी दिल्ली से बागी होकर जौनपुर की तरह की ही एक सल्तनत कायम हुई थी। वहाँ मेहदी के उपदेशों का प्रभाव केवल मुस्लिम जनसाधारण पर ही नहीं पड़ा, बल्कि अबुलफजल के अनुसार सुल्तान महमूद स्वयं उनका अनुगामी हो गया। बहुत दिनों तक वहाँ भी वह न टिक सके। अन्त में वहाँ [illegible] देखा। घूमते-घामते ईरान में निकल गए। वहाँ पर भी उनके पास भक्तों की भीड़ लगने लगी। शाह इस्माईल ने ईरान की राष्ट्रीयता को उभाड़ने के लिए और उसके द्वारा अपने राजवंश को मजबूत करने के लिए शिया धर्म को राजधर्म स्वीकृत किया था। शिया धर्म ने कट्टर इस्लाम की बहुत-सी बातें छोड़ दी थीं। मेहदी जौनपुरी वहाँ एक और शाख लगाना चाहते थे। यह न पसन्द कर शाह इस्माईल ने कड़ाई की। सैयद को ईरान छोड़ना पड़ा। ईरान के मज्दक के अनुयायी जिन्दीक के नाम से उस समय भी मौजूद थे, इसलिए

अपने विचारो को मेहदी जौनपुरी के मुँह से सुन कर वह यदि उनकी शिष्यमण्डली में शामिल होने लगे, तो आश्चर्य नही । और पीछे भी मेहदी से मिलती-जुलती विचारधारा यदि ईरान में मौजूद रही, तो उसका श्रेय मेहदी को नहीं, बल्कि मज्दकी कुर्बानियों को देना होगा ।

मेहदी ईरान से लौट आये । फरा या कड़ा में १५०५ या १५०६ ई० में उनका देहान्त हो गया । लोग उनकी कब्र पूजने लगे । उनके अनुयायी मेहदी के सन्देश को जीवित रखने में सफल हुए ।

२. मियाँ अब्दुल्ला नियाजी

मियाँ अब्दुल्ला नियाजी अफगान (पठान) शायद हिन्दुस्तान में आकर बस गये थे । मेहदी की तरह उनके बारे में भी नहीं कहा जा सकता कि वह किस सन् में पैदा हुए । शेरशाह के जमाने (१५४०-४५ ई०) में काफी वृद्ध हो चुके थे । हो सकता है, उनका जन्म सैयद मुहम्मद जौनपुरी के अन्तिम वर्षों में हुआ हो । वह कई साल मक्का-मदीना में रहे । वहाँ ही वह जिन्दीक या मेहदी पंथ के प्रभाव में आये । भारत में आकर बयाना (राजस्थान) मे उन्होंने गरीबों के मुहल्ले में डेरा डाला । स्वयं शरीर से मेहनत करने में नहीं झिझकते, मेहनत करने वालों से ही उनकी बहुत आत्मीयता थी । मुसलमानों में भिश्ती और दूसरे मेहनत-मजदूरी करके जीने वाले लोग नियाजी के पास जाते । नियाजी उन्हें लेकर नमाज पढते । अपने पास जो कुछ होता, वह उनमें बाँट कर खाते । वह बड़े आलिम (विद्वान), इस्लाम के अच्छी तरह ज्ञाता थे । इस्लाम की जन्म-भूमि में वर्षों रहे थे । ऐसे व्यक्ति के सादा और गरीबी के जीवन को देखकर लोगों का हृदय उनकी ओर खिंचना स्वाभाविक था । इन्हीं में बयाना के एक गुरु-घराने के गद्दीधर (सज्जादानशीन) शेख अल्लाई थे । शेख अल्लाई ने जोत से जोत जगा ली । अब गुरु-चेले का जीवन-प्रवाह एक होकर चला ।

३. शेख अल्लाई

बंगाल में संतों (शेखों) का एक परिवार कितने ही समय से बस गया था । इसी में शेख हसन और शेख नसरुल्ला दो भाई पैदा हुए जिनमें नसरुल्ला बहुत विद्वान् थे । दोनों देश छोड़कर हज करने गये । वहाँ से १५२८-१५२९ ई० (हिजरी ९३५) में लौट कर बंगाल जाने की जगह बयाना में रहने लगे । गुरुओं का सम्मान करना हमारे देश की मिट्टी-पानी में था । बयाना में भी उन्हें चेलों की कमी नहीं हुई । बड़े भाई शेख हसन अपनी आध्यात्मिक शक्ति के कारण बयाना के मुसलमानों के एक सम्माननीय गुरु बन गये । उनका बेटा शेख अल्लाई बचपन से ही "होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।" परिवार में

ज्ञान-ध्यान का वातावरण और शिक्षा-विद्या का पूरा सम्मान था। विद्वता के साथ-साथ असाधारण वाग्मी अल्लाई बाप के मरने पर गद्दी पर बैठा। सादगी का जीवन उसे पसन्द था, लेकिन उसमें भारी परिवर्तन लाने के कारण मियाँ नियाजी हुए। बूढ़े नियाजी ने उसे अपनी तरफ खींचा। जान पड़ा, किसी चीज को वह भीतर से चाहता था जिसे वह जान नहीं पाता था। नियाजी के जीवन ने अल्लाई की आँखें खोल दीं। उसने अपने शिष्यों और मित्रों से कहा —"वस्तुतः खुदा का रास्ता यह है। हम जो कर रहे है, वह थोथी अहंमन्यता है।"

मनुष्यमात्र और उनमें भी गरीबों का हित अल्लाई के धर्म और जीवन का लक्ष्य बन गया। किसी के साथ यदि कभी कोई गुस्ताखी हो गई थी, तो उसके लिए वह क्षमा माँगते। लोगो के जूतों को अपने हाथों सीधा करते। बाप-दादों के जमाने से पीरी-मुरीदी चली आती थी। मुसलमान शासको ने जागीर दी थी। खानकाह (गुरुद्वारा) थी जिसमें आये-गये के भोजन के लिए रात-दिन लंगर चला करता था। अल्लाई को अब वह काट खाने लगी। उन्होंने अपना सब माल-असबाब गरीबों में बाँट दिया। पुस्तकों तक को भी अपने पास रखना पसन्द न कर चाहने वालों को दे दिया। पत्नी से कहा —"मेरा तो यही रास्ता है। तुम गरीबी और भुखमरी के लिए तैयार हो, तो मेरे साथ रहो; नहीं तो इस धन में से अपना हिस्सा लेकर आराम से रहो।" पत्नी पति के रास्ते पर चलने के लिए साथ हो गई।

शेख अल्लाई अब्दुल्ला के कदमों में आ गये। गुरु ने मेहदी के पंथ की बातें बतलाईं। कैसे ज्ञान-ध्यान करना चाहिए, यही नहीं बताया, बल्कि गरीबी और अत्याचार की चक्की में पिसे जाते बहुजन के दुःख के लिए जो आग उनके हृदय में जल रही थी, उसे अल्लाई के हृदय में जला दी। अल्लाई के हित, मित्र और शिष्य-मंडली भी अब नियाजी की माला जपने लगी। लोग नियाजी और अल्लाई के पीछे दौड़ने लगे। अल्लाई की वाणी में जादू का असर था, लोग सब कुछ उनकी बात पर लुटाने के लिए तैयार थे। एक बार जो उनके उपदेशों को सुन लेता, वह फिर कहाँ अपने आप में रह पाता ? वहाँ हालत यह थी —"कभी घनी घना, कभी मुट्ठी भर चना, कभी वह भी मना।" शाम को जो भोजन बचा रहता, उसे अपने पास रखना अल्लाई के धर्म के खिलाफ था। "का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर विश्वम्भरो गीयते" (जब भगवान् संसार के भरण-पोषण करने वाले हैं, तो मुझे चिन्ता की क्या जरूरत) यही कह लीजिए, या यह कि पेट की चिन्ता मनुष्य को बराबर बनी रहनी चाहिए, तभी सुपथ पर चलने की चिन्ता कर सकता है। रोटी ही नहीं, नमक तक भी हर रात ख़तम कर दो, पानी भी घड़े में मत रक्खो। रात को सारे बासन खाली करके औंधे रख दिए जाते थे। हर रोज नया जीवन आरम्भ होता था, हर रोज खट्टा-मीठा, नया तजुर्बा हासिल किया जाता।

गुरु और परमगुरु को इसमें आनन्द आता था । उनका अनुयायियों का बृहत् परिवार भी इसी में आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता था ।

पर, वह जानते थे कि निरीहता और भिखमंगी से हम अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते । दुनिया में विषमता और गरीबी दुआ और प्रार्थना द्वारा नहीं हटाई जा सकती । उसके लिए बड़े साधन वही लोग है जो विषमता और गरीबी के सबसे जबर्दस्त शिकार हैं । उन्होंने नियम बनाया : हमारे पंथ के पथिक आठों पहर हथियारबन्द रहें । तीर-धनुष, ढाल-तलवार अपने पास रखना हरेक के लिए अनिवार्य था । गुरु गोविंद सिंह से दो शताब्दियों पहले अल्लाई ने लोहे का अमृत छलकाया था । कोई अनुचित बात टोले-मोहल्ले में नहीं होने पाती थी । मजाल नहीं थी सल्तनत के हाकिम की भी, कि लोगों पर मनमानी करे । हाकिम यदि न्याय के रास्ते पर चलने के लिए मदद चाहता, तो मेहदीपंथी जान देने के लिए तैयार थे । अल्लाई और उनके गुरु के जीवन और शिक्षा ने बयाना में एक विचित्र स्थिति पैदा कर दी, "बेटा बाप को, भाई-भाई को, पत्नी-पति को छोड़कर" इस पंथ में गये । हजारों आदमी गरीबी के जीवन को आनन्द का जीवन मानकर मेहदी के पंथ में दाखिल हो गये । मियाँ अब्दुल्ला शांत प्रकृति के संत थे, पर शेख अल्लाई थे आग के परकाले । उनकी वाणी ने चारों ओर धूम मचा दी थी । गुरु को डर लगने लगा, चेला अपने लिए भारी खतरा मोल ले रहा है । उसे समझाया । लेकिन, दिल की लगी कैसे बुझ सकती है ? गुरु ने सलाह दी, ऐसी अवस्था में तुम हज के लिए चले जाओ । छह-सात सौ परिवार अल्लाई के साथ हज के लिए चल पड़े । उस समय सूरत में हज के लिए जहाज मिला करते थे । लेकिन, शेरशाह की सल्तनत समुद्र तक नहीं थी । सरहद पर खवास खाँ शेरशाह की ओर से हाकिम था । उसने अल्लाई का स्वागत किया । हाकिम के यहाँ हर गुरुवार को उपदेश और गोष्ठी होने लगी । खवास खाँ मौज-मेले पसन्द करता था । उसे न्याय-अन्याय की परवाह नहीं थी । सिपाहियों की तनख्वाह तक को मार लिया करता था । शेख अल्लाई अपने प्रति भक्ति दिखाने से कैसे उसे क्षमा कर सकते थे ? हाकिम की भक्ति ज्यादा दिन तक नहीं रह सकी । शेख अपने शिष्यों के साथ आगे बढ़े । बाधाएँ रास्ते में आईं । अल्लाई के लिए जनता की सेवा ही सबसे बड़ा हज था, इसलिए वह बयाना लौट आये ।

शेरशाह के बाद उसका लड़का सलीमशाह (१५४५-५४ ई०) गद्दी पर था । बयाना आगरा से बहुत दूर नहीं है । सलीमशाह उस वक्त आगरा में था । अल्लाई की विद्वता, वाग्मिता और संत-जीवन की बात सलीमशाह के कानों तक पहुँची । मख्दूमुल्मुल्क मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी सल्तनत के सर्वोपरि धर्माचार्य थे । मेहदी पंथ को फिर सिर उठाते देखकर उसकी नींद हराम हो गई थी ।

उसने कान भरना शुरू किया—"यह हथियारबन्द भुक्कडो की जमात जमा कर रहा है । यदि कहीं इसने अपने हथियारो को सल्तनत की ओर घुमा दिया, तो भारी खतरे का सामना करना पड़ेगा ।" सलीमशाह ने बुलवाया । अल्लाई अपने अनुयायियों के साथ आगरा पहुँचे । सभी हथियारबन्द, सभी कवच और शिरस्त्राणधारी थे । सलीमशाह ने उस समय के बड़े-बडे आलिमो सैयद रफीउद्दीन, अबुल्फतह थानेसरी आदि को दरबार में बुलाया । अल्लाई ने दरबार में आकर दरबारी कायदे के अनुसार वन्दना न कर पैगम्बर इस्लाम के जमाने के कायदे के मुताबिक लोगों को "सलाम अलैकुम" (तुम्हारे ऊपर सलाम) कहा । सलीमशाह को बुरा लगना ही था, लेकिन सलाम का जवाब दिया । मुल्ला सुल्तानपुरी ने शाह के कान में भरा—"देखा, कितना सर्कश है । मेहदी का मतलब संसार का बादशाह है । यह विद्रोह किये बिना नहीं रहेगा । इसे कत्ल करवा देना ही उचित है ।" शेख अल्लाई ने मौका पाकर व्याख्यान शुरू किया । व्याख्यान कुरान की आयतों की व्याख्या के रूप में था । संसार की विषमता और धन के बँटवारे में भारी भेद को दिखलाते हुए बतलाया, "हमारा जीवन कितना निकृष्ट है । निकृष्ट स्वार्थों के लिए धर्माचार्य क्या-क्या नहीं कर डालते । दूसरों को वह क्या रास्ता दिखलायेंगे, जबकि अपने ही उन्हें रास्ता मालूम नहीं ।" अल्लाई ने गरीबों का चित्रण किया : मेहनत कर-करके मरने वाले लोग भी हमारे और तुम्हारे जैसे ही अल्ला के प्यारे बच्चे हैं । चित्रण इतना सजीव और हृदयद्रावक था कि लोगों की आँखों में आँसू भर आये । सलीमशाह खुद अपने को सँभाल नहीं सका । दरबार से महल में गया । वहाँ दस्तरखान पर तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन सजे हुए थे, पर बादशाह ने उसमें हाथ तक न लगाया । दूसरों से कहा—आप जो चाहो, खा लो । खाना क्यों नहीं खाते, यह पूछने पर कहा—इस खाने में गरीबों का खून दिखलाई पड़ता है । फिर सभा हुई । सैयद रफीउद्दीन ने मेहदी पंथ के बारे में एक पैगम्बर-वचन पर बातचीत शुरू की । अल्लाई ने कहा—तुम शाफई सम्प्रदाय के हो और हम हनफी हैं । तुम्हारे और हमारे स्मृति-वचनों और उनकी प्रामाणिकता में अन्तर है । बेचारे चुप रह गये । मुल्ला सुल्तानपुरी के लिए तो जबान खोलना मुश्किल था । अल्लाई कहते थे—"तू दुनिया का पण्डित है, लेकिन दीन का चोर है । एक नहीं, अनेक धर्म-विरोधी कार्य खुल्लम-खुल्ला करता है ।" कई दिनों तक सभाएँ होती रहीं । इन सभाओं में फैजी और अबुलफजल के पिता शेख मुबारक भी शामिल होते थे । उनकी सारी सहानुभूति अल्लाई के साथ थी जिसे कभी-कभी वह प्रकट करने के लिए भी मजबूर हो जाते थे । शेख मुबारक गरीबी के शिकार थे । उनकी सारी प्रतिभा उनकी दुनिया में बेकार सिद्ध हुई थी, इसलिए भी वह अल्लाई के साम्यवाद को पसन्द करते थे ।

आगरा में अल्लाई की धूम थी । कितने ही अफसर अपनी नौकरियाँ छोड़ कर उनके साथ हो लिये । कितने ही दूसरे घर-बार लुटा कर मेहदी के पंथ के पथिक बन गये । बादशाह के पास रोज-रोज की खबरें पहुँचती रहती थीं । मुल्ला सुल्तानपुरी उनमें और नमक-मिर्च लगाता था । आखिर सलीमशाह ने दिक होकर हुकुम दिया—यहाँ न रहो दक्षिण में चले जाओ । अल्लाई ने सुन रखा था, दक्षिण में मेहदी पंथ के मानने वाले बहुत है । उन्हें देखने की इच्छा थी जिसकी पूर्ति इस समय हो सकती थी । अल्लाह की जमीन विशाल है, कह कर वह दक्षिण की ओर चल पड़े । दक्षिण की बहमनी रियासतें सूरी सल्तनत में स्वतंत्र थीं । मुगल ही उन्हें लेने मे आंशिक सफलता पा सके ।

सीमान्त के नगर हँडिया में पहुँचे । हाकिम आजम हुमायूँ शिरवानी अल्लाई का वचन सुनते ही गुलाम हो गया, बराबर उपदेश में आने लगा । उसकी आधी से अधिक सेना भी मेहदीपंथी बन गई । साम्यवाद बहुजन-हित के लिए ही सोता, उसी के लिए जागता है । फिर जब उसकी सेवा में अल्लाई की वाणी मिले, तो वह क्यों न आदमी के हृदय को मथ कर बेकाबू बना दे । शिरवानी सूरी हाकिम था, उसकी इस कार्रवाई को मुल्ला सुल्तानपुरी ने बढ़ा-चढ़ाकर सलीमशाह के कानों में पहुँचाया । सलीमशाह ने दरबार में हाजिर करने का हुकुम जारी किया ।

१५३६-३७ ई० की बात है । पंजाब में नियाजी पठानों ने विद्रोह कर दिया । सलीमशाह बयाना के पास पहुँचा, तो मुल्ला सुल्तानपुरी ने कहा—"छोटे फितने का मैंने बन्दोबस्त कर लिया है । बड़े फितने की आप खबर लीजिए ।" बड़ा फितना मियाँ अब्दुल्ला नियाजी थे जो कि अल्लाई के गुरु थे । पीर नियाजी के पास हमेशा तीन-चार सौ हथियारबन्द चेले बयाना के पहाड़ों में तैयार रहते थे । पंजाब के नियाजियों की बगावत से सलीमशाह जलाभुना बैठा था । दूसरे नियाजी के बारे में सुनकर उसका गुस्सा भड़क उठा और बयाना के हाकिम को लिखा—अब्दुल्ला को उसके शिष्यों के साथ पकड़ कर तुरन्त हाजिर करो । हाकिम अब्दुल्ला का भगत था । चाहता था, गुरु कहीं हट जायें, तो अच्छा । लेकिन, बूढ़े गुरु ने इसे पसन्द नहीं किया । बादशाह के दरबार में बूढ़े साम्यवादी संत पहुँचे । "सलाम अलैक" की, दरबारी कायदे के मुताबिक कोर्निश नहीं बजाई । दरबारी ने पूछा—"शैखा, ब-बादशाहाँ ईचुनी सलामी कुनन्द ?" (शेख, क्या बादशाहों के साथ ऐसे ही सलाम करते है ?) शेख ने मुँह तोड़ जवाब दिया । अल्ला के रसूल को इसी तरह सलाम करते थे, "मन् गैरईं नमिदानम्" (मैं इससे दूसरा नहीं जानता।) सलीमशाह ने जान-बूझकर पूछा —"पीरे अल्लाई हमीं अस्त ?" (अल्लाई का गुरु वही है ?) मुल्ला सुल्तानपुरी तो घात में मौजूद ही था बोला —"हमीं (यही)।" सलीमशाह ने संकेत किया । बूढ़े संत पर लात

मुक्का, लाठियाँ, कोड़े बरसने लगे। जब तक होश रहा, तब तक वह कुरान की एक आयत पढ़ते दुआ माँग रहे थे—"रब्बना अग्फर लना जनूबेना व अस्राफेना।" (हे मेरे भगवान ! माफ कर हमें, हमारे गुनाहो को, हमारे दुष्कर्मों को)।

बादशाह ने पूछा—"चि मीगोयद् ?" (क्या कहता है ?) मुल्ला ने बादशाह के अरबी के अज्ञान से लाभ उठाकर कहा—"शुमारा व मारा काफिर मीखानद।" (आपको और मुझे काफिर कह रहा है।) बादशाह को और गुस्सा आया, उसने और भी कड़ाई करने का हुकुम दिया। घंटे भर से ज्यादा बूढ़े शरीर पर प्रहार किये जाते रहे। मुर्दा समझ कर छोड दिया। जालिमो के हटते ही लोग दौडे। खाल में लपेट कर बूढ़े संत को अन्यत्र ले जाकर रखा। प्राण गये नहीं थे। कितनी ही देर बाद होश आया।

संत बयाना से अफगानिस्तान की ओर गये। फिर पंजाब में बेजवाड़ा और दूसरी जगहों पर घूमते रहे। अन्त में सरहिन्द पहुँचे और वहीं उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। मालूम नहीं सरहिन्द में अब भी इस साम्यवादी संत की कोई कब्र है या नहीं।

इधर हँडिया मे अल्लाई के बारे में जो खबर मिली, उसके कारण सलीमशाह की नींद हराम हो गई। वह अब उसके पीछे पड़ा। आग में घी डालने के लिए मुल्ला सुल्तानपुरी मौजूद था। शेरशाह के समय से मियाँ बुड्ढे की बड़ी इज्जत थी। इस्लाम के वह बड़े आलिम और दरबार के माननीय व्यक्ति थे। बुढ़ापे के कारण अब अधिकतर एकान्त-वास करते थे। अल्लाई उनके पास पहुँचे। मियाँ बुड्ढे प्रभावित हुए। उन्होंने सलीमशाह के पास पत्र लिखा कि बात ऐसी नहीं है जिसके कारण इस्लाम की जड़ कटती हो। मियाँ बुड्ढे के बेटे ने समझाया—सुल्तानपुरी इससे आप पर नाराज होगा। डर गये, पिण्ड छुड़ाने के लिए अल्लाई से चुपके से कहा—"तू तनहा दर गोशेमन बगो कि अर्जी दावा तायब शुदम्।" (तू अकेले मेरे कान में कह कि मैंने इस दावा से तौबा कर लिया।) भला जान के लोभ से अल्लाई ऐसा कर सकते थे ? वह तो सिर से कफन बाँधकर इस रास्ते पर चले थे।

अल्लाई सलीमशाह के दरबार में पहुँचे। सन् १५३६ ई० का अन्तिम महीना था। मुल्ला सुल्तानपुरी और दूसरे मुल्लों को क्यों न घबराहट होती ? अल्लाई जादूगर था, उसकी जबान चले और सलीमशाह का दिल न बदले, यह कैसे हो सकता था ? अल्लाई को लोगों ने हटाने की बहुत कोशिश की, लेकिन वह जानते थे कि जिस स्वर्ग को हम पृथ्वी पर उतारना चाहते हैं, वह इतनी आसानी से नहीं उतर सकता था। इसके लिए लाखों कुर्बानियाँ देनी पड़ेंगी। मैं उसमें पीछे रहने का पाप नहीं कर सकता। गुरु के ऊपर गुजरी बातों को

जानते थे। तैयार होकर दरबार मे गये। बादशाह ने मुँह खोलने का मौका न दे हुकुम दिया : तब तक कोड़े लगाओ जब तक कि इसके देह में प्राण है। तीसरे कोड़े में अल्लाई का शरीर निष्प्राण हो गया। इतने से भी मुल्ला सुल्तानपुरी और सलीमशाह को सन्तोष नहीं हुआ। अल्लाई के शरीर को हाथी के पाँव में बांधकर आगरा की सड़को पर घुमाया गया। हुकुम था : लाश को कोई दफन न करने पाये। थोड़ी देर मे जबर्दस्त आँधी आई। जान पड़ता था, महाप्रलय आ गया है। नागरिक और बादशाही सेना इसे बड़ा असगुन मानने लगे। सभी कहने लगे, अब सलीमशाह की सल्तनत कायम नहीं रह सकती। लाश को कहीं छोड दिया गया। रातो-रात उस पर इतने फूल चढ़े कि वह ही उसके लिए कब्र बन गये। सलीमशाह और उसके वंश की सल्तनत की कब्र सचमुच ही खुद गई। इस्लाम ने केवल मुल्ला सुल्तानपुरी को ही नहीं, बल्कि ऐसे संत को भी हमारे देश में पैदा किया। मज्दक, मेहदी का स्वप्न आज दुनिया के आधे भाग में सजीव हो चुका है। हमारा देश भी उसी साम्यवाद के रास्ते की ओर जा रहा है जिसके लिए चार सदियों पहिले अल्लाई ने अपने प्राणों की आहुति दी।

मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी (मृ० १५८२ ई०)

१. प्रताप आसमान पर

अब्दुल्ला सुल्तानपुरी हुमायूँ के प्रथम शासन में दरबार में आये। शेरशाह, सलीमशाह के समय उनका प्रभाव और भी बढ़ा। हुमायूँ ने दुबारा तख्त लेने पर उनको वही सम्मान और अधिकार दिये। जब तक अकबर ने अपनी नीति में भारी परिवर्तन करके हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गम्भीर कदम नहीं उठाया, तब तक यह धार्मिक मामलों में सर्वेसर्वा रहे। इनके फतवों के सामने लोग थर-थर काँपते थे। न जाने कितने निरपराधों को इन्होने मौत के घाट उतरवाया, न जाने कितनों का खाना-खराब किया।

यह अंसारी, अर्थात् इस्लाम के पैगम्बर के मक्का से मदीना हिजरत कर जाने पर वहाँ के जिन लोगों ने पैगम्बर के धर्म को मानकर उनकी सहायता की थी, उन्हीं लोगों के वंशज थे। पहले इनके पूर्वज मुल्तान में आकर बसे, इसके बाद सुल्तानपुर (पंजाब) में आबाद हो गये। इसी के कारण इनके नाम के साथ सुल्तानपुरी लगता था। आलिमों के खानदान के थे। अरबी-साहित्य और धर्मशास्त्र उनके घर की चीज थी। इसमें उन्होंने असाधारण योग्यता प्राप्त की थी। अब्दुल्कादिर सरहदी इनके गुरुओं में थे। कुरान की आयतें और पैगम्बर-वाक्य (हदीस) जीभ पर थे। इनकी ख्याति फैलने में देर न लगी। हुमायूँ (१५३०-४० ई०) मुस्लिम आलिमों (विद्वानों) की बड़ी इज्जत करता था। मुल्ला अब्दुल्ला उसके दरबार में पहुँचे और उन्हें हुमायूँ ने मखदूमुल्मुल्क (देशपूज्य) की उपाधि प्रदान की। मखदूम के नाम से ही यह ज्यादा प्रसिद्ध थे। किसी-किसी का कहना है, "शेखुल्इस्लाम" (इस्लामधर्मराज) की पदवी भी हुमायूँ ने इन्हें दी। और कुछ का कहना है, शेरशाह का अपनी पद और मर्यादा को दो राज-परिवर्तनों के बाद भी अक्षुण्ण रखना इन्हीं का काम था। जब हुमायूँ १५४० ई० में शेरशाह से हारकर ईरान की ओर भागा, तब उन्होंने अपनी भक्ति शेरशाह में परिवर्तित कर दी। उसके बेटे सलीमशाह के वक्त तो धर्म के मामले में इनका कोई समकक्ष न था। मेहदीपंथी (साम्यवादी) शेख अल्लाई को इन्होंने अपने फतवे से मरवाया। कट्टर मुलटे थे, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

सलीमशाह के जमाने में लाहौर के इलाके के जहनी गाँव में एक सूफी संत शेख दाऊद जहनी रहते थे। उनके ज्ञान-ध्यान की बड़ी ख्याति थी और खानकाह (गुरुद्वारा) में चेले-चेलियों की भीड़ रहती थी। मुल्ला सुल्तानपुरी को

इनमें कुफ्र की भनक मालूम हुई । उस वक्त सलीमशाह ग्वालियर में था । मखदूम ने फरमान निकलवा कर शेख दाऊद को बुला भेजा । शेख दो अनुचरों को लेकर चल पड़े । ग्वालियर के बाहर मुल्ला सुल्तानपुरी से भेंट हुई । शेख ने पूछा, "फकीर को बुलाने का क्या कारण था ?"

सुल्तानपुरी ने कहा—"मैंने सुना है, तुम्हारे चेले 'या दाऊद, या दाऊद' करके जप और कीर्तन करते है ।" जहनी ने कहा—"सुनने में गलती हुई होगी । या दाऊद नहीं, या वदूद कहते है ।" वदूद अल्ला का नाम है, इसलिए उस पर क्या एतराज हो सकता था ? एक रात रहे । सुल्तानपुरी पर उनके सत्संग का काफी प्रभाव पड़ा और सम्मान के साथ उन्हें विदा कर दिया ।

शाह आरिफ हुसेनी बड़े सिद्ध संत समझे जाते थे । अहमदाबाद-गुजरात से लौट कर लाहौर आये । उन्होंने अपनी सभाओं में गुजरात के जाड़े के फलो को मँगा कर लोगों को खिलाया । मुल्लो की संतो-सूफियों से अक्सर खटपट रहती थी । उनके पास आध्यात्मिक शक्ति प्रदर्शन की क्षमता थी, जब कि मुल्ले केवल फतवा और शरीयत की रूखी-सूखी बातें लोगों के सामने रख सकते थे । शाह हुसेनी ने दूर काठियावाड़-गुजरात के फलों को लाहौर में लोगों को खिलाया था; यह बड़ा भारी चमत्कार था जिसका जवाब मुल्ला सुल्तानपुरी के पास क्या था ? उन्होंने दूसरा ढंग निकाला—आखिर यह फल दूसरे के बागों से तोड़कर आये है । शाह ने बिना मालिकों की इजाजत से इन्हें खर्च किया जो हराम है, खाने वालों का खाना भी हराम है । लेकिन, इसके पहले कि मुल्ला सुल्तानपुरी कुछ और कर पाते, शाह हुसेनी कश्मीर चले गये ।

सलीमशाह मुल्ला सुल्तानपुरी की कितनी इज्जत करता था, यह इसी से मालूम होगा कि एक बार विदाई देते फर्श के किनारे पर आया, इनकी जूतियाँ अपने हाथ से सीधी करके सामने रख दीं । पर, यह दिखावे की बातें थी । वह समझता था, लोगों पर इस मुल्ला का बहुत प्रभाव है, ऐसा करने से हमारी लोकप्रियता बढ़ेगी । एक बार पंजाब की यात्रा में मुसाहिबों के बीच बैठा था । मुल्ला सुल्तानपुरी को दूर से आते देखकर बोला—"हेच मी दानीद कि ईं कि आयद् ?" (कोई जानता है कि यह कौन आ रहा है ?) एक मुसाहिब ने कहा—"ब-फर्मायन्द" (आज्ञा कीजिए ।) सलीमशाह ने कहा—"बाबर बादशाहरा पंज पिसर बूद् । चहार पिसर अज्-हिन्दुस्तान रफ्तंद्, एके मान्दा ।" (बाबर बादशाह के पाँच लड़के थे, चार हिन्दुस्तान से चले गये, एक रह गया ।) मुसाहिब ने पूछा—"आँ कीस्त्" (वह कौन है ?) सलीमशाह बोला—"ई मुल्ला कि मीआयद् ।" (यह मुल्ला जो आ रहा है ।) लेकिन जब मुल्ला अब्दुल्ला के पास पहुँचा, तो उसको तख्त पर ही बिठाया और मोती की सुमिरनी (तस्बीह) भेट की जो बीस हजार की थी ।

सलीमशाह को मुल्ला सुल्तानपुरी पर जो सन्देह था, वह निराधार नहीं था। जब हुमायूँ ने ईरान से लौटकर काबुल जीत लिया, तो हाजी...पराचा नामक सौदागर की मार्फत मुल्ला ने एक जोड़ी मोजा और एक कोड़ा भेंट के तौर पर भेजा जिसका अर्थ था—पैरों में मोजा पहनो और चाबुक हाथ में ले घोड़े पर सवार हो हिन्दुस्तान चले आओ, मैदान साफ है।

हुमायूँ ने हिन्दुस्तान पर अधिकार कर लिया। अब मुल्ला सुल्तानपुरी धर्म का सर्वेसर्वा था। जिस वक्त अकबर राज्य और प्राण की बाजी लगाकर लड़ रहा था, उसी समय सिकन्दर खाँ अफगान —जो अपने लोगो के साथ काँगड़ा की पहाड़ियों में छिपा हुआ था— बाहर निकल आया और मुगल-इलाके से कर वसूल करने लगा। लाहौर के हाकिम हाजी मुहम्मद खाँ सीस्तानी को पता लगा कि इसके पीछे मुल्ला सुल्तानपुरी का हाथ है। मुल्ला सुल्तानपुरी ने लूट-लूटकर खूब धन जमा किया था। हाजी को एक पंथ दो काज करने को मिला। इन्हें पकड कर आधा जमीन में गाड़ दिया और जो धन इन्होंने जमा किया था, उस पर हाथ साफ कर लिया। बैरम खाँ खानखाना सिपाही ही नहीं, भारी कूटनीतिज्ञ भी था। विजय के बाद वह इस बात पर नाराज हुआ। जब अकबर के साथ लाहौर आया, तो हाजी सीस्तानी के वकील को मुल्ला सुल्तानपुरी के घर पर कसूर माफ करने के लिए भिजवाया और मानकोट इलाके में एक लाख बीघे की जागीर दी। कुछ ही दिनों में मुल्ला के अधिकार पहले से अधिक बढ़ा दिए गये।

मुल्ला सुल्तानपुरी का प्रताप फिर मध्याह्न की ओर दौड़ा। बादशाह अभी बच्चा था। वह स्वप्न अभी उसके सामने भी नहीं थे जिसमें सबसे ज्यादा बाधक मुल्ले साबित हुए; इसलिए मुल्ला सुल्तानपुरी का प्रभाव पहले से ज्यादा बढ़ जाये, तो आश्चर्य क्या? आदम खाँ झेलम के इलाके के लड़ाकू धक्करों का सरदार था। वह मुगलों के सामने सिर झुकाने के लिए तैयार नहीं था। मुल्ला सुल्तानपुरी के बीच में पड़ने से वह खानखाना के पास आया जिसने आदम खाँ से भाई का सम्बन्ध जोड़ते अपनी पगड़ी बदली। खानखाना की जब अकबर से बिगड़ गई, उस वक्त भी दोनों में मेल कराने के लिए मुल्ला सुल्तानपुरी ने बड़ी कोशिश की और बैरम खाँ को ले जाने वालों में वह एक था। इसी तरह अकबर के एक दूसरे सेनापति मुनअम खाँ खानखाना को क्षमादान कराने में भी इसके प्रभाव ने काम किया।

२. अवसान

अकबर ने सल्तनत की बागडोर ही अपने हाथ में नहीं सँभाली, बल्कि देश के भविष्य को नई बुनियाद पर रखने का निश्चय किया। उसने राज्य के

संविधान को शरीयत पर नहीं, बल्कि प्रजा के हित पर रखना चाहा। मुल्ला भला शरीयत को नीचे गिरते कैसे देख सकते थे ? आखिर उनकी सारी महिमा शरीयत के ऊपर आधारित थी। जिसने हुमायूँ, शेरशाह, सलीमशाह को अपनी अँगुलियों पर नचाया, वह कल के छोकरे को क्या समझता ? लेकिन, दुनिया में सभी पहले कल के छोकरे हुआ करते हैं, फिर आगे बढ़ जाते हैं। अकबर के दरबार में अब फैजी मलिकुश-शुअरा और बादशाह का नर्म सचिव था। अबुलफजल अपने करिश्मे दिखाने के लिए आ गया था। शेख मुबारक ने बतला दिया था, मुल्ले कितने पानी में है। अकबर ने मुल्लों को नंगा करने का निश्चय कर लिया। इतिहासकार बदायूँनी लिखता है—"अकबर प्रत्येक शुक्रवार की रात को आलिमों-फाजिलों, सैयदों-शेखों और दूसरे विद्वानों को बुलाता, खुद भी सभा में सम्मिलित होकर ज्ञान-विज्ञान के वार्तालाप को सुना करता। यह १५७३ ई० के आस-पास शुरू हुआ।" मुलटों की सफेद दाढ़ियों में आग लगाने के लिए अकबर के पास अबुलफजल, फैजी, अब्दुलकादिर, बदायूँनी जैसे नौजवान मौजूद थे जो इस्लामी शरीयत की रग-रग पहचानते थे और मियाँ की जूती मियाँ का सर करने के लिए तैयार थे। मुल्ला बदायूँनी लिखते है—"अकबर मखदूमुल्मुल्क मौलाना अब्दुल्ला सुल्तानपुरी को बेइज्ज़त करने के लिए बुलाता था। हाजी इब्राहीम और नये धर्म के अनुयायी अबुलफजल के साथ कुछ दूसरे नये आलिमों को बहस करने के लिए छोड़ देता। वह मुल्ला की हरेक बात पर नुक्ताचीनी करते। बादशाह के नजदीक के कितने ही अमीर भी शह देते। मुल्ला सुल्तानपुरी के बारे में बहुत सी कहानियाँ गढ़ कर उपहास करते। एक रात खानजहाँ ने अर्ज किया, मखदूमुल्मुल्क ने फतवा दिया है : "इन दिनों हज के लिए जाना कर्तव्य (=फर्ज) नहीं, बल्कि गुनाह (=पाप) है।" बादशाह ने कारण पूछा, तो बतलाया, वह कहते हैं, "स्थल-मार्ग से जायें, तो ईरान के राफ़ज़ियाँ (शियों) के देश से जाना पड़ेगा, सामुद्रिक मार्ग से जायें, तो फिरंगियों से काम पड़ता है। वह भी बेइज्ज़ती है, क्योंकि जहाज के प्रतिज्ञा-पत्र पर हजरत मरियम और हजरत ईसा की तस्वीरें बनी रहती हैं जो कि मूर्ति पूजा है। इस तरह दोनों मार्गों से जाना हराम है।"

बेचारे मुल्ला सुल्तानपुरी किसका मुँह बन्द करते ? बादशाह का रुख बदला देखकर दुनिया की हवा बदल गई थी।

मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी बड़े ही लोभी और खूसट थे। दूसरे भी मुल्ले उनसे बेहतर होंगे, इसकी आशा नहीं करनी चाहिए। फर्क था, तो उन्नीस-बीस का ही। शरीयत (मुस्लिम धर्मशास्त्र) के अनुसार हरेक अच्छे मुसलमान का अपनी आमदनी पर जकात (धार्मिक कर या दान) देना आवश्यक कर्तव्य है। इससे बचने के लिए मुल्ला सुल्तानपुरी साल के अन्त में अपने तमाम रुपये का डिब्बा (दानपात्र)

अपनी बीवी के हवाले कर देते और अगले साल फिर वापस ले लेते। उनकी नीचता, धोखेबाजी, आडम्बर और जुल्म लोगों में प्रसिद्ध थे, इसलिए दरबार और नौजवान सहकारियों को झूठी बातें गढ़ने की अधिक जरूरत नहीं थी।

अबुलफजल मे बहस-मुबाहिसे में गजब की ताकत थी। उनकी जबान कैंची की तरह चलती थी। नौजवान बादशाह उनकी पीठ पर था, फिर उनको किसका डर ? सदर (सर्वोच्च न्यायाधीश) हो या काजी, हकीमुल्मुल्क (देशदार्शनिक) हो या मखदूमुल्मुल्क (देशपूज्य), किसी की भी इज्जत धूल में मिलाने में वह कसर नहीं करते थे। ७०-७२ के बुड्ढों ने मीर बख्शी (प्रधान लिपिक) के द्वारा चुपके से उनके पास सन्देश भेजा—"चिरा बा-मादर् मी उफ्ती ?" (क्यों हमारे साथ उलझते हो ?) तरुण अबुलफजल ने बादशाह और बैगनों का किस्सा सुना दिया। बादशाह ने कहा— बैगन बड़े अच्छे हैं। मुसाहिब ने हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—तभी तो खुदा ने उसके सिर पर मोर-मुकुट और कृष्ण-कन्हैया का रंग दे दिया है। दूसरी बार बादशाह ने कहा—बैगन बुरे हैं। मुसाहिब ने कहा—तभी तो इसके सिर में कील ठोंक दी गई है। किसी ने कहा—क्यों दो तरह की बात करते हो ? मुसाहिब ने कहा—मैं बादशाह का नौकर हूँ, बैगनों का नहीं। यद्यपि यह बैगनों की कहावत मुल्ला बदायूँनी की अपनी गढ़ी हुई है। अबुलफजल को ऐसा कहने की जरूरत नहीं थी, वह दिल से जानता था कि बादशाह ने जो रास्ता लिया है, वही देश और जाति की भलाई का रास्ता है।

मुल्लों से असंतुष्ट हो अकबर ने एक नये मुल्ला शेख अब्दुन् नबी से भलाई की आशा समझ उन्हें सदर (सर्वोच्च मुल्ला) का पद प्रदान किया। मुल्ला सुल्तानपुरी अब्दुन् नबी को आगे बढ़ते देखकर कैसे चैन की साँस लेते ? सुल्तानपुरी ने एक पुस्तिका लिखकर अब्दुन् नबी पर अपराध लगाया —"उसने खिजिरखाँ शिरवानी के ऊपर पैगम्बर को बुरा-भला कहने और मीर हबश पर शिया होने के झूठे अपराध को लगा कर नाहक मरवा डाला। ऐसे आदमी के पीछे नमाज पढ़ना विहित नहीं है। इसे खूनी बवासीर भी है जिसकी वजह से भी यह नमाज का इमाम नहीं हो सकता है।" अब्दुन् नबी ने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया। दोनों मुल्लों की छिड़ गई। नई-नई बातों को लेकर वह आपस में झगड़ने लगे। यह दो मूजियों की खटपट थी। जवान बादशाह और उसके सहायक इसका मजा ही नहीं ले रहे थे, बल्कि अकबर के ऊपर शरीयत का जो रहा-सहा रोब था, वह भी खतम हो गया। समझ लिया, किसी के वचन को प्रमाण मान कर चलना बेवकूफी है।

अब शेख मुबारक का जमाना था। बादशाह ने मुल्लों की अंधेरगर्दी की बात की, तो उन्होंने कहा —इनकी परवाह क्यों करते हैं। जहाँ भी मतभेद हो,

वहाँ बादशाह की बात सबके ऊपर प्रमाण है । शेख मुबारक ने एक छोटा, किन्तु बहुत गम्भीर अर्थों से भरा व्यवस्था-पत्र तैयार किया । सब मुल्ले दरबार में तलब किये गये और कहा गया—इस पर अपनी-अपनी मुहर लगाओ । मुल्ला सुल्तानपुरी ने मुहर लगाई, अब्दुन् नबी ने भी मुहर लगाई, दूसरे मुल्ले भी ऐसा करने के लिए मजबूर हुए । शरीयत का तीर हाथ से निकल गया और बादशाह धर्म के मामलों में इनके पूछने की भी जरूरत नहीं समझता था । अगर जरूरत समझता था, तो यही कि शास्त्रार्थ में बुलाकर उनकी मिट्टी पलीद करवाये ।

खिसियानी बिल्ली की तरह अब्दुल्ला सुल्तानपुरी ने फतवा दिया, "हिन्दुस्तान कुफ्र का मुल्क हो गया । यहाँ रहना उचित नहीं है ।" यह कहते उन्होंने अकबर के मुल्क को छोड़कर खुदा के घर-मस्जिद में डेरा डाला । वहीं से तीर छोड़ने लगे । कभी कहते अकबर शिया हो गया, कभी कहते : हिन्दू हो गया, आदि-आदि । बादशाह ने कहा—"क्या मस्जिद मेरे मुल्क में नहीं है ?" सचमुच ही यह बेहूदी बात थी। अकबर भरसक चरम दण्ड देने के पक्ष में नहीं था । अभी वह लड़का ही था, जबकि दुश्मन हेमू को पकड़ कर उसके सामने लाया गया । बैरम खाँ ने उसे अपने हाथ से मार कर गाजी बनने के लिए कहा, पर उसने इन्कार कर दिया । मुल्ला सुल्तानपुरी और मुल्ला अब्दुन् नबी की बातें और हरकतें अकबर के पास पहुँच रही थीं । उसने दोनों को १५७६-८० ई० (हिजरी ९८७) में खुदा के वास्तविक घर मक्का में भेज दिया और कह दिया : बिना हुकुम के वहाँ से लौटकर न आना ।

हिन्दुस्तान के दोनों सैयद आलिम मक्का पहुँचे । वहाँ के एक महाविद्वान् शेख इब्न हजर मक्की ने उनके साथ बहुत स्नेह और सम्मान दिखलाया । यद्यपि वह समय नहीं था, तो भी काबा के दरवाजे को खुलवा कर मुल्ला सुल्तानपुरी को दर्शन कराया ।

लेकिन हिन्दुस्तान के मौज-मेले वहाँ कहाँ थे ? हुमायूँ, शेरशाह और आधे अकबर के शासन तक जो राज भोगे थे, वह याद आने लगे । मजलिसों में बैठ कर कुछ दिन अकबर को काफिर कह कर कोसते, लेकिन उससे पुराने समय को भूल थोड़े ही सकते थे ? इन्होंने मर-मार कर जिस अरबी पर अधिकार प्राप्त किया था, वह वहाँ के बच्चों की मातृभाषा थी । इस्लाम के बारे में भला अरब इन हिन्दियों को किस खेत की मूली समझते ? तड़पते लाचार वहाँ पड़े हुए थे । फिर आजाद के अनुसार—"इस बोझ को न मक्के की जमीन उठा सकी, न मदीने की । जहाँ के पत्थर थे, वहीं फेंके गये ।" काबुल का राज्यपाल अकबर का सौतेला भाई मुहम्मद हकीम मिर्जा बागी हो गया । वह हिन्दुस्तान के तख्त के लिए पंजाब की ओर दौड़ा । अकबर के एक मशहूर सेनापति खानेजमाँ ने पूर्वी सूबों में विद्रोह कर

दिया । जब यह खबर दोनों मुल्लों के पास मक्का में पहुँची, तो उन्होने समझा : अब अकबर के दिन खतम हो चुके है, कुफ्र से उसकी जड़ कट गई है । हमारे जरा-से हाथ लगाने की देर है; सारी इमारत ढह गिरेगी ।

अकबर की फूफी गुलबदन बेगम, सलीमा सुल्तान बेगम और दूसरी बेगमें हज करके हिन्दुस्तान लौट रही थीं । उन्हीं के साथ मुल्ला सुल्तानपुरी भी लौटे । खम्भात (गुजरात) के बन्दरगाह पर उतर कर पता लगाने लगे । हकीम मिर्जा का मामला खतम हो चुका था । डर के मारे पछताने लगे । बेगमों से दरबार मे सिफारिश करवाई । आखिर बेगमें अकबर की तरह शरीयत को नीची निगाह से नहीं देखती थीं । यह लोग काबा में बैठ कर जो कुछ कहते-सुनते थे, वह सारी बातें अकबर के पास पहुँच चुकी थीं । वह औरतों की सिफारिश को क्या मानता ? गुजरात के हाकिमों के पास हुकुम आया, मुल्ला को पकड़ कर गुजरात में रखें और चुपके से जंजीरों में बाँध कर दरबार में भेज दें । यह खबर सुनते ही मुल्ला सुल्तानपुरी के होश उड़ गये । दरबार की ओर प्रस्थान करने से पहले ही *अल्लाह मियाँ का बुलौवा आ गया और* १५८२ ई० में *मुल्ला* सुल्तानपुरी ने बहिश्त का रास्ता लिया । लोगों का कहना है, बादशाह के हुकुम से किसी ने जहर दे दिया । सचमुच—" क्या खूब सौदा नक्द है, उस हाथ दे इस हाथ ले ।" निर्दोष संत शेख अल्लाई को इसी शैतान ने मरवाया था और अब खुद इस तरह जलील होकर मौत के मुँह में पड़ा । पीछे लाश लाकर जालन्धर में दफनाई गई ।

लाहौर में मुल्ला सुल्तानपुरी की भारी सम्पत्ति और घर-हवेली थी । घर में बड़ी-बड़ी कब्रें थीं जिनके लम्बे-चौड़े आकार मुल्ला के बुजुर्गों के प्रताप को बतलाते थे । कब्र के ऊपर हरी चादर पड़ी रहती थी । बुजुर्गों के सम्मान के ख्याल से दिन रहते ही दिये जला दिये जाते थे । हर वक्त ताजे फूल चढ़े रहते थे । किसी ने चुगली लगाई कि कब्र बनावटी हैं, वस्तुतः इनके भीतर खजाने छिपाये हुए हैं । राजधानी फतेहपुर-सीकरी से गाजी अली को लाहौर भेजा गया । सचमुच ही उन कब्रों के भीतर इतना खजाना निकला जिसका किसी को अनुमान नहीं हो सकता था । कुछ सन्दूकों में निरी सोने की इंटें चिनी हुई थीं । तीन करोड़ रुपये नकद निकले । सारा धन शाही खजाने में दाखिल किया गया । मुल्ला के बेटे कुछ दिन बड़े घर की हवा खाते रहे ।

बीरबल ४
(मृ० १५८५ ई०)

१. दरबारी

शम्शुल उल्मा आजाद कहते हैं—"बीरबल के मरने पर अकबर को इतनी अधीरता और शोक हुआ जिसे देखकर लोग ताज्जुब करते थे। ऐसे आलिम-फाजिल, अनुभवी, बहादुर सरदार और दरबारी वीर मौजूद थे और उनमे से कितने ही अकबर के सामने ही मरे थे। क्या कारण था कि बीरबल के बराबर किसी के मरने का रंज उसे नहीं हुआ।...उनका नाम अकबर के साथ वैसे ही आता है, जैसे सिकन्दर के साथ अरस्तू का। लेकिन, जब उनकी प्रसिद्धि को देखकर विचार करो, तो मालूम होता है कि अकबाल उनके पास अरस्तू से भी बहुत ज्यादा था।"

अकबर बीरबल को अपना अभिन्नहृदय समझता था और उनकी इज्जत यहाँ तक करता था कि "राजा" की उपाधि प्रदान करके भी संतुष्ट नहीं हुआ। वही ऐसे थे जिनको अन्तःपुर में भी वह अपने साथ रखता था। लेकिन, अकबर और बीरबल के नाम से जितने किस्से मशहूर हैं, उनसे बीरबल सिर्फ जबर्दस्त मसखरे और बादशाह को खुश करने वाले एक कुशल भाँड़ से ज्यादा नहीं मालूम होते। पर, यह बात मानने को दिल नहीं चाहता कि केवल भँड़ैती के भरोसे वह अकबर जैसे महान् प्रतिभा के धनी के इतने स्नेहपात्र बन गये।

बीरबल का असली नाम महेशदास था। वह कालपी (जिला जालौन) में एक ब्रह्मभट के घर पैदा हुए। मुल्ला बदायूँनी भाट कहते हुए उनका नाम ब्रह्मदास बतलाते है। पहले रामचन्द्र भट के यहाँ नौकर थे, जगह-जगह अपनी कविताएँ सुनाते घूमा करते थे। अकबर के प्रथम राज्य-वर्ष (१५५६ ई०) में वह कहीं मिल गये। महेशदास की बात सुनकर बादशाह इतना प्रसन्न हुआ कि उन्हें अपने साथ ले लिया। मुल्ला बदायूँनी कहते है—"बादशाह को लड़कपन से ही ब्राह्मणों, भाटों और हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न लोगों के साथ विशेष मुहब्बत थी। आरम्भिक समय में कालपी का रहने वाला एक मँगता बरहमन भाट सेवा में आ गया जिसका पेशा ही था हिन्दुओं का गुन गाना। तरक्की करते-करते वह बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचा और बादशाह की हालत यह हुई कि—

मन् तू शुदम् तू मन शुदी मन तन् शुदम् तू जाँ शुदी।
(मैं तू हो गया, तू मैं हो गया, मैं तन हो गया, तू जान हो गया।)"

पहले बादशाह ने उन्हें कविराय (मलकुशशोअरा) की उपाधि दी, फिर राजा बीरबल की।

९८० हिजरी (१५७२-७३ ई०) में अकबर के सेनापति हुसेन कुल्ली खाँ ने नगरकोट (काँगड़ा) को जीता। बादशाह के सोलह साल के घनिष्ठ मित्र बीरबल को यह इलाका जागीर में देने का हुकुम हुआ। काँगडा के पहाड़ी लड़ाकू लोग आज की तरह तब भी इस्लाम से बहुत कम प्रभावित थे। बादशाह ने सोचा, एक ब्राह्मण को जागीरदार बनाने से लोग संतुष्ट हो जायेंगे। काँगड़ा की लड़ाई हमेशा दुश्मन के दाँत खट्टे करने वाली रही है। ऋग्वेद के समय राजा दिवोदास को यहीं के राजा शम्बर ने नाकों चने चबवाये और चालीस वर्ष बाद ही आर्यों की सारी शक्ति को इस्तेमाल कर दिवोदास उसे मारने में सफल हुआ। अकबर और जहाँगीर ही नहीं, बल्कि पहाडी लड़ाई में अद्वितीय गोरखों को भी सारे हिमालय पर विजय कर काँगड़ा में जाकर भारी क्षति उठा वहाँ से पीछे लौटना पड़ा। अकबर की सेना ने काँगडा पर जबर्दस्त आक्रमण किये। सेना में हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही थे। प्रहार जबर्दस्त था। फैसला पूरी तौर से नहीं हो पाया था, इसी समय शाहजादा इब्राहीम मिर्जा बागी होकर पंजाब पर चढ़ दौड़ा। मुगल सेनापति हुसेन कुल्ली खाँ को राजा से सुलह करके मुहासिरा उठाना पड़ा। सुलह की शर्तों में एक यह भी थी : चूँकि यह इलाका राजा बीरबल को बादशाह ने प्रदान किया है, इसलिए इसके बदले में पाँच मन सोना उन्हें मिलना चाहिए। बीरबल उससे संतुष्ट थे, इन पहाड़ियो के रोज-रोज के झगड़े से जान तो बची। बीरबल यहाँ से प्रस्थान कर अकबर के पास अहमदाबाद (गुजरात) पहुँचे।

अकबर की बड़ी इच्छा थी कि अपने साथियों और सलाहकारों के घरों में जाकर उनके स्वागत-सत्कार को स्वीकार करे। बादशाह के लिए ऐसा करना पहले ठीक नहीं समझा जाता था, लेकिन अकबर घुल-मिल जाना चाहता था। बादशाह के लिए दावतें होतीं लोग दिल खोल कर तैयारी करते। घर को खूब सजाते। मखमल जरबफत-कमखाब का पायंदाज बिछाते। बादशाह की सवारी आने पर सोने-चाँदी के फूल बरसाते, थाल के थाल मोतियाँ निछावर करते। सवा लाख रुपया नीचे रखकर चबूतरा बाँधते जिसके ऊपर बादशाह के बैठनें के लिए गद्दी तैयार की जाती। लाल-जवाहर, शाला-दुशाला, मखमल जरबफत, कीमती हथियार, सुन्दर लौंडियाँ और गुलाम, एक से एक अच्छे हाथी-घोड़े आदि लाखों रुपये की भेंट बादशाह के हुजूर में हाजिर करते। लोगों ने बीरबल को भी कहा—सब बादशाह की दावत करते हैं, तुम भी करो। बीरबल बेचारे लड़ाइयों में सेनापति होकर नहीं जाते थे कि वहाँ से लूट में लाखों-करोड़ों का माल ले आते। उन्होंने अपनी औकात के मुताबिक तैयारी की। बादशाह को दावतों में मिलने

वाली भेंटो के सामने वह कुछ नहीं थी । पर, बीरबल के पास वह वाणी थी ज बादशाह को उनके साग और रूखी रोटी पर भी इतना खुश कर देने के लि काफी थी जितना कि अमीरों के लाखों रुपयों की दावत नहीं कर सकती ।

लेकिन, इसका यह अर्थ नही कि बीरबल गरीबी की जिन्दगी बसर कर थे । राजा-महाराजा, अमीर-नवाब, बादशाह के अभिन्नहृदय सखा के पास बड़ी-बड़ भेंटें भेजते थे । बिगडी बनाने के लिए राजाओं के पास अक्सर उन्हें दूत बनाक भेजा जाता और वह करोड़ों के खर्च वाले युद्धों का काम अपनी मीठी वाणी र निकाल लेते थे । ६८४ हिजरी (१५७६-७७ ई०) में इसी काम के लिए उन डोगरपुर के राय लूनकरन के साथ भेजा गया था ।

एक बार शाही हाथी दलचाचर बिगड़ गया । वह बेतहाशा दौड़ा जा रह था । लोग भाग रहे थे । इसी समय बीरबल सामने आ गये । दूसरों को छो कर वह इनकी ओर झपटा । भागते-भागते जान पर आफत आ गई । इसी समर अकबर घोड़े पर चढ़कर हाथी के पास पहुँचा और वह वहीं रुक गया ।

२. युद्ध में

कश्मीर से पश्चिम कश्मीर जैसा ही सुन्दर स्वात-बुनेर का इलाका हिमाल की सबसे सुन्दर उपत्यकाओं में है । इस भूमि पर ऋग्वैदिक आर्य भी इतने मुग् थे कि उन्होंने इसका नाम सुवास्तु (अच्छे घरों वाला) रखा जिसका ही बिगड़ा ना स्वात है । भूमि बड़ी ही उर्वर है । गर्मियों में यह अधिक सुहावना और शीतल ह जाता है । इसके उत्तर में सदा हिम से आच्छादित रहने वाली हिमालय-श्रेणी है दक्षिण में खैबर से आने वाली पहाड़ियाँ, पश्चिम में सुलेमान पहाड़ी की श्रेणिय चली गई है और पूर्व में कश्मीर है । इसमें तीस-तीस, चालीस-चालीस मील लम्ब उपत्यकाएँ हैं । इधर-उधर जाने के लिए पहाड़ों को पार करने वाले दर्रे हैं । सार इलाका हरा-भरा है । आजाद स्वात की भूमि के बारे में लिखते हैं—"मेरे दोस्तो यह पर्वतस्थली ऐसी बेढंगी है कि जिन लोगों ने उधर के सफर किये हैं, वही वह की मुश्किलों को जानते हैं । अनजानों की समझ में वह नहीं आती । जब पहा के भीतर घुसते हैं, तो पहले पहाड़, मानो जमीन थोड़ी-थोड़ी ऊपर चढ़ती हु मालूम होती है । फिर दूर बादलों-सा मालूम होता है जो सामने दाहिने से बा तक बराबर छाये हुए हैं । वह उठता चला आता है । ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते च जाओ, छोटे-छोटे टीलों की पाँतियाँ प्रकट होती हैं । उनके बीच में से घुस क आगे बढ़ो, तो उनसे ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ शुरू होती हैं । एक पाँती को लाँघ थोड़ दूर चढ़ता हुआ मैदान है, फिर वही पाँती आ गई । यहाँ दो पहाड़ बीच से फट हुए (दर्रा) हैं जिनके बीच में से निकलना पड़ता है, अथवा किसी पहाड़ की पीठ पर से चढ़ते हुए ऊपर होकर पार होना पड़ता है । चढ़ाई और उतराई में, पहा

की धारो पर दोनो ओर गहरे-गहरे खड्ड दिखलाई पडते है जिन्हे देखने को दिल नहीं चाहता। जरा पॉव बहका और गये, पाताल से पहले ठिकाना नहीं मिल सकता। कहीं मैदान आता, कही कोस, दो कोस जिस तरह चढ़े थे, उसी तरह उतरना पड़ता, कही बराबर चढते गये। रास्ते मे जगह-जगह दाये-बायें दर्रे (घाटे, डॉडे) आते है, कहीं दूसरी तरफ रास्ता जाता है। इन दर्रों के भीतर कोसो तक लगातार आदमियो की बस्ती है जिनका हाल किसी को मालूम नहीं। कही दो पहाड़ों के बीच मे कोसो तक गली-गली चले जाते हैं। चढाई (सराबाला), उतराई (सराशेब), डॉडा (कमरेकोह), द्वार (गरीबानेकोह), गलियारा (तंगियेकोह), धार (तेजियेकोह), तराई (दामनेकोह) इन शब्दो का अर्थ वहॉ जाने पर मालूम होता है। यह सारे पहाड़ बडे-बडे, छोटे-छोटे वृक्षों से ढँके हुए है। दाहिने-बाये पानी के चश्मे ऊपर से उतरते हैं, जमीन पर कहीं नाली और कहीं नहर होकर बहे है। कहीं दो पहाड़ियों के बीच में होकर बहते हैं जहॉ पुल या नाव के बिना पार होना मुश्किल है। पानी ऊँचाई से गिर कर आता पत्थरों से टकराता हुआ बहता है, इसलिए इस जोर से जाता है कि पैर से चलकर पार होना सम्भव नहीं। थोड़ा हिम्मत करे, तो पत्थरो पर से पैर फिसले बिना न रहे।

इसी पर्वतस्थली (स्वात) में अफगान आबाद हैं। अफगानों को पख्तून भी कहते है जिन्हीं को ऋग्वैदिक आर्य पख्त कहते थे। पख्त आर्यों की एक बहुत वीर जाति थी और ऋग्वेद के समय वह सिन्ध से पश्चिम में रहती थी। हो सकता है, स्वात तब भी उनका निवास-स्थान रहा हो। अफगानों का इस भूमि से बहुत प्रेम है। सीमान्त गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खॉं पख्तूनों की इस आदिभूमि की प्रशंसा करते नही थकते। एक बार कह रहे थे—"वहाँ का पानी और दूसरी जगह का दूध बराबर है। वहाँ के मेवों-जैसा मजा दूसरी जगह नहीं मिलता।" स्वात के अफगान दुम्बों और ऊँटों के ऊन के कम्बल, नमदे, दरियाँ और टाट बुनते हैं। ऊन की छोटी-छोटी छोलदारियाँ बनाते है। पहाड़ के अंचल में अपने-अपने कोठे-कोठरियाँ तैयार कर पास में खेती करते हैं। यहॉ के जंगली सेब, बिही, नासपाती और अंगूर होते है। पठानो को अपनी स्वतन्त्रता बहुत प्रिय है। दुश्मन आता है, तो अपने पहाड़ो के स्वाभाविक दुर्गों की सहायता लेकर मुकाबिला करते हैं। किसी ऊँची पहाड़ी पर बाजा बजाकर वह दुश्मन के आने की खबर देते हैं। उस समय हरेक स्वाती को युद्ध में आना आवश्यक हो जाता है। दो-दो, तीन-तीन वक्त के खाने के लिए कुछ रोटियाँ, कुछ आटा घर से बाँधे, हथियार लिये वह वहाँ आ मौजूद होते हैं।

अकबर अपने को काबुल का स्वामी, कश्मीर का मालिक मानता था। स्वात को वह कैसे छोड़ सकता था? जैन खॉं को ललतास की चढ़ाई करने

का हुकुम हुआ । स्वाती बडी बहादुरी से लडे । मुकाबिला करने की गुंजाइश नहीं रही, तो अपने पहाड़ भाग गये । अकबर की पलटन मैदानी लोगों की थी। उनके लिए चढ़ाई चढ़ना आफत की बात थी । जैन खॉं ने कुछ सफलता पाई जिसकी खबर देते हुए और सेना मॉंगी । दरबार में सलाह हो रही थी, किस अमीर को सेना के साथ भेजा जाये, जो ऐसे दुर्गम पहाडो में आसानी से पहुँच सके । अबुलफजल ने स्वयं जाने के लिए इजाजत मॉंगी । बीरबल ने कहा—"मै जाऊँगा ।" गोटी डाली गई और बीरबल का नाम निकल आया । बादशाह को यह आशा नहीं थी । जब बीरबल को अलग करने का सवाल आया, तो उसे असह्य मालूम होने लगा । लेकिन मजबूर था । हुकुम दिया, बादशाह का अपना तोपखाना भी साथ जाये । जब बीरबल विदा होने लगे, तो उनके कन्धे पर हाथ रखकर अकबर ने कहा—"बीरबल, जल्दी आना ।" रवाना होते समय शिकार से लौट कर अकबर स्वयं उनके तम्बू में गया, कितनी ही बातें समझाईं । बहुत-सी सेना और सामान के साथ उन्हें रवाना किया ।

३. मृत्यु

बीरबल सेना लेकर स्वात की तरफ रवाना हुए । अटक के पास सिन्ध पार किया। फिर आगे बढ़ते (डोक के पड़ाव पर) पहुँचे । सामने पहाड़ों के बीच से तंग रास्ता जा रहा था । अफगान दोनों ओर पहाड़ों पर छिपे हुए थे । यहीं मुकाबिला हुआ । बहुत-से अफगान मारे गये, लेकिन शाही फौज को भी भारी हानि उठाकर पीछे हटना पड़ा । हकीम अबुलफतह के नेतृत्व में बादशाह ने और कुमक भेजी जिसे मलाकन्द की उपत्यका से होकर जैन खाँ की सेना से मिलना था । जैन खाँ आगे बढ़ता बाजौर में पहुँचा । वहाँ की शान्त बस्तियों को नष्ट करता, लोगों को मारता इतना तंग किया कि कितने ही स्वाती सरदार अधीनता स्वीकार करने के लिए उसके पास हाजिर हुए। अब उसकी नजर मुख्य स्वात-उपत्यका पर थी । वह उधर बढा । पठानों ने इतनी गोलियाँ और पत्थर बरसाये कि शाही हरावल को पीछे हटना पड़ा । जैन खाँ ने दुश्मनों को रास्ते से हटाते जाकर चकदरा में छावनी डाली और वहाँ मोर्चाबन्दी की—चकदरा स्वात के बीचों-बीच है । अब स्वात का कराकर पहाड़ और बुनेर का इलाका बाकी रह गया, बाकी पर अकबर का अधिकार हो गया था ।

यही समय है जबकि थोड़ा आगे-पीछे बीरबल और हकीम अबुलफतह वहाँ पहुँचे । जैन खाँ की बीरबल के साथ पहले ही से कुछ खटपट थी, लेकिन जब बादशाह ने उन्हें सेना का नेतृत्व देकर भेजा था, तो जैन खाँ ने स्वागत करने के लिए जाना आवश्यक समझा । उसने अपने खेमे में बहुत तैयारी करके उनका स्वागत किया । हकीम, बीरबल और जैन खाँ का यह मिलन मतभेद को और

बढ़ाने मे कारण हुआ। कोई एक-दूसरे की बात मानने के लिए तैयार नही था। इतिहास-लेखक जैन खाँ को "सैनिक का पुत्र, सिपाही की हड्डी, बचपन से लड़ाइयों मे ही जवानी तक पहुँचा" कहकर उसकी प्रशंसा करते है। हकीम अबुलफजल अकलमन्द थे, मगर दरबार के बहादुर थे। इन दुर्गम पहाडियो मे रास्ता निकालना उनके बस की बात नहीं थी। बीरबल के ब्रह्मभट्ट होने के कारण 'दरबारे-अकबरी' के लेखक आजाद भी उनके साथ न्याय करने के लिये तैयार न हुए। वे कहते है—"बीरबल जिस दिन से सेना में शामिल हुए थे, जंगलों और पहाड़ो को देख-देखकर घबराते थे। हर वक्त चिढ़े रहते थे और अपने मुसाहिबों से कहते थे : देखिए, हकीम का साथ और कोका की पर्वत-कटाई कहाँ पहुँचाती है। जब उनसे मुलाकात हो जाती, तो बुरा-भला कहते और लड़ते।" आजाद दूसरे मुस्लिम इतिहासकारो की बात को यहाँ उद्धृत करते है, "इसके दो कारण थे। पहले तो यह कि वह मालों के शेर थे, शम्शीर के मर्द नहीं थे। दूसरे बादशाह के लाडले थे। उन्हें इस बात का घमण्ड था कि हम उस जगह पहुँच सकते है जहाँ कोई नहीं जा सकता।" जैन खाँ की राय थी : मेरी सेना में से कुछ लोग चकदरा की छावनी में रहें और आस-पास का बंदोबस्त करें, कुछ मेरे साथ होकर आगे बढ़ें या तुम में से जिसका जी चाहे, आगे बढ़े। राजा और हकीम दोनों में से एक भी उसकी बात पर राजी न हुए। उन्होंने कहा—" हुजूर का हुकुम है कि इन्हें लूटमार कर बरबाद कर दो। देश के जीतने और उस पर अधिकार करने का ख्याल नहीं है। हम सब एक सेना बनकर मारते-धाड़ते इधर से आये हैं। ऐसा ही करते दूसरी तरफ से निकल कर हुजूर की खिदमत में जाकर हाजिर हों।"

बात न मान अपने ही रास्ते बीरबल सेना लेकर रवाना हुए। मजबूर हो जैन खाँ और दूसरे सेनापति भी फौज और सामान की व्यवस्था कर पीछे-पीछे चले। दिन भर में पाँच कोस का रास्ता तय किया। दूसरे दिन के लिए निश्चय हुआ "रास्ता कठिन है, तंग घाटियाँ और सामने बड़ा पहाड़ है, तेज चढ़ाई है। इसलिए आध कोस पर चल कर पड़ाव डालें। अगले दिन सबेरे रवाना हो आराम से हिमाच्छादित पहाड़ पर होते पार चलें और खातिरजमा हो पड़ाव पर उतरें। यह निश्चय करके सभी सरदारों को चिट्ठियाँ दे दी गईं।"

उषाकाल की सेना हिली। हरावल की सेना ने एक टीले पर चढ़कर फरहरा दिखाया। इसी समय अफगान प्रकट हुए। एकाएक ऊपर-नीचे, दायें-बायें से उन्होंने हमला कर दिया। बादशाही सेना ने मुकाबिला किया और मारती-हटाती आगे बढ़ी। निश्चित स्थान पर पहुँच कर हरावल और उसके साथ के लोगों ने पड़ाव डाल दिया।

बीरबल को किसी ने खबर दी—यहाँ रात को अफगानों के छापा मारने का डर है, चार कोस आगे निकल जाने पर फिर खतरा नहीं है । वह पड़ाव पर न ठहर आगे बढते चले गये । सोचा, दिन बहुत है, चार कोस चलना क्या मुश्किल है, वहाँ पहुँच कर निश्चिन्त हो जायेंगे । मैदान आ जायेगा और किसी बात की चिंता नही रहेगी । पीछे आने वाले अमीर अपने ही आ जायेंगें । लेकिन, यह चार कोस मैदानी रास्ता के नहीं, बल्कि पहाड़ के भी सबसे कठिन मार्ग के थे । "चारों तरफ के पहाड़ों पर वृक्षो का वन था । घाटी ऐसी तग थी कि दो-तीन आदमी मुश्किल से चल सकते थे । रास्ता क्या पत्थरों की चढाई-उतराई पर एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा थी । घोड़ो ही की हिम्मत थी और उन्हीं के कदम थे जो चले जा रहे थे ।" कभी बाये, कभी दायें दोनों तरफ ऐसे खड्ड थे जिन्हे देखने को जी नहीं चाहता था । दिन भर की मंजिल मारकर पहाड़ के ऊपर पहुँचे । वहाँ मैदान-सा आया । दूर-दूर चोटियाँ दिखाई पडीं । उतरते हुए एक ओर घाटी मे पहुँचे, फिर आगे आकाश से बाते करने वाली पहाड़ी दीवार थी । कितने ही कोस चलकर एक दर्रा आया । इसी निर्जन भयंकर दर्रे से अज्ञान दिशा की ओर वह बढ़े ।

पीछे की सेना जब पहले के निश्चित किये पडाव पर पहुँची और अपने डेरे भी लगा लिये, तो मालूम हुआ, बीरबल आगे चले गये । वह भी रवाना हुई । रास्ते में उसे पठानों की मार का जबर्दस्त मुकाबिला करना पड़ा । बहुत हानि उठाकर खैर किसी तरह आगे पहुँचे । सलाह होती रही, लेकिन तीनो सेनापति एकराय न हो सके । अगले दिन डेरे उखाड़ कर फिर रवाना हुए । पड़ाव छोड़ते ही लड़ाई शुरू हो गई । पठान चारों ओर से हमला कर रहे थे । रास्ता इतना सँकरा था जिससे मुगल सेना अपनी सख्या-बल का पूरा उपयोग नहीं कर सकती थी । शाम हुई, तो अफगानों की हिम्मत और बढ़ी, क्योंकि वह उनका देश था, इन पहाड़ों की एक-एक अंगुल जमीन को वह भली भाँति जानते थे । तीर और पत्थरों की वर्षा होने लगी । अँधेरा होने पर यह वर्षा और भी बढ़ गई । बहुत से आदमी मारे गये । तंग रास्ते में आदमी, घोड़े, हाथी पड़कर रास्ता बन्द हो गया, घोड़े पर चढ़कर आगे बढ़ा नहीं जा सकता था । जैन खाँ घोड़ा छोड़कर पैदल चला । बड़ी मुश्किल से अगले पड़ाव पर पहुँचा । अबुलफतह भी किसी तरह वहाँ पहुँच गये, लेकिन बीरबल का पता नहीं था । यूशुफजई तुले हुए थे । बादशाही सेना के ५० हजार आदमियों में बहुत थोड़े बचकर निकल पाये । जैन खाँ और हकीम अबुलफतह जान बचाकर जो भागे, तो उन्होंने अटक में ही आकर दम लिया ।

बादशाह को जब पता लगा, कि स्वात की लड़ाई में बीरबल काम आये, तो उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहा । इतना अफसोस गद्दी पर बैठने से आज तक उसे नही हुआ था । दो दिन-रात चुपचाप बैठा रहा, खाना तक नहीं खाया । माँ मरियम मकानी ने बहुत समझाया, बहुत रोना-धोना किया, तब जाकर खाने के लिए तैयार हुआ । जैन खॉं और हकीम अबुलफतह से बहुत नाराज हुआ, उनको सलाम करने से मना कर दिया । बीरबल की लाश की बड़ी खोज करवाई, लेकिन वह न मिली । नाराजी देर तक कैसे रहती, दोनों सेनापतियों का कोई कसूर नहीं था । लेकिन, बीरबल जैसा हर समयक दोस्त अकबर को कहॉं मिल सकता था? उसको इस बात का और भी दुःख था कि अपने मित्र के शव का अग्नि-संस्कार नही कर सका । फिर अफसोस करते अपने आप तसल्ली देते कहता—"खैर, (अब) वह सारी पाबन्दियों से स्वतन्त्र, शुद्ध और निर्लेप है ।" लोग तरह-तरह की बातें अकबर के पास पहुँचाते । कोई कहता—वह मरा नहीं, संन्यासी होकर घूम रहा है । किसी ने बीरबल को कथा करते देखने की भी बात बताई । अकबर खुद कहता—वह दुनिया से बेलगाव और बड़ा संकोची आदमी था । आश्चर्य नहीं, यदि पराजय से लज्जित हो साधु होकर निकल गया । अकबर लाहौर में था, उसी समय किसी ने कहा, कि बीरबल काँगड़ा में हैं । ढूँढने के लिए आदमी भेजे, लेकिन वह तो स्वात की उपत्यका में हमेशा के लिये सो चुके थे । कालिंजर बीरबल की जागीर थी । वहाँ के बीरबल के पूर्वपरिचित ब्राह्मण ने कहा—मैंने उसे पहचान लिया, वह जिन्दा है, पर छिपा हुआ है । उसने झूठे ही किसी मुसाफिर को बीरबल बनाकर अपने पास रखा था । बादशाह का हुकुम जब उसे भिजवाने के लिए आया, तब ब्राह्मण की अकल ठिकाने आई । नकली बीरबल को भेजने से आफत आती, इसी लिए उसे मरवा डाला, और जिस हज्जाम ने कहा था, कि मैंने मालिश करते उसके शरीर को बीरबल का पाया, उसे दरबार में भेज दिया । बीरबल के दूसरी बार मर जाने की खबर सुनकर दरबार में दूसरी बार मातम मनाया गया । कालिंजर से करोड़ी और नौकर बुलवाये गये । हुजूर को क्यों नहीं खबर दी, यह अपराध लगाकर उन्हें जेल में डाल दिया गया । हजारों रुपये जुर्माने के देने पड़े, फिर जा करके वह छूटे ।

बीरबल का मनसब दोहजारी ही था, लेकिन इससे उनके दर्जे को आँका नहीं जा सकता ।

मुल्ला बदायूँनी बीरबल को लानती, काफिर, बेदीन, कुत्ता आदि कहकर अपना गुस्सा ठण्डा करते हैं । बीरबल हँसी-मजाक में इस्लाम और मुल्लों की दुर्गति बनाते थे, उससे मुल्ला बदायूँनी को नाराज होना ही चाहिए । इनके जैसे

लोग विश्वास करते थे, कि बीरबल ही ने बादशाह को हिन्दुओं के धर्म की ओर खींचा।

अकबर के वक्त आगरा की बाजारो के बरामदो में रण्डियाँ इतनी नजर आने लगीं, "कि आसमान पर उतने तारे भी न होगे।" अकबर ने उन सबको शहर से बाहर निकलवा कर एक मुहल्ला आबाद करवा दिया और उसका नाम शैतानपुरा रखा। यहाँ आने-जाने वालो को अपना नाम लिखना पड़ता था। बीरबल भी कभी वहाँ पहुँच गये। यह खबर बादशाह को लगी। जानते ही थे, इससे बादशाह बहुत नाराज होगा। शरम के मारे अपनी जागीर कोड़ा-घाटमपुर चले गए। मालूम हुआ, बादशाह ने सब सुन लिया। बहुत घबराये, कहा—मै जोगी होकर निकल जाऊँगा। बादशाह को पता लगा तो ठण्डा करते हुए फरमान भेजकर बुला लिया।

बीरबल के साथ उनके समकालीन इतिहासकारो ने न्याय नहीं किया और न उनकी बातो और कृतियों का उल्लेख किया, पर जनसाधारण ने उनकी जो कदर की, उसने कमी को पूरा कर दिया।

बीरबल के दो लडको—लाला और हरभराय का पता मिलता है। लाला ने १०१० हिजरी (१६०१-२ ई०) में नौकरी से इस्तीफा दे, इलाहाबाद मे जाकर सलीम की नौकरी कर ली। बीरबल कविराय थे, पर अफसोस उनकी कोई कृति नहीं मिलती।

तानसेन
(मृ० १५६५ ई०)

अकबर के दरबार के नवरत्नो मे तानसेन एक थे । नवरत्न थे—१. राजा बीरबल, २. राजा मानसिंह, ३. राजा टोडरमल, ४. हकीम हुमाम, ५. मुल्ला दोपियाजा★, ६. फैजी, ७. अबुलफजल, ८. रहीम और ६. तानसेन । विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार तानसेन १५६२ ई० के आस-पास बान्धवगढ़ (वाया, रीवॉ) के राजा रामचन्द्र के दरबार से अकबर के पास पहुँचे । चित्तौड़ और रणथम्भौर के अजेय दुर्गों पर अधिकार करके जब अकबर का ध्यान कालिंजर की तरफ गया, तो राजा रामचन्द्र ने खुशी से उसे मजनू खाँ काकशाल के हाथ में दे दिया । यह खुशखबरी जब अगस्त १५६६ ई० में अकबर को मिली, तो उसने खुश होकर रामचन्द्र को प्रयाग के पास एक बड़ी जागीर दे दी । भारतीय संगीत के मर्मज्ञ श्री दिलीप चन्द्र बेदी के अनुसार तानसेन रामचन्द्र के दरबार में ही ५० वर्ष के हो चुके थे । वह १५६२ ई० के आस-पास अकबर के दरबार मे पहुँचे थे । इसका अर्थ है, उनका जन्म १५१२ ई० के आस-पास हुआ था । बेदीजी के कथनानुसार अकबर के मरने (१६०५ ई०) के बाद तानसेन ग्वालियर चले गए और वहाँ राजा मानसिंह के संगीत-विद्यालय में प्रमुख गायनाचार्य नियुक्त किए गये । इसका अर्थ है, १६०५ ई० में ६० वर्ष की उमर में तानसेन ग्वालियर में जाकर संगीत अध्यापन करने लगे और इस प्रकार वह सौ वर्ष से कुछ ऊपर जिए । पर, विन्सेण्ट स्मिथ ने तानसेन का जो समकालीन चित्र अपनी पुस्तक में (पृष्ठ ४२२ के सामने, द्वितीय संस्करण) दिया है, उसमें वह बिल्कुल नौजवान मालूम होते हैं । यह भी स्मरण रखने की बात है, कि ग्वालियर के मानसिंह अकबर से पहले १५१७ ई० में मर चुके थे । दिल्ली सल्तनत के निर्बल होने पर जो जौनपुर, बंगाल, बहमनी, गुजरात आदि स्वतन्त्र राज्य कायम हुए थे, उसमे ग्वालियर भी एक था । उसे हिन्दू साहित्य, संगीत और कला के केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । वहाँ बड़े-बड़े कवि और संगीतकार हुए, इसी कारण वल्लभ-संप्रदाय के अष्टछाप के सम्बन्ध से पहले ब्रजभाषा को ग्वालियरी भाषा कहा जाता था । ग्वालियर और जौनपुर पर

★ मुल्ला दोपियाजा—अकबर के नवरत्नों में इनकी गिनती है । अरब में पैदा हुए थे । हुमायूँ के एक सेनापति के साथ हिन्दुस्तान आये और अपनी विनोद भरी बातों के कारण अकबर के अत्यन्त प्रिय विदूषक हो गये । अकबर के समकालीन नौ रत्न चित्रों में उनके कितने ही चित्र मिलते हैं । पर, इनका असली नाम क्या था, इसका पता नहीं लगता ।

अकबर ने १५५८-६० ई० मे ही अधिकार कर लिया था, जबकि शासन की बागडोर बैरम खाँ के हाथ में थी ।

विन्सेण्ट स्मिथ ने तानसेन को ग्वालियर का बतलाया है । जन्म ग्वालियर का था, या गुरुघराना के कारण उन्हे ग्वालियरी कहा गया ? यह तो निश्चय ही है कि १५५८-५६ ई० तक—जब तक कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व था—ग्वालियर उत्तरी भारत का मूर्धन्य कला केन्द्र रहा । वहाँ दूर-दूर से लोग संगीत सीखने के लिए आया करते थे । बेदीजी तानसेन के जन्म-स्थान आदि के बारे मे कहते है: एक परम्परा के अनुसार तानसेनजी के पूर्वज ब्रह्मभाट वंश मे से थे, लाहौर छोडकर दिल्ली मे जाकर बस गए थे । तानसेन का जन्म दिल्ली मे हुआ । इनके पिता का नाम मकरन्द भाट था । राजदरबार में कविता सुनाना इनकी आजीविका थी । तानसेनजी के ताऊ बाबा रामदास, नादब्रह्मयोगी स्वामी हरिदास जी के योग्य शिष्य थे । जिन दिनो वह ग्वालियर में थे, वहीं बालक तन-सुख का प्राथमिक संगीत शिक्षण हुआ । ग्वालियर निवासी पीर मुहम्मद गौस साहब —जिनका पहला नाम अमरदासजी था—रामदासजी के परम मित्र थे । इनके आग्रह पर रामदासजी ने तनसुख को अपने पूज्य गुरु स्वामी हरिदासजी की सेवा मे भेज दिया, जहाँ उन्होने वर्षों संगीत साधना के साथ-साथ साहित्य का अध्ययन भी किया । स्वामी हरिदासजी के शिष्य तानसेन केवल संगीताचार्य ही नहीं थे, अपितु साहित्यिक भी थे । इसी कारण वह उच्चकोटि के कवि भी हो पाये ।

पं० हरिहर निवास द्विवेदी ने "मध्यदेशीय भाषा" (पृष्ठ ५८) में तानसेन के बारे में लिखा है—" अकबर के काल मे कोई भी गायक संगीतशास्त्र के सिद्धान्तो में राजा मान के काल के गायकों को नही पाता था । ...सम्राट अकबर के समय बहुधा अताई व्यक्ति थे, जिन्हें गायन का व्यावहारिक ज्ञान तो था, परन्तु वे गायन के सिद्धान्त से अपरिचित थे । मियाँ तानसेन, सुभान खाँ फतेहपुरी, दोनों भाई—चाँद खाँ और सूरज खाँ, मियाँ चाँद (तानसेन के शिष्य), तानतरंग खाँ तथा विलास खाँ (तानसेन के पुत्र), रामदास मुंडिया ढाढी, मदन खाँ, मुल्ला इसहाक खाँ ढाढी, खिजर खाँ, इनके भाई नवाब खाँ, हसन खाँ ततबनी—सभी अताई श्रेणी में आते है । बाजबहादुर (नवाब मालवा), नायक चर्चू, नायक भगवान, सूरतसेन (तानसेन के पुत्र), लाला और देवी (दोनों ब्राह्मण भाई), बाद खाँ का लडका आकिल खाँ—ये किसी न किसी मात्रा में संगीत के सिद्धान्तों से परिचित थे, परन्तु फिर भी नायक बैजू, नायक पांडे तथा नायक बख्शू की भाँति संगीत के आचार्य नहीं थे । नायक बैजू का उल्लेख फकीरुल्ला ने भारत के सर्वश्रेष्ठ नायक गोपाल के समकक्ष किया है । बख्शू की ख्याति भी अद्वितीय है । बख्शू मानसिंह के पश्चात् भी ग्वालियर में रहा । मानसिंह के पुत्र विक्रमाजीत के पानीपत में मरने (१५२६ ई०) के पश्चात्

ही वह कालिजर के राजा कीरत के आश्रय मे चला गया। कालिंजर से उसे गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह (१५२६-३६ ई०) मे बुला लिया।"

इसके बाद द्विवेदी जी तानसेन के बारे में लिखते है—

"तानसेन मकरन्द पांडे के पुत्र थे। उनका जन्म ग्वालियर के पास बेहट★ नामक ग्राम में हुआ था। इनका पूर्व नाम त्रिलोचन पांडे था। इन्होने स्वामी हरिदास रो पिगल सीखा तथा संगीत की भी शिक्षा ली। कुछ समय मुहम्मद गौस से भी गायन विद्या सीखी, जिराके कारण वे त्रिलोचन से तानसेन बने और उन्हे ईरानी संगीत की चपलता भी मिली। यहाँ से वह शेरशाह के पुत्र दौलत खाँ के पास चले गये। उसके पश्चात् वे रीवाँ नरेश राजा रामचन्द्र बघेला की राज्यसभा में चले गये। इनके संगीत की ख्याति सम्राट अकबर तक पहुँची। अकबर ने रामचन्द्र को विवश किया, कि वे तानसेन को उसकी सभा में भेज दें। इस प्रकार सन् १५६४ ई० में ग्वालियर का यह महान् कलावन्त उस समय के संसार की सबसे महान् राजसभा की नवरत्नमाला की मणि बना।"

शायद जन्म-स्थान के बारे में द्विवेदीजी का लिखना अधिक ठीक है। तानसेन बालगन्धर्व थे। यह उनके चित्र से भी मालूम होता है। संगीतकला और शास्त्र में पारंगत होने में उन्हें बहुत वर्ष नहीं लगे होंगे। द्विवेदीजी का भी इशारा उसी तरफ है, और विन्सेण्ट स्मिथ भी लिखते हैं, (पृष्ठ ५०) कि तानसेन ने अन्तिम सूरी बादशाह मुहम्मदशाह आदिल (अदली) से संगीत की शिक्षा पायी, जिससे मालवा के सुल्तान बाज बहादुर ने भी संगीत सीखा था। शेरशाह का उत्तराधिकारी सलीमशाह सूरियों का अन्तिम प्रतापी बादशाह था। उसके बाद तख्त के लिए सगे और चचेरे भाइयों में खूनखराबा होता रहा। सलीमशाह का १२ वर्ष का बेटा फीरोज खाँ गद्दी पर बैठा। उसका मामा मुबारकशाह सलीमशाह का चचेरा भाई तथा साला दोनों था। सलीम ने अपनी पत्नी बीबीबाई को कहा था—अगर बेटे की जान प्यारी है, तो भाई के सिर से हाथ उठा और भाई प्यारा है, तो बेटे से हाथ धो।" बेअकल औरत ने हर बार यही कहा : मेरा भाई ऐश का बन्दा है, उसे इन बातों की परवाह भी नहीं है। लेकिन, वही बात हुई, जिसका डर था। भांजे के गद्दी पर बैठने के तीसरे दिन तलवार सूत कर मुबारक खाँ घर में घुस आया। बहिन हाथ जोड़ती पाँव में लोटती थी। "भाई बेवा का बच्चा है— मैं इसे

★ श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र भी कहते हैं—"तानसेन ग्वालियर के निकटस्थ बेहट ग्राम के निवासी थे। मकरकन्द पांडेय ब्राह्मण के पुत्र तानसेन का जन्मकाल १५३२ ई० है।" —"मध्यभारत सन्देश", ग्वालियर ३ मार्च, १६५६।

लेकर ऐसी जगह निकल जाती हूँ, जहाँ कोई इसका नाम भी न लेगा, और न यह सल्तनत का नाम लेगा।" पर, मुबारक खाँ कब सुनने वाला था ? उसने भांजे को वहीं टुकड़े-टुकडे कर दिया और स्वयं मुहम्मद आदिलशाह बनकर (१५४६ ई०) तख्त पर बैठा। आदिलशाह शेरशाह के छोटे भाई निजाम खाँ का बेटा था। वह आदिल या अदली (न्यायप्रिय) कहलाना चाहता था, लेकिन उसके अन्धाधुन्ध कामों के कारण लोग उसे अँधली कहते थे। वह अपने समय का वाजिदअली शाह था। दिन-रात ऐश-असरत, राग-रंग, शराब-कबाब में मस्त रहता था। दोनों हाथ खजाना लुटाने का उसे शौक था। एक तोला सोने के फल का कुत्ताबासी एक प्रकार का तीर होता था, जिसे वह चलते-फिरते इधर-उधर फेकता था। जो कोई उसे लाकर देता, उसे दस रुपया इनाम देता।

पर, यही अँधली अपने समय का संगीत का महान् ज्ञाता था। आजाद के अनुसार "बडे-बडे गायक और नायक उनके आगे कान पकड़ते थे। अकबरी युग में मियाँ तानसेन इस काम के जगत्गुरु थे, वह भी उसको उस्ताद मानते थे।"

वह कहते है—"दक्खिन का एक वादक हिन्दुस्तान में आया। उसने उस्तादी-का नगाड़ा बजाया। सबको मालूम पड़ा। उसने एक पखावज तैयार की। इसके दोनो तरफ दोनों हाथ नहीं पहुँच सकते थे। एक दिन बड़े दावे से दरबार मे आया और पखावज भी लाया, कि कोई उसे बजाये। जो गवैये और कलावन्त उस वक्त हाजिर थे, सब चकित रह गए। अदली ने उसे देखा, भेद ताड़ गया। आप तकिया लगाकर लेट गया, और उसे बराबर लिटा लिया। एक तरफ हाथ से बजाता, दूसरी तरफ पाँव से ताल देता गया। सारे दरबारी चिल्ला उठे और जितने गवैये उपस्थित थे, सब 'लोहा' मान गए।"

कहते हैं, अदली के पाखाने में सुगन्ध के फैलाने और दुर्गन्ध को दबाने के लिए इतना कपूर बिखेरते थे कि हलालखोर रोज दो-तीन सेर कपूर समेट कर ले जाते थे। फिर भी जब वहाँ से निकलता था, तो रंग कभी पीला होता था, कभी हरा—वह बदबू बर्दाश्त नहीं कर सकता था।

अदली की अँधली ज्यादा दिनों नहीं चली। गद्दी पर बैठने के दूसरे ही महीने चारों ओर गड़बड़ी मच गई। वह बलवाइयों को दबाने के लिए ग्वालियर से बंगाल गया। इस बीच शेरशाह के एक सम्बन्धी इब्राहीम सूर ने आकर आगरा आदि पर अधिकार कर लिया। अदली ने हेमू के संचालन में एक बड़ी सेना भेजी। बड़ा संघर्ष हुआ और हेमू आगरा और दिल्ली को लेने में सफल हुए।

ऊपर के कथन से मालूम होगा कि ग्वालियर कला का एक महान् केन्द्र था और शायद उसी के प्रसाद से अदली और बाजबहादुर के दरबार में भी संगीत

का बहुत मान हुआ। हो सकता है, अदली को कला के आचार्य होने का शौक ग्वालियर के साथ चिपकाने मे सफल हुआ हो, और वह वहाँ संगीत भी सिखलाता हो।

तानसेन के साथ एक लम्बी परंपरा है। यह पहले हिन्दू थे। अकबर के दरबार में उस समय पहुँचे थे, जब कि वह अभी सुन्नी मुसलमान था और हिन्दुओं में उदारता की कमी थी। जान पड़ता है, किसी यवनी नवनीत-कोमलांगी के प्रेम में पड़कर वह मुसलमान हो गये। बेदीजी उनका मुसलमान होना बुढ़ापे की बात बतलाते है, जिसकी सम्भावना कम है। अकबर अपने अन्तिम २३ वर्षों में मुसलमान नही रह गया था। उसका 'दीन-इलाही' हिन्दू और पारसी धर्म की खिचडी था, जिसका उसे इतना आग्रह था कि मुसलमान उसे पूरा काफिर मानते थे। वह किसी को इस्लाम धर्म छोडता देखकर खुश होता था; फिर, तानसेन उस समय मुसलमान क्यों होते ? अबुलफजल ने तानसेन के बारे में ठीक हीं लिखा है—"गत एक हजार वर्ष में ऐसा संगीत का आचार्य कोई नहीं पैदा हुआ।"

संगीतज्ञ श्री दिलीप चन्द्र बेदी तानसेन की कला पर अधिकारपूर्वक कह सकते है। उनका कहना है —

"तानसेन ने अनेक प्राचीन रागो के मुख्य रूप में किंचित् परिवर्तन किया और सैकड़ो नवीन गीत रचकर उन्हें रागों में निबद्ध किया तथा नये रागों की रचना भी की। अनेक रूढ़िवादियों ने उनका विरोध भी किया, परन्तु अन्तिम विजय तानसेन की ही हुई। तानसेन के साथ बैजू बावरा का मुकाबिला और तानसेन का तानी से इश्क करना आदि दंतकथाओं का कहीं पता नहीं मिलता।"

"भाव-कल्पना एवं रस-माधुर्य की दृष्टि से संस्कृत का गीति-काव्य भारत ही नहीं, अपितु विश्व का परम श्रेष्ठ संगीत है। गीति-काव्य की परंपरा...संस्कृत के महान कवियों से शुरू होकर हिन्दी के विद्यापति, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजूबावरा, सूरदास, तुलसीदास आदि महान् कवियों की सरस वाणी में छपकर संगीतज्ञों के लिए गीतों का भण्डार भरती चली आ रही है। संगीत को अमरपद प्रदान करने में, गीतों के साहित्य-सौष्ठव का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए स्वामी हरिदास तथा उनके सुयोग्य शिष्य तानसेनजी अन्तिम श्वासपर्यन्त प्रयत्न करते रहे। आज का अलाप, ध्रुपद-धमार गान—इन्हीं अद्वितीय आचार्यों की देन है। यही नहीं, अपितु हिन्दुस्तानी 'खयाल गान' भी अलाप एवं ध्रुपद गान का ही मिश्रण है, जिसके प्रथम आचार्य नेमतखाँ सदारंगजी थे।" सदारंगजी तानसेनजी की पुत्री के वंशज थे।

गीति-काव्य के लिए संस्कृत काव्य और कवियों को श्रेय देना बेकार है। संस्कृत में मर-मारकर 'गीत गोविन्द' ही एक उल्लेखनीय गीति-काव्य है। इसका

अर्थ यह नहीं कि पहले गीत का प्रचलन नहीं था। आज के प्रसिद्ध रागों में से बहुतो का उल्लेख अपभ्रंश काल (५५०-१२०० ई०) के साहित्य में मिलता है। प्राकृत-काल (१-५५० ई०) में गीति-काव्य रहे होंगे, यही बात पालि-काल (६००-१ ई० पू०) तथा पहले के बारे में भी कही जा सकती है। हरेक काल में जान पड़ता है, गेय गान प्रचलित भाषा में बनाये जाते थे। यह उचित भी था, क्योंकि संगीत कुछ पंडितों के ही मनोरंजन की चीज नही था। उसका स्वाद दूसरे भी लेना चाहते है, जो तभी हो सकता है जब कि गेयपद प्रचलित भाषा मे हों।

संगीत जहाँ उदयन, अदली, बाजबहादुर (सुल्तान बायेजीद), रंगीले मुहम्मद शाह और वाजिदअली शाह जैसे ऐश पसन्द बिगड़े हुए दिमागो को अपने हाथों मे करने में सफल हुआ, वहाँ सम्राट् समुद्रगुप्त और बाबर, अकबर जैसे वीरों को भी उसने अपनी ओर खींचा और उनके पराक्रम में जरा भी कमी नहीं आने दी। इस प्रकार विलासिता का दोष संगीत पर नहीं लगाया जा सकता। यद्यपि उसके लिए इसका उपयोग पहले भी हुआ और आज भी फिल्मों में बड़े जोर-शोर से किया जा रहा है।

तानसेन अदली के दरबार में शिष्य के तौर पर ही नहीं, बल्कि कलावन्त के तौर पर रहे होंगे और वहीं से १५५० ई० के आस-पास, अदली के शासन खतम होने के बाद रामचन्द्र के दरबार में गये, जहाँ वह दस-बारह साल से ज्यादा नही रहे; क्योंकि १५६२ ई० के आस-पास वह अकबर के दरबार मे पहुँच गये।

रामचन्द्र ने तनसुख की जगह उनका नाम तानसेन रखा, यह भी कहा जाता है और इस पर तो विश्वास करना चाहिए, कि रामचन्द्र ने तानसेन के साथ अत्यन्त आत्मीयता दिखलाई थी। इसके कारण रामचन्द्र के दरबार को छोड़ना तानसेन को अच्छा नहीं लगा होगा। हो सकता है, उसके सामने अकबरी दरबार की इज्जत उन्हें फीकी मालूम होती हो, इसलिए वह सुखी न रहते हों और दिल लगाने के लिए उन्हें वहाँ प्रेमपाश में बाँधा गया हो। बीरबल अकबर के शासन के आरम्भ ही में उनके पास पहुँच गये थे। वह भी कवि, कलाकार थे। इसलिए दोनों की पटरी अच्छी जमती होगी। तानसेन की लड़की का ब्याह अकबर के दरबार के प्रसिद्ध वीणावादक ठाकुर सन्मुख सिंह उर्फ मिश्री सिंह से हुआ। इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध कलावन्त नेमत खाँ 'सदारंग' हुए।

"नादब्रह्म के इस अद्वितीय पुजारी का शरीरांत लगभग ६३ वर्ष की आयु (१५६५ ई०) में हो गया।" यह बात अधिक युक्तियुक्त मालूम होती है। इससे सिद्ध होता है, तानसेन अकबर के दरबार में ३० वर्ष की उमर में पहुँचे और ३२ वर्ष तक रहे।

संगीत मे वह मियाँ के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। मियाँ की टोड़ी, मियाँ की मलार जैसी राग-रागिनियाँ उनके आविष्कार है। उनके कवित्व की परिचायक पंक्तियाँ श्री बेदीजी ने उद्धृत की है—

प्रभाकर भास्कर, दिनकर हिमाकर भानु प्रगटे बिहान।
तेरे उदय से पाप-ताप कटे, कर्म धर्म प्रेम नेम,
होय गुरु-ज्ञान और ध्यान।
जगमगात जगत पर जगचक्षु, ज्योतिरूप कश्यप-सुत जगत के प्राण।
तेरे उदय से जग कपाट खुलत, तानसेन कीजिए कृपा विद्या-निधान।

अकबर सूर्य का महान् भक्त था। प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्धरात्रि चार बार सूर्य की पूजा करता था। उसको यह कविता कितनी प्रिय होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

तानसेन प्रकृति-प्रेमी थे—

सघन बन छायो री द्रुम बेली,
माधव भवन गति प्रकाश बरनबस पुष्प रंग लायौ।
कोकिला कीर कपोत खंजन अतिहि,
आनन्द करि चहुँ ओर रंग झरि लायौ।

शेख अब्दुन् नबी
(मृ० १५८२ ई०) ६

१. प्रताप-सूर्य

अब्दुन् नबी अकबर के समय के बहुत प्रभावशाली मुल्ला और मुल्लों के सदर (प्रधान) थे । आरम्भ में अकबर ने यही समझकर इनको आगे बढ़ाया, कि इनके प्रभाव से मेरे सुधारों में सहायता मिलेगी । लेकिन कुत्ते की पूँछ कहाँ सीधी हो सकती थी ?

शेख अब्दुन् नबी शेखों (सन्तों, सूफियों) के खानदान से सम्बद्ध थे । इनके बाप शेख अहमद शेख अब्दुल कुद्दुस-अपुत्रकासली घर गंगोह के इलाके में अन्दरी (सहारनपुर जिला) मे था । घर में ज्ञान-ध्यान का वातावरण था । कहते हैं, यह एक पहर की समाधि (हब्सदम) लगा लेते थे । मक्का-मदीना की जियारत कई बार कर आये थे और वहीं हदीस (पैगम्बर-वचनावली) का अध्ययन किया था । चिश्ती सूफी-सम्प्रदाय के थे । बाप-दादों के समय से गीत-कव्वाली का रवाज चला आया था । लेकिन, जब मक्का से हदीस पढ़ करके आये, तो इसे अधार्मिक समझा और शरीयत की पाबन्दी में कड़ाई शुरू की । साथ-साथ पढ़ने-पढ़ाने और धर्मोपदेश में भी सरगर्मी दिखलाई । अकबर को अपने शासन के पहले अठारह वर्षों में इस्लाम पर विशेष श्रद्धा थी और वह आलिमों की बड़ी कदर करता था । अमीर और वजीर कुल (सर्वोच्च प्रतिनिधि) मुजफ्फर खाँ ने शेख की बड़ी तारीफ की और १५६४-६५ ई० (हिजरी ६७२) में अकबर ने अब्दुन् नबी को 'सदरुस्सुदूर' (धर्माद्यध्यक्षों का अध्यक्ष) बना दिया । उस समय अकबर को गद्दी पर बैठे आठ वर्ष हुए थे और उसकी उमर २१ साल से अधिक नहीं थी ।

मुल्लों की तबाही का कोई सवाल नहीं था, पर मुल्ला सुल्तानपुरी का भाग्य-सूर्य ढलने लगा था । इसी समय अब्दुन् नबी का सितारा ऊपर उठा । अब्दुन् नबी की इतनी धाक थी, कि अकबर खुद कभी-कभी हदीस सुनने सदर के घर जाता था । एक बार सदर के जूतों को भी उसने अपने हाथ से सीधा करके रखा । उसने युवराज सलीम को भी हदीस सीखने के लिए उनके पास भेजा । शेख के उपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि अकबर शरीयत की बड़ी कड़ाई से पाबन्दी करने की कोशिश करता, स्वयं मस्जिद में अजान देता और नमाज पढ़ाने के लिए इमाम बनता, अपने हाथों मस्जिद में झाड़ू लगाने को अहोभाग्य समझता । एक दिन अकबर का जन्म-दिवस था । वह केसरिया जामा पहनकर

महल से बाहर आया। शेख अब्दुन् नबी ने यह देखकर कहा—"यह रंग और केसरिया पोशाक शरीयत के सख्त खिलाफ है। इसको नही पहनना चाहिए।" जोश मे मुल्ला इतने उतावले हो गये कि उनका डंडा बादशाह के जामे पर पड़ गया। अकबर वहाँ कुछ नही बोला, लेकिन अन्तःपुर में आकर माँ से इसकी शिकायत की। माँ ने कहा—"कुछ नही, जाने दो। यह रंज की बात नहीं, बल्कि मुक्ति का उपाय है। किताबों मे लिखा जायेगा कि एक पीर ने ऐसे महामहिम बादशाह को डंडा मारा और केवल शरीयत के सम्मान के ख्याल से चुप रह कर वह उसे बर्दाश्त कर गया।"

हिन्दुस्तान में मुस्लिम सल्तनतों की परंपरा के अनुसार मस्जिदों के इमामों की नियुक्ति बादशाह किया करते थे। इस प्रकार हर मस्जिद के इमाम के रूप में सल्तनत के एजेण्ट हर जगह मौजूद रहते थे। वह मुसलमानों के धर्म और ईमान की ही देख-भाल नहीं करते थे, बल्कि शासकों के लिए खुफिया पुलिस का भी काम देते थे। इमामो की नियुक्ति बहुत देख-भाल कर की जाती थी। सल्तनत की ओर से उन्हें जागीर मिलती थी। इस वक्त देखा गया कि जागीरें बेतहाशा बढ़ गई है। पहले के सारे बादशाहों ने मिलकर जितनी जागीरें दी थीं, उतनी इन चंद वर्षों में और हो गई। इसमें धाँधली भी थी। दरबार से फरमान जारी हुआ कि जब तक सदरुस्सुदूर का हस्ताक्षर और प्रमाण-पत्र न प्राप्त हो, तब तक करोड़ी (परगना हाकिम) और तहसीलदार जागीर की आमदनी को मुजरा न दें। काबुल से बंगाल दक्खिन से हिमालय तक फैले हुए विशाल साम्राज्य के सभी ऐसे जागीरदारों को अब दस्तखत और प्रमाण-पत्र लेने के लिए फतेहपुर-सीकरी दौड़ना पड़ा। सभी सदर के पास कैसे पहुँच सकते थे ? जिनकी सिफारिश लगी, वही वहाँ पहुँचे और मनोरथ में सफल हुए। सदर के वकीलों और मुसाहिबों ही नहीं, बल्कि उनके फर्राशों, दरबानों, साईसों और भंगियों तक को लोगों ने रिश्वतें दीं। जो इमाम ऐसा नहीं कर सके, उन्हें डंडे खाकर बाहर हटना पड़ा। उनमें कितने ही गर्मी में लू से मर गये। हाहाकार मच गया। अकबर तक इसकी खबर पहुँची। लेकिन, शरीयत का अकबाल जोर पर था, इसलिए वह कुछ करने में असमर्थ रहा।

शेख अब्दुन् नबी के दबदबे का क्या कहना ? दरबार के बड़े-बड़े अमीर उनकी खुशामद करने के लिए पहुँचते। शेख का दिमाग इतना आसमान पर था कि किसी के प्रति सम्मान दिखाने की जरूरत नहीं समझते थे। सिफारिशें सुनी गईं, तो अच्छे आलिमों को सौ बीघा जमीन मिल गई, इसे बहुत समझिए। सालों से कब्जे में मौजूद जमीनों को भी काट दिया गया। अयोग्य इमामों ही नहीं, हिन्दुओं तक को जागीर मिल गई। इसके कारण आलिमों में बहुत असन्तोष फैला।

सदर अपने दीवान (दफ्तर) में दोपहर के बाद नमाज के लिए वजू (हाथ-पैर धोना) करते। वहाँ बैठे अमीरों और दूसरों के सिर और मुँह पर, उनके कपड़ों पर पैर के पानी की छीटे पड़ती। शेख उसकी कोई परवाह नहीं करते। गरज लोग सब कुछ बर्दाश्त करने के लिए तैयार थे; लेकिन, दिल के भीतर तो उन्हे बुरा मालूम होता ही था। जब शेख के बुरे दिन आये, तो उन्होंने उसका दाम चुका लेने में कोई कसर नहीं उठा रखी। पर, अपने समय में शेख अब्दुन् नबी की जितनी तपी, उतनी शायद ही किसी सदर की तपी हो।

बारह वर्ष से अधिक तक शेख लोगों की छाती पर मूँग दलते रहे। अब फैजी और अबुलफजल दरबार में पहुँच चुके थे। १५७७-७८ ई० (हिजरी ६८५) तक शेख का प्याला लबरेज हो गया। बादशाह के पास बराबर शिकायतें पहुँचीं। इस वक्त इतना ही हुकुम हुआ कि जिनकी माफी जागीर पाँच सौ बीघा से ज्यादा हो, वह खुद बादशाह के पास फरमान लेकर हाजिर हो। अब फरमानों को देखने पर भण्डाफोड़ शुरू हुआ। शेखजी का सारी सल्तनत पर जो अधिकार था, उसे भी बाँट दिया गया और हर सूबे का फैसला करने के लिए एक-एक अमीर नियुक्त हुआ। पंजाब में यह काम मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी के हाथ में दिया गया। दोनों की पहले ही से लगती थी, अब आग में घी पड़ गया। दोनों मुल्ला एक दूसरे की पगड़ी उछालने लगे।

एक दिन बादशाह अमीरों के साथ दस्तरखान पर बैठ कर खाना खा रहा था। शेख सदर ने एक प्याले में हाथ डाला। अबुलफजल ने व्यंग्य करते हुए कहा—यदि कपड़े पर लगी केसर अपवित्र और हराम है, तो उसका खाना कैसे हलाल हो सकता है? हराम का प्रभाव तीन दिन तक रहता है। बेचारे शेख के पास इसका क्या जवाब था? नौजवान बादशाह को जन्म-दिन के उपलक्ष्य में केसरिया पहने देखकर उन्होंने फटकारा ही नहीं डंडा तक लगा दिया था।

एक दिन बादशाह और अमीर बैठे हुए थे। अकबर ने पूछा—"बीवियों की संख्या कितनी उचित है? जवानी में तो इसका कुछ ख्याल नहीं किया, जितने हो गये, हो गये। अब क्या करना चाहिए।" हरेक ने अपना-अपना विचार प्रकट किया। तब अकबर ने कहा—"एक दिन शेख सदर कहते थे, कि कुछ धर्मशास्त्रियों ने नौ बीवियाँ विहित बतलाई हैं।" दरबारियों में से किसी ने कहा—"हाँ, इब्न अबी-लैला की यही राय है, क्योंकि कुरान की आयत है—'फ़ अन्कहू मा ताब लकुम् मुसन्ना व सलास व रुबाअ' (तो निकाह करो, जोड़ सको तो दो, तीन और चार)। दो, तीन, चार जोड़ने से नौ होता है। किसी ने इसे दो-दो, तीन-तीन, चार-चार मानकर संख्या अठारह भी मानी है। लेकिन इन परंपराओं को विशेषता नहीं दी जा सकती।" बादशाह ने इसी वक्त शेख से पुछवाया, तो उन्होंने

कहा—"मैने आलिमों के मतभेद का उल्लेख किया था, फतवा नहीं दिया था।" अकबर को यह बात बुरी लगी। एक बार शेख कुछ और कहता है और दूसरी बार कुछ और उसके दिल मे गाँठ पड़ गई।

शेख के अरबी ज्ञान और हदीस के पांडित्य की बड़ी धूम थी। वह समझते थे, मैने मदीना में हदीस की विद्या पढ़ी है और मैं हदीसों के जमा करने वालों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वपुरातन इमाम आजम की सन्तान हूँ। भला मेरा मुकाबिला कौन कर सकता है ? लेकिन, एक दिन अकबर के दुधेरे भाई मिर्जा अजीज कोका ने एक शब्द में गलती पकड़ी। शेख ने एक शाहजादे को उलटा-सुलटा पढ़ा दिया था। आखिर अरबी में दो प्रकार के ह् और चार प्रकार के ज होते हैं। हिन्दू-मुसलमान बहुत परिश्रम से फर्क को याद करने की कोशिश करते हैं, पर हमारी भाषा में इनका उपयोग नहीं है, इसलिए ह को हलक से बोलना चाहिए या मामूली तौर से, यह ख्याल रखना मुश्किल है। जिस हदीस का शेख को बहुत घमण्ड था और जिसके कारण वह इतने ऊँचे दर्जे पर पहुँचे थे, उसमे ही उनकी यह हालत थी। फैजी और अबुलफजल क्यों न बूढ़े पर धूल उड़ाते ? उधर पुराने मुल्ला सुल्तानपुरी भी शेख को नीचे गिराने के किसी मौके से चूकते नहीं थे। यह साबित होने लगा कि सदर ने मीर हबश को निरपराध शिया कह कर मरवाया और खिजिर खाँ को पैगम्बर का अपमान करने का इल्जाम लगाकर मौत के घाट उतारा। इसी समय कश्मीर के हकीम (राज्यपाल) की ओर से भेंट लेकर मीर मुकीम अस्फहानी और मीर याकूब हुसेन खाँ आये। कश्मीर में इसी समय शिया-सुन्नियों का झगड़ा हुआ था, जिसमें एक शिया कत्ल हो गया था। उसके लिए एक सुन्नी मुफ्ती के प्राण लिये गये। कहा गया कि यह मीर मुकीम के कारण हुआ। शेख सदर ने मुकीम और याकूब दोनों को शिया होने के कारण बदला लेने के लिए कत्ल करवा दिया। लोगों ने कहना शुरू किया, यह भी निरपराध का खून है।

बादशाह का मन बिगड़ चुका था। इसी समय एक और बुरा काम शेख सदर कर बैठे, जिसके कारण उनका पतन निश्चित हो गया। मथुरा में एक ब्राह्मण मस्जिद के स्थान पर शिवाला बनवाने लगा। जब उसे रोका गया, तो उसने पैगम्बर की शान के विरुद्ध भी कुछ कह दिया और मुसलमानों की बेइज्जती की। ब्राह्मण प्रभावशाली था, इसलिए मथुरा के काजी कुछ कर न सकते थे। उन्होंने इस मामले को सदर के पास पेश किया। सदर ने आने के लिए हुकुम भेजा, तो ब्राह्मण नहीं आया। बात अकबर तक पहुँची। उसकी सलाह पर बीरबल और अबुलफजल वचन देकर ब्राह्मण को फतेहपुर सीकरी लाये। अबुलफजल ने जाँच करके बादशाह से कहा कि बेअदबी जरूर इसने की है, लेकिन आलिमों में दो पक्ष हैं—एक पक्ष कत्ल की सजा उचित बतलाता है और दूसरा जुर्माने की। शेख

सदर ने कत्ल को उचित समझा और इसके लिए वह बादशाह की इजाजत माँगने लगे। अकबर पक्ष में नहीं था और टालमटोल करते सिर्फ यही कहता था, शरीयत के मामलो का जिम्मा तुम्हारे ऊपर है। ब्राह्मण देर तक कैद मे रहा। अकबर के अन्तःपुर में हिन्दू रानियाँ भी थीं और उनका काफी सम्मान था। उनका अपने धर्म के साथ प्रेम था। उन्होंने भी बादशाह से ब्राह्मण की जान बचाने के लिए सिफारिश की। शेख के पास भी सिफारिश गई, पर वह अपनी बात पर डटे हुए थे। बादशाह से फिर पूछा, तो उसने अपनी वही बात दुहराई। शेख ने आगा-पीछा कुछ नहीं सोचा और तुरन्त कत्ल का हुक्म दे दिया।

ब्राह्मण के कत्ल होने की बात जब अकबर के पास पहुँची, तो वह बहुत नाराज हुआ। महल की रानियों और बाहर के दरबारी राजाओं ने कहना शुरू किया। इन मुलटों को हुजूर ने इतना सिर पर चढ़ा लिया है कि यह आपकी खुशी का भी ख्याल नहीं करते और अपना दबदबा दिखाने के लिए लोगों को बेहुक्म कत्ल कर डालते है। बादशाह का पारा बहुत ऊँचा चढ़ गया और बर्दाश्त करना उसके लिए मुश्किल हो गया। दरबार में बैठा था। मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी भी वहाँ थे। बादशाह की नजर उन पर पड़ी, तो नाम लेकर आगे बुलाया। वह सामने गये। पूछा—"तूने भी सुना है, कि अगर निन्नानबे वचन कत्ल के पक्ष में हों और एक मुक्ति के पक्ष में, तो मुफ्ती (कानून शास्त्री) को चाहिए कि अन्तिम वचन को मान्य करे।" मुल्ला बदायूँनी ने कहा—"वस्तुतः जो हजरत ने फरमाया, वही बात है।" अकबर ने पूछा—"क्या इस बात की खबर शेख को न थी कि बेचारे ब्राह्मण को मार डाला ? यह क्या बात है ?" मुल्ला बदायूँनी अपने मुल्ला भाई को मँझधार में छोड़ने के लिए तैयार न थे और बोले—"शायद इसमें कोई मस्लहत हो।"

अकबर ने कहा—"वह मस्लहत क्या है ?"

"—यही फितना (धर्म-विरोध) का दरवाजा बन्द हो और लोगों में साहस न पैदा हो।" बादशाह मुल्ला की बातों को गुस्ताखी समझ रहा था और यह भी कि वह सदर का पक्ष ले रहा है। मुल्ला बदायूँनी ने अपने इतिहास में लिखा है "बादशाह को लोग देख रहे थे। उसकी मूछें शेर की तरह खड़ी थीं। पीछे से लोग (मुझे) मना कर रहे थे कि न बोलो।"

बादशाह ने एकाएक बिगड़कर फरमाया—"क्या नामाकूल बातें करते हो।" मुल्ला बदायूँनी तस्लीम बजाकर तुरन्त पीछे हट गये। लिखते हैं—"उस दिन से शास्त्रार्थ की सभाओं और ऐसे साहस से मैं अलग रहने लगा। कभी-कभी दूर से कोर्निश (दंडवत्) कर लेता था। शेख अब्दुन् नबी का काम दिन पर दिन गिरने लगा। धीरे-धीरे मन में मैल बढ़ता गया, बादशाह का दिल फिरता गया।...शेख

के हाथ से नये-पुराने अधिकार निकलने लगे और उन्होंने दरबार मे जाना बिल्कुल छोड दिया ।" शेख मुबारक ताक में थे ही । उन्ही दिनों किसी उपलक्ष्य मे बधाई देने आगरा से फतेहपुर सीकरी पहुँचे । मिलने के समय बादशाह ने सारी बात बतलाई । शेख मुबारक ने कहा —"आप स्वयं प्रमाण है, अपने समय के इमाम है । शरीयती या मुल्की हुक्मो के जारी करने में मुल्लों की जरूरत क्या है ? इनकी प्रसिद्धि निराधार है, इन्हे इल्म का कुछ भी ज्ञान नहीं है ।"

बादशाह ने कहा—"जब तुम हमारे उस्ताद हो और हमने तुमसे सबक पढ़ा है, तो इन मुल्लों के फंदे से हमें छुट्टी क्यों नही दिलाते ?" इसी पर शेख मुबारक ने व्यवस्था-पत्र (मजहर) तैयार किया और बादशाह को सभी विवादास्पद विषयो में सर्वोपरि प्रमाण स्वीकार कर मुल्लो से मुहरें लगवाई । शेख अब्दुन् नबी दरबार में आना-जाना छोड मस्जिद मे बैठे-बैठे बादशाह और दरबारियों को बेदीन और बदमजहब कहकर बदनाम करने लगे । मुल्ला सुल्तानपुरी से बिगडी हुई थी, पर अब दोनो एक नाव पर थे, दोनों मिल गये । वह लोगों से कहते फिरते—हमसे जबर्दस्ती व्यवस्था-पत्र पर मुहरें लगवाई गई ।

अकबर कितने दिनों तक बर्दाश्त करता ? आखिर ९८७ हि० (१५८० प्रारंभ) में मुल्ला सुल्तानपुरी और शेख अब्दुन् नबी दोनों को जबर्दस्ती हज के लिए भिजवाते कहा कि वही खुदा की इबादत करते रहो । बिना हुकुम के फिर लौट के न आना ।

२. मक्का में निर्वासन

अकबर ने यद्यपि दोनों मुल्लाओं को आजीवन कालापानी की सजा दी थी, पर आखिर यह लोग बड़े-बड़े पदो पर रहे थे, इस्लाम के बड़े आलिम माने जाते थे, इसलिए बादशाह ने उनके लिए मक्का के शरीफ को पत्र लिखकर उनके साथ अच्छा बर्ताव करने के लिए कहा । वहाँ के लोगों को देने के लिए बहुत-सा सामान और नकद रुपया दिया । जब वे वहाँ पहुँचे, तो दुनिया बहुत कड़वी दिखाई पड़ी । कहाँ हिन्दुस्तान में वह धर्म के सर्वेसर्वा थे और यहाँ मक्का का छोटा-सा मौलवी भी इन्हें कुछ नहीं समझता था । उनके सामने ये जबान खोलने की भी हिम्मत नहीं कर सकते थे । हिन्दुस्तान के वह दिन याद आने लगे । सोचने लगे, कहाँ आकर फँसे । पर, लौटने की इजाजत नहीं थी । आखिर बैठे-बैठे अकबर और उसके दरबारियों को बेदीन कहकर बदनाम करने लगे । इसकी खबर रूम और बुखारा तक पहुँच रही थी, अकबर के पास तो एक-एक बात को नमक-मिर्च लगाकर पहुँचाया जाता था । दो वर्ष बाद फिर हाजियों का काफिला जब रवाना हुआ, तो शाही मीर हाज उनके साथ था । हज का एक विशेष विभाग ही था, जो हाजियों की यात्रा का प्रबन्ध करता था और मीर हाज

को हाजियों के साथ भेजा जाता था । वह बादशाह का एक पत्र साथ लेता गया, जिसमें लिखा था—"हमने शेख अब्दुन् नबी और मखदूमुल्मुल्क के हाथ नकद रुपया और बहुत-सी भेट हिन्दुस्तान से रवाना की थी जिसमें सभी लोगों और तीर्थों मे बाँटने के लिए रकमें थीं । सूची से अलग भी कुछ रकम दी थी कि उसे कुछ व्यक्तियों को गुप्त रीति से दे दें । शेख सदर को यह भी हुकुम दिया था कि जो अच्छी और विचित्र चीजें उधर के मुल्कों की मिलें, उन्हें ले लेना । उनके लिए दी गई रकम अगर काफी न हो, तो गुप्तदान की रकम से खरीद लेना । लिखिए, कि आपको उन्होंने कितना रुपया दिया ।" इसके साथ ही मुल्लों की कारस्तानियों की शिकायत करते कहा—"ऐसे लोगों को पवित्र स्थान से निकाल कर फिर न आने दो ।"

काल सिर पर चढ़ा— दोनों मुल्ला तीन साल तक किसी तरह अल्लाह के घर में रहे । फिर अल्लाह के घर से कुफ्र का घर हिन्दुस्तान उन्हें खींचने लगा—शैतान अक्सर खुदा से ज्यादा शक्तिशाली सिद्ध हुआ है । मुल्लों ने सुना कि अकबर का सौतेला भाई मिर्जा मुहम्मद हकीम काबुल से हिन्दुस्तान लेने के लिए चल पड़ा है । उन्होंने समझा, अकबर को खत्म करने का यह बहुत अच्छा मौका है । अपनी बेदीनी के कारण मुसलमानों को उसने दुश्मन बना ही लिया है । बस हमारा फतवा निकला, कि अकबर को इस दुनिया को छोड़कर दूसरे काफिरों की तरह दोजख में ही ठिकाना मिलेगा । बेचारे दूर थे और आजकल की तरह तार और अखबार तो थे नहीं । खबरें बहुत देर से पहुँचती थीं । उन्हें लौटने में महीने नहीं बल्कि बरस लगा । तब तक हकीम मिर्जा का उछलना-कूदना बन्द हो चुका था । १५८२ ई० में जहाज से खम्भात में उतरे, फिर अहमदाबाद आये । सब सुनने पर भी पीछे लौटने का रास्ता नहीं था । हज करके लौटी बेगमों की मार्फत सिफारिश करवाई और अब्दुन् नबी खुद फतेहपुर सीकरी के दरबार में हाजिर हो गये । इन तीनों सालों में जो परिवर्तन देखा, उससे शेख की अक्ल हैरान हो गई । उनके लिए यह विश्वास करना भी मुश्किल हो गया—यह वही हिन्दुस्तान है, वही दरबार है, जहाँ दीनदार बादशाहों के दम का जुलूस था । पर, अब तो मुबारक के बेदीन बेटों—फैजी और अबुलफजल की-चल रही थी ।

उनसे पहले ही दरबार में उनकी करतूतों का कच्चा चिट्ठा पहुँच गया था । मक्का-मदीना में बैठकर अकबर को यह लोग बेदीनी और दोजखी कहकर बदनाम करते थे, वह सब उसे मालूम था । बातचीत करते वक्त बूढ़े ने अपनी आदत से मजबूर हो कोई ऐसी बात कह दी कि बादशाह की त्योरी बदल गई । यह वही शेख सदर थे, जिनकी जूतियों को एक समय अकबर ने अपने हाथों सीधा किया था और जामा पर डंडा लगने को भी चुपचाप बर्दाश्त कर लिया था ।

जूतियाँ उठाने वाला वही हाथ आज इस बुड्ढे के मुँह पर जोर के मुक्का के रूप में पड़ा। बेचारे बूढे ने इतना ही कहा---"ब-कारद चिरा न भी जनी।" (तलवार क्यों नहीं मार देते।)

बादशाह ने टोडरमल को हुकुम दिया, कि मक्का मे बॉटने के लिए जो ७० हजार रुपये दिये गये थे, उनका इनसे हिसाब ले लो। जॉच के काम मे अबुलफजल को भी शामिल किया गया। जिस तरह और करोडी गबन के अपराध में कैद में पड़े थे, उसी तरह शेख अब्दुन् नबी को भी डाल दिया गया। अपराधियो की तरह उन्हें भी सफाई देने के लिए हाजिर होना पड़ता। जिस मकान में वह खुद दरबार करते थे, अमीर तथा आलिम हाथ बाँधकर खड़े रहते थे; वही उन्हे कोई पूछता भी नहीं था। काफी समय तक उनकी पेशी चलती रही। एक दिन सुना गया कि रात को गला घोंटकर किसी ने उन्हें मार डाला। कहते हैं, यह भी बादशाह के इशारे से हुआ था। दूसरे दिन मीनारो के मैदान में लाश पड़ी थी। लोग मुल्ला का तिरस्कार करते शेर पढ़ा करते थे—

गर्चे ई शेख क-न्नबी गुफ्तान्द्। क-न्नबी नेस्त शेखे-मा कन्नबी स्त।

(यद्यपि शेख को नबी समान करते हैं, पर नबी समान नहीं, हमारा शेख भंगडी है।)

१. पूर्व-पीठिका

हमारे देश मे हर जगह आदमियो के हाथो तोडी गई पत्थर की मूर्तियाँ मिलती है। यह तो सभी को मालूम है कि इनके तोडने वाले मुसलमान थे—इस्लाम मूर्तियों को तोडने मे सवाब (पुण्य) मानता है, इसलिए हरेक गाजी कुफ्र के इस पाप-चिह्न को मिटा देना अपना कर्तव्य समझता था। उसे इसका कोई ख्याल नही था, कि यह मूर्तियाँ निराकार अल्ला और भगवान् से भी ज्यादा मूल्यवान् है। इनमे बहुत-सी उत्तम कला के नमूने है; जिनके सौन्दर्य को देखकर आदमी अश्-अश् करने लगता है। लेकिन इसे जानने के लिए अधिक संस्कृत होने की जरूरत है। बर्बर एकेश्वरवादी उसे क्या समझ सकते थे ? ईसाई धर्म भी मूर्ति के खिलाफ था। इस्लाम और ईसाई दोनों धर्मों ने मूर्तियों के साथ शत्रुता यहूदियों से सीखी। तीनों सामीय धर्मों ने मिलकर दुनिया के कोने-कोने में कला के भव्य नमूनों को नष्ट करने का महापाप किया। पहले दो के अनुयायी अब मूर्ति भक्त हो गये हैं, क्योकि वह अब अधिक संस्कृत है। यूनान और रोम की मूर्तियों को कभी जान-बूझकर तोड़ने मे जिन्होंने आनन्द अनुभव किया था, वह अब उनको जमा करके सुरक्षित रखने तथा उनसे प्रेरणा पाने में गौरव मानते हैं। यूरोप को नव-जागरण की प्रेरणा ग्रीक और यूनान की पुरानी मूर्तियों और उनके विचारकों ने दी। दूर क्यो जायें, अफगानिस्तान को ही देखें। १६३८ के जनवरी में मैं काबुल में था। अफगान लोग उस समय और अब भी शिक्षा में बहुत पिछड़े हुए हैं। पर, उनको अपनी संस्कृति का भान होने लगा था। बामियान और बेग्राम के बौद्ध मन्दिरों और चित्रों को नष्ट करने में कभी पठानों ने गौरव अनुभव किया होगा और अब मै देख रहा था, तरुण पठान कलाकार उन्हीं मूर्तियों और चित्रों को लेकर कला का पाठ पढ़ते गर्व अनुभव करते कह रहे थे —हमारे पूर्वजों ने इसे बनाया था। उत्तम कला के साथ दुश्मनी मानवता के साथ दुश्मनी है। जिसने कला का ध्वंस किया, उसने अपनी बर्बरता का परिचय दिया। समय बीतते उसे दुनिया के धिक्कार का अधिकाधिक पात्र बनना पड़ेगा।

भारत में मूर्तिध्वंसक बहुत आये, लेकिन उनमें से एकाध के ही कार्य से हम परिचित है—हुसेन खाँ टुकड़िया इन्हीं में से था। कुमाऊँ-गढ़वाल में आज जो मूर्तियाँ टूटी-फूटी मिलती है, वह टुकड़िया का काम है। टुकड़िया मूर्तियों को तोड़ने के लिए, मन्दिरों और धन को [illegible] में सोमेश्वर, बैजनाथ, बागेश्वर, द्वाराहाट सभी जगह पहुँचा। गढ़वाल में जोशीमठ, बदरीनाथ, तपोवन, केदारनाथ की मूर्तियों और मन्दिरों को भी नष्ट-भ्रष्ट करने वाला टुकड़िया था।

उससे पहले शायद ही कोई मुसलमान विजेता पहाडों के भीतर इतनी दूर तक इस काम के लिए गया हो। यह निश्चित ही है कि अपने घर से खर्च करके यदि जेहादियो को इन पहाड़ो मे मूर्तियो को तोडकर सवाब हासिल करना होता, तो वह कभी नही जाते। असल में वहाॅ की अपार सम्पत्ति का लोभ उन्हें खीचकर वहाॅ ले गया। वह धातु की मूर्तियों को गलाकर उसके दरब को बेच देते, जेवरो और नकद पैसे हाथ में कर लेते थे, मन्दिरों में लकडी जमा कर आग लगा देते और मूर्तियों को हथौड़े से तोड़ देते थे। नाक पर उनका हथौड़ा पहले चलता था।

टुकडिया ने जितनी मूर्तियो को तोड़ा, शायद ही किसी ने उतना तोडा होगा। केदारनाथ के रास्ते पर मैखण्डा में हरगौरी की असाधारण सुन्दर खण्डित मूर्ति को देखकर मन क्षुब्ध हुए बिना नहीं रहता। कैसे उस आततायी का हाथ इस सुन्दर कलाकृति पर उठा। मुसलमानो का अल्ला, हिन्दुओं और दूसरे धर्मों के भगवान कभी न थे, वह सरासर झूठे हैं। उसके न होने का इससे बढ़कर और प्रमाण क्या चाहिए कि टुकड़िया ने कला के अद्‌भुत नमूनों को बेदर्दी के साथ नष्ट किया और भगवान चुपचाप देखता रहा। टुकडिया कौन था? अकबर का एक सम्मानित उच्च-अधिकारी, यह जानकर और भी आश्चर्य होता है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि उसके इस महापाप में अकबर की सहानुभूति थी। इससे यही मालूम होता है, कि अकबर को कैसे लोगो के बीच में रहकर काम करना पड़ा था। महमूद गजनवी के वक्त से चली आती परंपरा अब भी उतनी ही मजबूत थी।

टुकड़िया एक आदर्श मुस्लिम धर्मवीर था। हुमायूँ हिन्दुस्तान की ओर लौटते अफगानिस्तान पहुँचा। इसी समय हुसेन खाँ नामक अफगान बैरम खाँ खानखाना का नौकर हो हुमायूँ के साथ रहने लगा। कन्दहार की विजय मे उसने अपनी बहादुरी के जौहर दिखलाये। उसका यश बढ़ा। हुमायूँ के एक पठान सरदार मेहंदी कासिम खाँ की लड़की से उसका ब्याह हो गया। मेहंदी उसका मामा भी था। हुमायूँ के बाद अकबर गद्दी पर बैठा। अब भी पंजाब की तरफ सिकन्दर सूर मुगलों से लड़ रहा था। मानकोट के किले में उसके साथ मुकाबिला हुआ। भाई हसन खाँ मारा गया। हुसेन खाँ की बहादुरी की दाद अकबर और सिकन्दर दोनों देते रहे। ९६५ हिजरी (१५५७-१५५८ ई०) मे विजय के बाद अकबर दिल्ली की तरफ लौटा। उस समय हुसेन खाँ को उसने पंजाब का हाकिम बना दिया।

लाहौर महमूद गजनवी के समय से ही मुसलमानी शासन में था। मालिकों की देखा-देखी हिन्दुओं को भी दाढ़ी रखने का शौक था। एक लम्बी दाढ़ी वाला आदमी हाकिम के दरबार में आया। हुसेन खाँ सम्मान के लिए उठ खड़ा हुआ, उससे कुशल-मंगल पूछने लगा। पीछे मालूम हुआ, वह तो हिन्दू था। उसने हुकुम दे दिया कि अब से हरेक हिन्दू अपने कन्धे पर एक रंगीन कपड़े का टुकड़ा टँकवा

लिया करे। लाहौर के सारे हिन्दू अपने कन्धों पर रंगीन टुकड़ा टँकवाने लगे। उन्होंने उसका नाम टुकड़िया रख दिया। तब से वह इसी नाम से मशहूर हुआ।

अगले साल टुकडिया अकबर के पास आगरा में आया। रणथम्भौर के युद्ध मे भेजा गया। इसी समय उसके आका बैरम खाँ का जमाना बिगड़ा। टुकड़िया लड़ाई छोड़ ग्वालियर हो मालवा जाना चाहता था। खानखाना के बुलाने पर वह उसके पास पहुँच गया और उसके लिए बराबर लड़ता रहा। पर, खानखाना के दुश्मनों की पीठ पर अकबर का हाथ था। कई अमीरों के साथ हुसेन खाँ पकड़ा गया। अकबर हुसेन खाँ की बहादुरी को जानता था, इसलिए पहले उसे उसके साले के हाथ में रखा, फिर पटियाली इलाके की जागीर दे दी। वही पटियाली, जहाँ पर कि फारसी के महान् कवि अमीर खुसरो पैदा हुए थे। ९७४ हिजरी (१५६६-१५६७ ई०) में उसके ससुर और मामा मेहंदी कासिम हज करने चले। टुकड़िया पहुँचाने के लिए समुद्र तट तक गया। लौटते वक्त देखा कि इब्राहीम हुसेन मिर्जा आदि तैमूरी शाहजादों ने अकबर के खिलाफ बगावत की है। वह भी अपने स्वामी के लिए लड़ने वालों में शामिल हो गया। पासा उल्टा पड़ा। इब्राहीम ने समझा-बुझाकर विरोधियों को आत्म-समर्पण करने के लिए तैयार किया। टुकड़िया भी बाहर आया। उसे शाहजादा के पास जाने के लिए कहा गया, लेकिन उसने स्वीकार नहीं किया—वह कैसे अपने बादशाह के बागी को सलाम करेगा। नहीं माना। अकबर ने पहले ही उसके बारे में सुन लिया था। आने पर उसने तीन हजारी का दर्जा और शमशाबाद इलाके की जागीर दी। टुकड़िया को मजहब ने अंधा बना दिया था, नहीं तो उसमें न लोभ था और न शाह खर्ची की कमी थी। इतनी बड़ी जागीर मिलने पर भी उसका हाथ तंग ही रहता था।

तीन साल बाद ९७७ हिजरी (१५६९-७० ई०) में टुकड़िया को लखनऊ की जागीर मिली। इसी समय उसका ससुर हज करके लौटा। अकबर ने उसे लखनऊ की जागीर दे दी। हुसेन खाँ इस जागीर को छोड़ना नहीं चाहता था। मामा-भतीजे, ससुर-दामाद में जागीर के लिए मनमुटाव हो गया। बादशाह ने जागीर ससुर को दे ही दी थी। टुकड़िया ने ससुर पर बुखार निकालने के लिए अपने चाचा की बेटी से दूसरा ब्याह कर लिया। नई बीवी को अपने पास पटियाली में रखा और कासिम खाँ की बेटी को उसके भाइयों के पास खैराबाद (जिला सीतापुर) में भेज दिया।

२. मन्दिरों की लूट और ध्वंस

जागीर हाथ से निकलने का उसके दिल पर बड़ा सदमा हुआ। निश्चय किया, अब बादशाह की नौकरी करने की जगह अल्ला मियाँ की नौकरी करूँगा। अल्ला मियाँ आसमान से मन्ना तो नहीं टपकाते और टुकड़िया कोई दुआ करने

वाला फकीर भी नहीं था। उसने अब काफिरो को लूटते-मारते जेहाद का कर्तव्य पूरा कर अल्ला को खुश करने का निश्चय किया। उसने सुना था, कुमाऊँ-गढ़वाल के पहाडो मे ऐसे मन्दिर है, जो सारे चाँदी-सोने की ईटों से बने है। वहाँ अपार धन है। उसने जेहादियो को भरती किया। लूट के माल के लिए कितने ही मुसलमान तैयार थे। सैकड़ो धर्मवीर टुकड़िया के झण्डे के नीचे जमा हो गये। वह १५७१ या १५७२ में पहाड़ के भीतर घुसा।

पहाड के लोगों ने थोडा बहुत मुकाबिला किया, उनके पास इतने अच्छे-अच्छे हथियार नहीं थे। वे अपने गाँवों को छोडकर भाग गये। हुसेन खाँ टुकडिया अपने जेहादियो को लिए भीतर बढ़ा। एक जगह बतलाया गया कि यहाँ सुल्तान महमूद का भाँजा शहीद हुआ था। (यह स्थान शायद बाराबंकी जिले का सैयदसालार गाजी का स्थान था)। उसने पुराने जेहादियों की कब्रों पर फातिहा पढ़ा, उनकी मरम्मत करवाई। जाते-जाते बर्फानी स्थान में पहुँच गया। शायद यह गर्ब् याङ्या जोहार होगा। सुना था, वहाँ सोने-चाँदी की खाने और तिब्बत से कस्तूरी और रेशम आते हैं। लोगों ने यह कहा कि वहाँ नगाडे की आवाज, लोगों के हल्ला-गुल्ला और घोड़ों के हिनहिनाने से बर्फ पड़ने लगती है। कुमाऊँ-गढ़वाल के बर्फानी स्थानों के बारे में ऐसी बात नहीं सुनी जाती, हाँ अमरनाथ (कश्मीर) के बारे में जरूर सुनी जाती है। जो भी हो, जेहादियो को लालच बुरी बला साबित हुई। बर्फ पड़ने लगी। खाने के लिए घास-पत्ते भी नहीं थे। भूख के मारे प्राण जाने लगे। टुकड़िया ने बहुत हिम्मत बढ़ाई, सोने-चाँदी की ईंटों की बातें सुनायी लेकिन, बर्फ के सामने जेहादियों की हिम्मत नहीं हुई। वह टुकड़िया के घोड़े की लगाम पकड़कर जबरदस्ती नीचे खींच लाये। अब टुकड़िया की पलटन की हालत वही थी, जो मास्को से लौटते नेपोलियन की हुई। पहाड़ के लोग उनका रास्ता रोके थे। वह विष से बुझे वाणों को चलाते, पत्थरों की वर्षा करते। बहुत से जेहादी इस दुनिया को छोड़कर स्वर्ग पहुँच गये। कितने ही घाव के विष के कारण पाँच-पाँच, छह-छह महीने में घुल-घुलकर मरे। हुसेन खाँ सही सलामत नीचे उतरा। जेहाद का नशा कुछ ठण्डा हो गया था, पर पूरी तौर से नहीं।

अब हुसेन खाँ अकबरी दरबार में पहुँचा। मालूम नहीं, अपने जेहाद की दास्तान को किस तरह सुनाया। वह पहाड़ियों पर जला-भुना था, शायद अकबर की भी कुमाऊँ-गढ़वाल के ऊपर नजर थी। टुकड़िया ने काँटगोला इलाका (मुरादाबाद जिला) जागीर के लिए माँगा। झगड़े वाले इलाके को दरबार हमेशा देने के लिए तैयार ही रहता था। टुकड़िया वहाँ पहुँचा। उसने पहाड़ में घुसकर अपनी जेहाद जारी रखी। जेहादियों की क्या कमी हो सकती थी जबकि जीने वालों को लूट की अपार सम्पत्ति मिलने वाली थी। तैमूरी शाहजादों में इब्राहीम

हुसेन ने अकबर को तंग किया था। वह हिन्दुस्तान (उत्तर-प्रदेश) मे आकर तहलका मचाये हुए था। टुकड़िया को खबर लगी, वह लड़ने गया। जॉघ मे गोली लगी। प्रसिद्ध इतिहासकार मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी उसके पास वर्षों रहे। बदायूँनी भी इस्लामी जेहाद के दिलदादा थे। वह अपने मुरब्बी की प्रशसा करते नही थकते। गोली लगते समय के बारे मे लिखते है—"मैने पानी छिड़का। आस-पास के लोगो ने जाना कि रोजा रखने की कमजोरी है। मैंने घोडे को लगाम पकडकर चाहा कि पेड की ओट में ले जाऊँ। आँख खोली। अपने स्वभाव के विरुद्ध गुस्से की नजर से मुझे देखा और झुँझलाकर कहा —लगाम पकड़ने की क्या बात है, बस (रन में) उतर पड़ो। उसे वहीं छोड़कर निकल पड़े। घमासान लड़ाई हुई। दोनों तरफ से इतने आदमी मारे गये जिनकी गिनती नहीं की जा सकती। शाम के समय इस छोटी सी टुकडी पर अल्ला ने रहम किया, विजय की हवा चली। दुश्मन सामने से इस तरह हटने लगे जैसे बकरियों के रेवड़ चले जाते है। पर सिपाहियों के हाथों में हिलने की ताकत नहीं रही, जंगल में दोस्त-दुश्मन गड-मड हो गये। एक दूसरे को पहचानते नहीं थे। कमजोरी के मारे एक का हाथ दूसरे पर उठता नहीं था। कुछ अल्ला के बन्दों ने जेहाद का सवाब लिया और रोजा भी रखा। कुछ बेचारों ने पानी बिना जान दी।"

विजय प्राप्त कर बूढ़ा टुकड़िया काँटगोला लौट गया। इलाके का प्रबन्ध करने लगा था, इसी समय सुना कि बादशाह का बागी शाहजादा हुसेन मिर्जा संभल से १५ कोस पर है। पालकी पर बैठकर चल पड़ा। मिर्जा बाँस बरेली से चला गया, वह टुकडिया की बहादुरी को अच्छी तरह जानता था। हुसेन खाँ आधी रात को संभल पहुँचा। नगाड़े की आवाज सुनकर अकबर के सरदारों ने समझा, मिर्जा आ गया। सब किले का दरवाजा बन्द करके भीतर बैठ गये। किले के नीचे से आवाज दी गई कि हुसेन खाँ तुम्हारी मदद के लिए आया है, तब उनकी जान में जान आई। यह लोग शाहजादा (मिर्जा) के पीछे गंगापार आहार (बुलन्दशहर) की ओर दौड़े और मिर्जा अमरोह को लूटते चौमाला के घाट पर गंगापार ही लाहौर की तरफ चला। टुकड़िया ने यदि गढ़वाल-कुमाऊँ में लूटमार और खून-खराबा करके पुण्य अर्जन किया था, तो शाहजादा भी अकबर के राज्य के शहरों को लूटता-मारता धन जमा कर अपने सहायकों की संख्या बढ़ा रहा था। हुसेन खाँ बराबर उसका पीछा करता रहा। लुधियाना में सुना कि लाहौर में लोगों ने मिर्जा के डर से दरवाजा बन्द कर लिया। मिर्जा शेरगढ़ और दीपालपुर (मांटगोमरी जिला) चला गया था। मिर्जा इधर से उधर घूमता रहा। टुकड़िया तथा अकबर के दूसरे अमीर उसका पीछा कर रहे थे। आखिर मिर्जा को पकड़कर मुलतान ले गये। हुसेन खाँ खबर सुनकर मुलतान पहुँचा। मिर्जा से मिलने से पहले

टुकड़िया ने इन्कार किया, क्योंकि बादशाह के बागी को सलाम करना पड़ेगा। मिर्जा ने यह सुनकर कहला भेजा कि सलाम करने की जरूरत नहीं। लेकिन, टुकड़िया तैमूर खानदान के शाहजादे के सामने पहुँचने पर सलाम किये बिना नही रहा।

टुकडिया फिर अपनी काँटगोला जागीर में आ गया।

६८२ हिजरी (१५७४-७५ ई०) में भोजपुरी इलाका बिगड़ा हुआ था। अकबर उसके लिए परेशान था और वह वहाँ दौरा कर रहा था। टुकड़िया के बारे में पूछा, तो मालूम हुआ कि वह अवध मे लूट-मार करता फिर रहा है। अकबर बहुत नाखुश हुआ।

अकबर दिल्ली पहुँचा। उस समय टुकड़िया पटियाली और भोगाँव (मैनपुरी जिला) में आया था, जहाँ से दरबार में पहुँचा। पता लगा कि मुजरा (दर्शन) करने का हुकुम नहीं है। अफसरों को हुकुम था कि उसे शाही दौलतखाने की सीमा से बाहर निकाल दो। ऐसे जालिम के लिए यह दण्ड बहुत कम था, इसमें शक नहीं। यह खबर सुनकर टुकड़िया ने अपने हाथी-घोड़े और सभी सामान लुटा दिये— कुछ हुमायूँ के मकबरे के मुजावरों को दे दिया, कुछ मदरसों को और कुछ गरीबों को। बुढ़ापे में गले में कफनी डालकर फकीर बन कहने लगा—"जिसने मुझे नौकर रखा था, अब उसी (हुमायूँ) की कब्र पर झाड़ू दूँगा।" अकबर को खबर लगी, उसको दया आई और टुकड़िया को काँटगोला और पटियाली की एक करोड़ बीस लाख दाम की जागीर दे दी। ६८२ हिजरी (१५७४-७५ ई०) में फिर टुकड़िया सोने-चाँदी की खानों और सोने-चाँदी के मन्दिरों को लूटने के लिए कुमाऊँ-गढ़वाल की भीतरी पहाड़ियों की ओर चला। तराई में बसंतपुर में उसके पहुँचते ही जमींदारों और करोड़ियों ने भाग कर दरबार में शिकायत की—हुसेन खाँ बागी हो गया। बसंतपुर की लड़ाई में टुकड़िया के कन्धे पर भारी जख्म लगा। अब वह जेहाद करने लायक नहीं था, इसलिए पटियाली में अपने बाल-बच्चों के पास आने के लिए गढ़मुक्तेश्वर पहुँचा। अपने पुराने दोस्त सादिक मुहम्मद मुन अमखाँ के पास जा उससे बादशाह के पास सिफारिश करवाना चाहता था। अबुल फजल ने 'अकबरनामा' में लिखा है कि हुसेन खाँ मुल्क लूटता फिरता था। बादशाह सुनकर दुबारा नाराज हुआ और उसके खिलाफ एक सरदार को बड़ी सेना के साथ भेजा अब हुसेन खाँ को कुछ होश आया। घाव से भी कुछ दिल टूट गया था। वह रास्ते पर आया। साथ में जो गुण्डे थे, वह बादशाही फौज की खबर सुनकर भाग गये। हुसेन खाँ ने सोचा, बंगाल में जाकर अपने पुराने दोस्त मुनअमखाँ से मिले और उसके द्वारा दरबार में क्षमा प्रार्थना करे। गढ़मुक्तेश्वर

के घाट से नाव पर सवार होकर चला था, इसी समय बारा के स्थान में पकड लिया गया ।

३. अवसान

घाव खतरनाक था । बादशाही जर्राह पट्टी बदलने आये। बित्ते भर सलाई भीतर घुस गई । वह उसे भीतर से कुरेद कर जख्म का पता लगा रहे थे । टुकडिया की त्यौरी पर बल तक नही था । वह बेपरवाही के साथ मुस्कुराता बाते कर रहा था । इसके तीन-चार दिन बाद टुकडिया मर गया । उसे पटियाली मे लाकर दफन किया गया । मुल्ला बदायूँनी ने अपनी किताब मे उसके लिए बहुत आँसू बहाये और तारीफ करते कहा, "पैगम्बर के जमाने मे होता, तो उनके सहाबो (दोस्तों) में होता ।" जब लाहौर मे हाकिम था, तो भिश्ती लोगो से सुना गया कि संसार की सारी नियामते मौजूद थी, लेकिन वह जौ की रोटी खाता था । सिर्फ इस ख्याल से कि रसूल ने हर स्वाद के खाने नहीं खाये थे, मै क्यों खाऊँ । वह पलंग और नरम बिछौनो पर नही सोता था, क्योंकि हजरत मुहम्मद ने इस तरह आराम नही किया, फिर मै क्यो ऐसे आराम वा आनन्द उठाऊँ । उसने हजारो मस्जिदों और मकबरों का निर्माण और मरम्मत कराई । उसने कसम खाई थी कि रुपया जमा न करूँगा । कहता था रुपया मेरे पास आता है, जब तक उसे खर्च नहीं कर डालता, वह बगल मे तीर की तरह गडता है । इलाके पर से रुपया आने नही पाता था । वही चिट्ठियाँ पहुँच जाती थीं और लोग रुपया ले जाते थे ।

टुकड़िया के रूप के बारे में उसके कृपापात्र मुल्ला बदायूँनी बतलाते है— कि बहुत लम्बा तगड़ा, शान-शौकत वाला बडा दर्शनीय जवान था । मै हमेशा युद्धक्षेत्र में उसके साथ नहीं रहा, पर कभी-कभी जंगलो की लड़ाइयों में मौजूद था । असल बात यह है कि जो बहादुरी मैने उसमें पाई, वह पहलवानो की पुरानी कहानियों में ही सुनी जाती हैं । जब लड़ाई के हथियार से सजता था, तो अल्ला से दुआ माँगता था, कि इलाही या तो शहीद बना या विजयी । कोई-कोई पूछते-पहले विजय की प्रार्थना क्यों नहीं करते, तो जवाब देता, पुराने प्यारों (शहीदो) को देखने की इच्छा आज के बन्दों की अपेक्षा ज्यादा होती है ।

मरते समय डेढ़ लाख रुपये से अधिक का उस पर कर्ज था । उसका बेटा यूसुफ खाँ जहाँगीर के दरबार में अमीर था और पोता इज्जत खाँ शाहजहाँ के जमाने में । कुमाऊँ और गढ़वाल के मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वंस करने वाला यही टुकड़िया था जिसके सारे गुण मजहबी पक्षपात के कारण दोष में बदल गये ।

शेख मुबारक (१५०५-६२ ई०)

८

१. जीवन का आरम्भ

अरब ने आठवीं सदी के शुरू में सिन्ध और मुल्तान पर अधिकार किया। उससे तीन सौ वर्ष बाद (ग्यारहवी सदी के आरम्भ मे) महमूद गजनवी ने पंजाब से लेकर लाहौर को अपने राज्य पाल की राजधानी बनाया। सिन्ध और पंजाब मुसलमानों के हाथ में रहे। बारहवी शताब्दी के अन्त में कन्नौज, दिल्ली, कालिंजर आदि को जीतकर प्रायः सारे उत्तरी भारत पर तुर्कों ने अपना शासन स्थापित किया। ईरान सातवीं सदी के मध्य में अरबों के हाथ मे चला गया था। ईरानी तख्त और उच्च संस्कृति ने रेगिरतानी अरबो और उनके धर्म के सामने सिर झुकाया। अरब केवल बहिश्त के लिए पानी की तरह अपने और अपने शत्रुओं के रक्त को नही बहा रहे थे। बहिश्ती हूरों और नियामतो से कही अधिक आकर्षक इस दुनिया की हूरें और सम्पत्ति उनके लिए थीं। उन्ही पर हाथ साफ करने के लिए अरब नौजवान जान की बाजी लगाकर अपने सूखे मुल्क से निकले थे। इस्लाम ले आने पर यह बात नहीं थी, कि अन्-अरब मुसलमान अरब मुसलमानों के बराबर हो जाते। हमारे यहाँ अँग्रेजो के समय एंग्लो-इंडियनों की जो स्थिति थी, वही स्थिति अरबो के सामने अन्-अरबों की थी। यह जाति का अपमान था, लेकिन ईरान या हिन्दुस्तान में जो जातियाँ सबसे पहले इस्लाम के झण्डे के नीचे आई, वह शताब्दियों से उत्पीड़ित और नीच समझी जाती थीं। उनके निकल जाने के बाद बड़ी जाति वालों ने भी धीरे-धीरे उनका अनुगमन किया। अरब मुसलमानों ने इनका विशेष ध्यान दिया, क्योंकि वह संख्या में कम रहने पर भी हिम्मत मे बडे और विदेशी शासन के लिए सबसे ज्यादा खतरनाक थे।

मुल्की, गैर-मुल्की या अरब, अन्-अरब मुसलमानो का भेद, ईरान, तूरान (मध्य-एशिया) में ही अपने चरम रूप पर पहुँच चुका था। अरब मुस्लिम शासन सिंध मुल्तान तक ही रहा। महमूद गजनवी तुर्क था। चार दिनों की चाँदनी के तौर पर गोरी दस-पन्द्रह साल के लिए भारत में अतुर्क, अन्-अरब विजेता के तौर पर आये। पर, उनके यहाँ भी असली शासक तुर्क ही थे। गुलाम, खिलजी, तुगलक तीनों तुर्क राजवंशों ने दिल्ली को इस्लामिक राजधानी बनाकर भारत के ऊपर दृढ़ मुस्लिम-शासन स्थापित किया। इस समय प्रमुख शासन तुर्कों का था। ईरानी उसके बाद आते थे और इसलिए कि उन्होंने तुर्कों की

संस्कृति और भाषा पर भारी प्रभाव डाला था । तुर्क पहले तुर्की और फारसी दोनो का व्यवहार करते थे । भारत मे आकर दो-चार पीढ़ियों मे ही वह तुर्की भाषा भूलकर फारसी भाषी हो गये । अन्तिम मुगल बादशाह भी अभिमान करते थे कि हमारी मादरी जबान फारसी है । इसलिए फारसी-भाषी ईरानियों की भारत के मुस्लिम-दरबारो में कदर थी । अरब तो न अब तीन में थे, न तेरह में । बहुत हुआ, तो मस्जिद का मुअज्जिन या कारी (कुरान-पाठी) किसी को बना दिया । विद्या और रण दोनो के मैदान में अरब पीछे पड गये थे तो भी शुद्ध तुर्कों को छोडकर बाकी सभी विदेशी मुसलमान अपना सम्बन्ध अरब के किसी प्रसिद्ध व्यक्ति या खानदान से जोड़ते थे । अरब आदमी नहीं अरब खून के महत्व को जरूर माना जाता था ।

अकबर के समय तक, शेख, सैयद, मुगल, पठान का भेद गैर-मुल्की मुसलमानों में स्थापित हो चुका था । शेख के महत्व को आजकल हम नहीं समझ पाते, क्योंकि अब वह टके सेर है, वैसे ही जैसे खान । तुर्कों और मंगोलों में खान राजा को कहते थे । १६२० ई० तक बुखारा में सिवाय वहाँ के बादशाह (अमीर) के कोई अपने नाम के साथ खान नहीं लगा सकता था । युवराज भी तब तक अपने नाम के साथ खान नहीं जोड सकता था, जब तक कि वह तख्त पर न बैठ जाता । शेख सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे । शेख का अर्थ था गुरू या संत पुरुष । इस्लाम में देखा-देखी यद्यपि अविवाहित साधुओं, फकीरों की भी चाल पड़ गई, विशेषकर मध्य एशिया और पूर्वी ईरान जैसे बौद्ध प्रदेशों पर अधिकार करने के बाद; तथापि वस्तुतः इस्लाम में मठों और साधुओं के लिए कोई स्थान नहीं था । शेखों की चल पड़ी । हमारे यहाँ ब्राह्मण गृहस्थ-गुरु बड़े सम्मान से देखे जाते हैं । बल्लभ कुल के महागुरु गृहस्थ ही होते है । यही स्थान इस्लाम में शेख का था । उनके बाद पैगम्बर के अपने वंश और रक्त के संबंधी होने से सैयदो का नम्बर आता था । मध्य एशिया में इन्हें खोजा कहते थे । मुगल पहले तुर्क कहे जाते थे । बाबर के वंश ने जब भारत पर अपना शासन स्थापित किया, तब वह मुगल के नाम से पुकारे जाने लगे । इनका एक पुराना नाम तूरानी भी था । चीनी और सोवियत मध्य-एशिया को पहले तूरान कहा जाता था, इसलिए वहाँ के मंगोलियत निवासी तूरानी पुकारे जाते थे । पठान दसवीं सदी के अन्त तक पक्के हिन्दू थे । हिन्दू दर्शन और कला की उनकी देनें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं । बौद्ध योगाचार और शंकर वेदान्त दोनों के आदि गुरु असंग पेशावर के पठान थे । पाणिनि पठान थे । गन्धार-कला पठानों की देन है, यह कहने में भी अत्युक्ति नहीं है । महमूद गजनवी ने पहले पहल काबुल पर अधिकार किया । पठानों ने पहले जबर्दस्त

सघर्ष किया, पर अन्त मे उन्हें इस्लाम के झण्डे के नीचे आना पड़ा । यह बहादुर जाति न तुर्क होने का अभिमान कर सकती थी, न इस्लामी संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली ईरानी जाति का होने का दावा कर सकती थी और न ही अरब थी । लेकिन, पठान तलवार के धनी थे, उसी के बल पर वह भारत मे अपना स्थान बनाने मे सफल हुए ।

इन चारों के बाद हिन्दुओं से मुसलमान बने लोग आते थे । इनमें जो प्रसिद्ध थे, वह चाहने पर भी अपने को छिपा नहीं सकते थे । हाँ, बहुत से राजपूतों और योद्धा-जातियो ने मुसलमान बनने पर अपने नाम के साथ खान लगाकर पठानों में नाम लिखाया; पर, यह बहुत पीछे की बात है । मुल्की मुसलमानों का दूसरे मुसलमानो के सामने वही स्थान था जो कि अँग्रेजों के काल में एंग्लो-इंडियन, यह हम कह आये हैं । मुल्की मुसलमानों में भी उच्च और नीच (अशरफ और अर्जल) दो तरह के लोग थे । जाति-पाति की खाइयों को तोड़ने का अभिमान करने वाला इस्लाम भारत में इस खाई को कभी नहीं पाट सका । सारे ही मुसलमानों में भारत में सबसे अधिक संख्या अर्जल मुसलमानों की थी, लेकिन वह अपने सहधर्मियों के भीतर अछूतों से थोड़ा ही बेहतर समझे जाते थे । जब तक अँग्रेजों ने दास-प्रथा को उठा नहीं दिया, तब तक उन्नीसवी सदी के मध्य तक मुसलमान होने से कोई दास बनने से छुट्टी नहीं पा सकता था । हाँ, मुसलमानो को चाहे-गैर-मुल्की हों या मुल्की, चाहे अशरफ हो या अर्जल, इसका अभिमान जरूर था कि हम भारत के शासक हैं । अर्जल (नीच) अपने को अपने हिन्दू सजातियों से बेहतर स्थिति में जरूर पाते थे, यही कारण था, जो कि पेशावर से ढाका तक के सभी शिल्पी, विशेषकर पटकार मुसलमान हो गये ।

कुरान ने सारे मुसलमानों में भ्रातृभाव और समानता का प्रचार जरूर किया, पर वह पैगम्बर के ऑख मूँदने के बाद बहुत दिनों तक नहीं चल सका । उनके दामाद और इस्लाम के लिये सर्वस्व-त्यागी अली भ्रातृभाव और समानता के कट्टर पक्षपाती होने के कारण दूध से मक्खी की तरह बाहर रखे गये और चौथे खलीफा बने भी, तो अन्तिम कुर्बानी देने ही के लिए । उनके दोनों पुत्र तथा पैगम्बर के नाती हसन-हुसेन अपने पिता और नाना की आन पर बलि चढ़े । दुश्मनों ने तो इस वंश को अपने जान उच्छिन्न कर डाला, पर एक बीज से भी हजारों वृक्ष और लाखों फल पैदा होते हैं, और फातमी सैयदों का उच्छेद नहीं हो सका ।

इस्लामिक एकता, समानता और भ्रातृभाव इसी स्थिति में था जबकि तुगलकों के बाद छिन्न-भिन्न हुए इस्लामिक साम्राज्य को फिर से स्थापित करने में पठान शेरशाह सफल हुआ । शेरशाह भारत में आगे आने वालों का मार्ग-प्रदर्शक था । बहुत-सी बातें जो पीछे अकबर के समय प्रचलित हुईं, उनका आरम्भ शेरशाह

ने किया । शेरशाह ही ने धर्म की जगह पर मिट्टी के महत्व को माना और हिन्दू-मुसलमानों को एक करने, एकता के सूत्र में बाँधने की कोशिश की, जिसे अपने दीर्घ शासन मे अकबर ने और आगे बढाया । शेरशाह ही का शासन था, जो कि हिन्दू हेमू (हेमचन्द्र) को शासन और सेना के सर्वोच्च पद पर पहुँचाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और अपने स्वामियों से गद्दारी करने के ख्याल से नहीं, बल्कि पठानो के आपसी झगड़े और मुगलों की जबर्दस्त शक्ति को देखकर दिल्ली के तख्त पर बैठ उसे विक्रमादित्य बनने के लिए तैयार होना पड़ा ।

शेख मुबारक—जैसा कि शेख नाम से मालूम होता है—गुरुओं के वंश में पैदा हुए । इनके पूर्वज बहुत पुराने जमाने मे यमन (अरब) के थे । शेख मूसा की छठी पुश्त में शेख खिजिर हुए, जो वतन को छोडकर दुनिया की सैर और महात्माओं के दर्शन-सत्संग के लिए निकल पड़े तथा पन्द्रहवी सदी में सिन्ध के करबा रेल में पहुँचकर रहने लगे । पीरी-मुरीदी चलने लगी । पैगम्बर मुहम्मद ने चार की संख्या बीवियों को कम करने के लिए की थी । पीछे इस्लाम के लिए वफादार पुरुष इस संख्या की पाबन्दी करते थे, पर लौडियो की संख्या नियत नही थी । इसके द्वारा खानदान बढने का भी बहुत सुभीता था, मुसलमानो की संख्या वृद्धि के लिए इसका महत्व था । शेख खिजिर मुस्लिम संतो और उनके पवित्र स्थानों के दरस-परस के लिए रेल छोड़कर हिन्दुस्तान में घूमते-फिरते नागौर पहुँचे तथा यहीं अपने बहुत से मुरीदो और परिवार के साथ बस गये । इनके कई बच्चे होकर मर गये । १५०५ या १५०६ ई० (हिजरी ६११) में एक लड़का पैदा हुआ । बाप ने मुबारक समझ कर अल्ला उसका नाम रखा, जो अन्त में शेख मुबारक के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यद्यपि अपने महान् पुत्रों-कवि सम्राट् फैजी और अकबर के महामन्त्री अबुलफजल की रोशनी में वह छिप गये, पर जिन बीजों को उनके दोनों पुत्रो में हमने वृक्ष का रूप लेते देखा, वह शेख मुबारक मे पूरी तौर से मौजूद थे । चार वर्ष की वय में ही उनकी प्रतिभा का पता लगा । नौ वर्ष की उम्र तक फारसी, अरबी तथा उसके बहुमूल्य साहित्य का उन्हें काफी परिचय हो गया । चौदह साल तक पहुँचते-पहुँचते योग्यता प्रकट होने लगी । नागौर में ही शेख अत्तन नाम के एक विद्वान रहते थे । वह १४०० ई० से पहले ही किसी समय तूरान से आये थे । जाति से तुर्क थे, लेकिन शमशीर के नहीं, बल्कि विद्या के धनी थे । सिकन्दर लोदी के जमाने में वह नागौर में आकर बस गये और १२० वर्ष की उम्र मे वहीं मरे । मुबारक ने उस ज्ञान-वयोवृद्ध के ज्ञान और तजुर्बे का पूरा लाभ उठाया ।

शेख खिजिर को सिन्ध का पतन याद आया । नागौर में अच्छी चल रही थी । सोचा, जाकर रेल से अपने और भाई-बन्दों को लायें । लेकिन, उनकी यह

यात्रा महा-यात्रा साबित हुई । वह फिर नागौर लौटकर नही आ सके । इसी समय महा अकाल पडा । लोग भूखों मरने लगे । बहुतेरे घर छोड़कर भाग गये । अकाल मे शेख खिजिर का सारा परिवार स्वाहा हो गया । छोटी उमर का मुबारक और उसकी मॉ दुनियॉ मे जीवन-संघर्ष के लिए रह गये । अकाल खतम हुआ, काल-रात्रि सर से टली । मुबारक नागौर मे जो कुछ ज्ञान पा सकते थे, पा चुके थे । विद्या की पिपासा उन्हें बाहर जाने के लिए मजबूर करती, लेकिन अकेली मॉ को छोडकर जाने के लिए उनका हृदय तैयार नहीं था ।

शेख मुबारक ने अपने पुत्रों—फैजी और अबुलफजल को एक पत्र मे लिखा था .

"बाबाय-मन्, अज़ फुज़लाय ईअहद्—कि हमॉं जौफरोश व गन्दुमनुमॉं अन्द व दीनरा बदुनिया फरोख्ता, तुहमत ऑं बर मा बस्त अन्द—अज़ गुफ्ता हरफ ऑंहा न बायद रंजीदा व अजऑं कि अज़ तरफे-नजाबत् मा गुफ्हगू दारन्द, दिलेपुर-तश्वीश न बायद् नमूद । दर ऐयामे कि वालिदे-मन् वदीअते हयात नमूद, मन् ब-हद्दे तमीज़ न रसीदा बूदम् । वालिदय मन मरा दर् साये-अवातिफ एकेअज़ सादात जल्-एहतराम दरकमाल असरत पर्वरिश मीदाद । ऊदर्-तर्बियते-मन् अज् तरफ-दर्स-इल्मी व दीगर तादीब कमाल, सई बकार मिबर्दाज । ऑंकि पिदरम् मरा...मौसूम ब-मुबारक साख्ता बूद, रोजे यके अज़-हमसायहाय हसद-पेशये ऑं सैयद, कि गमखारी मा बेकसॉं मीनमूद, मादरम् रा ब-कलेमात दुरुश्त जानीद, मरा ब-अद्मे-नजाबत मतऊन नमूद । वालिदा अम् गिरिया कुना निज्द ऑं सैयद...रफ्त नालिश तअद्दी ओ नमूद ।" (मेरे बच्चों, इस जमाने के विद्वान्, गेहूँ दिखा जौ बेचने वाले हैं, दुनिया के लिए दीन को बेचकर हमारे ऊपर तोहमत बॉंधते हैं, उनकी कही बातों से रंज नही होना चाहिए और हमारी कुलीनता के विरुद्ध जो बात करते हैं, उनके लिए मन मे ग्लानि नहीं पैदा करनी चाहिए । जिस समय मेरे पिता ने दुनिया से विदाई ली, उस समय मै अभी अबोध था । मेरी माँ एक सम्माननीय सैयद की छाया में रहती थीं, जो मेरी पढ़ाई और शिक्षा के लिए कोशिश करता था । पिता ने मेरा नाम मुबारक रख दिया था । एक दिन सैयद से डाह रखने वाले एक पड़ोसी ने मेरी माँ को बुरा-भला कहकर दुखी करते मेरी कुलीनता पर आक्षेप किया । माँ ने रोते हुए इस बात की नालिश सैयद के पास की ।)

फैजी और अबुलफजल ने अकबर की सल्तनत में जो स्थान पाया था, उसके कारण उनसे जलने वालों की संख्या कम नहीं थी । वह उडाया करते थे: इनका बाप मुबारक लौंडी-बच्चा था, तभी तो उसका नाम मुबारक पड़ा । उस समय गुलामों में यह नाम अधिक प्रचलित था । इससे यह भी मालूम होगा, कि शेख मुबारक को केवल आर्थिक कठिनाइयों में से ही गुजरना नहीं पड़ा बल्कि उग्र

विचारों के कारण उनके ऊपर बुरी तरह के लांछन लगाए जाते थे । उन्हे विद्या की धुन थी । इसी समय मध्य-एशिया के ख्वाजा अहरार घूमते हुए भारत पहुँचे । उनकी विद्वत्ता से भी लाभ उठाने का मौका मिला—यह खोजा अहरार समरकन्द के महान् संत खोजा उबैदुल्ला अहरार नहीं हो सकते, जिनका देहान्त मुबारक के पैदा होने से १५ साल पहले २० फरवरी १६४० को समरकन्द मे हो चुका था । समरकन्दी खोजा अहरार बहुत परोपकारी संत और मध्य एशिया के सबसे बडे भूस्वामी भी थे । कहावत है—कोई आदमी अपने गदहे पर चढ़ा तूरानी अन्तर्वेद में उत्तर से दक्षिण की यात्रा कर रहा था । सैकड़ो मील चलता गया । जब कभी किसी लहलहाते खेत के बारे मे पूछता, तो लोग कहते—"यह खोजा अहरार का है ।" अन्त में झुँझलाकर मुसाफिर ने अपने गदहे को भी खेत की ओर हाँकते हुए कहा—"जा तू भी खोजा अहरार का हो जा ।" अस्तु, किसी खोजा अहरार, (स्वतन्त्रानन्द स्वामी) से शेख मुबारक को ज्ञान प्राप्त करने का मौका मिला । समरकन्दी खोजा अहरार के वचनों में कहीं-कहीं "दरवेश पुर्सीद दरवेश गुफ्त" (एक दरवेश ने पूछा और एक दरवेश ने कहा) की बात आती है । उसमें दरवेश से शेख मुबारक को लिया जाता है । पर निश्चय ही है समरकन्दी अहरार के सामने शेख मुबारक पूछने और कहने के लिए अभी दुनिया में आये नहीं थे ।

माता का देहान्त हो गया । शेख मुबारक की दबी उमंगे अब ऊपर उभड़ने लगीं, और सादी, नासिर खुशरू की तरह दुनिया की सैर की धुन उनके सिर पर सवार हुई । उस समय उत्तर में जैसे जौनपुर की विद्या और संस्कृति में प्रसिद्धि थी, वही बात गुजरात में अहमदाबाद की थी । वहाँ कितने ही नागौरी भी पहुँच गये थे । मुबारक भी पहुँचे और विद्योपार्जन में तल्लीन हो गये । यहाँ इस्लामी धर्म के अतिरिक्त दर्शन और सूफियों (मुस्लिम वेदान्तियों) के सिद्धान्तों के साथ-साथ दूसरे शास्त्रों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया । खतीब अबुलफजल गाजरुनी शीराज से गुजरात आये थे, जो उस समय के बहुत बड़े विद्वान् थे । मुबारक जैसे प्रतिभाशाली शिष्य को पाकर वह उसे पुत्र की तरह मानने लगे । उनके पास जो भी ज्ञान था, उस शिष्य के हृदय में स्थानान्तरित कर दिया । वहाँ पागल शेख यूसुफ नाम के एक संत रहते थे । मुबारक पंडिताई से संतुष्ट न हो उनकी सेवा में भी जाते थे । शेख यूसुफ से समन्दर पार के सफर की बात कही, तो उन्होंने कहा —"आगरा में जाकर बैठ । वहाँ मनोरथ न सफल हो, तो ईरान्-तूरान की यात्रा करना ।"

२. आगरा में

११ अप्रैल १५४३ ई० को ३८ वर्ष के मुबारक आगरा पहुँचे । गर्मी का मौसम था, आगरा अपनी गर्मी के लिए और भी बदनाम था । पर, वली-फकीर

की बात पर मुबारक को बहुत विश्वास था। आगरा मे भी एक मस्त फकीर शेख अलाउद्दीन रहते थे। उन्होंने भी वहीं रहने के लिए कहा। जमुना पार रामबाग की बस्ती तब चारबाग थी, जो फिर हश्त-बहिश्त (अष्टम स्वर्ग) और बाबर द्वारा नूर-अफशॉ (प्रकाशवर्षी) के नाम से प्रसिद्ध हुई। शेख मुबारक चारबाग पहुँचे। मीर रफीउद्दीन चिश्ती के पड़ोस में रहने को जगह मिली। मीर (सैयद) मोहल्ले के रईस थे, उनके साथ घनिष्ठता हो गई। वहीं एक कुरेशी परिवार मे मुबारक की शादी हो गई। १५४७ या १५४८ ई० मे सैयद मर गये। मुबारक की विद्वता को देखकर सैयद उन्हें आगे बढाना चाहते थे, पर सैयद कुछ किये बिना ही चल बसे। शेख मुबारक अब और भी एकांतवारी हो गये। बहुत से विद्यार्थी उनके पास पहुँचने लगे। लोग श्रद्धा करते, उनके संत-जीवन से आकृष्ट हो भेंट-पूजा देने वाले भी पहुँचते, लेकिन बहुत कम की ही भेंट को वह स्वीकार करते। आगरा पहुँचने के चार वर्ष बाद ४३ वर्ष की उमर में शेख मुबारक को पहला पुत्र फैजी पैदा हुआ। फैजी महान विद्वान थे और मुसलमानों में जहाँ वह कविता में खुसरो के समकक्ष थे, वहीं दूसरी विद्याओं में उनकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। फैजी के चार वर्ष बाद १५५१ ई० में मुबारक के यहाँ दूसरा लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम उन्होंने अपने गुरु खतीब अबुलफजल गाजरुनी के नाम पर अबुलफजल रखा।

शेख मुबारक आगरा में उस समय आये, जब कि शेरशाह की बादशाहत थी। दो वर्ष बाद शेरशाह मर गया, और सलीमशाह गद्दी पर बैठा। कुछ लोगों ने चाहा कि सलीमशाह के दरबार में शेख मुबारक की पहुँच हो। एक ओर सूफियों के विचारों और जीवन ने उनको अपनी ओर आकृष्ट किया था, दूसरी ओर वह शिया और दूसरे उदार विचारों से प्रभावित थे। पर मुल्लों की कट्टरता भी अभी उनमें थी। कहीं गाना होता, तो वहाँ से जल्दी आगे निकल जाते, क्योंकि इस्लाम ने गाना सुनने को पाप बतलाया है। पायजामा नीचा नहीं होना चाहिए, इसलिए वह अपना ही पायजामा ऊँचा नहीं रखते, बल्कि अगर कोई नीचा पायजामा पहन कर आ जाता, तो वह उसके अधिक भाग को फड़वा डालते; लाल कपड़ा पहनना मना है, इसलिए देखने पर, उसे उतरवा देते।

उस समय मख्दूमुल्मुल्क मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी की तपी हुई थी। मुल्ला सुल्तानपुरी को हुमायूँ के दरबार में स्थान मिला था। सलीमशाह सूरी के तो वह नाक के बाल थे। हुमायूँ के समय दरबार में पहुँचने के कारण भीतर-भीतर उसके लिए भी खैर मनाया करते थे, जिसके ही बल पर हुमायूँ के फिर से गद्दी पाने के बाद उनका दर्जा नहीं छिना। हाँ, अकबर के दरबार का स्वतन्त्र वातावरण

उनके लिए उतना अनुकूल साबित नहीं हुआ । तो भी मुल्ला ठहरे, उन्हें मोहताज होने की जरूरत नही पड़ी ।

चारबाग के इस एकान्तवासी शेख की ख्याति दूर-दूर तक पहुँची । आगरा ाबर के समय से दिल्ली का प्रतिद्वन्द्वी था । अकबर ने इसको अपनी राजधानी नाया । शेरशाह के खानदान ने भी आगरा के सम्मान को कायम रखा ।

मुल्ला फतवा की कमाई खाते थे । किसी को आगे बढते देख उस पर ुरन्त काफिर होने का फतवा लगा देते थे । मुल्ला सुल्तानपुरी से लोग परेशान े । जिनको कोई ऐसा गाढ़ पड़ता, वह शेख मुबारक के पास पहुँचते । शेख ुबारक इस्लामी धर्मशास्त्र और साहित्य के अगाध विद्वान् थे । वह कोई ऐसी बात तला देते, कि सुल्तानपुरी को मुँह की खानी पडती । पर यह मालूम होते देर हीं लगता, कि चारबाग की मस्जिद की चटाई पर बैठने वाले शेख की ही यह ारस्तानी है । सलीमशाह के जमाने में साम्यवादी शेख अल्लाई जब पहिली बार रबार में आये, तो सुल्तानपुरी ने उन्हें बरबाद करने की कोई कसर नहीं उठा खी । जब दरबार मे अल्लाई ने अपना मुँह खोला और बतलाया कि जिन गरीबों े खून की कमाई से तुम मौज करते हो, वह कैसी तकलीफ में है, तो सलीमशाह ी आँखे भी बरसे बिना नहीं रहीं और उस रात उसे अपने सामने दस्तरखान र चुने हुए तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजनों में गरीबों का खून दिखलाई पडा और से खाने से इनकार कर दिया । लेकिन कुछ समय बाद सुल्तानपुरी सलीमशाह े अल्लाई को मरवाने में सफल हुआ । शेख भी अल्लाई के उपदेशो में शामिल ोते थे, उसकी दाद भी दिये बिना नहीं रहते थे; इसलिए यदि उन्हे लोग मेहंदीपंथी साम्यवादी) और देहरिया (नास्तिक) कहें, तो क्या अचरज ।

सलीमशाह के जमाने में शेख मुबारक को बहुत सँभल कर रहना पड़ता ा । शेरशाह के वंश के खतम होते-होते हेमचन्द्र (हेमू) का प्रभाव बढ़ा । शेख ुबारक की विद्वत्ता और उदारता की खबर हेमू के पास पहुँची और उनके साथ सका अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो गया । शेख की सिफारिश पर कितने ही प्राणदण्ड ाने वालों को हेमू ने छोड़ दिया । लेकिन हेमू ज्यादा दिन तक नहीं टिके । मुगलों ौर पठानों में जो खूनी लड़ाइयाँ चल रही थीं, उसके कारण हालत खराब थी । सी समय अकाल पड़ गया । लोग दाने-दाने के मोहताज हो गये । शेख मुबारक े घर में बच्चे, विद्यार्थी, नौकर-चाकर से लेकर सत्तर आदमी थे । उस अकाल ं उन पर कैसे बीती होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं । कभी-कभी दिन में ेर भर अनाज आता । उसे मिट्टी की हाँडी में उबालते और लोग उसका जूस ीकर क्षुधा शान्त करने की कोशिश करते । इस समय फैजी आठ वर्ष का था

और अबुलफजल पाँच वर्ष का । इन मुसीबतो के भीतर भी शेख मुबारक सदा अपनों को खुश रखने की कोशिश करते थे ।

हुमायूँ ने दिल्ली की सल्तनत (१०५५ ई० मे) फिर लौटाई, लेकिन छह महीने बाद ही सीढ़ी से गिरकर मर गया । तेरह वर्ष का अकबर गद्दी पर बैठा । बैरमखाँ ने उसे अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखने में अधिक दिनों तक सफलता नहीं प्राप्त की । बीरा वर्ष की उमर (१५६२ ई०) मे अकबर ने शासन की बागडोर सँभाल ली । दो ही साल बाद (१५६४ ई०) मे उसने हिन्दुओं के ऊपर से जज़िया (कर) उठा दिया । भारत में एक दूसरी हवा बहने का समय आ गया । इससे पहले शेख मुबारक को भारी खतरों और कठिनाइयो से गुजरना पड़ता था ।

शेख मुबारक दरवेश नहीं थे और न सन्त सूफी स्वभाव और रुझान के आदमी थे । पर, अपने उदार विचारों को छिपाने के लिए सब ढोग रचना, "अन्तःशाक्तः वहिः शैवः समामध्ये च वैष्णवाः" बनना पड़ता था । कितनी ही सादगी से रहें, लेकिन परिवार, दास-दासी, नौकर तथा छात्र मिलाकर पाँच-छः दर्जन आदमियों का खर्च था, जिसका चलाना आसान काम नहीं था । शेख अब्दुन् नबी सदरअह् लेहाजत थे—शेरशाह ने अभाव-ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए एक विभाग खोला था, उसका यह अध्यक्ष था । फैजी को लेकर शेख साहब भी भाग्य परीक्षार्थ उसके पास गये । शेख बडे विद्वान्, अच्छे अध्यापक और अभावग्रस्त थे, उनसे बढ़कर कौन सहायता का पात्र हो सकता था ? सिर्फ सौ बीघा जमीन के लिए प्रार्थना की थी । लेकिन अब्दुन् नबी ने दरख्वास्त लेना भी स्वीकार नहीं किया और बडे रूखेपन और घृणा के साथ कहा—इस मेहंदीपंथी नास्तिक को निकाल दो । उस दिन शेख मुबारक की क्या हालत हुई होगी और फैजी के दिल पर क्या गुजरी होगी ?

अकबर के आरम्भिक सालों में शिया और काफिर कह कर मीर हबश आदि कितनों को कैद और कितनों ही को प्राणदण्ड दिया गया था । अबुलफजल लिखते हैं, कुछ दुष्ट लोग मेरे पिता को शिया समझकर बुरा कहते थे । वह इसमें विवेक करने के लिए तैयार नही थे, कि किसी मजहब को मानना दूसरी बात है और उसको जानना दूसरी बात । इराक अजम (ईरान) का एक योग्य विद्वान् मस्जिद इमाम था, कुछ मुल्लों ने हनफी सम्प्रदाय के एक वचन का उद्धरण दे करके कहा, कि इराकी की गवाही प्रामाणिक नहीं है । जब गवाही प्रामाणिक नहीं है, तो वह इमाम कैसे हो सकता है ? इमाम-पद पर से हटा देने पर सैयद की जीविका छिन गई । उसने आकर अपना दुखड़ा शेख मुबारक के सामने रोया । शेख मुबारक ने उसमें एक नुक्ता बतला दिया कि इमाम अबू-हनीफा को इराक

से इराक-अजम (ईरान) नही, बल्कि इराक-अरब अभिप्रेत था। उसके लिए पुस्तकों से बहुत से उद्धरण दे दिये। जब इन सब प्रमाणो को लिखकर अकबर के सामने रखा गया, तो उसने इमाम को अपने पद पर रहने का हुकुम दे दिया। दुश्मन दिल में बहुत जले, लेकिन करते क्या ? वह जानते कि कौन कुंजी बताने वाला है।

इतिहासकार बदायूँनी अकबर के समय का एक महान् विद्वान् था। दरबार मे उसकी इज्जत भी थी। वह शेख मुबारक का ही विद्यार्थी था, पर कट्टर मुलंटा रहने या दिखलाने की कोशिश करता था। इसके कारण अपने गुरु को यदि कभी छोड़ भी देता, तो दोनो गुरु-पुत्रों पर तीखी कलम चलाने से बाज न आता था। बदायूँनी को मालूम था, कि उसके गुरु को लोग शिया, मेहंदीपंथी, देहरिया (=नास्तिक) कह कर बुरा-भला कहते है। वह अपने गुरु की सफाई भी कभी-कभी देता था।' मियाँ हातिम सम्भली अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्री (=फकीह) माने जाते थे। शेख मुबारक की लिखित बाते पढने का उन्हें भी अवसर मिला था। एक बार उन्होंने बदायूँनी से पूछा—शेख की पंडिताई और विचार व्यवहार कैसा है ? बदायूँनी ने उनकी मुल्लाई, सदाचार, ज्ञान ध्यान की बातें बतलाई। मियाँ ने कहा—ठीक है, मैंने भी बड़ी तारीफ सुनी है। लेकिन, कहते हैं : मेहंदी का अनुयायी है, यह बात कैसी ? बदायूँनी ने कहा—शेख साहब, मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी को वली (संत) और बुजुर्ग मानते है, मगर मेहंदी नहीं। मियाँ हातिम ने भी स्वीकार किया कि सैयद मुहम्मद जौनपुरी की महानता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। वहीं पर मीर-अदल (न्यायाध्यक्ष) मीर सैयद मुहम्मद भी बैठे थे। दोनों की बात सुनकर उन्होंने पूछ लिया—शेख मुबारक को लोग मेहंदीपंथी क्यों कहते हैं ? बदायूँनी ने जवाब दिया—क्योंकि वह नेकियों का आग्रह और बुराइयों का कड़ाई के साथ निषेध करते हैं।

सलीमशाह सूरी के जमाने (१५४५-५४ ई०) में साम्यवादी शेख अल्लाई के खून से हाथ रँगने के कराण मेहंदीपंथियों के विद्रोह का डर था। उस वक्त शेख मुबारक को बरबाद करने के लिए दुश्मनों को इससे बढ़कर हथियार क्या मिल सकता कि उन्हें मेहंदीपंथी कहें। अकबर के आरम्भिक वर्षों में मध्य-एशिया के शैबानी तुर्कों का बोलबाला था। ईरान डेढ़ सौ साल से शिया धर्म को अपना राष्ट्रीय धर्म मान चुका था; जिसे मध्य-एशियाई तुर्क फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहते थे। उसी वक्त शिया या राफ्जी कहकर किसी को बरबाद किया जा सकता था, इसलिए दुश्मनों ने शेख मुबारक को शिया कहना शुरू किया। इसमें शक नहीं, शेख मुबारक वही नहीं थे, जो वह दिखलाना चाहते थे। वह मुलंटे नहीं, बल्कि बुद्धिवादी बहुत उदार विचारों के विद्वान थे। फैंजी और अबुलफजल

ने अपने पिता से ये बातें पाई थीं जिनके कारण अकबर के वह अत्यन्त प्रिय हो गये ।

शेख मुबारक दुश्मनों के षड्यंत्र मे पड़ने से बहुत मुश्किल से बचे थे । अबुलफजल ने उस समय की आफतों के बारे मे बहुत-सी बाते लिखी है । अकबर के आरम्भिक जमाने मे शेख मुबारक का मदरसा (महाविद्यालय) खूब चल निकला, अच्छे-अच्छे शिष्य उनके पास पढ़ने के लिए पहुँचने लगे । दुश्मन यह कैसे पसन्द करते ? अकबरनामा में अबुलफजल ने लिखा है । द्वेष करने वाले मुल्ला दरबार में जाल-फरेब करके तूफान उठाते रहते थे । कुछ भलेमानुस भी थे, जो आग को बुझा देते थे । अकबर के आरम्भिक समय में सच्चे पुरुष दरबार से अलग हो गये थे, शैतानो और धोखेबाजों का बोलबाला था । मख्दूमुल्मुल्क मुल्ला सुल्तानपुरी गिरगिट की तरह रंग बदलने में उस्ताद था । हुमायूँ [illegible] और सलीमशाह के दरबार में भी धर्म का सर्वेसर्वा बना हुआ था । हुमायूँ के दुबारा राज्य पाने पर फिर अपने पद पर पहुँच गया और अकबर के आरम्भिक काल में भी उसकी वैसी ही चलती रही । अल्लाई का खून उसी की गर्दन पर था । वह शेख मुबारक को भी बरबाद करने के फाँड़ बाँधे हुए था । एक दिन अपने बेटे अबुलफजल के साथ शेख मुबारक किसी दोस्त के घर गये । मुल्ला सुल्तानपुरी भी आ गया । वह बढ़-चढ़ के बातें मारने लगा । अबुलफजल कहते हैं—"मुझे जवानी के नशे में अकल की मस्ती चढ़ी हुई थी । आँख खोल कर मदरसा भर ही देखा था, व्यवहार की हाट की ओर कदम भी नहीं उठाया था । उसकी बेहूदा बकवास से मेरी जुबान खुल गई । मैने बात को यहाँ तक पहुँचाया कि मुल्ला शरमाकर उठ गया । देखने वाले हैरान हो गये । उसी वक्त वह बदला लेने की फिकर में पड़ा ।"

३. आफत के बादल

शेख मुबारक के पीछे भेदिए छोड़े गये । कुछ उनके शागिर्द बनकर पढ़ने के बहाने पास में रहने लगे । एक दिन पता लगा कि मुल्ला ने षड़यन्त्र कर लिया है और शेख मुबारक पर, पकड़ कर दरबार में, उनके धर्म-विरोधी होने का अपराध लगाया जायगा । आधी रात को यह खबर अबुलफजल को मिली । उसी वक्त वह बेतहाशा दौड़े । बचाने का एक ही रास्ता था कि जब तक बादशाह (अकबर) को सच्ची बात मालूम न हो जाय, तब तक वह कहीं छिपे रहें । अबुलफजल ने बड़े भाई फैजी से जाकर कहा । फैजी अपने छोटे भाई की तरह कौटिल्य के अवतार नहीं, बल्कि बहुत ही सीधे-सादे पुरुष थे । वह शेख के शयनकक्ष में उसी वक्त घुस गये और उनसे सारी बातें बतलाई । शेख ने कहा—"दुश्मन जबर्दस्त है, तो खुदा तो मौजूद है ? न्यायप्रिय बादशाह की छाया तो सिर पर है ? यदि भाग्य-भगवान्

ने हमारे लिये बुरा नहीं लिखा है, तो कोई हमारा कुछ नहीं बिगाड सकता। अगर भगवान की मर्जी यही है, तो कोई बात नहीं। हम हँसते-हँसते अपने जीवन को समर्पण करने के लिए तैयार हैं।" समझाकर फैजी हताश हो गये। उन्होंने तुरन्त छुरी हाथ मे उठा ली और कहा—"दुनिया की बाते और है और सन्तों की कहानी और। अगर आप इसी वक्त नहीं चलते, तो मैं अपना जीवन समाप्त कर डालता हूँ। फिर आप जानियेगा। मै उस बुरे दिन को देखने के लिए तैयार नहीं हूँ।" अपने अभिमान में ज्येष्ठ पुत्र की यह बात सुन कर शेख मुबारक में इन्कार करने की शक्ति नहीं रह गई। अबुलफजल बड़े भैया को कह कर सोने चले गये थे। बाप ने उन्हें भी जगाया। उसी अन्धेरी रात में तीनों पैदल निकल पड़े। कोई मार्ग-दर्शक नही था। कहाँ जायें ? जिसका नाम भाई लेते, उसे अबुलफजल विश्वास-योग्य नहीं मानते, जिसको अबुलफजल बतलाते, उसे भाई ठीक नहीं समझते। फैजी ने किसी आदमी के लिए अधिक आग्रह किया। तीनों वहाँ पहुँचे। आदमी का रवैया देखकर फैजी पछताने लगे—"कम अनुभव के होते भी तुमने ठीक सोचा था। अब बतलाओ, क्या करें।" अबुलफजल ने कहा—"अब भी कुछ नहीं बिगडा, अपने खटले को लौट चलें। यदि जरूरत पड़े, तो मुझे वकील कर देना, मै दुश्मनों को नंगा करके रख दूँगा।" शेख ने कहा—"शाबाश, मैं भी इसी के साथ हूँ।" फैजी इतना बड़ा खतरा सिर पर लेने के लिए तैयार नहीं थे। भाई पर फिर बिगड़े और कहा—"तुझे इन मामलों की खबर नहीं। इन लोगों की मक्कारी और छल-कपट को तू क्या जाने ? घर को छोड़ो और रास्ते की बात करो।" अबुलफजल ने कहा—"मेरा दिल गवाही देता है, कि अगर कोई आसमानी बला न आन पड़े, तो फलाँ आदमी सहायक हो सकता है।"

रात का वक्त था। समय अधिक नहीं था। दिल परेशान था। उधर ही चल पड़े। दलदल और रपटन की जमीन थी। चले जा रहे थे, मगर मन में पछता भी रहे थे। कदम भी मुश्किल से उठते थे, साँस लेने में भी दर्द होता था, विचित्र दशा थी। रात खतरनाक और कल सर्वनाश या महाप्रलय का दिन। सुबह हो रही थी, जब तीनों बाप-बेटे उस आदमी के दरवाजे पर पहुँचे। उसने बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया। एक अच्छे कमरे में उन्हें उतारा। दो दिन निश्चिन्त वहीं बीते। तीसरे दिन खबर लगी कि दुश्मनों ने बादशाह के पास शिकायत की है, उसका मन भी फिर गया है। उसने मुल्लाओं को कह दिया है : तुम्हारी सलाह बिना मुल्की और माली काम भी नहीं चलते, यह तो खास धर्म और कानून की बात है। इसका फैसला करना तुम्हारा काम है। अदालत में बुलाओ। जो शरीयत फतवा दे और बुजुर्ग निश्चय करें, वही करो।

दुश्मन दरबारियों ने तुरन्त चोबदारों को पकड़ने के लिए भेज दिया। उन्होंने बहुत जाँच-पड़ताल की। घर से तीनों बाप-बेटे गायब थे। वहाँ पहरा बैठा दिया। छोटे भाई अबुलखैर को पकड़ ले गये। बादशाह को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर समझाया कि शेख जरूर अपराधी है, इसीलिए भागा-भागा फिर रहा है। अकबर नौजवान था, लेकिन तब भी उसमें सोच-समझ थी। वह तसवीर के एक पहलू पर ही ध्यान नहीं देता था। उसने कहा—"शेख को सैर-सपट्टे की आदत है, कही गया होगा। इस बच्चे को क्यों नाहक पकड़ लाये ? क्यों घर पर पहरा बैठा दिया ?" तुरन्त भाई को छोड़ दिया गया और पहरा भी उठा लिया गया। सब खबरें तीनों बाप-बेटों के पास पहुँचती रहती थीं, पर अभी प्रकट होना वह ठीक नहीं समझते थे। दुश्मनों ने असफल होने के बाद सोचा, दो-तीन गुण्डे भेजो, जहाँ मिलें वही उनका काम तमाम कर दो। उनको डर लग रहा था, कि कहीं बादशाह के बदले रुख को देखकर वह स्वयं दरबार में हाजिर न हो जायँ और हमें लेने के देने पड़े।

एक हफ्ते तक गृहपति ने उन्हे अपने यहाँ शरण दी। फिर उसको भी डर लगने लगा। दुश्मन तरह-तरह की बातें उड़ाते थे। समझा कहीं जौ के साथ घुन न पिस जाय। टके-से जवाब पाकर अब फिर तीनों उपाय सोचने लगे। बाप और बड़ा भाई तरुण कौटिल्य की बुद्धि का लोहा मानने लगे थे। उसके ही ऊपर रास्ता निकालने को छोड़ दिया। शाम हुई। तीनों फिर उस घर से निकले। चलते-चलते एक कस्बा नजर आया। यहाँ शेख का एक शागिर्द रहता था। गये, थोड़ी देर आराम की साँस ली; लेकिन वहाँ भी शरण कहाँ ? अबुलफजल ने कहा—"ये है अच्छे-अच्छे दोस्त और पुराने-पुराने शागिर्द। सच्चे शिष्यों का हाल चन्द ही दिनों में प्रकट हो गया। अब यही राय है कि यहाँ से निकल चले और इन दोस्तों और डरपोक मित्रों से जल्द दूर हो जायें। खूब देख लिया इनकी मित्रता का कदम हवा पर और दृढ़ता की जड़ नदी की तरंग पर है। शहर को चलें, कहीं एकान्त स्थान ढूँढ़ें। कोई अज्ञात सज्जन अपनी शरण में लेगा। वहाँ से बादशाह का हाल मालूम करें। गुंजाइश देखें, तो भाग्य-परीक्षा कर देखें। यदि आशा न हो, तो दुनिया तंग नहीं है। पक्षी के लिए भी घोंसला और शाखा है। इसी मनहूस शहर (आगरा) प्रलय तक के लिए हमने अपने को बेंच नहीं दिया है। एक अमीर दरबार से हटकर अपने इलाके को जाता, बस्ती के पास उतरा है। सब को छोड़कर उसी की शरण में चलो। अपरिचित स्थान है, शायद थोड़ा आराम मिले। यद्यपि दुनियादारो से दया का भरोसा नहीं है तथापि वह अब दुश्मनों के लगाव में नहीं है।"

फैजी भेस बदल कर उसके पास पहुँचे। वह सुनकर बहुत खुश हुआ और तीनों का स्वागत करने के लिए तैयार हुआ। दुश्मन सब कुछ करने पर उतारू थे, इसलिए फैजी अपने साथ कई तुर्क सिपाही लेते आये। आकर बाप

और छोटे भाई से सब बात बतलाई । उसी वक्त भेस बदलकर तीनों चल पड़े और अलग-अलग होकर अमीर के डेरे में पहुँचे । स्वागत देखकर तबीयत खुश हुई, दिन आराम से बीता । अच्छे दिनों की सोचने लगे । इसी वक्त दरबार से फेर अमीर को बुलौवा गया । उसने रुख बिल्कुल बदल दिया । रात को निकल एक और दोस्त के घर गये । उसने बहुत स्वागत किया, लेकिन उसका पड़ोसी बहुत दुष्ट था, इसलिए वह घबरा उठा । लोग सो गये, तीनों वहाँ से भी निकले। कोई शरण-स्थान मालूम नहीं होता था । फिर घूम-घामकर उसी अमीर के डेरे में चले आये । डेरे वालो को तीनो के निकल के जाने की खबर नहीं थी । अमीर इस बला को सिर पर लेने के लिए तैयार नही था । उसके रुख को बदला देखकर नौकरों ने भी आँखें फेर ली । अबुलफजल ताड़ गये, लेकिन फैजी में उतनी व्यवहार-बुद्धि कहाँ थी ? अमीर ने देखा, ये तीनों टलते नहीं है । बिना बातचीत किये वह सबेरे वहाँ से कूच कर गया । नौकरों-चाकरो ने भी तम्बू उखाड़ लिया । तीनो बाप-बेटे आसमान के नीचे जमीन पर बैठे रह गये ।

अब वहाँ रहने के लिए गुंजाइश कहाँ थी ? चले । दिन था । दुश्मनों की भीड में से निकलना था । लेकिन, जान पड़ता था, उनकी आँखों पर परदा पड़ गया था । जाते-जाते एक बगीचे में पहुँचे । थोड़ी देर ठहरे, पता लगा, गुप्तचर यहाँ भी घूम रहे है । भागते-फिरते रहे । इसी समय एक माली मिला । उसने पहचान लिया । तीनो घबरा गये । माली ने बहुत ढांढस बँधाया, अपने घर ले जाकर ठहराया । फैजी का दिल घबराता था, क्या जाने लालच के मारे यही कुछ कर डाले । कुछ रात बीतने पर बाग वाले माली ने आकर कहा—मेरे जैसे आपके भगत के रहते आप क्यों इधर-उधर भटकते रहे ? वस्तुत: गरीब जितने ईमानदार हो सकते है, दूसरों के लिए कुर्बानी कर सकते है, उतने अमीर नहीं । उसने ले जाकर एक सुरक्षित जगह में टिकाया । एक महीने से ज्यादा हिन्दुस्तान का भावी महामन्त्री और कविसम्राट् अपने बाप के साथ आराम से वहाँ रहे । अपने मित्रों और मेहरबानों को पत्र भेजे । सब लोग कोशिश करने लगे ।

सादगी के पुतले पर अद्‌भुत प्रतिभाशाली फैजी ने साहस का परिचय दिया । पहले आगरा फिर फतेहपुर-सीकरी पहुँचे, जो अकबर की उस समय राजधानी थी । वहाँ हित-चिन्तकों से मिले । एक दिन दरबार में एक प्रभावशाली पुरुष ने मुँह खोलकर कहना शुरू किया—"हुजूर, क्या आखिरी जमाना खतम हो रहा है ? कयामत आ गई है ? हुजूर बादशाही में बदकार और बददिमाग स्वच्छन्द विचर रहे है और भलेमानुस मारे-मारे फिर रहे हैं । यह क्या व्यवस्था है ?" बादशाह ने पूछा—"किसकी बात करते हो ? तुम्हारा अभिप्राय किस आदमी से है ?" जब आदमी ने शेख का नाम लिया, तो अकबर ने कहा—"आज के बड़े

लोगों ने उस पर आफत का पहाड़ ढाने और जान लेने पर कमर बाँध कर फतवा तैयार किया है । मै जानता हूँ, आज शेख अमुक स्थान पर मौजूद है । मगर जानकर अनजान बनता हूँ । किसी को कुछ और किसी को कुछ कहकर टाल देता हूँ । तुम्हें खबर नहीं है, यों ही उबल पडते हो । सबेरे आदमी भेजकर शेख को हाजिर करो और आलिमों को एकत्र करो ।"

फैजी को जब यह बात मालूम हुई, तो तुरन्त भागा-भागा बाप और भाई के पास पहुँचा । तीनो ने भेस बदला और किसी को कहे बिना आगरा के लिए चल खड़े हुए । मौत के मुँह में जाना था क्योंकि इस रात के वक्त अगर दुश्मन अपने गुण्डों को भेज देते, तो अकबर उनकी रक्षा नहीं कर सकता था । अँधेरी रात में चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था । वह आगरा की ओर भागे जा रहे थे। भेस बदलने पर भी उनके दिल को कैसे विश्वास हो सकता था ? एक खण्डहर सामने आया, उसमे घुस गये । सलाह हुई कि यहाँ से घोड़ों का प्रबन्ध करके फतेहपुर-सीकरी चलें । रात को ही वह घोड़ों पर सवार हो सीकरी की ओर रवाना हुए । इधर-उधर भटकते यहाँ पहुँचे । परिचितों ने तरह-तरह की बातें कहकर उनके दिमाग को और भी परेशान कर दिया—"लोगों ने फिर बादशाह को उल्टा-सीधा समझाने में सफलता पाई । पहले आ जाते, तो काम आसानी से बन जाता । अब पास के एक गाँव में कुछ दिन ठहरो । बादशाह को अनुकूल देखकर फिर कुछ किया जा सकेगा ।" बैलगाड़ी पर बिठाकर उन्हें गाँव की ओर रवाना कर दिया । गाँव के जिस आदमी के भरोसे वह गये थे, वह घर मे मौजूद नहीं थे । लेकिन, अब तो आ गये थे । वहाँ के दरोगा को कोई कागज पढ़वाना था । मुसाफिरों को देखकर उसने उन्हें शिक्षित समझा और उन्हें बुला भेजा । तीनों नहीं गये । थोड़ी देर में मालूम हुआ कि गाँव तो किसी बड़े-दुष्ट का है । फिर वहाँ से निकले । एक पथ-प्रदर्शक को ले भूलते-भटकते आगरा के पास एक गाँव में पहुँचे। उस दिन वह तीस कोस चले थे । एक घर में उतरे, मालूम हुआ, इस जमीन का मालिक भी एक दुष्ट है, जो कभी-कभी इधर आ जाता है । आधी रात को फिर वहाँ से भागे । सुबह होते आगरा पहुँचे । एक दोस्त के घर में उतरे, जरा दम लिया । जरा ही देर में गृहपति ने तोता चश्मी दिखलाते कहा कि मेरा पड़ोसी बड़ा धोखेबाज है । मालिक-मकान ने बहाना ढूँढ़ा था । दो दिन ऐसे बीते, जिसमें हरेक साँस अंतिम साँस मालूम होती थी ।

एक भलेमानुस का पता लगा । बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ के उसका घर निकाला । उसी समय उस घर में पहुँचे । गृहपति के बर्ताव को देखकर तबीयत खुश हो गई । यद्यपि वह शेख का शिष्य नहीं था, लेकिन बड़ा भला आदमी निकला । अबुलफजल के अनुसार—"गुमनामी में नेकनामी से जीता था, अल्प धन में अमीरी

से रहता था, तंगी दस्ती मे दरियादिली करता था, बुढ़ापे में जवानी का चेहरा चमकता था।" फिर लिखा-पढ़ी शुरू हुई। दो महीने की प्रतीक्षा के बाद भाग्य ने पलटा खाया। अकबर का बुलौवा आया। शेख मुबारक फैजी को साथ ले दरबार मे पहुँचे। अकबर ने जिस कृपा और उदारता का परिचय दिया, उसे देखकर दुश्मनो में 'सन्नाटा' छा गया, भिडो का छत्ता चुपचाप हो गया।

४. महान कार्य

सुखी जीवन—शेख मुबारक अकबर के सम्मान और कृपा के भाजन थे, लेकिन, उन्होने दरबार की नौकरी नही स्वीकार की। मीर हबश आदि को शिष्या होने के जुर्म मे अकबर के शासन मे कत्ल कर दिया गया था। जिन लोगों ने उन्हे कत्ल करवाया था, वही अब्दुन नबी और मुल्ला सुल्तानपुरी शेख मुबारक को शिया और मेहंदीपंथी बतला रहे थे। गाढ़ के समय शेख मुबारक ने शेख सलीम चिश्ती से भी सिफारिश करवानी चाही थी। शेख सलीम के प्रति अकबर की भी श्रद्धा थी, उन्हीं की दुआ से उसे पुत्र मिला, जिसका नाम शेख के नाम पर ही सलीम रखा—वही जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। चिश्ती के ही कारण वह अपनी राजधानी को फतेहपुर ले आया। लेकिन, शेख ने कुछ पैसों के साथ संदेश भेजा : "यहाँ से तुम्हारा निकल जाना ही अच्छा है। तुम गुजरात चले जाओ।" मिर्जा अजीज ने बादशाह को समझाने में सफलता पाई। ६३ वर्ष की उमर मे शेख का भाग्य खुला, जबकि १५६६ या १५६७ ई० (हिजरी ६७४) मे फैजी को दरबार मे स्थान मिला—उसके चार वर्ष बाद अबुलफजल भी जाकर मीरमुंशी (महासचिव) बने।

सत्तर-बहत्तर की उमर में शेख मुबारक की जवानी फिर लौट-सी आई। कहाँ एक समय धर्म के खिलाफ समझकर गाने की आवाज आती देख वह जल्दी-जल्दी आगे निकल जाते थे और कहाँ तम्बूर और तराना सुनते-सुनते थकते नहीं थे।

अकबर निरक्षर था, पर उसका अर्थ अशिक्षित नहीं है। आखिर एक समय था, जब विद्या को कान से सुनकर ही लोग सीखते थे, लिखने-पढ़ने का रिवाज नहीं था। अकबर बहुश्रुत था। फारसी और तुर्की दोनों उसकी मातृभाषा जैसी थीं। नकीब खाँ का काम था, फुर्सत के समय बादशाह को इतिहास और विद्या की पुस्तकें पढ़कर सुनाये। "हयातुल् हैवान" (प्राणि जीवनी) नामक एक अरबी पुस्तक थी। उसका अर्थ समझाना पड़ता था। बादशाह ने उसको फारसी में अनुवाद करने का काम शेख मुबारक को दिया। अकबर भिन्न-भिन्न धर्मों और शास्त्रों की बहस सुनने का बहुत शौकीन था। इन वाद-सभाओं में ख्याल आया, अरबी भाषा भी क्यों न सीख ली जाय। शेख मुबारक से बढ़कर अच्छा कौन

शिक्षक मिल सकता था ? फैजी बाप को साथ लेकर गये । अरबी व्याकरण शुरू हुआ । फैजी ने इसी समय बादशाह से कहा—"शेखेमा तकल्लुफ अस्ला न दारद" (हमारा शेख बिल्कुल तकल्लुफ नहीं रखता) । अकबर ने जवाब दिया—"आरे, तकल्लुफात रा हमाँ बर-शुमा गुजाश्ता अन्द" (हाँ, सभी तकल्लुफों को तुम्हारे ऊपर छोड़ रखा है) । चन्द दिनों अरबी का जोश रहा, फिर अरबी पढ़ने के लिए अकबर को फुर्सत कहाँ ?

फैजी और अबुलफजल अकबर के उन आधे दर्जन दरबारियो में से थे, जिन्हें बादशाह अपना अभिन्न-हृदय समझता था और उनके साथ बेतकल्लुफी से बर्ताव करता था । उनके बाप की भी वह बहुत इज्जत करता था । कभी-कभी दरबार में आते, तो उनकी दर्शन, इतिहास, साहित्य-सम्बन्धी बातों को सुनकर खुश हो जाता । शेख को संगीत-विद्या का शौक है, यह सुनकर एक बार अकबर ने कहा—"इस कला की जो सामग्री हमने एकत्र की है, उसे हम दिखायेंगे ।" शेख मंजू, तानसेन और दूसरे कलावन्तों को बुलाकर शेख के घर अपना गुण प्रदर्शन करने के लिए भेजा । शेख ने सबको सुना । तानसेन से कहा—"शुनीदम् तू हम् चीजे मी तवानी गुफ्त" (सुना है, तू भी कुछ चीजें बोल सकता है) । तानसेन के गान को सुनकर कहा—"जानवरों की तरह कुछ भाँय-भाँय करता है।" इसमें शक नहीं कि तानसेन के संगीत शास्त्र-पारंगत होने में उन्हें सन्देह नहीं हो सकता था, पर गाने के लिए मधुर कण्ठ होना आवश्यक समझते थे, जो सभी संगीत-उस्तादों की तरह शायद तानसेन में नहीं था, इसलिए उन्हें उनकी तान भाँय-भाँय मालूम हुई ।

अकबर उदार हृदय और दृढ़ साहस रखने वाला पुरुष था । पर शासन के सारे यंत्र और कायदे-कानून को एकदम उठा देना उसके बस की बात नहीं थी, विशेषकर आरम्भिक समय मे । मथुरा में एक ब्राह्मण ने एक शिवाला बनवाया । इस पर अपराध लगाया गया कि उसने मस्जिद की और इस्लाम की तौहीन की । सल्तनत के सर्वोच्च न्यायाधीश के पास मामला गया, जिसने ब्राह्मण को कत्ल करवा दिया । अकबर बहुत परेशान था । इसी समय शेख मुबारक किसी विशेष अवसर पर बधाई देने के लिए अकबर के पास पहुँचे । बादशाह ने कितने ही प्रश्न उनके सामने रखते कहा, " इन मुल्लाओं के मारे जान आफत में है । यह अपने को धर्म और कानून में प्रमाण मानते है" शेख मुबारक ने कहा—"न्यायमूर्ति बादशाह सर्वोपरि प्रमाण है । जिन बातों पर मतभेद है, उन्हें देश काल के अनुसार देखकर हुजूर स्वयं हुकुम दें । मुल्लों ने यों ही हवा बाँध रखी है, इनके भीतर कुछ नहीं है । आपको उनसे पूछने की जरूरत नहीं है ।" अकबर ने कहा —"हरगाह शुमा उस्तादे-मा बाशीद्, सबक पेशे-शुमा खान्दा बाशीम्, चिरा

मारा अज़्मिन्नते ई मुल्लायाँ खलास न मी-साजीद्" (जब आप हमारे उस्ताद है और आपके सामने हमने पाठ सीखा है, तो क्यों इन मुल्लाओं की दया से छुट्टी नहीं दिलाते) ।

शेख मुबारक ने वह विधान-पत्र तैयार किया, जिसने अकबर की सल्तनत को मुल्लों के पंजे से छुडा दिया । अकबर अब बेधडक होकर नये हिन्दुस्तान के निर्माण के लिए तैयार हुआ । उसके काम को आगे ले जाने वाले योग्य सहायक-उत्तराधिकारी नहीं मिले, इसलिए यदि अकबर अपने स्वप्न को सजीव कराने मे सफल नही हुआ, तो उसमे उसका दोष क्या ? शेख मुबारक ने कुरान और इस्लामी धर्मशास्त्र के वाक्यो तथा पुराने उदाहरणो को इकट्ठा करके एक अभिलेख तैयार किया, जिसका सारांश यह था—जिन बातों में मतभेद हो, उसके बारे में अपनी राय के अनुसार बादशाह हुकुम दे सकता है, उसकी राय आलिमों और धर्मशास्त्रियो से बढ़कर प्रामाणिक है । यह अभिलेख बहुत संक्षिप्त १८-२० पंक्तियों से ज्यादा बड़ा नहीं है, लेकिन वह हिन्दुस्तान का मेग्नाचार्टा है, जिसके अनुसार मुलंटो के हाथ से दीन (धर्म) के प्रश्नों पर भी हटा बादशाह को हुकुम देने का अधिकार दिया गया था । यह रज्जब ६८७ हिजरी (अगस्त या सितम्बर १५७६ ई०) में लिखकर दरबार में पेश किया गया । बड़े-बड़े आलिम-फाजिल, मुफ्ती-काजी बुलाये गये । शेख मुबारक आज की सभा के अध्यक्ष थे । उनके पुराने शत्रु भीगी बिल्ली बनकर साधारण लोगो में आकर बैठे थे । अभिलेख पर मुहर करने का हुकुम हुआ और मुँह से कुछ भी निकाले बिना मुहर कर देना पड़ा । शेख मुबारक ने अपना हस्ताक्षर करते यह भी लिख दिया— "ई अमरेस्त, कि मन् ब-जान-व-दिल ख्वाहाँ व अज-सालहाय बाज मुन्तजिरे-आँ बूदम् " । (यह वह बात है, जिसकी मैं दिलोजान से, सालों से कामना करते प्रतीक्षा कर रहा था ।)

शेख मुबारक अकबर और उनके घनिष्ठ सहकारियों से भी पहले अपने देश का सपना देख रहे थे । मेहंदी जौनपुरी के साम्यवाद से उनकी सहानुभूति इसी कारण थी, क्योंकि वह मुट्ठी भर आदमियों को नहीं, बल्कि सभी को खुशहाल देखना चाहते थे । शिया सम्प्रदाय से उनकी सहानुभूति जरूर थी । वह जानते थे, जिस तरह ईरान में इस्लाम ने शिया-पंथ के रूप में देश की संस्कृति के साथ समझौता किया, उसी तरह भारत में भी उसकी जरूरत है । भारत के हिन्दू हों या मुसलमान, सभी को इस मिट्टी के साथ एक-सी मुहब्बत होनी चाहिए । उसके इतिहास और संस्कृति के प्रति वैसा ही सम्मान और सद्भाव रखना चाहिए, जैसा के महाकवि फ़िरदौसी ने ईरानी संस्कृति के बारे में 'शाहनामा' को लिखकर देखलाया । एक बार उन्होंने बीरबल से कहा—"जिस तरह तुम्हारे (हिन्दुओं) यहाँ

किताबों में परिवर्तन हुए, इसी तरह हमारे यहाँ भी हुए है । इसलिए वह प्रामाणिक नहीं है ।" शेख मुबारक चाहते थे कि लोग मुल्लों और किताबों के फेर में न पड़े।

शेख मुबारक ने ८७ वर्ष की लम्बी आयु पाई । वह २७ अक्टूबर, १६५२ ई० को लाहौर में मरे । अबुलफजल के आग्रह पर वह उनके साथ रह रहे थे । आखिरी उमर मे उनकी ऑखें काम नहीं देती थी । उनकी मृत्यु पर किसी ने कहा—

रफ्त आँकि फेससूफे-जहाँ बूद बर-दिलश,
दुरहाय आसमाने-मआनी कुशादऽबूद ।
बे-ओ यतीम व मुर्दऽदिल अन्द अक़बाय-ओ,

(वह संसार का फिलास्फर जो दिलों के ऊपर था, चला गया, जिसने दिव्य गुप्त भेदों की मोतियों को प्रकट किया । उसके बिना उसके नजदीकी अनाथ और मुर्दादिल हैं ।)

बाप के मरने पर बेटे ने सिर-दाढ़ी मुडाई । अकबर हिन्दू-मुसलमान को मिलाकर एक जाति बनाना चाहता था, इसलिए एक दूसरे के रीति-रिवाजों को लेने में आनाकानी नहीं की जाती थी । शेख मुबारक के आठ बेटे और चार बेटियाँ थीं। बेटे थे—१. अबुलफैज फैजी, २. अबुलफजल, ३. अबुलवरकात, ४. अबुलखैर, ५. अबुलमुकारिम, ६. अबूतुराब, ७. अबूहामिद, ८. अबूराशिद । सातवें और आठवें दासी के पुत्र थे, लेकिन बड़े भाइयों ने उन्हें अपने असली भाई की तरह माना । बेटियाँ थीं — अफ़ीफा, दूसरी, ...तीसरी दरबार के अच्छे अमीरों से ब्याही गई थीं। सबसे छोटी बेटी लाडली बेगम थी, जिसके लिए विशेष लाड़ प्यार होना स्वाभाविक था । इसका ब्याह शेख सलीम चिश्ती के पोते से हुआ ।

लाहौर में मरने पर भी उनका शरीर आगरा में लाया गया । अकबर के रौजा (सिकन्दरा) से कोस भर पूर्व लाडली का रौजा है । पहले इसके किनारे अच्छा बाग और विशाल दरवाजा था । इसी के भीतर कई कब्रें हैं, जिनमें ही नये हिन्दुस्तान के स्वप्न देखने वाले शेख मुबारक कविराज फैजी सो रहे है ।

कविराज फैजी

(१५४७-६५ ई०)

१. महान हृदय

फैजी भारत के एक दर्जन सर्वश्रेष्ठ महाकवियों मे है । वह अश्वघोष, कालिदास, वाण की पंक्ति में आसानी से बैठाये जा सकते हैं । उनकी कविताएँ फारसी में होने से उनका परिचय बहुत सीमित लोगों तक ही है, यह दु:ख की बात है । फैजी कवि ही नहीं, बल्कि नये भारत का स्वप्न देखने वाले थे, जिसका प्रयत्न अकबर के नेतृत्व में हुआ था । पर, उस काम को लेकर आगे बढ़ने वाले नहीं मिले और वह अब साढ़े तीन सौ वर्ष बाद होने जा रहा है ।

मुस्लिम शासक हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त कर आठवीं से अठारहवीं सदी तक भारत के कम से कम या अधिक भागों पर शासन करते रहे । पहले शासन सिन्ध और मुल्तान तक ही सीमित रहा । उस वक्त अभी फारसी का दौर-दौरा नहीं था । महमूद गजनवी और उसके बाद के सुल्तानों, बादशाहों ने तुर्क होने पर भी तुर्की नहीं फारसी को राजभाषा बनाया । तुर्की मातृ-भाषा के तौर पर भी दो-चार पीढ़ियों तक चल कर खतम हो गई । बाबर तुर्क था, मंगोल या मुगल हर्गिज नहीं । वह तुर्की भाषा का महान कवि और गद्यकार था । हुमायूँ भी तुर्कीभाषी था, यद्यपि बाप की तरह फारसी भी उसकी अपनी भाषा थी । अकबर तुर्की और फारसी दोनों भाषाओं को मातृभाषा के तौर पर जानता था । जहाँगीर ने बाप-दादा की भाषा समझकर उस पर अधिकार प्राप्त किया था । उसके बाद तुर्की का चिराग गुल हो गया और फारसी मुगल राजवंश की मातृभाषा हो गई । अन्तिम मुगल दिल्ली के आस-पास की भाषाएँ भी बोलते थे, पर मातृभाषा के तौर पर फारसी को ही स्थान देते थे । इसलिए मुस्लिम काल में फारसी राजभाषा और साहित्य भाषा रही । लोक-भाषा (हिन्दी) में उनमें से किसी ने कविता करने की जरूरत नहीं समझी; क्योंकि दरबार में उसकी पूछ नहीं होती । खुसरो की कुछ हिन्दी कविताओं को नमूने के तौर पर पेश किया जाता है, पर वे पुराने हस्तलेख के रूप में नहीं मिली हैं । इसलिए न वह खुसरो की भाषा की बानगी हैं और न उनका खुसरो की कविता निर्विवाद माना जा सकता ।

कविता में खुसरो से ही फैजी की तुलना की जा सकती है । खुसरो को सारे फारसी जगत् ने ऊँचा स्थान दिया । फैजी को उनके पास बैठने में उनको एतराज है । लेकिन, उसका कारण यह नहीं है कि फैजी ऊँचे दर्जे के कवि नहीं थे । फैजी भारतीय रंग में रँगे हुए थे । वह फारसी को अपनाने के लिए मजबूर

थे। वह दरबार की भाषा थी और वह अकबर के 'मलिकुश् शुअरा' (कविराज) थे। फैजी ने फारसी में कविता करते हुए भी अपने पूर्ण महाकाव्य का विषय हिन्दी (भारतीय) रखा। उनको भारत की मिट्टी में पैदा होने का भारी अभिमान था। वह ईरान और अरब को भारत की मिट्टी के सामने तुच्छ समझते थे। 'नल-दमन' (नल-दमयन्ती) प्रेमाख्यान (मस्तवी) इसका प्रमाण है। भारत प्रेम में भी सबसे ऊपर है, यह बतलाते हुए उन्होंने कहा है—

दरहिन्द ज़-इश्क सर्गुजश्ती स्त। जांरा बनवाश् बाज़ गश्ती स्त।

(हिन्द मे ऐसे प्रेम हुए कि प्राण को भी प्रेम के लिए अर्पण कर दिया।)

दरहिन्द ब-बीं कि इश्क चूँ बूद् दिलहा ब-चे दश्नऽगर्फ-ख़ूँ बूद।

(हिन्दुस्तान में देखो, कि इश्क किस तरह का था, दिल को कैसे खून में डुबा दिया।)

ज़ीं खाक चेगूना इश्क-बाज़ाँ रफतंद दिल जो जिगर गुदाजां

आतिश जद जो खुद - बखुद गुजस्तंद।

खाकस्तरे- देरे इश्क गश्तंद।

(इस मिट्टी से कैसे-कैसे प्रेमी दिल और कलेजे को मुग्ध करने वाले हुए। आग लगा कर अपने आप खत्म हो, प्रेम-मन्दिर की भस्म बन गये।)

यहाँ पर फैजी ने प्रेम के लिए स्त्रियों को चिताओं मे जल मरने का संकेत करते हुए बतलाना चाहा है कि प्रेम में हिन्दुस्तान दुनिया में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। उसको अपनी मिट्टी का अभिमान था और भारतीय नल-दमयन्ती को लेते हुए वह फिर साभिमान कहता है—

ई नशऽअज़ाँ ज़ियाद दारम्। क-ज़ शकरे हिन्द बादऽदारम्।

(यह प्रेम का नशा मुझे ज्यादा है, क्योंकि मेरा प्याला हिन्द की शक्कर का है।)

ई शो-अ-ला ब-हिन्द गर्म-खेज़ स्त। ईज़ा'स्त कि आफताब तेज़ स्त।

इश्के-अरब व अजम् शुनीदम्। अज़हिन्द बगोयम् आँचे दीदम्।

(यह प्रेम की ज्वाला हिन्द में ज्वलित हुई। यह वह जगह है, जहाँ का सूर्य प्रखर है। अरब और ईरान के प्रेम को मैंने सुना (भर) है। हिन्द के प्रेम को कहता हूँ, जिसे कि मैंने देखा है।)

फिर हिन्द की भक्ति में मस्त होकर नजीर के नगर (आगरा) का यह शायर कहता है।

ई बाद मजूबऽसजम हरकर। कीं नशऽबहिन्द बाशद् ओ बस्।

ई रिस्त ब-सेहर-हिन्द रश्तंद । व्-ई सब्ज ब-खाके-हिन्द कश्तंद ।
हिन्द'स्त व हजार आलमे इश्क । हिन्द'स्त व जहाँ-जहाँ गमे इश्क ।
बे नख्श-वफा खते-जबीं नेस्त । बेरंगे जिगर गुले-जमीं नेस्त ।
खाकश् हमाँ जर्रा-जर्राऽमुहर'रत । हर जर्रऽचिरागे-नुह-सिपहर'स्त ।

(यह प्याला गोष्ठी के हरेक व्यक्ति को मस्त कर देने वाला है, क्योंकि यह नशा बस हिन्द का है । यह सम्बन्ध हिन्द के जीवन से जुड़ा है । यह सत्य हिन्द की मिट्टी से उगा है । हिन्द है, जो प्रेम की हजार दुनिया है । हिन्द है, जो कि इश्क के गम की दुनिया है । प्रेम की रेखा के बिना ललाट की रेखा यहाँ नहीं है । भूमिका पुष्प कलेजे के रंग के बिना यहाँ नहीं है । इसकी मिट्टी का एक-एक कण सूर्य है । इसका हरेक कण नौ आकाशों का दीपक है ।)

फैजी की इन पंक्तियों से उनका अपनी मातृभूमि के साथ प्रेम स्पष्ट झलकता है ।

फारसी के महाकवियों ने 'खम्सा' 'पंच-गंज' (पाँच निधि, पाँच रत्न या पंच महाकाव्य) लिखकर अपनी कला और प्रतिभा प्रकट करने की परंपरा डाल दी थी । निजामी (जन्म ११४१) पहला कवि था, जिसने पंच-गंज लिखे । जामी (१४१४-६२ ई०) ने निजामी का अनुकरण करते हुए अपना पंच-गंज लिखा । उसके समकालीन तुर्की (उज्बेकी) के कालिदास नवाई (१४४१-१५०१ ई०) ने भी तुर्की भाषा में पंच-गंज लिखा । जामी से पहले ही खुसरो देहलवी ने अपना पंच-गंज लिखा था । प्रायः एक या एक से अधिक कथानक को लेकर अपनी करामात दिखाना आसान काम नहीं था । पर, इन्होंने ऐसा करने में सफलता पाई, जो मामूली बात नहीं थी । अकबर को काव्यशास्त्र के सुनने का बहुत शौक था । उसने ही फैजी को नया पंच-गंज लिखने की प्रेरणा दी । निजामी के पंच-गंज के मुकाबिले में फैजी को अपना पंच-गंज निम्न प्रकार लिखना था—

निजामी	खुसरो देहलवी	फैजी
१. मख्जन-असरार	मत्लउलू-अनवार	मर्कजे अदवार
२. खुसरो-व-शीरीं	शीरीं-खुसरो	सुलेमान-व-बिल्कैस
३. लैला-मजनूँ	मजनूँ-लैला	नल-दमन
४. हफ्ते पैकर	हश्त-बहिश्त	हफ्त किशवर
५. सिकन्दरनामा	आईने सिकन्दरी	अकबरनामा

इसके देखने से मालूम होगा कि 'अकबरनामा' और 'नल-दमन' को भारत के रंग में फैजी लिखना चाहते थे । वह केवल 'नल-दमन' को ही चार हजार बैतों

(पंक्तियों) में समाप्त कर सके। यदि पाँचों महाकाव्य भारत के सम्बन्ध में लिखने होते, तो मुमकिन है वह उन्हें समाप्त कर डालते।

२. बाल्य

फैजी अबुलफजल के बड़े भाई और अपने समय के अद्‌भुत स्वतन्त्र-विचारक शेख मुबारक के ज्येष्ठ पुत्र सन् १५४७ या ४८ ई० (हिजरी ६५४) मे आगरा में जमुनापार रामबाग—उस समय के चारबाग— में पैदा हुए थे और ४८ वर्ष की उमर में १५६५ ई० मे वहीं उनका देहान्त हुआ। वह सूर के और तुलसी के समकालीन थे। शेरशाह के जमाने (१५४०-४५ ई०) में शेख मुबारक ने चारबाग में डेरा डाला था, लेकिन मुल्लों के मारे किसी भी स्वतन्त्र-चेता को साँस लेने की इजाजत नहीं थी, विशेषकर शेरशाह के उत्तराधिकारी सलीमशाह सूरी के शासन में। शेख अल्लाई और उनके गुरु मियाँ नियाजी में से एक को मुल्लाओं ने मरवाया, दूसरे को मरता छोड़ा। शेख मुबारक उनकी लपेट में नहीं आये, यह सौभाग्य समझिये। पर, जब तक अकबर का जमाना ओज पर नहीं आया, तब तक शेख मुबारक को हर तरह की तकलीफों का सामना करना पड़ा।

यद्यपि घर की आर्थिक स्थिति बुरी थी, पर फैजी और उनसे चार वर्ष छोटे अबुलफजल का यह सौभाग्य था, कि उन्हें एक उदार और महाविद्वान् बाप की गोद में पलने का अवसर मिला। मुबारक के एक विद्या गुरु अबुलफजल गाजरुनी थे, जिनको देखकर लड़कों के नाम के साथ अबुल लगाना उन्हें प्रिय लगा। फैजी का नाम उन्होंने अबुलफैज फैजी रखा था, दूसरे लड़के का अबुलफजल, इसी तरह औरों का भी। फैजी ने पहले अपना उपनाम 'मशहूर' रखा था; लेकिन उन्हें दुनिया फैजी के नाम से ही जानती है। शेख मुबारक कवि नहीं थे, लेकिन कविता मर्मज्ञ थे और अपने लड़के में जब उन्होंने कविता के अंकुर को उगते देखा, तो उसको सींचने और बढ़ाने का जिम्मा अपने ऊपर लिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि फैजी में काव्य-प्रतिभा बचपन से ही प्रकट होने लगी थी। बाप को केवल पण्डित होने से कितनी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था, शायद इसी ख्याल से फैजी ने तिब (चिकित्साशास्त्र) का भी अच्छा अध्ययन किया। पर, आगे वह उसे अपनी जीविका का साधन नहीं बना सके। उसका इतना ही फायदा हुआ कि वह लोगों की मुफ्त चिकित्सा करते थे। पहले नुस्खा लिख देते, जब पैसे हाथ में आये, तो दवा भी मुफ्त देने लगे, फिर आगरा में एक अच्छा चिकित्सालय बनवा दिया। घर की हालत इतनी खराब थी कि एक बार पिता फैजी को लेकर "अभावग्रस्तों की सहायता" करने वाले महकमे के अफसर के पास सौ बीघा जमीन के लिए अर्जी लेकर गये। अफसर ने उन्हें बुरी तरह से फटकार कर बाहर निकाल दिया। जान बचाने के लिए दोनों बेटों को लिए शेख

मुबारक मारे-मारे फिरे, कितने ही समय छिपे रहे । हर वक्त डर रहता था कि साम्यवादी शेख अल्लाई की तरह कहीं उनको भी मौत का मुँह न देखना पड़े ।

३. कविराज

फैजी के जीवन के प्रथम बीस वर्ष बड़े दुःखों, चिन्ताओं और खतरे में बीते । शेख मुबारक की विद्या का लोहा सभी मानते थे, लेकिन उन्हें अकबर के दरबार का रत्न बनने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ । यह सम्मान उनके बीस वर्ष के बेटे फैजी को मिला । अबुलफजल के दरबार में जाने से सात साल पहले फैजी अकबर के घनिष्ठ कृपापात्र बन चुके थे । १५६६ या ६७ ई० (हिजरी ६७४) में अकबर राणा प्रताप के विरुद्ध प्रस्थान करने वाला था । इसी समय दरबार में तरुण फैजी का किसी ने जिक्र किया । अकबर ने तुरन्त उसे बुला लाने के लिए कहा । शेख मुबारक के दुश्मन हर वक्त ताक में लगे रहते थे । उन्होंने, गिरफ्तारी के लिए आये हैं, कहकर घर भर को डरवा दिया । तुर्क सिपाहियों को भी क्या पता था, कि जल्दी बुलाने का मतलब सम्मान-प्रदान करना या दंड देना है । शेख मुबारक की कुटिया पर पहुँच कर उन्होंने हल्ला मचाया । दुश्मनों ने बादशाह से कह दिया था । शेख अपने बेटे को जरूर छिपा देगा और बहाना करके आदमियों को लौटा देगा, बिना डराये-धमकाये काम नहीं निकलेगा । संयोग से फैजी बाग में सैर करने गये थे । दुश्मनों को आशा थी कि वह खबर सुनते ही डरकर भाग जायेंगे । जब शेख से पूछा गया, तो उन्होंने कह दिया, " घर पर नहीं हैं ।" तुर्क सिपाही इतने से जान छोड़ने वाले थोड़े ही थे । पर, कुछ करने से पहले ही फैजी पहुँच गये । आगरा से फतेहपुर सीकरी जाना था । आजकल की तरह उस वक्त मोटर नहीं थी कि घंटे-डेढ घंटे में वहाँ पहुँच जाते । दरबार में जाने के लिए तैयारी करने का सामान उस झोपड़े में कहाँ था ? उन्हें तो यह भी पता नहीं था कि फैजी क्यों दरबार में बुलाये गये । कई दिन तक शेख मुबारक, उनकी बीवी और परिवार तरह-तरह की आशंकाओं से भयभीत रहा । आखिर खबर आई कि बादशाह ने बेटे को बहुत सम्मानित किया है ।

फैजी कवि होने के साथ निर्भय भी थे । बादशाह के सामने हाजिर हुए। वह जालीदार कटघरे के पीछे था । कवि को बाहर खड़ा किया गया । पर्दे की आड़ से बात करने में अनकुस मालूम हुआ । उसी समय फैजी के मुँह से निकल पड़ा—

बादशाहा दरूने-पंजर अस्त । अज सरे-लुल्फे-खुद् मरा जावेह ।
जाँकि मन तूतिये-शकर खायम् । जाये-तूती दरूने पंजरा बेह ।

(बादशाह पिंजड़े के भीतर है, इससे मजा नहीं आता । मैं मिस्त्र खाने वाला तूती हूँ जिसके लिए अच्छा स्थान पिंजड़े के भीतर है ।)

अकबर ने इस आशु कविता को सुनकर बहुत प्रसन्न हो पास बुलाया। फैजी ने १६७ शेरों का अपना पहला कसीदा (प्रशस्ति) पढा। हरेक शेर में कविता की माधुरी के साथ-साथ गम्भीरता फूट निकलती थी। इसमे अपने पास दूतों के बुलाने के आने के समय की चिन्ता और परेशानी का भी उल्लेख किया था—

अज़ाँ जमाँ चे नवीसम् कि बूद् बे-आराम।
सफीनये दिलम् अज्मौज खेज़ तूफानी।

(उस वक्त के बारे मे क्या लिखूँ, जो कि मेरे बे-आराम-दिल की नैया तूफान से उठी लहरों पर थी।)

उनके पिता और घर पर इस्लाम के नाम पर जो आफते ढाई गई थीं, उनका जिक्र करते हुए तरुण शायर ने कहा था—

अगर हकीकते-इस्लाम दर्-जहाँ ईनस्त।
हजार खन्दये कुफ्र अस्त बर्-मुसलमानी।

(अगर दुनिया में इस्लाम की वास्तविकता यही है, तो मुसलमानी के ऊपर कुफ्र की हजार हँसी है।)

अकबर को समकालीन कट्टर मुसलमान पूरा काफिर मानते थे और उसे काफिर बनाने की जिम्मेवारी वह फैजी और उनके भाई अबुलफजल पर डालते थे, जिसमें बहुत अंश में सच्चाई भी है। बादशाह इन्साफ पसन्द और स्वतन्त्र चेता था, पर जब इस्लाम के नाम पर उसे डराया जाता, तो सहम जाता था। ऐसे डर की कोई जरूरत नहीं, इसे फैजी और अबुलफजल ने ही अकबर के दिल में बैठा कर उसे निर्भय बनाया।

फैजी की कविताएँ ही अकबर को नहीं प्रसन्न करतीं, बल्कि, उनके मधुर स्वभाव बात-व्यवहार को देखकर थोड़ी देर के लिए भी उन्हें छोड़ना अकबर के वास्ते मुश्किल था। फैजी से चार वर्ष बाद अर्थात् अपनी बीस वर्ष की वय में अबुलफजल भी दरबार में गया। फिर तो दोनों भाई अकबर के दाहिने-बायें हाथ बन गये।

अब तक राज्य के कागज-पत्रों के लिखने-रखने में एकता नहीं थी। विदेशी अफसर और मुंशी मध्य-एशियाई ढंग से उसे लिखते थे और हिन्दू हिन्दी ढंग से। इस गड़बड़ी को ठीक करने में टोडरमल और दूसरों के साथ फैजी ने काम किया और उसके कायदे बना दिये। जब अकबर के पुत्र पढ़ने लायक होने लगे, तो उनके शिक्षण का काम फैजी के हाथ में सौंपा गया। सलीम, मुराद दानियाल सब फैजी के शागिर्द थे। शाहजादों का उस्ताद होना भारी सम्मान की बात थी। बाप से ही फैजी के खून में विचार-स्वातन्त्र की लहर बह रही थी।

अकबर को भी जब उस तरह का देखा, तो फैजी के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा । भारत में इस्लामी सल्तनत कायम होने के समय से ही मुल्ले शरीयत के नाम से बादशाहो को अपने हाथ में रखते आये थे । अकबर के समय भी वह कहते थे, "सल्तनत शरीयत (धर्मशास्त्र) के अधीन है और शरीयत के मालिक हम हैं; इसलिए सल्तनत के मालिक को उचित है कि हमारी आज्ञा के बिना कोई काम न करे । जब तक हमारा फतवा हाथ में न आये, तब तक सल्तनत को एक डग भी आगे बढना नही चाहिए ।" फैजी कहते थे, "सल्तनत का मालिक (बादशाह) खुदा का प्रतिनिधि है । वह जो कुछ करता है, उचित करता है । देश की भलाई भी शरीयत है । बादशाह उसी भँलाई के लिए काम करता है, इसलिए सबको उसका अनुगमन करना चाहिए । (बादशाह) जो समझ सकता है, वह मुल्ले-मुलंटे नहीं समझ सकते । बादशाह जो हुकुम करे; उसको मानना सबका फर्ज है । बादशाही काम के लिए किसी के फतवे की जरूरत नही ।"

अकबर नहीं चाहता था कि उसकी बहुसंख्यक जनता की इच्छाओं और भलाई के ख्याल को ताक पर रखकर इस्लामी शरीयत के जूये के नीचे उन्हें कराहने के लिए छोड़ दिया जाय । वह जानता था कि विदेशी तुर्क अ-तुर्क मुसलमानों पर स्थित हमारा सिंहासन बालू की रेत पर है । वह तभी दृढ़ हो सकता है जब कि हिन्द का बहुजन-हिन्दू-हमारे साथ आत्मीयता स्थापित करें । वह जानता था कि यदि इस आत्मीयता को हमने प्राप्त कर लिया तो, फिर किसी की मजाल नही कि हमारे काम में बाधा उपस्थित कर सके । वह आज की तरह का लोकतंत्रीय युग नही था, जिसमें धर्म को धत्त बताक़र शुद्ध लोकतन्त्रता के नाम पर अपनी बात को मनवाया जा सके । फैजी और अबुलफजल ने इस्लामी शास्त्रों के अपने गम्भीर ज्ञान का फायदा उठाते हुए बादशाह को पृथ्वी पर खुदा का नायब कहते मुल्लों के हथियारों को भोथा कर दिया । फिर उन्हें उसकी भी जरूरत नहीं थी । मुल्ले दोनों भाइयों पर आक्षेप करते थे कि वह हद दर्जे के खुशामदी हैं । आजकल भी कितने ही मुसलमान ऐसा कहते है, पर, वह खुशामद केवल स्वार्थ साधने के लिए नहीं थी । उनके सामने एक महान स्वप्न था—हिन्द के सभी पुत्रों के बीच सच्चा भाईचारा स्थापित करना और उसके द्वारा देश की ताकत को मजबूत करना। फैजी हिन्द की मिट्टी का कितना भक्त था, यह हम उसके शब्दों में देख चुके हैं । एक मुगल बादशाह ने सबसे पहले "मलिकुश्शोअरा" (कविराज) की उपाधि १५८७-८८ ई० (९९६ हिजरी) में फैजी को दी । पीछे हर बादशाह ने इस प्रथा को जारी रखा । अकबर के पोते शाहजहाँ ने पंडित राज की उपाधि जगन्नाथ को दी । उपाधि प्राप्त करने से दो-तीन दिन पहले फैजी ने कहा था—

ऑरोज कि फैजे-आम करदन्द् । मारा मलिकुल्-कलाम करदन्द्

(उस दिन कृपा की धारा बहा दी, जो कि मुझे वाणी का स्वामी बना दिया ।)

अकबर को फैजी से बहुत मुहब्बत थी । उसने फैजी को कुछ लिखने के लिए कहा था । फैजी उसमें तल्लीन थे । इसी समय बीरबल आ गये । अपनी आदत से मजबूर वह छेड़खानी करने के लिए हर वक्त तैयार रहते थे । अकबर ने आँख के इशारे से संकेत करते हुए कहा—"हरफ म-ज़नीद् शेख जीव चीजें मी-नवीसद् ।" (मुँह से अक्षर मत निकालो, शेख जी कुछ लिख रहे है ।) अकबर फैजी को 'शेख जीव' कहा करता था ।

सारे उत्तरी भारत पर अपना दृढ़ शासन स्थापित करने के बाद अकबर के मन में सारे भारत को एक छत्र में लाने का संकल्प पैदा हुआ । दक्षिण में बहमनी सल्तनतें इसके लिए तैयार नहीं थीं । अकबर चाहता था कि वह सुलह और शान्ति से इस एकता को स्थापित करने में सहायता करें, पर उससे कहाँ काम निकलने वाला था ?

अहमदनगर का सुल्तान बुरहानुल्मुल्क सिंहासन से वंचित हो अकबर के दरबार में हाजिर हुआ । अकबर की मदद से फिर सिहासन मिला, पर गद्दी पर बैठते ही उसने अपनी आँख फेर ली । अब आक्रमण करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं था । लेकिन, फिर भी अकबर साम के रास्ते को बिल्कुल छोड़ने के लिए तैयार नहीं था । सोचा, शेख जी शायद इस काम में सफल हों । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी उसी दक्षिण के वाकाटक राजा को साम के रास्ते से लाने के लिए कालिदास को भेजा था और कालिदास उसमें सफल हुए थे । कालिदास ने अपने महान प्राकृत काव्य 'सेतुबंध' को वाकाटक प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध होने दिया, यह भी हमारे यहाँ किंवदंती है । दक्षिण में कविदूतों को सफलता मिलती है, यह परंपरा अकबर को मालूम थी, इसे नहीं कहा जा सकता । लेकिन, दस शताब्दियों बाद वही इतिहास दोहराया गया । फैजी ने अपने इस दौत्य के बारे में लम्बी रिपोर्टें बादशाह को भेजीं, जिससे मालूम होता है, कि छोटी से छोटी महत्वपूर्ण चीज को भी वह कितना ध्यान से देखता था और कैसे अपने को बादशाह की आँख समझ कर हरेक बात को उसके पास पहुँचाना चाहता था । राजी अली खाँ खानदेश का हाकिम था । सीमान्त पर होने के कारण वह उसका फायदा उठा कभी बादशाह के अनुकूल और कभी प्रतिकूल हो जाता था । राजी अली ने किस तरह बादशाह के प्रति अपनी भक्ति दिखलाई, इसके बारे में फैजी ने लिखा है—

"सेवक (फैजी) ने तम्बू आदि इस शान से सजाये थे, जो कि पृथ्वी पाल के दरबार के सेवकों के लिए उचित है । उसके दो दर्जे किये थे । दूसरे दर्जे में

महासिंहासन सजा; पूरा जर्बफत्त से लपेट दिया था । ऊपर जरी वाले मखमल का शामियाना तना था । तख्त पर बादशाही तलवार खास खिलअत राजकंचुक और महान शासन पत्र रखा था । अमीर लोग तख्त के किनारे अदब के साथ क्रम से खड़े थे । इनाम दिये जाने वाले घोड़े भी विधिवत् सामने रखे थे । राजी अली खाँ अपने अफसरों और दक्षिण के हाकिमों के वकीलों को साथ लिये उचित सम्मान और कायदे के साथ आया । दूर से पैदल हो गया । बड़े आदर के साथ पहले दर्जे में दाखिल हुआ । फिर अपने साथियों को लिए आगे बढ़ा और दूसरे दर्जे में पहुँचा । महासिंहासन दिखाई दिया, तो तस्लीम (वंदना) बजा, नंगे पाँव थोड़ी दूर चला । कहा गया—'यहाँ ठहर जाओ और तीन तस्लीमें बजा लाओ ।' बड़े अदब के साथ उसने तीन तस्लीमें अदा कीं और वहीं खड़ा रहा । तब सेवक ने महास्वामी के फरमान (शासन-पत्र) को दोनों हाथों पर लेकर उसे जरा आगे बुलाया और कहा भगवान् की छाया स्वामी ने बड़ी मेहरबानी और कृपा दिखलाते हुए तुम्हारे लिए दो फरमान भेजे हैं । एक यह है ।' उसने फरमान को दोनों हाथों में लिया, आदरपूर्वक सिर पर रखा, फिर तीन तस्लीमें अदा कीं । इसके बाद मैंने कहा—'दूसरा फरमान मैं हूँ ।"

"इस तरह उस समय के दृश्य का वर्णन करते हुए फैजी ने लिखा है उसका दिल वहाँ से जाने के लिए नहीं करता था । कहता था—"इस संगत से तृप्ति नहीं होती, मन चाहता है, शाम तक बैठा रहूँ ।' चार-पाँच घड़ी बैठा । मजलिस समाप्त होने पर पान और सुगन्धि उपस्थित हुई । मुझसे कहा—'आप अपने हाथ से दें ।' मैंने कई बीड़े अपने हाथ से दिये । उसने बड़ी इज्जत के साथ लिया।.,..सेवक के आदमी गिन रहे थे । उसने कुल पच्चीस तस्लीमें (वंदना) कीं ।...पहली तस्लीम के बाद मुझसे कहा—'हुक्म दीजिये, तो हजरत के लिए हजार सिजदे (दण्डवत) करूं । मैंने अपनी जान हजरत (अकबर) पर न्यौछावर कर दी ।' सेवक ने कहा—"तुम्हारी भक्ति और संकल्प के लिए यही उचित है, मगर सिंजदा के लिए हजरत का हुकुम नहीं है । दरगाह के भक्त अपनी भक्ति में आकर जोश के मारे सिजदें में सिर झुका देते हैं, तो हजरत मना करते कहते हैं, कि यह सिर्फ खुदा के लिये है ।"

राजी अली खाँ और बुरहानुल्मुल्क के यहाँ दौत्य-कर्म में एक वर्ष आठ महीना चौदह दिन फैजी ने लगाये । इसमें शक नहीं, उनकी सफलता स्थायी सिद्ध नहीं हुई, पर फैजी की चमत्कारिणी वाणी और उनके व्यवहार ने अपना चमत्कार दिखाया जरूर ।

१५६२ या ६३ ई० (हिजरी १००१) में दरबार में लौटने के बाद कवि के व्यवहार में कुछ परिवर्तन देखा गया । अब भी वह अपनी कविता के फूल

बरसाते थे । बादशाह उनकी बातों से खुश हो जाता; पर वह अधिकतर चुपचाप एकान्त में रहना पसन्द करते थे । इसी समय अकबर ने उन्हें पंच-गंज (खमसा) लिखने के लिए कहा था ।

हिजरी ६६६ (१५८७-८८ ई०) में अकबर गुजरात के अभियान से सफल होकर लौटा । सेनापतियों की तरह पोशाक और हथियार पहने दक्खिन का छोटा-सा बर्छा लिये आगे-आगे चला आ रहा था । फतेहपुर सीकरी से कई कोस आगे ही अमीर स्वागत के लिए आये । फैजी ने बधाई देते गजल पढ़ी —

नसीमे-खुशदिली अज़ फतेहपूर मीआयद् ।
कि बादशाहे-मन् अज़-राहे-दूर मीआयद् ।

(खुशदिलो की प्रातःकालीन वायु फतेहपुर से आ रही है, क्योंकि मेरा बादशाह दूर के रास्ते से आ रहा है ।)

४. मृत्यु

फैजी के जीवन के अन्तिम मास बहुत तकलीफ से बीते । तपेदिक हो गया, दम घुटता था, हाथ-पाँव फूल गये थे और खून की कै होती थी । विरोधी मुलंटे कहते थे, इस्लाम और उसके पैगम्बर पर आक्षेप करने का यह फल मिल रहा है । अकबर को कुत्तों का शौक था और फैजी को भी । मुल्ले कुत्ते को बहुत अपवित्र मानते हैं । उनके चिढ़ाने के लिए भी फैजी अपने पास कुत्ते रखते थे । मुल्लों ने तो यहाँ तक फैला दिया कि मरते समय वह कुत्ते की तरह भूँकता था । मुल्ले एक युग तक फैजी को क्षमा करने के लिए तैयार नहीं थे और उनके मन में जो आता, सब उसके खिलाफ बकते रहते । बीमारी को सुनकर आधी रात को अकबर दौड़ा-दौड़ा फैजी के घर पर पहुँचा । कवि बेहोश थे । बादशाह ने कई बार 'शेखजीव, शेखजीव' कह कर पुकारा—'हकीम अली को साथ लाये है, तुम बोलते क्यों नहीं ?' वहाँ होश कहाँ था ? अबुलफजल को तसल्ली देकर चला गया । जरा देर ही में खबर मिली कि फैजी अब इस दुनिया में नहीं रहे । अकबर के लिए यह भारी सदमा था । १५ अक्टूबर, १५६५ ई० को ४८ वर्ष की उमर में यह महान् कवि और महान् विचारक मरा ।

मुल्ला बदायूँनी फैजी के घर में पढ़कर बढ़ा था, लेकिन वह पूरा मुल्ला था । पहले जब दूसरे पुराने मुल्लों से लड़ना था, तो बादशाह ने बदायूँनी को आगे बढ़ाया था । जब पुराने मुल्ले हट गये, तो इस नये मुल्ले को बादशाह की उतनी जरूरत नहीं थी । अब फैजी और अबुलफजल आगे बढ़ गये और बदायूँनी पीछे रह गया । उसे बहुत सन्ताप था जिसका बुखार वह मौका-बेमौका अपनी लेखनी द्वारा फैजी और अबुलफजल पर उतारता था । मरने की तिथि निकालने

के लिए वाक्य रचा-'फिलसफी, शिई व तबई दरही' (दार्शनिक, शियापंथी और स्वभावतः नास्तिक) । वह मानता था कि कविता, इतिहास, कोश, चिकित्साशास्त्र और निबन्ध-रचना में फैजी अपने समय में अद्वितीय था । कविता में फैजी ने पहले अपना उपनाम "मशहूर" रखा, फिर फैयाजी, जो मंगलकारी साबित नहीं हुआ, क्योंकि एक-दो महीने मे ही वह चल बसे । "वह क्षुद्रता का विधाता, गरूर-घमण्ड-द्वेष का निर्माता, दुश्मनी, गन्दे दिखलावे के सम्मान के प्रेम और शेखी का समूह था। इस्लाम मानने वालो की बुराई और दुश्मनी के क्षेत्र में, धर्म के सिद्धान्तों पर व्यंग्य करने में, पैगम्बर के साथियों और अनुयायियों की निन्दा करने में, अगले-पिछले आदिम-अन्तिम मरे या जिन्दा शेखों के बारे में असम्मान प्रदर्शित करने में बेधड़क था । सारे आलिमों, फाजिलों के बारे में भी गुप्त और प्रकट रात-दिन यही करता रहता था । यहूदी, ईसाई, हिन्दू और पारसी उससे हजार दर्जा बेहतर है । मुहम्मद के धर्म का विरोध करने के लिए सभी हराम चीजों को वह विहित और सभी कर्तव्यों को हराम कहता था । उसकी बदनामी सौ नदियों के पानी से भी नहीं धोई जा सकेगी । वह शराब पीकर गन्दी हालत में बिना बिन्दु वाले कुरान भाष्य को लिखा करता था । कुत्ता इधर-उधर से उस पर कूदते-फिरते थे ।"

मुल्ला बदायूँनी और भी लिखता है—"ठीक चालीस वर्ष तक शेर कहता रहा, मगर सब बे ठीक । हड्डी का ढाँचा खासा है, मगर उसमें सार नहीं, बिल्कुल मजा नहीं ।...यद्यपि दीवान (अकारान्त कविता-संग्रह) और मस्नवी (प्रेमाख्यान) में बीस हजार से ज्यादा शेर कहे, लेकिन उसकी बुझी हुई बुद्धि की तरह एक शेर में भी तेज नहीं है ।" और भी लिखता है, "मेरे पूरे चालीस वर्ष उसके साथ गुजरे, लेकिन उसके ढंग बदलते गये, मिजाज में बुराई आती रही, हालत बिगड़ती गई । इनके कारण धीरे-धीरे (हमारा) सारा सम्बन्ध खत्म हो गया । अब उसका हक कुछ न रहा । दोस्ती बिगड़ गई । वह हमसे गया, हम उससे गये ।" फैजी की छोड़ी हुई चीजों में ४६०० सुन्दर जिल्दें पुस्तकों की थीं जिनमें से अधिकांश लेखक के अपने हाथ या उसके काल की लिखी हुई थीं । उनमें तीन प्रकार की पुस्तकें थीं—१. कविता, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष, संगीत, २. दर्शन, सूफी-मत, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, ३. कुरान-भाष्य, पैगम्बर-वचन (हदीस), फिकर (धर्मशास्त्र) और दूसरी धार्मिक पुस्तकें ।

शम्शुल्-उल्मा आजाद मुल्ला बदायूँनी की बकवास पर कहते हैं—"मुल्ला साहब जो चाहें, फरमायें, अब दोनों अन्तिम दुनिया में हैं, आपस में समझ लेंगे । मुल्ला साहब, तुम अपनी फिकर करो, वहाँ तुम्हारे कामों के बारे में सवाल होगा । यह न पूछेंगे कि अकबर के अमुक अमीर ने क्या-क्या लिखा, उसका क्या विश्वास था और तुम उसको कैसा जानते थे ।"

५. कृतियाँ

१. दीवान—फैजी की कविताओं का अकारान्त क्रम से सग्रह (दीवान) उसी समय तैयार हो चुका था । इसमे नौ हजार वेत (पंक्तियाँ) अर्थात् साढे चार हजार श्लोक है । शम्शुल्-उल्मा आजाद जैसे आदमी लिखते है कि उनकी गजले परिमार्जित और सुन्दर फारसी जबान में है । अतिशयोक्तियो के फन्दे से वह बहुत बचते है और भाषा के सौन्दर्य का बड़ा ख्याल रखते है जिस पर उनका पूरा अधिकार था...दिल जोश में आता है, लेकिन वाणी सीमा से आगे नही बढ़ने पाती। एक बिन्दी भी व्यर्थ की वह नहीं इस्तेमाल करते । मै जरूर कहता, यह सादी की शैली है, पर सादी प्रेम और सौन्दर्य में ज्यादा डूबे हुए है और फैजी दर्शन, मानस-विज्ञान की वास्तविकता और आत्मीयता में लीन हैं ।...अरबी भाषा के पंडित हैं, कही-कहीं एकाध वाक्य जो लगा जाते हैं, तो वह अजब मजा देता है ।

२. कसीदे—फैजी दरबारी शायर थे, इसलिए प्रशस्ति (कसीदा) लिखने के लिए मजबूर थे । आजाद के अनुसार "जो कुछ कहा है, अत्यन्त संयत कहा है ।" फैजी की गजलों और कसीदों की सख्या बीस हजार है । अकबर को उनकी कविता जो इतनी पसन्द थी, उसका कारण यह था कि उसमे प्रसाद गुण था, साफ समझ मे आ जाती थी । दूसरे वह अपने स्वामी की तबीयत को समझते थे और देश-काल के अनुकूल रचना करते थे । "दिल लगती और मनभाई बात होती थी । अकबर सुनकर खुश हो जाता था । सारा दरबार उछल पड़ता था ।"

३. नल-दमन (पंच-गंज खमसा)—१५८५ ई० (६६३ हिजरी) मे अकबर ने कहा कि निजामी के पंच-गंज पर बहुतों ने अपनी कला दिखाने की कोशिश की, तुम भी करो । उनके लिए पाँच ग्रंथ भी चुन लिए गए, पर जैसा कि बतलाया, फैजी केवल "नल-दमन" (नल-दमयन्ती) को ही पूरा कर सके । "सुलेमान-व-बिलकैस" के सम्बन्ध में उनके थोड़े से शेर मिलते हैं, वही बात 'अकबरनामा' की भी है । बाकी पर कुछ लिखा ही नहीं । आगे बढ़ते न देखकर १५६३-६४ ई० (हिजरी १००२) में लाहौर में रहते बादशाह ने फिर एक बार 'पंचमहाकाव्य' के लिए ताकीद करते कहा—पहले 'नल-दमन' को पूरा करो । फैजी ने चार महीने लगाकर उसे समाप्त कर दिया । शम्शुल्-उल्मा आजाद समझते हैं, इसका कथानक फैजी ने कालिदास की किसी कृति से लिया होगा, पर कालिदास ने उसके ऊपर कोई काव्य नहीं लिखा, यह हमें मालूम है । महाभारत को फैजी ने देखा था, इसलिए "नलोपाख्यान" से वह परिचित थे । त्रिविक्रम ने पहले पहल इस उपाख्यान को 'नलचम्पू' में लिखा । नलचम्पू संस्कृत के चम्पुओं (गद्य-पद्य-मिश्रित काव्यों) में सर्वश्रेष्ठ है । त्रिविक्रम के बाद कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र के दरबारी तथा महान कवि श्री हर्ष ने इसी उपाख्यान को लेकर 'नैषध' लिखा जो संस्कृत का एक महान्

काव्य माना जाता है। श्री हर्ष से तीन सौ वर्ष बाद फैजी ने फारसी में 'नल-दमन' लिखा। उसके देखने से यह नहीं मालूम होता कि फैजी के सामने त्रिविक्रम और श्री हर्ष की कृतियाँ थी।

मुल्ला बदायूँनी ने 'नल-दमन' के बारे मे लिखा है—"उन दिनों मलिकुश-शोअरा को हुकुम फरमाया कि पंज-गंज लिखो। कम-बेशी पाँच महीने में 'नल-दमन' लिखो जो आशिक और माशूक था। यह किस्सा हिन्दवालो में मशहूर है। चार हजार दो सौ शेर से कुछ ज्यादा है। उसने हस्तलेख को कुछ अशर्फियों के साथ बादशाह को नजर किया। बहुत पसन्द आया। हुकुम हुआ कि सुलेखक लिखे और चित्रकार चित्र बनाये। रात को नकीब खाँ जो किताबें सुनाते थे, उनमें इसे भी सम्मिलित कर लिया गया...यह सच है कि ऐसी मस्नवी (प्रेमाख्यान) इस तीन सौ वर्ष मे 'खुसरो-शीरीं' के बाद हिन्द मे शायद ही किसी ने लिखी हो।"

मुल्ला बदायूँनी भला कैसे क्षमा करता, जब कि फैजी के मुँह से सुनता था—

शुक्रे-खुदा कि इश्के-बुतॉन'स्त रहबरम्। दर मिल्लते-बरहमन ब दरदीने आजुरम।

(खुदा को धन्यवाद कि मूर्तियों का प्रेम मेरा पथ-प्रदर्शक हैं। मै ब्राह्मणों की जाति और पारसियों के दीन में हूँ।)

मुल्ला बदायूँनी की तरह कवि निशाई ने फैजी पर छींटा कसते कहा है—

"शुक्रे खुदा कि पैरुये दीन पैगम्बरम्।
हुब्बे रसूल व आलेर सुलेस्त हरबरम्।"

(खुदा क़ा शुक्र है, मैं पैगम्बर के दीन का अनुयायी हूँ। पैगम्बर और उसकी सन्तान का प्रेम पथ-प्रदर्शक है।)

काल ने बतलाया कि मुल्ला बदायूँनी और निशाई बीते युग के आदमी थे। जमाना फैजी के साथ होगा जो किसी भी मजहब की बेड़ियों को पैरों में डालने के खिलाफ और मानव के भ्रातृभाव को सर्वोपरि मानता था।

४. मर्कजे-अदबार (कलाकेन्द्र)—अबुलफजल ने लिखा है, एक कापी में बीमारी के समय फैजी कुछ लिखते रहते थे जो इस पुस्तक के सम्बन्ध में थे। पंज-गंज की बाकी तीनों पुस्तकों के सम्बन्ध के जो शेर फैजी ने लिखे थे, उनमें से कुछ को अबुलफजल ने अपने 'अकबरनामा' में उद्धृत कर दिया है।

सब मिलाकर कविता की ५० हजार पंक्तियाँ फैजी ने फारसी में लिखीं। यह भी कहा जाता हैं कि ५० हजार शेरों को उन्होंने खुद नष्ट कर दिया।

५. **लीलावती**—इस नाम से भास्कराचार्य ने गणित पर छन्दोबद्ध एक सुन्दर पुस्तक लिखी है । फैजी ने इसका फारसी मे अनुवाद किया ।

६. **महाभारत**—दूसरों द्वारा महाभारत के कुछ पर्वों के अनुवाद (गद्य) को ठीक करने का काम बादशाह ने फैजी को सुपुर्द किया था ।

७. **इंशाय-फैजी (फैजी-निबन्ध)**—पद्य की तरह ही फैजी गद्य के महान लेखक थे, यद्यपि उन्होंने बाण की तरह उसमे कोई महाकाव्य नहीं लिखा । फारसी में इसकी परंपरा नही थी । अपने निबन्धों मे वह अपने अनुज अबुलफजल का उल्लेख बहुत सम्मान के साथ करते है—नव्वाब अल्लामी, नव्वाब अखवी (मेरे भाई), अखबी शेख अबुलफजल (मेरा भाई शेख अबुलफजल) ।

८. **सवाते उल्-अलहाम्**—कुरान के ऊपर फैजी ने यह भाष्य लिखा था । अरबी वर्णमाला में कुल पचीस अक्षर हैं जिसमें ग्यारह बिन्दु वाले और चौदह निर्विन्दु हैं । फैजी ने प्रतिज्ञा की थी कि मै इस पुस्तक में उन्हीं शब्दों का इस्तेमाल करूँगा जिनके लिखने में बिन्दु वाले अक्षरों का प्रयोग नहीं होता । भाष्य की सिर्फ भूमिका एक हजार पंक्तियों में समाप्त हुई है जिसमें अपना, अपने बाप-भाइयों, शिक्षा और बादशाह की प्रशंसा आदि दर्ज है । कई चोटी के विद्वानों ने फैजी के इस भाष्य पर टीकाएँ लिखीं । एक विद्वान् ने तो उन्हें 'द्वितीय अहरार' कह दिया है । (ख्वाजा अहरार समरकन्द के एक बहुत बड़े विद्वान् और संत पुरुष थे जिनका देहान्त १६४० ई० में हुआ था ।) वह भाष्य फैजी ने ३ जनवरी, १५६४ ई० में समाप्त किया था ।

९. **मवारदुल् कलम**—इसमें छोटे-छोटे वाक्यों में शिक्षाएँ दी गई हैं ।

६. फैजी का धर्म

फैजी और उनके भाई को इस्लाम का दुश्मन ही नहीं कहा जाता, बल्कि अकबर को काफिर बनाने की जिम्मेदारी उन पर रखी जाती है । अकबर ने सूर्य-पूजा के द्वारा सब मजहबों को एकत्र करने की कोशिश की थी । फैजी अकबर के दीने इलाही के मुख्य स्तम्भ थे, इसलिए उन्हें सूर्य-पूजक कहा जा सकता है । उन्हें दहरिया (नास्तिक) भी कहते हैं, लेकिन इसका प्रमाण नहीं है कि फैजी ईश्वर को नहीं मानते थे । सभी मजहबों से स्नेह और सहानुभूति हुमायूँ के दुबारा भारत के सिंहासन प्राप्त करने के बाद की नीति थी । हुमायूँ भाग कर ईरान गया । वहाँ के शाह तहमास्प ने पूछा—ऐसा क्यों हुआ ? हुमायूँ ने बतलाया—भाइयों का झगड़ा । तहमास्प ने पूछा— प्रजा ने सहायता क्यों नहीं की ? हुमायूँ ने उत्तर दिया—"वह दूसरी जाति और दूसरे धर्म की है ।" तहमास्प और इस्माईल स्वयं जो गुर को काम में लाये, वही उन्होंने हुमायूँ को बतलाया

अरबों की विजय और क्रूरता के नीचे सुसंस्कृत ईरानी कराह रहे थे। वह मुसलमान हो गये, पर जानते थे कि हम कौरोश और दारयोश के उत्तराधिकारी है। गिरगिटखोर अरबों से हजारो वर्ष पहले हम सभ्यता और संस्कृति के उच्च शिखर पर पहुँचे थे। अरब-रक्त के पक्षपाती शुद्ध अरबी उमैया खलीफो के वंश के उच्छेदकर्त्ता तथा अब्बासी-वंश-स्थापक अबू-मुस्लिम और उसके सहकारी ईरानी थे। पर, अब्बासी खलीफों ने भी ईरानियत को जितना स्थान देना चाहिए था उतना नहीं दिया। अब्बासियों के पतन के बाद ईरानी राष्ट्रीयता ने कई बार सिर उठाया। उसने देखा— सुन्नी मुलंटों से हमारा काम नहीं बनेगा। शिया इसमें ज्यादा उदार थे, इसीलिए वह शिया पंथ की ओर झुके और तहमास्प के वंश (सफाबी) ने शिया धर्म को ईरान का राजकीय धर्म घोषित किया। पन्द्रहवीं सदी से ईरान शिया हो गया। इस प्रकार ईरानी राष्ट्रीयता को संतुष्ट कर तुर्कमानवंशी *इस्माईल, अब्बास, तहमास्प ने अपनी सल्तनत की जड़ मजबूत की। तहमास्प* ने वही गुर हुमायूँ को बतलाया और कहा—अब वहाँ जाना, तो अपनी प्रजा से आत्मीयता स्थापित करना जिसमें तुममें और उसमें भेद न रह जाये।

यही कारण था, हुमायूँ किसी राजपूत महिला की राखी बाँधकर उसका धर्मभाई बनता था और किसी को दूसरी तरह से अपना बनाता था। वह हिन्दुस्तान की गद्दी फिर से प्राप्त कर ज्यादा दिन नहीं रह सका। पर, उसके लड़के अकबर ने होश सँभालते ही देखा कि रास्ता वही है। भाड़े के तुर्क सिपाही और दूसरे ऐन वक्त पर दगा देने वाले हैं। उसने यह भी देखा कि शिया या ईरानी जो उसके बाप के साथ आये थे, वह दिलोजान से उसकी सेवा करने के लिये तैयार है, नया कदम उठाने पर वह मेरे सहायक रहेंगे।

१५७४-७५ ई० (हिजरी ६८२) में, अर्थात् गद्दी पर बैठने के अठारहवें साल, फतेहपुर-सीकरी में अकबर ने एक बहुत सुन्दर इमारत 'चारईवान' (चारमहल) बनवाया। यह सभी धर्मों का सम्मिलित मंदिर भी था और यहीं विद्वानों के शास्त्रार्थ हुआ करते थे। हिन्दू पंडित, मुसलमान मौलवी, ईसाई पादरी, पारसी मोबिद सभी अपने-अपने धर्मों की बारीकियाँ बतलाते और दूसरों की कमजोरियों को दिखलाते। अब फैजी को दरबार में पहुँचे आठ साल हो गये थे और अबुलफजल को चार साल। मुल्ला बदायूँनी भी अभी पूरा मुलंटा नहीं बना था। वह इस शास्त्रार्थ में शामिल होते और सालों से अपने को सब कुछ समझने वाले पुराने मुल्लों का हुलिया तंग करते थे। फैजी, अबुलफजल और उनके बाप को जो लोग नास्तिक और लामजहब कहकर उनकी जान के गाहक थे, उनसे सूद-दर-सूद के साथ बदला ले रहे थे। अकबर तो चाहता ही था, खूब खुलकर बहस की जाये। फैजी और उसके भाई का कहना था : "दुनिया में हजारों मजहब हैं।

खुदा का अपना एक मजहब नही हो सकता, नहीं तो वह सभी मजहब वालों की परवरिश क्यों करता ? सबके ऊपर एक-सी दृष्टि क्यों रखता ? सब को आगे क्यों बढ़ाता ? जिसे अपना मजहब समझता, उसी को रखता, बाकी को नष्ट कर देता । यह बात नही देखी जाती, इसलिए यही कहना पड़ेगा कि सभी मजहब उसके अपने हैं । बादशाह पृथ्वी पर खुदा की छाया है । उसको सभी मजहबों की ओर खुदा की तरह देखना चाहिए । सभी मजहबों की परवरिश, सहायता करनी चाहिए, यही मानो उसका मजहब है ।" मुल्ला इसलिए भी चिढ़ते थे कि बिस्मिल्ला या लाइलाह (दूसरा ईश्वर नहीं) कहने की जगह अब 'अल्लाहो अकबर' (ईश्वर महान्) लिखा-बोला जाता था जिसमें उन्हें अकबर के अल्ला होने की गन्ध आती थी । अकबर ने कभी अल्ला होने का दावा नहीं किया । वह ईश्वर के मानने से भी इन्कार नहीं करता था । 'अल्लाही अकबर' से उसका हर्गिज वह मतलब नहीं हो सकता था जो कि मुल्ले निकालना चाहते थे ।

फैजी ने संस्कृत पढ़ी थी । वाराणसी में छिपकर किसी पण्डित से पढ़ी; यह सिर्फ मौखिक परम्परा है । अगर ऐसा होता, तो अबुलफजल या फैजी कहीं इसका उल्लेख जरूर करते । यह भी कहा जाता है कि चलते वक्त जब फैजी ने अपने को प्रकट किया, तो गुरु ने उससे यह शपथ ले ली कि वह गायत्री और चारों वेदों का फारसी में अनुवाद नहीं करेगा । गायत्री जरूर उस समय भी ब्राह्मण पढ़ते थे । कुछ लोग उसका अर्थ भी जानते थे, पर चारों वेदों के बारे में उस समय के षट्शास्त्रियों का भी ज्ञान नहीं के बराबर था । हाँ, कुछ वैदिक न तोतारटन जरूर करते और इसमें शक नहीं कि यह तोतारटन वेदों की रक्षा के लिए बड़े काम की थी । फैजी आगरा में संस्कृत पढ़ सकते थे और खुलकर । उन्हें वाराणसी में छिपकर पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी । उन्होंने हिन्दू विचारधारा और संस्कृत का बहुत भीतर से और गहराई के साथ अध्ययन किया था । उसकी अमिट छाप उसके दिल पर थी । वह दूसरे मुल्लों की तरह हिन्दुओं को काफिर कहने के लिए तैयार नहीं था । यही वजह थी कि सभी हिन्दू उसकी इज्जत करते थे । फैजी अदभुत प्रतिभाशाली होते भी सरल, विचारों में तल्लीन रहते भी हँसमुख, शास्त्रार्थों में प्रखर तर्क के वाणों को छोड़ने में सिद्धहस्त होते भी दूसरों के प्रति भारी सहानुभूति रखने वाले पुरुष थे । व्यंग्य और चुटकुले इतने सुन्दर ढंग से बोलते कि लोग उछल पड़ते । सचमुच उनकी जबान फूल बरसाती । क्रोध को वह अपने पास फटकने नहीं देते थे । उनसे उलटा अबुलफजल गम्भीर प्रकृति के आदमी थे । फैजी बड़े ही उदार और अतिथि-प्रेमी थे । उनका घर कवियों, विद्वानों और गुणियों के लिए सदा खुला रहता था । उनके दस्तरखान पर हमेशा मेहमानों की भीड़ रहती थी । कोई भी योग्य व्यक्ति उनके पास आकर हताश नहीं लौट

सकता था । उन्हें वह अपने घर में आदर से रखते, दरबार में सिफारिश करते और उसके योग्य कोई काम या इनाम दिलवाते । फ़ारसी का कवि उ़र्फी कितने ही दिनों तक उनके घर में मेहमान रहा । मुल्ला याकूब कश्मीरी तो फैजी के अतिथि-सत्कार से इतने प्रभावित हुए थे कि कश्मीर लौटने पर भी उन्हें फैजी के घर में दोपहर को सीतलपाटी पर बैठना याद आता था । लिखते है—वह कश्मीर की आबोहवा से कम सर्द न थी ।

मुल्लों और उनके अनुयायियों को तब और फैजी से शिकायत रही, पर फैजी महान कवि थे, महान पुरुष थे । भारत सदा उन पर गर्व करेगा ।

अबुलफजल

(१५५१-१६०२)

१. बाल्य

भारत के सारे इतिहास मे शेख अबुलफजल की तुलना हम कौटिल्य विष्णुगुप्त से ही कर सकते है । कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के रूप में भारत को एकताबद्ध करने और उसे समृद्ध बनाने की कोशिश की । यही काम अबुलफजल ने अकबर के समय किया । फर्क इतना ही था कि कौटिल्य चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री ही नहीं था, बल्कि उसके राज्य का संस्थापक भी था । यदि कौटिल्य का अर्थशास्त्र हमारे लिए उस समय की राजनीति और दूसरी ज्ञातव्य बातों का भण्डार है, तो अबुलफजल का 'अकबरनामा' और 'आइने-अकबरी' उससे कहीं बड़ा भण्डार है । कौटिल्य को संस्कृतियों और धर्मों के उग्र झगड़ों को सुलझाने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि धर्मों मे कुछ भेद होने पर भी मौर्य-कालीन भारत की संस्कृति एक थी । पर, अबुलफजल ने जिस भारत को एकताबद्ध करने की कोशिश की, वह सदियों से धर्म के नाम पर होते खूनी जंगो का मैदान बना हुआ था ।

अबुलफजल का जन्म १४ जनवरी, १५५१ ई० में आगरा में जमुनापार रामबाग में हुआ था जिसे उस समय चारबाग कहते थे । उनके पिता शेख मुबारक अपने समय के अद्वितीय विद्वान और साथ ही अत्यन्त उदार विचारों के थे । इसी कारण मुल्ले उन्हें काफिर कहकर हर तरह की तकलीफ देने के लिए तैयार थे और शेख को अपने को बहुत छिपाकर रखना पड़ता था । वह कभी सूफी संत का ढोंग रचते हुए ज्ञान-ध्यान में लगाते, कभी मुल्लों से भी चार कदम आगे जाकर गीत के कान में आने पर उँगली डालते और इस्लामी धर्मशास्त्र के विरुद्ध पोशाक पहनने पर उसे कटवा देने से भी बाज न आते । पर, यह सब अपने बचाव का कवच मात्र था । मुल्ले उन्हें साम्यवादी सैयद मुहम्मद जौनपुरी का अनुयायी, कभी शिया और नास्तिक कहते । उनकी विद्या से लाभ उठाने के लिए अच्छे-अच्छे प्रतिभाशाली विद्यार्थी उनके पास रहते थे । मुल्ला बदायूँनी इन्हीं के शिष्यों में था ।

अबुलफजल का बचपन बाप की इसी गरीबी में बीता । उन्होंने 'अकबरनामा' के तीसरे खण्ड में अपने आरम्भिक जीवन की कुछ बातें लिखी हैं—"बरस सवा-बरस की उमर में भगवान् ने मेहरबानी की और मैं साफ बातें करने लगा । पॉच वर्ष का था कि दैव ने प्रतिभा की खिड़की खोल दी । ऐसी बातें समझ में आने लगीं जो औरों को नसीब नहीं होतीं । १५ वर्ष की उमर में पूज्य पिता की विद्यानिधि

का खजांची और तत्त्वरत्न का पहरेदार हो गया, निधि पर पाँव जमा कर बैठ गया। शिक्षा की बातों से सदा दिल मुरझाता था और दुनिया के खटकर्मों से मन कोसों भागता था। प्रायः कुछ समझ ही नहीं पाता था। पिता अपने ढंग से विद्या और बुद्धि के मंत्र फूँकते थे। हरेक विषय पर एक पुस्तक लिख कर याद करवाते। यद्यपि ज्ञान बढ़ता था, तथापि वह दिल को न लगता था। कभी तो जरा भी समझ मे न आता था और कभी सन्देह रास्ते को रोक लेते थे, वाणी मदद न करती थी, रुकावट हलका बना देती थी। मै भाषण का भी पहलवान था, पर जबान खोल न सकता था। लोगों के सामने मेरे आँसू निकल पड़ते थे, अपने को स्वयं धिक्कारता था।... जिन्हें विद्वान कहा जाता था, उन्हें मैंने बेइंसाफ पाया, इसलिए मन चाहता था कि अकेले में रहूँ, कहीं भाग जाऊँ। दिन को मदरसा में बुद्धि के प्रकाश में रहता, रात को निर्जन खंडहरों में भागता। ..इसी बीच एक सहपाठी से स्नेह हो गया जिसके कारण मदरसे की ओर फिर आकर्षण बढ़ा।"

अबुलफजल अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। नाम-धाम कुछ भी हो, पर वह पूरे हिन्दी थे। रंग भी उनका अधिक साँवला था। वह कहा करते थे : "गोरों का हृदय काला हो सकता है, पर मेरा शरीर काला रहने पर भी हृदय सफेद है।" उनकी स्मरण-शक्ति असाधारण थी, यह कहने की आवश्यकता नही। घर मे गरीबी हद दर्जे की थी, लेकिन अबुलफजल को यह पता नहीं था कि भूखे है या पेट भरा है। जब पढ़ने में मन लगा, तो मानो दस वर्ष की समाधि लग गई। दो-दो, तीन-तीन दिन तक उन्हें खाने की सुध न रहती, विद्या की भूख के सामने पेट की भूख भूल जाते। जो भी सूखा-रूखा दो नेवाला पेट में चला जाता, वह उनके लिए मन्ना से कम नही था। अभी वह बालक ही थे, तभी प्राचीन आलिमों की बातों पर उनके मन में बडी-बड़ी शंकाएँ उठने लगीं। जब उसे वे दूसरों के सामने रखते, तो बचपन समझ कर कोई ध्यान न देता। अबुलफजल का दिल झुँझलाता। उनका सौभाग्य था कि उन्हें शेख मुबारक जैसा पिता मिला था जो बच्चे की शंकाओं की कदर करता।

१५ वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते अब वह पढ़ाने भी लगे थे। 'हाशिया-अस्फहानी' (अस्फहानी रचित टिप्पणी) पढ़ा रहे थे। पुस्तक ऐसी मिली जिसके आधे से अधिक पन्ने दीमक खा गये थे। अबुलफजल ने पहले उसके सड़े-गले किनारे पर पैबंद लगाये। उषाकाल में बैठ कर जहाँ से वाक्य कटा था, उसके आदि और अन्त को देखते, कुछ सोचते, कुछ अर्थ मालूम होने लगता और उसे लिख डालते। इस प्रकार कर चुकने पर उन्हें पूरी किताब भी मिल गई। मिलाया, तो ३२ जगह केवल पर्यायवाची शब्दों का अन्तर था, तीन-चार जगह प्रायः वही शब्द थे। उन्हें देखकर लोग हैरान हो गये।

२. दरबार में

अकबर को गद्दी पर बैठे १८ वर्ष हो गये थे । अब वह तीस वर्ष का था । सल्तनत मजबूत हो चुकी थी, पर अकबर इतने से संतुष्ट रहने वाला नहीं था । वह भारत के लिए एक नया स्वप्न देखता था —विशाल, एकताबद्ध, शक्तिशाली भारत उसका लक्ष्य था । फैजी को अकबर के दरबार में पहुँचे चार साल हो गये थे । अबुलफजल भी बीस साल का हो गया था, वय से नही, पर विद्या मे वृद्ध था । अपने चारों ओर की दुनिया को देखकर वह असंतुष्ट था । जिन शास्त्रों को उसने पढा था, उनसे भी उसका असंतोष नहीं मिटा । जब आलिमो को और भी बेइंसाफ पाया, तो उसका दिल दुनिया से भागने लगा । कभी संतो-फकीरो के पास जाने का मन करता, कभी तिब्बत के लामाओं के बारे में सुनकर उनके पास जाने के लिए दिल तड़पता । कभी मन कहता कि पुर्तगाल के पादरियों के संघ मे शामिल हो जाऊँ । कभी आता पारसी मोबिदो के पास चला जाऊँ । तरुण अबुलफजल की योग्यता की खबर अकबर के पास पहुँच चुकी थी । जब पहले-पहल दरबार में जाने का प्रस्ताव आया, तो मन नही करता था । बाप ने समझाया . अकबर दूसरी तरह का पुरुष है। उसके पास जाकर तुम्हारी शंकाएँ दूर हो जायेंगी । यदि बाप दूसरे मुल्लों-सा संकीर्ण-हृदय होता, तो शायद अबुलफजल के ऊपर उसकी बात का असर न पड़ता । पर, वह उनके विचारों को जानता था, सलाह पसन्द की । बादशाह उसी समय आगरा में आया था । अबुलफजल को कोर्निश (वंदना) करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इस वक्त इतना ही तक रहा । बंगाल में गड़बड़ी हुई और अकबर उधर चला गया । फैजी बादशाह की छाया थे । वह पत्रों मे लिखते थे : बादशाह तुझे याद किया करते है । पटना जीत कर अजमेर आया, तो फिर लगा कि बादशाह ने याद किया है । जब फतेहपुर-सीकरी आया, तो बाप से इजाजत ले अबुलफजल वहाँ जा भाई के पास ठहरे । दूसरे दिन जामा-मस्जिद में बादशाह आया । अबुलफजल ने दूर से कोर्निश की । देखते ही बादशाह ने अपने पास बुलाया । अबुलफजल ने समझा, कोई और अबुलफजल होगा । जब मालूम हुआ कि मेरा ही भाग खुला है, तो उधर दौडे । उस दीन और दुनिया की भीड़ मे भी बादशाह ने कुछ देर तक बात की । अबुलफजल ने कुरान के सूरा-फतहा का भाष्य लिख कर तैयार रखा था, उसे भेंट किया । अकबर ने अपने मुसाहिबों से इस नौजवान के बारे में ऐसी-ऐसी बातें बताई जो उसे भी मालूम नहीं थी । अब अबुलफजल का स्थान अकबर के दरबार में था, लेकिन दो वर्ष तक उनके मन की उचाट नहीं गई ।

मुल्ला बदायूँनी ने इस समय के बारे में लिखा है—"अजमेर से बादशाह लौट कर हिजरी ९८२ (१५७४-७५ ई०) में फतेहपुर मे थे । खानकाह (सलीम

चिश्ती के मठ) के पास बादशाह ने प्रार्थना-मन्दिर बनवाया था जिसके चार ऐवान थे । इन्हीं दिनों शेख मुबारक नागौरी का सपूत बेटा शेख अबुलफजल-जिसे लोग अल्लामी लिखते हैं-बादशाही मुलाजिम हुआ । उसने जहान में बुद्धि और ज्ञान का हल्ला मचा दिया है ।...जिसने मुखालफत की, उसको समाप्त किया । उसने सारे मजहबो की मुखालफत करना अपना कर्तव्य समझ लिया है, इस काम के लिए कस कर कमर बाँध ली है ।"

मुल्ला बदायूँनी, जहाँ तक पुराने मुलंटों की जड़ काटने का सवाल था, अबुलफजल के साथ थे । पर, अपने मुल्लापन से भी मजबूर थे । फिर लिखते है—"अब शेख मुबारक के दोनों बेटों का दौर-दौरा हो गया । शेख अबुलफजल ने बादशाह की हिमायत, उसकी सेवा, अपनी व्यवहार-बुद्धि, अधर्मीपन और बेइन्तिहा खुशामद से इतनी शक्ति पा ली कि जिस गिरोह ने चुगलियाँ खाई, अनुचित कोशिशें की, उसे बुरी तरह से बदनाम किया । पुराने गुम्बदों को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया, बल्कि सभी अल्ला के भक्तो, सन्तों, आलिमों, अनाथों, निर्बलों का वृत्ति-बन्धान काट लेने का कारण वही हुआ ।" अबुलफजल सचमुच आग लगा कर सारी गंदगियो को जला डालने के लिए तैयार थे, इसीलिए उनकी जीभ पर यह चौपदे रमते थे—

आतिश ब-दो दस्ते-खब्वेश दर् खिमेने-ख्वेश ।
चूँ खुद्‌जद्ऽअम् चि नालम् अज़ दुश्मने-ख्वेश ।
कस् दुश्मने-मन ने'स्त मनम् दुश्मने-ख्वेश ।
ऐ वाय, मन् व दस्ते-मन व दामने ख्वेश ।

(अपने दोनों हाथों में ले अपने खलिहान में जब आग लगाई, तो अपने दोस्त या दुश्मन को लेकर क्यों रोऊँ ? कोई मेरा दुश्मन नहीं है, मैं ही अपना दुश्मन हूँ । ओहो, मै, मेरा हाथ और मेरा दामन ।)

"कबिरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ ।" तरुण अबुलफजल का यही मोटो था । बहस होती, मुल्ला लोग पुराने बड़े-बड़े आलिमों और धर्मशास्त्रियों के वचन पेश करते ? अबुलफजल कहते —अमुक हलवाई, अमुक मोची, अमुक चमार का भी वचन क्यों नहीं पेश करते ? वह किसी के बड़े नाम और बात के रोब में आने वाले नहीं थे । जिस बात को बुद्धि और तर्क से मनवाया नहीं जा सकता, उसके लिए उनके दिल में कोई इज्ज़त नहीं थी । अकबर भी उनके विचारों के साथ था ।

अबुलफजल वाणी के वरद पुत्र थे । अकबर को ऐसी वाणी और लेखनी की बड़ी जरूरत थी । उसने लेखन-विभाग में तरुण को काम दिया और सल्तनत

के अभियानों का इतिहास लिखना भी सुपुर्द किया। जो भी काम मिला, अबुलफजल उसे इतनी अच्छी तरह पूरा करते कि बादशाह को उनके बिना कोई काम पसन्द नहीं था। पेट में दर्द होता, तो हकीम जी भी अबुलफजल की राय से दवा करते। फुंसी पर मलहम लगता, तो उसके नुस्खे में भी अबुलफजल की सलाह शामिल की जाती। अबुलफजल को अब कुरान के भाष्यकार होने की जरूरत नहीं थी। आजाद के कथनानुसार—"मुल्लाई के कूचे से घोड़ा दौडाकर उसने मन्सबदार अमीरों के मैदान में जा झंडा गाड़ा।"

दरबार में आने के बारह वर्ष बाद हिजरी ९९३ (१५८५-८६ ई०) में पहुँचते-पहुँचते अबुलफजल बहुत आगे बढ़ गये। इसी समय उन्हें हजारी का मन्सब प्राप्त हुआ। चिंगीज खान ने अपनी शासन-व्यवस्था में दर्जों को दस, सौ, हजार आदि के क्रम में बाँटा था। बाबर और उसके पूर्वज तैमूर लंग के दिलों पर पैगम्बर मुहम्मद से कम इज्जत काफिर चिंगीज की नहीं थी और वह बहुत-सी बातों में शरीयत नहीं, बल्कि वह चिंगीज खान के तुरा (यास्सा) का अनुसरण करते थे। चिंगीज खान के दफ्तरों का काम पहले वहाँ के भिक्षुओं ने सँभाला था। भिक्षु को मंगोल भाषा में बख्शी कहते हैं। पीछे मुंशियों (लेखकों) का नाम ही बख्शी पड़ गया। यह पद भी बाबर के साथ भारत आया और आज कितने ही मुसलमान और हिन्दू अपने नाम के साथ बख्सी लगाने में गौरव का अनुभव करते हैं। इसी तरह हजारी, दो-हजारी, पंचहजारी दर्जे (मन्सब) भी बाबर के मध्य एशिया से भारत में आये।

१५८८-८९ ई० में (हिजरी ९९७) में अबुलफजल बादशाह के साथ लाहौर में थे। उनकी उमर ३९ साल की थी। इसी साल माँ का देहान्त हुआ। दोनों भाइयों को अपने माँ-बाप से अत्यन्त स्नेह था। माँ की मृत्यु पर उर्फी के इस शेर को वह बार-बार कहते थे :

खूँ कि अज़-मेहरे-तू शुद् शीर व ब-तिफली खुर्दम्।
बाज आँ खून शुद् व अज़ दीद बरूँ मी आयद्।

(तेरी मेहरबानी से खून जो कि दूध हो गया और मैंने उसे बचपन में पिया। फिर वह खून हुआ जो अब आँख से बाहर निकल रहा है।)

माँ की मौत की खबर सुनकर अबुलफजल बेहोश हो गये थे। कहते थे—

चूँ मादरे-मन् ब-जेरे-खाकऽस्त। गर् खाक बसर कुनम् चे बाक'स्त।

(जब मेरी माँ मिट्टी के नीचे है तो मैं मिट्टी को अपने सिर पर करूँ तो क्या हर्ज है ?)

अकबर ने दिलजोई करते हुए कहा—"अगर दुनिया के सभी लोग अमर रहते और एक के सिवाय कोई मृत्यु के रास्ते न जाता, तो भी उसके दोस्तों को सन्तोष करने के सिवाय चारा न था। पर इस सराय में तो कोई देर तक ठहरने वाला नहीं है, फिर अधीर होने से क्या फायदा ?"

अबुलफजल का एक ही पुत्र अब्दुर्रहमान था। बाप के बराबर क्या होता, पर वह तलवार का धनी तथा योग्य पुत्र था। माँ के मरने के दो साल बाद पौत्र हुआ जिसका नाम अकबर ने पशोतन रखा। यह न अरबी नाम था और न इस्लामी। इससे मालूम होता है कि उस समय किस तरह की हवा बह रही थी। यदि अकबर और अबुलफजल के झण्डे को आगे ले चलने वाली दो और पीढ़ियाँ मिल जातीं, तो हिन्दुस्तान मे हिन्दू-मुसलमान की समस्या न रह जाती और न पाकिस्तान बनता।

१५६१-६२ ई० (हिजरी १०००) में अबुलफजल को दो हजारी मन्सब मिला और उसके चार साल बाद ढाई हजारी। आजाद लिखते है—"वह अकबर का मुसाहिब, सलाहकार, विश्वासपात्र, मीर-मुन्शी (प्रधान सचिव), वाकया-निगार (इतिहास-लेखक), कानून-निर्माता, दीवान (शासन-विभाग)-अध्यक्ष ही नहीं, बल्कि उसकी जबान, नहीं-नही, उसकी अकल की कुंजी था। यह कहो सिकन्दर के सामने अरस्तू था। जबान से लोग कुछ भी कहें, अगर पूछें कि उसे इन दर्जों की लियाकत थी या नही, तो गैब से आवाज आयेगी कि उसका दर्जा इनसे बहुत बुलन्द था।"

३. कलम ही नहीं, तलवार का भी धनी

१५६७-६८ ई० (हिजरी १००६) में दक्खिन के मामले बहुत उलझ गये। दक्षिण की रियासतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अकबर ने कितने ही बड़े-बड़े सेनापतियों के साथ शाहजादा मुराद को भेजा था। मुराद तो शराब में बेहोश पड़ा रहा और सेनापतियों मे आपस में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गई। इससे एक साल पहले समरकन्द का उज्बक-सुल्तान अब्दुल्ला मर गया। उज्बकों ने बाबर को उसके मुल्क से मार भगाया था। अकबर के खून में यह अभिलाषा थी कि समरकन्द को फिर हाथ में किया जाये। यह बहुत अच्छा अवसर था, क्योंकि जिस तरह तैमूरी शाहजादों के आपस में लड़ने के कारण उज्बकों को समरकन्द पर हाथ साफ करने का मौका मिला था, वही मौका अकबर के लिए था। पर, इधर दक्षिण में भी उसने दिग्विजय छेड़ दी थी जिसे वह छोड़ नहीं सकता था। अकबर और उसके देश का यह दुर्भाग्य था कि उसे योग्य लड़के नहीं मिले। चाहता था, बड़े लड़के सलीम को फौज देकर तुर्किस्तान भेजे, पर वह भी शराब में मस्त रहने वाला था। दूसरे लड़के दानियाल के बारे में खबर

लगी की वह इलाहाबाद से आगे चला गया और उसकी नीयत अच्छी नहीं है। अकबर को तूरान का ख्याल छोड़कर पहले अहमदनगर की मुहिम सँभालनी थी जहाँ वीरांगना चाँदबीबी ने अकबर के सेनापतियों की नाक में दम कर रखा था। अकबर ने लाहौर से प्रस्थान किया और अन्त में अबुलफजल से कहा—"मन् मुतालऽकर्दऽचुनीं याफ्तऽ अम् कि-ब-मुहिमे-दकिंन या तू रवी वा मन्। ब इल्ला ब-हेच अन्जाम-कार सूरत पजार नेस्त, न ख्वाहद कर्द।" (सोच करके मैंने यह पाया कि दक्खिन के अभियान में या तू जाये या मैं। इसके अतिरिक्त ठीक नतीजे का कोई उपाय न है, न होगा।)

१५९८-९९ ई० (हिजरी १००७) में अकबर ने अबुलफजल को दक्षिण जाने का हुकुम देते हुए कहा—शाहजादा मुराद को अपने साथ ले जाओ। अगर दूसरे सेनापति वहाँ का काम सँभालने का जिम्मा अपने ऊपर ले लें तो ठीक, नहीं तो शाहजादा को भेज दो और खुद वही रह कर काम करो। अबुलफजल ने अब कलम की जगह तलवार सँभाली। बुरहानपुर के पास पहुँचे, तो असीरगढ़ का शासक बहादुर खाँ भी चार कोस नीचे उतर कर अगवानी के लिए आया। उसने बहुत आदर करते हुए मेहमानी करनी चाही, पर मेहमानी की फुर्सत कहाँ। बुरहानपुर उतरे, तो बहादुर खाँ भी वहाँ पहुँचा। बादशाही फौज के साथ शामिल होने के लिए कहा, लेकिन बहादुर खाँ ने बहानाबाजी की। हाँ, अपने बेटे कबीर खाँ को दो हजार फौज देकर साथ कर दिया।

अबुलफजल ने लिखा है—"दरबार के बहुत से अमीरों को मुझे यह काम देना पसन्द नहीं था। उन्होने हर तरह की रुकावट डाली।" पुराने-पुराने साथी अलग हो गये, पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और नई सेना का बन्दोबस्त किया। नसीब सहायक था, बहुत लश्कर जमा हो गया। अबुलफजल एक तजुर्बेकार सेनापति की तरह आगे बढ़ते गये। देवल गाँव होते बहुत तेजी के साथ वह शाहजादा की छावनी पर पहुँचे। शाहजादा की हालत खराब हो गई थी। उनके जाने के बाद ही वह मर गया। शाहजादा के मरने पर माल-दौलत सँभालने की लोगों को फिक्र पड़ी, दुश्मन ताक लगाये हुए थे। अबुलफजल ने इस स्थिति को सँभाला। शाहजादे के शव को शाहपुर में भेजकर वहीं दफना दिया। कुछ लोग अब भी तीन-पाँच करने के लिए तैयार थे। इसी समय पीछे छोड़ी तीन हजार फौज पास चली आई और गड़बड़ करने वालों का दिमाग ठंडा हो गया। अब्दुर्रहमान भी इस मुहिम में बाप के साथ था। बादशाही फौज को लेकर अबुलफजल अहमदनगर की तरफ बढ़े। रास्ते में गोदावरी गंगा (नदी) की धार चढ़ी हुई थी। सौभाग्य से वह जल्दी ही उतर गई और सेना आसानी से पार हो

गई । नदी के किनारे अहमदनगर की सेना की जब नजर पड़ी, तो उसके पैर उखड़ गये ।

अबुलफजल जब अहमदनगर मे इस प्रकार बिगड़ी को बनाने में लगे हुए थे, उसी समय सलीम (जहाँगीर) के दिमाग में खब्त हुआ और वह बाप से बिगड़ कर आगरा छोड़ गया । वह अयोग्य था, पर दूसरे पुत्र भी वैसे ही थे । बड़ी तपस्या और मिन्नतों के बाद अकबर को यह पहला पुत्र मिला था, इसलिए उसके प्रति उसकी अधिक मुहब्बत थी ।

अहमदनगर का सुल्तान बुरहानुल्मुल्क गद्दी से वंचित होकर अकबर की शरण में आया था और उसकी मदद से उसे फिर गद्दी मिली थी । आशा रखी जाती थी कि वह अकबर के प्रभुत्व को स्वीकार करेगा, पर दकिनी इसके लिए तैयार नहीं थे । अब बुरहानुल्मुल्क मर गया था । उसके पोते बहादुर को फूफी चाँद बीबी ने गद्दी पर बैठाकर सल्तनत की रक्षा के लिए तलवार उठाई थी । चाँद बीबी जितनी हिम्मत वाली थी, उतनी ही समझदार भी थी । दरबारियों के ऊपर वह विश्वास नहीं कर सकती थी । उसने अकबरी सल्तनत से इज्जत के साथ सुलह करने का ख्याल किया । लिखने पर अबुलफजल ने जवाब दिया—"अगर दूरदर्शिता और सौभाग्य के दरबार के साथ बँध जाओ तो इससे बेहतर क्या ?" चाँद बीबी ने अपने हाथ से इकरारनामा लिखकर भेजा —"जब तुम आमंग खाँ (अहमदनगर के सेनापति) को पराजित कर लोगे, तो किले की कुंजियाँ सुपुर्द कर दूँगी । मगर इतना हो कि दौलताबाद मेरी जागीर में रहे और यह भी इजाजत हो, चन्द रोज मैं वहाँ जाकर रहूँ और जब चाहूँ, दरगाह में हाजिर होऊँ । बहादुर को मैं दरबार में रवाना कर दूँगी ।"

लेकिन, यह कुछ नहीं हो सका । तलवार के जरिये अबुलफजल को विजय की कोशिश करनी पड़ी । अहमदनगर का मामला ऐसे ही चल रहा था कि असीरगढ़ की ओर ध्यान देना जरूरी आ पड़ा, क्योंकि असीरगढ़ के खिलाफ होने पर बादशाही फौज के रास्ते के कट जाने का डर था । असीरगढ़ दक्षिण की कुंजी था । पहाड़ के ऊपर यह बहुत ही दृढ़ दुर्ग बना था जो अपनी ऊँचाई और मजबूती के लिए बेमिसाल था । पहाड़ की कमर पर उत्तर की ओर माली का किला था । असीरगढ़ माली से होकर ही पहुँचा जा सकता था । इस किले के उत्तर में छोटा माली था । इसकी थोड़ी-सी दीवार चुनी हुई थी, बाकी पहाड़ की धार ही दीवार बन गई थी । दक्षिण तरफ कर्दा नाम का पहाड़ था जिसके पास की पहाड़ी साँपिन कहलाती थी । दुश्मनों ने हर तरह तोपों और सिपाहियों को लगा रखा था । असीरगढ़ को लोग अजेय कहते थे । बादशाही फौजें आक्रमण करती थीं, पर शत्रु का उससे कुछ नहीं बिगड़ता था । अबुलफजल को इस

अजेयगढ़ को सर करना था । उन्होंने एक चोर रास्ते का पता लगाया जिससे एकाएक माली की दीवार के नीचे जाया जा सकता था ।

अँधेरी रात थी, पानी बरस रहा था । इसी समय अबुलफजल एक टोली के साथ साँपिन पहाड़ी पर चढ़ने लगे, तीसरे पहर उसी चोर रास्ते से होकर फौज ने माली के फाटक को तोड़ दिया । कुछ सैनिक किले मे घुस गये और नगाड़ा बजाने लगे । अबुलफजल सुनते ही उधर दौड़े । पौ फटते सब वहाँ जा पहुँचे । दूसरी ओर से दीवार पर सीढ़ियाँ डालकर सबसे पहले अबुलफजल किले में कूद पड़े, फिर और बहादुर चीटियों की तरह पाँती से चढ़ गये । दुश्मन मजबूर हो असीरगढ़ की ओर भाग गया । माली पर अब अबुलफजल का कब्जा था । इस पराजय से बहादुर खाँ बहुत डर गया । उधर खबर आई कि दानियाल और खानखाना अब्दुर्रहीम ने अहमदनगर फतेह कर लिया । बहादुर खाँ की हिम्मत नहीं रह गई । उसने असीरगढ़ को समर्पित कर दिया । यह १६००-१६०१ ई० (हिजरी १००६) की बात है । इसी समय बहादुरी का एक और अद्‌भुत दृश्य अबुलफजल को देखने में आया । सुल्तान बहादुर गुजराती का एक सेवक परातम था । बहादुरशाह को जब मुगलों ने परास्त कर दिया, तो परातम मुगलों के सामने सिर न झुका असीरगढ़ में चला आया । किले की कुंजियाँ उसी के हाथ में थीं । अब वह बूढ़ा और अन्धा था । उसके बेटे जवान थे जो किले के बुर्जों की रखवाली करते थे । जब बूढ़े ने सुना कि बहादुर खाँ किले को मुगलो को सुपुर्द करने वाला है, तो उसे इतना धक्का लगा कि उसी वक्त उसके प्राण निकल गये । उसके बेटों ने कहा——इस सल्तनत को किस्मत ने जवाब दे दिया, हमारे लिए जीना निर्लज्जता है । यह कहकर उन्होंने अफीम खाकर अपनी जान दे दी ।

दक्षिण में असीरगढ़ और अहमदनगर की विजय असाधारण विजय थी । उसकी खुशी होनी ही चाहिए थी, लेकिन खबर लगी कि जहाँगीर ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर दिया है । बादशाह का हुकुम आया था, अहमदनगर जाकर खानखाना (रहीम) के साथ काम करो । वहाँ गये और खानखाना तथा अपने बेटे अब्दुर्रहमान के साथ काम को सँभाला । फिर बादशाह ने आने के लिए फरमान भेजा । सलीम कमजोर दिमाग का था, यह तो इसी से मालूम होगा कि वह नूरजहाँ के बराबर हाथ में खेलता रहा । एक बार ठीक हो जाने पर १६०२-३ ई० (हिजरी १०११) में फिर सलीम के दिल को लोगों ने बिगाड़ दिया । सलीम का ब्याह जयपुर के राजा मानसिंह की बहिन से हुआ था जिससे शाहजादा खुसरो पैदा हुआ । खुसरो पर दादा का बहुत स्नेह था । सलीम को लोगों ने समझा दिया कि बादशाह तुम्हें वंचित करके खुसरो को अपना युवराज बनायेगा और यह भी कि अबुलफजल का इसमें बड़ा हाथ है । अबुलफजल ने अकबर

के लिए अपना सब कुछ अर्पण कर दिया था, पर इसका यह मतलब नहीं था कि वह बाप-बेटे के मतभेद को बढ़ाने के कारण थे। पर, सलीम यही समझता था कि अबुलफजल मेरी चुगलियाँ खाता फिरता है । जब उसको मालूम हुआ कि बादशाह का फरमान गया है और अबुलफजल दरबार में लौट रहा है तो उसे और डर लगा । उसने अबुलफजल को अपने राह का सबसे बड़ा काँटा समझा ।

४. मृत्यु

सन् १६०२ ई० का १६ अगस्त था । अबुलफजल तेजी से आगरा की ओर भागते बर्रा सराय से आध और अन्तरी कस्बे से तीन कोस पर घोड़े पर सवार हो चले जा रहे थे । उनके साथ थोड़े से सवार थे । आगे धूल उड़ती देखकर अबुलफजल ने घोड़े की बाग रोककर ध्यान से देखना शुरू किया । गदाई खाँ पठान उनका भक्त सेवक पास में था । उसने प्रार्थना की : "ठहरने का समय नहीं है, दुश्मन बड़े जोर से आता मालूम हो रहा है । हमारे पास आदमी कम है। आप धीरे-धीरे लौट जाएँ । मैं अपने आदमियों को लेकर उनका रास्ता रोकता हूँ । हमारे मरते-मरते तक आप आसानी से अन्तरी पहुँच जायेंगे । फिर कोई डर नहीं रहेगा, क्योंकि वहाँ राजा राजसिंह तीन हजार सिपाहियों के साथ उतरे हुए हैं ।"

अबुलफजल ने कहा—"गदाई खाँ, तेरे जैसे आदमी के मुँह से यह बात सुनकर ताज्जुब होता है । क्या ऐसे समय यह सलाह देनी चाहिए ? जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर बादशाह ने मुझ फकीरजादे को मस्जिद के कोने से उठाकर सदर (प्रधानमंत्री) के मसनद पर बिठाया । क्या आज मैं उसकी प्रतिष्ठा को खाक में मिला दूँ और इस चोर के आगे से भाग जाऊँ ? फिर दूसरों के सामने कैसे मुँह दिखाऊँगा ? अगर जिंदगी खतम हो चुकी है और किस्मत में मरना लिखा है, तो क्या हो सकता है ?"

यह कहते निर्भय हो अबुलफजल घोड़े की लगाम उठाकर चले । गदाई खाँ फिर दौड़ कर आगे आया और बोला—"सिपाहियों को ऐसे मौके बहुत पड़ते हैं । अड़ने का यह वक्त नहीं है । अन्तरी में जा वहाँ के लोगों को साथ ले फिर आकर बदला लेना सैनिक दाँव-पेंच है ।"

लेकिन, अबुलफजल उसके लिए तैयार नहीं हुए ।

शाहजादा सलीम ने अबुलफजल का काम तमाम करने की सोची थी । उसे बतलाया गया, अबुलफजल का रास्ता बुन्देलों के देश के बीच से है । ओरछा के राजा नरसिंहदेव का बेटा मधुकर आजकल बगावत पर उतरा हुआ है । वह

काम में मदद कर सकता है। सलीम ने मधुकर को लिखा कि यदि तुम अबुलफजल को खतम कर दो, तो तख्त पर बैठने पर हम तुम्हे मालामाल कर देंगे।

मधुकर अपने आदमियों को लिए शेख के पास पहुँचा। अबुलफजल ५१ साल के थे, पर उनके खून में उस वक्त जवानी दीख पड़ी। वह तलवार पकड़कर मुकाबिले के लिए खड़े हो गये। साथी पठान भी जान पर खेले। अबुलफजल के शरीर पर कई घाव लगे। एक बरछे की चोट ऐसी लगी कि वह घोड़े पर से गिर पड़े। उनके अनुयायी लडते रहे। बुन्देलों ने अन्त में अबुलफजल के निर्जीव शरीर को एक पेड़ के नीचे पाया। यहाँ आस-पास बहुत-सी लाशें पड़ी थीं। मधुकर ने अबुलफजल का सिर काट कर सलीम के पास भेजा। शाहजादे ने उसे पाखाने में डलवा दिया। कई दिनों वह उसी में पड़ा रहा। सलीम जहाँगीर के नाम से तख्त पर बैठा। उसने ओरछा के राजा मधुकर को तीनहजारी मन्सब दिया। *अबुलफजल को अन्तरी में दफना दिया गया। ग्वालियर से पाँच कोस पर स्थित* इस छोटे से कस्बे में आज भी हमारे इतिहास का अद्वितीय राजनीतिज्ञ, अपने देश का परमभक्त सो रहा है। परतंत्र मूढ़ भारत ने उसकी कदर नहीं की, किन्तु क्या अब भी अन्तरी को उसी तरह गुमनाम रहना है ?

अकबर को यह दु:खद खबर पहुँचाने का साहस किसको हो सकता था ? सब यही सोचते थे कि कैसे बादशाह के पास इसे कहें। अकबर के लिए अबुलफजल अपने बहिश्चर प्राण थे। वह जानता था, यही मेरा सबसे घनिष्ठ हितैषी है। तैमूर-वंश में रिवाज था-जब कोई शाहजादा मर जाता, तो उसकी खबर बादशाह के सामने साफ तौर से नहीं पहुँचाई जाती, बल्कि मृत व्यक्ति का प्रतिनिधि हाथ पर काला रुमाल बाँधकर बादशाह के सामने चुपचाप खड़ा होता। बादशाह समझ जाता कि उसका स्वामी मर गया। अबुलफजल का वकील (प्रतिनिधि) सिर झुकाये काले रुमाल से हाथ बाँधे धीरे-धीरे डरता हुआ तख्त के पास गया। अकबर ने बहुत हैरान होकर पूछा—"खैर बाशद्?" (कुशल तो है ?) वकील ने असली बात बतलाई, तो बादशाह की ऐसी हालत हो गई, जैसी किसी के अपने बेटे के मरने पर भी न होगी। कई दिन तक न उसने दरबार किया और न किसी अमीर से बात की। अफसोस करता और रोता था। बार-बार छाती पर हाथ मारता और कहता था —"हाय, हाय शेखू जी, बादशाहत लेनी थी, तो मुझे मारना था, शेख को क्या मारा।" अकबर सलीम को शेखू जी कहता था।

५. अबुलफजल का धर्म

अबुलफजल का धर्म मानव-धर्म था। वह मानवता को धर्मों के अनुसार बाँटने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई उनके लिए सब

बराबर थे। बादशाह का भी यही मजहब था। जब लोगो ने ईसाई इंजील की तारीफ की, तो उसने शाहजादा मुराद को इंजील पढने के लिए बैठा दिया और अबुलफजल तर्जुमा करने के लिए नियुक्त किये गये। गुजरात से अग्निपूजक पारसी अकबर के दरबार में पहुँचे। उन्होंने जर्थुस्त के धर्म की बाते बतलाते आग की पूजा की महिमा गाई। फिर क्या था, अबुलफजल को हुक्म हुआ—"जिस तरह ईरान में अग्नि-मन्दिर बराबर प्रज्वलित रहते हैं, यहाँ भी उसी तरह हो। दिन-रात अग्नि को प्रज्वलित रखो।" आग तो भगवान् के प्रकाश की ही एक किरण है। अग्नि-पूजा में हिन्दू भी शामिल थे, इसलिए उन्होंने इसकी पुष्टि की होगी, इसमें सन्देह नही। जब शेख मुबारक मर गये, तो अबुलफजल ने अपने भाइयो के साथ भद्र (मुंडन) करवाया। अकबर ने खुद मरियम मकानी के मरने पर भद्र कराया था। लोगो ने समझा दिया था कि यह रस्म हिन्दुओं में ही नहीं, बल्कि तुर्क सुल्तानों में भी थी। यही वह बातें थीं जिनके कारण कट्टर मुसलमान अबुलफजल को काफिर कहते थे। पर, न वह काफिर थे और न ईश्वर से इन्कार करने वाले। रात के वक्त वह संतों-फकीरों की सेवा में जाते और उनके चरणों में अशर्फियाँ भेंट करते। बादशाह ने कश्मीर में एक विशाल इमारत बनावाई थी जिसमें हिन्दू, मुसलमान सभी आकर पूजा-प्रार्थना करते। अबुलफजल ने इसके लिए वाक्य लिखा था—

"इलाही, ब-हर खाना कि मी निगरम्, जोयाय-तू अन्द। व ब-हर जबाँ कि मी शुनवम्, गोयाय तू।" (हे अल्ला, मैं जिस घर पर भी निगाह करता हूँ, सभी तेरी ही तलाश में हैं और जो भी जबान मै सुनता हूँ, वह तेरी बात करती है।) यह भी लिखा है—

"ई खाना ब-नीयते ई तलाफे-कलूब मोहिदाने-हिन्दोस्तान व खसूसन् व माबूद्-परिस्तान अर्सये-कश्मीर तामीर याफ्ता।" (यह घर हिन्दुस्तान के एकेश्वरवादियों, विशेषकर कश्मीर के भगवत्-पूजकों के लिए बनाया गया।)

अबुलफजल यदि आज पैदा हुए होते, तो वह निश्चय ही अल्ला और ईश्वर से नाता तोड़ देते। पर, अपने समय में वह यहाँ तक नहीं पहुँच सके थे। वह इतना ही चाहते थे कि सभी मनुष्य आपसी भेदभाव को छोड़ कर अपने-अपने ढंग से भगवान् की पूजा करें।

६. कृतियाँ

अबुलफजल अगर और कुछ न करते और केवल अपनी लेखनी को ही चला कर चले गये होते, तो भी वह एक अमर साहित्यकार माने जाते। उन्होंने कई विशाल और अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं जो आज भी हमें उनके काल

और विचारों के बारे मे बहुत-सी बातें बतलाते मार्ग-प्रदर्शन करते हैं । 'अकबरनामा' और 'आईने-अकबरी' उनके अद्भुत और अमर ग्रन्थ है ।

१. आईने-अकबरी—'अकबरनामा' को उन्होने तीन खण्डों में लिखा । इसके पहिले-दूसरे खंड ही 'आईन-अकबरी' है । पहले खण्ड में तैमूर के वंश का संक्षेप में, बाबर का उससे अधिक, हुमायूँ का उससे भी विस्तृत वर्णन है । फिर अकबर के पहले १७ साल (१५५६-७३ ई०) तक का हाल है । अकबर के ३० वर्ष के होने तक की बातें इसमें आई है । दूसरे खण्ड में अकबर के राज्य-संवत्सर (सन्‌जलूस) १८ से ४६ (१५७४-१६०२ ई०) की बाते है । अबुलफजल की मृत्यु के तीन साल बाद अकबर का देहान्त हुआ । इस वक्त की घटनाएँ 'तारीख अकबरी' में है । पहले खण्ड की भूमिका में अबुलफजल ने लिखा है—"*मै हिन्दी हूँ, फारसी में लिखना मेरा काम नहीं । बड़े भाई के भरोसे यह काम शुरू किया था;* पर अफसोस, थोड़ा ही लिखा था कि उनका देहान्त हो गया । सिर्फ दस साल का हाल उन्होंने देख पाया था ।"

२. अकबरनामा—'अकबरनामा' ही इसका तीसरा खण्ड है जिसे अबुलफजल ने १५९७-९८ ई० (हिजरी १००६) में समाप्त किया था । यह एक ऐसी किताब है जिसकी जरूरत अँग्रेजों ने १९वीं सदी के अन्त मे महसूस की और अनेक गजेटियर लिखे । अकबर सल्तनत का यह विशाल गजेटियर है । इसमें हरेक सूबे, सरकार (जिला), परगने का विस्तृत वर्णन और आँकड़े दिये गये हैं । उनके क्षेत्रफल, उनका इतिहास, पैदावार, आमदनी-खर्च, प्रसिद्ध स्थान, नदियाँ-नहरें-नाले-चश्मे, लाभ-नुकसान का उल्लेख है । सैनिक-असैनिक प्रबन्ध, अमीरों और उनके दर्जों की सूची, विद्वानों, पंडितों, कलाकारों, दस्तकारों, संत-फकीरों, मन्दिरों-मस्जिदों आदि की बातों को भी नहीं छोड़ा गया है और साथ ही हिन्दुस्तान के लोगों के धर्म, विश्वास और रीति-रिवाज का भी जिक्र किया है । जिस चीज की महत्ता को १९वीं सदी में अँग्रेजों ने समझा, उसे अबुलफजल ने साढ़े तीन सौ वर्ष पहले समझकर लिख डाला । 'अकबरनामा' में अबुलफजल आलंकारिक भाषा इस्तेमाल करते हैं, पर 'आईने-अकबरी' में उनकी भाषा प्रभावशाली होते हुए भी बहुत सीधी-सादी हो जाती है । दोनों पुस्तकें बहुत विशाल हैं । (अबुलफजल की हरेक कृतियों का हिन्दी में अनुवाद होना आवश्यक है ।)

३. मुकातिबाते अल्लामी—अबुलफजल को अल्लामी (महान पण्डित) कहा जाता था । इस पुस्तक में उनके पत्रों का संग्रह है । इसके तीन खण्ड हैं । पहले खण्ड में वे पत्र हैं जिन्हें अकबर ने ईरान और तूरान (तुर्किस्तान) के बादशाहों के नाम अबुलफजल से लिखवाये थे । इसी में बादशाही फरमान

भी दर्ज है । समरकन्द का शासक उज्बक सुल्तान अब्दुल्ला बहुत ही प्रतापी, खान और अकबर का खानदानी दुश्मन भी था । वह कहता था—"अकबर की तलवार तो नहीं देखी, लेकिन मुझे अबुलफजल की कलम से डर लगता है ।" दूसरे खंड में अबुलफजल के अपने खत है जो दरबार के अमीरों, अपने मित्रों और सम्बन्धियों को उन्होने लिखे । तीसरे खण्ड मे उन्होंने पुराने ग्रंथकारों की पुस्तको के ऊपर अपने विचार प्रकट किये है । इसे साहित्यिक समालोचना कह सकते हैं ।

४. **ऐयारेदानिश**—पंचतंत्र अपने गुणो के लिए दुनिया में मशहूर है । छठी सदी में नौशेरवाँ ने इसका अनुवाद पहलवी भाषा में कराया था । अब्बासी खलीफो के जमाने में इसे अरबी मे किया गया । सासनियों के समय फारसी के महान तथा आदिकवि रूदकी ने उसे पद्यबद्ध किया । मुल्ला हुसेन वायज ने फारसी में करके इसका हिन्दुस्तान में प्रचार किया । अकबर ने उसे सुना । जब मालूम हुआ कि मूल संस्कृत पुस्तक अब भी मौजूद है, तो कहा कि घर की चीज है, सीधे क्यों न अनुवाद करो । अबुलफजल ने इस पुस्तक को 'ऐयारेदानिश' के नाम से सन् १५८७-८८ ई० (हिजरी ६६६) में समाप्त किया । मुल्ला बदायूँनी इसको भी लेकर अकबर पर आक्षेप किये बिना नहीं रहे और कहते हैं : इस्लाम की हर बात से उसे घृणा है, हर इल्म (शास्त्र) से बेजारी है । जबान भी पसन्द नहीं, हरफ भी प्रिय नहीं । मुल्ला हुसेन वायज ने कलीला-दमना (करकट दमनक) का तर्जुमा 'अनवार सुहेली' कैसा अच्छा किया था । अब अबुलफजल को हुक्म हुआ कि इसे साधारण साफ नंगी फारसी में लिखो जिसमें उपमा-अतिशयोक्ति भी न हो, अरबी वाक्य भी न हो ।

५. **रुकआते-अबुलफजल**—यह अबुलफजल के रुक्कों (लघु-पत्रों) का संग्रह है । इसमें ४६ रुक्कों के रूप में बहुत-सी ऐतिहासिक, भौगोलिक और दूसरी महत्त्व की बातें सीधी-सादी भाषा में दर्ज हैं । जिनके नाम रुक्के लिखे गये हैं, उनमें कुछ हैं—अब्दुल्ला खान, दानियाल, अकबर, मरियम मकानी (अकबर की माँ), शेख मुबारक, फैजी, उर्फी (मार्सिया फैजी) ।

६. **कश्कोल**—कश्कोल फकीरों के भिक्षा-पात्र को कहते हैं जिसमें वह हर घर से मिलने वाले पुलाव, भुने चने, रोटी, दाल, सूखा-तर रोटी का टुकड़ा, मिठ्ठा-सलोना-खट्टा-कड़वा सभी कुछ डाल लेते हैं । अबुलफजल जो भी सुभाषित सुनते, उन्हें जमा करते जाते । इसको ही कश्कोल नाम दिया गया । इसे देखने से अबुलफजल की रुचि का पता लगता है ।

७. सन्तान

अबुलफजल की तीन बीबियाँ थीं। पहली हिन्दुस्तानी थी जिसके साथ माँ-बाप ने शादी कर दी थी। दूसरी कश्मीरन थी जो कश्मीर की यात्राओं में मिली थी। तीसरी बीबी ईरानी थी जिसकी जरूरत के बारे मे आजाद कहते है—"यह बीबी केवल भाषा की शुद्धता और मुहावरों को समझाने की गरज से की होगी। फारसी का लिखना अबुलफजल का काम था। वह भाषा का परखने वाला था। हजारों मुहावरे ऐसे होते हैं जो अपने स्थानों पर अपने आप निकल आते है। उन्हे न पूछनेवाला पूछ सकता है, न बतानेवाला बता सकता है। भाषाभाषी उसको यो ही बोल जाता है।...निश्चय ही जो बातें अपनी मातृभाषा के बारे में आदमी जानता है, पुस्तको से पढ़ कर उसके बारे में उतना नहीं जान सकता। ईरानी बीबी की जबान इसमें सहायक रही होगी।"

अबुलफजल का एक ही लड़का अब्दुर्रहमान था। जहाँगीर ने यद्यपि बाप को बुरी तरह मरवाया, तथापि बेटे पर उसका गुस्सा नहीं उतरा। उसने अब्दुर्रहमान को दो-हजारी मन्सब और अफजल खाँ की पदवी प्रदान की और अपने गद्दी पर बैठने के तीसरे साल इसके मामा इस्लाम खाँ की जगह पर बिहार का सूबेदार बना गोरखपुर की जागीर दी। अब्दुर्रहमान पटना में रहता था। बाप के मरने के ग्यारह वर्ष बाद वह मरा। उसके लड़के पशोतन को भी जहाँगीर ने मन्सब दिया था और शाहजहाँ के वक्त में वह एक बड़ा अफसर था।

मुल्ला बदायूँनी (१५४०-९६ ई०)

१. बाल्य

मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी अपने समय के महान विद्वान और कलम के जबर्दस्त धनी थे। उन्होंने बहुत लिखा है और ऐसा लिखा है जो किसी भी पुस्तकालय के लिए महार्ध आभूषण हो सकता है। शमशुल-उल्मा मुहम्मद हुसेन आजाद बदायूँनी के मुल्लापन और धार्मिक कट्टरता के सख्त विरोधी थे, पर उन्होंने भी उनकी योग्यता को स्वीकार करते लिखा है—"राज्य की साधारण क्रान्तियों और सैनिक अभियानो से कोई भी व्यक्ति परिचित हो सकता है, लेकिन राज्य के स्वामी और राज्य के स्तम्भों में से हरेक के चाल-व्यवहार, उनके गुप्त और प्रकट भेदो से जितना बदायूँनी परिचित थे, उतना दूसरा न होगा। इसका कारण यह है कि अपने ग्रंथ और विद्या सम्बन्धी प्रवीणता, समाज की परिज्ञता आदि गुण उनमें थे। अकबर के एकान्त निवास और दरबार में वह हमेशा पास में जगह पाते और अपने ज्ञान तथा कहने के सुन्दर ढंग से दरबार को दोस्ताना वार्तालाप से गुलजार करते थे। इसके साथ आलिम, संत और शेख तो उनके अपने ही (घर के) थे। तारीफ यह कि उन्हीं में रहते थे, लेकिन स्वयं उनके दुर्गुणों से लिप्त न थे। दूर से देखने वाले थे, इसलिए उन्हें गुण-अवगुण अच्छी तरह दिखलाई पड़ता था। ऊँची जगह पर खड़े होकर देखते थे, इसलिए हर जगह की खबर और हर खबर का मर्म उन्हें मालूम होता था। वह अकबर, अबुलफजल, फैजी, मखदूमुल्मुल्क और सदर (नबी) से नाराज थे, इसलिए जो कुछ हुआ, उसे उन्होंने साफ-साफ लिख दिया। असल बात तो यह है कि लेखन-शैली का भी उनका एक ढंग है। यह गुण उनकी कलम में भगवत्-प्रदत्त था। उनके इतिहास में यह कमी जरूर है कि अभियानों और विजयों का विवरण नहीं मिलता और घटनाओं को भी वह क्रमबद्ध बयान नहीं करते। लेकिन, उनके गुण की तारीफ किस कलम से लिखूँ? उनका इतिहास अकबरी युग की एक तसवीर है।...उनकी बदौलत हमने सारे अकबरी युग का दर्शन किया। इन सब बातों के होते भी जो अभाग्य उनकी उन्नति में बाधक हुआ, वह यही था कि जमाने के मिजाज से अपना मिजाज न मिला सके। जिस बात को खुद बुरा समझते थे, उसे चाहते थे कि किसी तरह वह इसी तरह हो जाय।...जिस तरह दिल में जोश था, उसी तरह उनकी जबान में जोर था। इसलिए ऐसे मौके पर किसी दरबार और जलसे में बिना बोले नहीं रह सकते थे। इस आदत ने उनके लिए बहुत से दुश्मन प्रदान किए।

..."असफलताओं का ही उन्हें सामना करना पड़ा, पर "कलम और कागज पर उनकी हुकूमत है, जहाँ मौका पाते है, अपनी घिसी हुई कलम से जखम लगा देते हैं। ऐसा जखम, कि जो कयामत तक न भरे।" "मुल्ला बदायूँनी शरीयत की पाबन्दी में कट्टर मुल्लाओं से अपने को चार कदम आगे रखना चाहते थे; लेकिन, ऐसा सोचते भी गाते-बजाते थे, वीणा पर हाथ दौड़ाते थे। दो-दो हाथ शतरंज खेलते थे जिसे कहते है हरफनमौला। वह अपनी पुस्तक में हर घटना और हर बात को निहायत खूबसूरती से कह जाते है और ऐसा चित्र खींचते है कि कोई बात नहीं छूटती। उनके इतिहास ("मुंतखिबुत्-तवारीख") की हरेक बात चुटकुला और हर वाक्य लतीफा (मसल) है। उनकी लेखनी के छिद्र में हजारों तीर और खंजर है। उनके लेख में वाक्यों के सजाने का काम नहीं है। हरेक बात को बेतकल्लुफ लिखते चले जाते हैं। उससे जिधर चाहते हैं, सुई चुभा देते हैं, जिधर चाहते हैं नश्तर, जिधर चाहते है, छुरी लगा देते हैं। यदि चाहते है, तो तलवार का भी एक हाथ झाड़ देते हैं। यह सब इतनी खूबसूरती से कि देखने वाला तो अलग, जखम खाने वाला भी लोट-पोट हो जाता है। अपने ऊपर भी व्यंग्य करने और बनाने से बाज नहीं आते। सबसे बड़ी तारीफ यह है कि असली हाल लिखने में वे दोस्त और दुश्मन का जरा भी भेद नहीं रखते।"

मुल्ला बदायूँनी की "मुंतखिबुत्-तवारीख" (इतिहास-संग्रह) अकबर के जमाने में चुपचाप लिखी गई थी। यह निश्चित ही था कि यदि उसकी भनक अकबर और उसके दरबारियों को लगती, तो मुल्ला की खैरियत नहीं थी। उन्होंने उसे बहुत यत्न से छिपा करके रखा। अकबर के जमाने में पता नहीं लगा। जहाँगीर के जमाने में मालूम हुआ। उसने उसे देखा भी और हुकुम दिया कि इसने मेरे बाप को बदनाम किया है, इसके बेटे को कैद करो और घर लूट लो। बदायूँनी के वारिस गिरफ्तार होकर आये। उन्होंने कहा—"हम तो उस समय बच्चे थे, हमें खबर नहीं थी।" उन्होंने जमानत दी कि हमारे पास से यदि पुस्तक निकले, तो चाहे जो सजा दी जाय। पुस्तक-विक्रेताओं से भी मुचलके लिये गये कि न वह इस तवारीख को खरीदें, न बेचें। खफी खाँ ने शाहजहाँ से मुहम्मदशाह के जमाने तक की प्राय: एक सदी को देखा था। वह बतलाता है कि सारी कड़ाई के रहते भी राजधानी में पुस्तक-विक्रेताओं की दुकानों पर सबसे ज्यादा तारीफ बदायूँनी ही नजर आती थी।

मुल्ला बदायूँनी महान विद्वान थे, इसका कुछ पता आजाद की पंक्तियों से मालूम होगा। यद्यपि फैजी की तरह वह संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे, तथापि उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'महाभारत', 'रामायण' जैसे संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद

पडितों की सहायता से किया था। इससे यह भी मालूम होगा कि उनकी विद्वता बहुमुखी थी।

मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी अभिमान के साथ कहते हैं कि मेरा जन्म शेरशाह बादशाह के काल मे हुआ था। वह अकबर के काफिराना तौर-तरीके से बेजार थे। ख्याल करते थे कि शेरशाह दीन का सच्चा बादशाह था। पर, अकबर की बहुत-सी खुराफातो का आरम्भ करने वाला शेरशाह ही था। मुल्ला को बदायूँनी कहते है जिससे सन्देह होता है कि वह बदायूँ मे पैदा हुए। पर बात ऐसी नहीं थी। वह वस्तुतः आगरा से अजमेर जाने वाले रास्ते के पाँचवें पड़ाव बिसावर के पास अवस्थित टोंडा गाँव मे पैदा हुए जिसे टोडाभीम भी कहा जाता था। उस समय यह सरकार (जिला) आगरा मे था और कभी अजमेर के सूबे में भी। इनकी ननिहाल बयाना में थी जहाँ साम्यवाद का शहीद शेख अल्लाई पैदा हुआ था। मुल्ला खलीफा उमर के वंश के फारुकी शेख थे। अपने बुजुर्गों का उन्होंने विस्तार के साथ वर्णन नहीं लिखा है। घर अमीर नही था। हाँ, ननिहाल और पिता का घर विद्या और दीन के बारे में गरीब नहीं था। इनके पिता हामिदशाह पुत्र मलूकशाह सम्भल के सत शेख मंजू के मुरीद थे। पिता ने मामूली अरबी-फारसी की किताबें पढी थीं। इनके नाना मखदूम अशरफ सलीमशाह के एक पंजहजारी सरदार की फौज में फौजी अफसर थे और उसी सम्बन्ध मे सूबा आगरा के बयाना कस्बे के पास बिजवाड़ा मे रहते थे। १५४५ से १५५३ ई० (हिजरी ६६२-१०००) तक शेख अब्दुल कादिर अपने पिता मलूकशाह के पास रहे। पाँच साल की उमर में सम्भल में रह कुरान आदि पढ़ते रहे; फिर नाना ने अपने पास बुला लिया और व्याकरण तथा कितनी ही दूसरी पुस्तकें खुद पढ़ाई। दोनों खानदानों में धर्म की ओर लोगों का ज्यादा झुकाव था। सैयद मुहम्मद मखदूम इनके पीर (दीक्षागुरु) भी वहीं रहते थे। वह बड़े सुन्दर कुरानपाठी थे। उनसे इन्होंने बड़े मधुर स्वर के साथ कुरान पढ़ना सीखा। यह ६६० हिजरी (१५५२-१५५३ ई०) का साल था, सलीमशाह सूरी की हुकूमत थी। प्रसिद्ध कुरानपाठी का शिष्य होना इनके लिए बड़ा लाभदायक साबित हुआ। इसी के कारण अकबरी दरबार में पहुँच कर यह बादशाह से सात दिन के सात इमामों में से एक बने और 'इमाम-अकबरशाह' कहलाये।

लिखते है : बारह साल की उमर थी। पिता ने सम्भल मैं आकर मियाँ हातिम सम्भली की सेवा स्वीकार की। मियाँ सम्भली की खानकाह (मठ) में १५५३-५४ ई० (हिजरी ६६१) में पहुँच कर कितने ही धार्मिक ग्रंथ पढ़े और उनसे दीक्षा ली। मियाँ ने एक दिन पिता से कहा कि हम तुम्हारे लड़के को अपने उस्ताद मियाँ शेख अजीजुल्ला साहब की तरफ से टोपी-सेली देते हैं जिसमें वह

वाह्य विद्या से भी परिचित हो जाये। इसी का फल यह था कि फिका (धर्मशास्त्र) को बदायूँनी ने खूब पढा। यद्यपि तकदीर पीछे उन्हे दूसरी ओर खीच ले गई, लेकिन मुस्लिम धर्मशास्त्र उनका प्रिय विषय रहा।

शेख सादुल्ला नहवी व्याकरण के बहुत जबरदस्त आचार्य थे। यह बयाना मे रहते थे। नाना के पास आने पर अब्दुल अजीज ने उनसे 'काफिया' की पुस्तक पढी। जब हेमू की सेना लूटती-पाटती बिसावर पहुँची, उस वक्त अब्दुल अजीज सम्भल मे थे। बिसावर लुट कर बरबाद हो गया। बडे अफसोस से लिखते है : पिता का पुस्तकालय भी लुट गया। दूसरे साल अकाल पडा। लोगो की दयनीय दशा देखी नहीं जाती थी। हजारों आदमी भूखो मर रहे थे। आदमी को आदमी खा रहा था।

२. आगरा में

सम्भल या बयाना मे रहकर अधिक पढने की गुंजाइश नही थी, इसलिए ५७ वर्ष की उमर मे, १५५८-५६ ई० (हिजरी ६६६) में बाप-बेटे वतन छोड कर आगरा पहुँचे। वहाँ बेटे ने मीर सैयद मुहम्मद की टीका 'शम्शिया' पढ़ी। मीर सैयद मुहम्मद मीर अली हमदानी के पुत्र थे जिनका कश्मीर को मुसलमान बनाने में बहुत बड़ा हाथ था। उस समय अपने देश से निर्वासित बुखारावासी काजी अबुलमुवाली आगरा में रहते थे। समरकन्द और बुखारा में दर्शन और तर्क का बहुत जोर हो गया था। लोग दीनदार मुसलमानों का मजाक उड़ाते कहते—"गदहा है गदहा!" जब कोई मना करता, तो कहते—"हम इसे तर्क से सिद्ध कर सकते हैं। देखो, प्रत्यक्ष ही है कि यह हैवान नहीं है। हैवान सामान्य है, इंसान विशेष जब हैवानपन (सामान्य) इसमें नहीं है, तो इसका विशेष इंसान भी इसमे नहीं हो सकता। फिर गदहा नहीं तो क्या है?" यह बातें इतनी हद से गुजर गईं कि वहाँ के शेखों-सूफियो ने फतवा लिखकर खान अब्दुल्ला के सामने रखा और तर्कशास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना हराम कर दिया। इसी सिलसिले में काजी अबुलमुवाली और दूसरे कितने ही वहाँ से निकाले गये। अब्दुल कादिर ने अबुलमुवाली के पास भी पाठ पढ़े। नकीब खाँ इस समय उनके सहपाठी थे। यह परिचय उनके बहुत काम आया, क्योंकि पीछे नकीब खाँ अकबर के पुस्तक-पाठी हो गये।

फैजी और अबुलफजल के पिता शेख मुबारक की विद्या की उस समय बड़ी ख्याति थी, यद्यपि मुल्ला लोग उन्हें काफिर कहने से भी बाज नहीं आते थे। अब अब्दुल कादिर उनके शिष्य हुए। वह अपने गुरु के बारे में कहते हैं : "मैंने जवानी में चन्द साल उनके चरणों में पाठ पढ़े। उनका हक मुझ पर बहुत है।" फैजी और अबुलफजल उनके गुरु-पुत्र थे। यदि वह पुत्र के तौर पर मुबारक की विद्या और प्रतिभा के धनी थे, तो अब्दुल कादिर शिष्य के तौर पर थे। लेकिन,

जहाँ पुत्रों ने पिता के दायभाग के तौर पर उनके स्वतंत्र विचारो को प्राप्त किया था, वहाँ अब्दुल कादिर मुल्ला के मुल्ला ही रहे जिसके कारण उतना आगे बढ़ नहीं सके, यद्यपि अकबर के दरबार मे पहुँचने मे इससे बहुत आसानी हुई ।

आगरा में सरदार मेहर अली बेग ने अब्दुल अजीज और उनके पिता को अपने पास बड़े प्रेम से रखा । शेरशाही में अदली खान भी था जिसका नौकर जमाल खॉ चुनारगढ़ (जिला मिर्जापुर) का हाकिम था । उसने स्वयं अकबरी दरबार में प्रार्थना की कि कोई शाही अमीर आये, तो मैं उसे किला समर्पित कर दूँगा । बैरम खॉं ने मेहर अली बेग को इसके लिए पसन्द किया । बेग ने मुल्ला अब्दुल कादिर से कहा—तुम भी चलो । यह स्वयं मुल्ला और मुल्ला के बेटे थे । चुनार जाकर किसी आफत में पड़ने की जगह उन्होंने आगरा में रह कर अपनी पढ़ाई जारी रखना अच्छा समझा । बेग ने मलूकशाह और शेख मुबारक को मजबूर करते हुए कहा कि यदि यह न चलेंगे, तो मैं भी जाने से इन्कार कर दूँगा । आखिर अब्दुल कादिर को मंजूर करना पड़ा । लिखते हैं—

"ऐन बरसात थी । लेकिन दोनों बुज़ुर्गों की बात मानना आवश्यक समझा । नई यात्रा थी, तो भी पढने में विघ्न डाला और सफर के खतरे और भय को उठाया । कन्नौज, लखनौती, जौनपुर, वाराणसी (बनारस) की सैर करते दुनिया की विचित्रताओं को देखते, जगह-जगह आलिमों और शेखों की सोहबतों से लाभ उठाते चले । हम चुनार पहुँचे, तो जमाल खाँ ने बहुत दिखलावे के साथ खातिरदारी की । लेकिन, पता लगा कि दिल में दगा है । मेहर अली बेग हमें वहीं छोड़ स्वयं मकानों की सैर के बहाने सवार हो कान झाड़ कर निकल गया । जमाल खाँ बदनामी से घबराया । हमने कहा—"कोई हरज नहीं, किसी ने उनके दिल में कुछ शंका डाल दी होगी । अच्छा, हम स्वयं समझा-बुझा कर ले आते हैं ।" इस बहाने मुल्ला भी वहाँ से चम्पत हुए । चुनार का किला पहाड़ के ऊपर है, नीचे गंगा बड़े जोर-शोर से बहती है । नाव पर जा रहे थे । बरसाती धारा ने उसे खींच लिया ।" मुल्ला उस घबराहट के बारे में लिखते हैं—"नाव बड़े खतरनाक भँवर में जा पड़ी और किले की दीवार के पास पहाड़ी छोर पर लहरों में फँस गई । हवा भी ऐसी विरुद्ध चलने लगी कि मल्लाह कुछ नहीं कर सकते थे । अगर जंगल और नदी का भगवान् कर्णधार न बनता, तो आशा की नौका आफत के भँवर में पड़ कर मृत्यु के पहाड़ से टकरा जाती । नदी से निकल कर जंगल में पहुँचे । पता लगा, ग्वालियर के संत शेख मुहम्मद गौस पहाड़ी के किनारे इसी जंगल में भजन करते थे । उनका एक रिश्तेदार मिला । उसने एक गुफा दिखलाई और कहा—"यहीं शेख मुहम्मद गौस पत्ती खाकर बारह वर्ष तक तपस्या करते रहे ।"

आगरा में रहते तीन साल हुए थे, जबकि १५६१-६२ ई० (हिजरी ६६६) में पिता चल बसे। उनके शव को बिसावर में ले जाकर दफनाया। अगले साल मुल्ला सहसवान के इलाके में सम्भल (मुरादाबाद) में थे। वहीं चिट्ठी मिली कि नाना मखदूम अशरफ भी बिसावर में मर गये। दो वर्ष के भीतर उनको अपने सबसे प्रिय और मेहरबान पिता और नाना की जुदाई सहनी पड़ी। अब दुनिया उनको काटने दौड़ने लगी। "मुझसे ज्यादा कोई शोकग्रस्त नहीं। दो गम हैं, दो शोक हैं और मैं अकेला हूँ। एक सिर है, दो खुमार (नशा-उतार) की ताकत कहाँ से लायें ? एक सीना, दो बोझ कैसे उठायें ?"

३. टुकड़िया की सेवा में

हुसेन खाँ टुकड़िया हुमायूँ के वक्त से एक बहुत विश्वासपात्र सेनापति रहता चला आया था। पहले की सेवाओं और कुर्बानियों के ख्याल से अकबर उस पर बहुत मेहरबान था। लेकिन, टुकड़िया धर्मान्ध था, उसे औरंगजेब के जमाने में पैदा होना चाहिए था। जिस वक्त अकबर हिन्दू-मुसलमानों को एक करने के काम में जुटा हुआ था और स्वयं आधा हिन्दू बन गया था, उसी समय टुकड़िया कुमाऊँ-गढ़वाल के मन्दिरों को तोड़ता-लूटता लोगों को तलवार के घाट उतार रहा था। मुल्ला बदायूँनी के लिए वह आदर्श पुरुष था। उसके पास हिजरी ९७३-८१ (सन् १५६५-७३ ई०) तक, आठ वर्ष रहे। एटा जिले के पटियाली गाँव में महाकवि अमीर खुसरो पैदा हुए। वहीं पटियाली का इलाका हुसेन खाँ को जागीर में मिला था। १५६५-६६ ई० (हिजरी ९७३) में मुल्ला साहब टुकड़िया से मिले। अकबर के दरबार का भी आकर्षण था; लेकिन यह धर्मान्ध पठान उन्हें अधिक पसन्द आया। बदायूँनी हजारों निरपराधों के खून से हाथ रँगने वाले उस नृशंस को 'सदाचारी, संत-प्रकृति, दानी, पवित्र-आत्मा, धर्मभीरु, विद्यापोषक" आदि उपाधियों से विभूषित करते हैं। मुल्ला यहीं रहते गुमनाम जीवन बिताते रहे। 'वह भले लोगों की सुध लेता, मदद करता है।' मुल्ला साहब ने टुकड़िया की तारीफ करते कलम तोड़ दी और उसे आजाद के शब्दों में—" पैगम्बरों तक नहीं तो पैगम्बर के दोस्तों औलिया के पास तक जरूर पहुँचा दिया ?" टुकड़िया ने अकबर के बाईसवें सन्‌जलूस (११ मार्च, १५७७-१० मार्च, १५७८ ई०) तक बड़ी ईमानदारी से काम किया था और उसे तीन हजारी का दर्जा मिला था। मुल्ला अब्दुल कादिर को ऐसे धर्मान्ध संरक्षक की जरूरत थी।

"कैसे सेहरा में अकेला है, मुझे जाने दो।
खूब गुजरेगी, जो मिल बैठेंगे दिवाने दो।"

आठ साल तक मुल्ला बदायूँनी उसी के पास रहते "कालल्लाहु, कालर्रसूलु" (अल्ला ने श्रीमुख से यह कहा, रसूल ने श्रीमुख से यह कहा) करते

अपना और टुकड़िया का दिल खुश करते जागीर के कारबार में उसे मदद देते रहे। इस प्रकार २४ से ३२ वर्ष की उमर उनकी टुकड़िया के पास बीती। यह ऐसी वय है जिस वक्त का लगा रंग पक्का हो जाता है, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं, यदि मुल्ला की कलम काफिरों की गर्दन काटने में टुकड़िया की तलवार से होड़ लगाती रही।

बदायूँ—सन् १५६७-६८ ई० (हिजरी ६७५) में मालिक से छुट्टी लेकर मुल्ला साहब बदायूँ पहुँचे और यहीं दूसरी शादी की हवस पूरी की। इस शादी का वर्णन उन्होंने सिर्फ डेढ़ पंक्तियों में किया है। लेकिन, उससे मालूम होता है कि बीवी सुन्दरी थी, बहुत पसन्द आई थी कहते है —"इस वर्ष में इस लेखक की दूसरी शादी हुई और 'विल् अखिर तो खैरुन् लका मिनल्-ऊला'।" (पहले से अन्तिम तेरे लिए अच्छी) वाक्य के अनुसार मुबारक निकली। इससे जान पड़ता है, पहली बीवी मुबारक नहीं साबित हुई थी। कुछ ही समय बाद नई बीवी को एक लड़का पैदा हुआ। मुल्ला फिर अपने मालिक के पास पहुँचे जिसे अब लखनऊ में जागीर मिली थी। कुछ दिनों इधर की सैर करते रहे। टुकड़िया जागीर के परिवर्तन के कारण बादशाह से नाराज हो गया और कुमाऊँ पहाड़ों में तलवार और आग के द्वारा अल्ला के बन्दों को मार-मार कर जेहाद का सवाब लेने गया। उसने सुना था कि इन पहाड़ों में सोने-चाँदी के मंदिर है। एक पंथ दो काज था : धन-जन की लूट और इस्लाम का प्रचार। इस समय मुल्ला को टुकड़िया के पास रहना पसन्द नहीं आया। मुल्ला तलवार को इस्लाम प्रचार के लिए अनावश्यक नहीं समझते थे, पर खुद अपने बाजुओं में उतनी ताकत नहीं थी। इसी समय उनका छोटा भाई मर गया और नया बच्चा भी हँसता-खेलता कब्र में चला गया। भाई के वियोग पर उन्होंने बहुत भावावेश के साथ मर्सिया (शोक-काव्य) लिखा है जिसकी एक पंक्ति है—

"हाले दिल हेच न दानम् ब-के गोयम् चि कुनम्।
चारए-दर्दे-दिले-खुद'ज के जोयम् चि कुनम्।"

(दिल का हाल कुछ नहीं जानता। किससे कहूँ, क्या करूँ ? अपने दिल के दर्द की दवा किससे ढूँढूँ क्या करूँ ?)

मुल्ला अब्दुल कादिर सभी अण्डों को एक टोकरी में रखने के पक्षपाती नहीं थे। उनके पैर कई नावों पर रहते थे। हाँ, इस्लाम की सीमा के भीतर ही। वह शरीयत और मुल्लाओं के पदचिह्न पर चलना अभिमान की बात मानते थे, पर साथ ही संतों-फकीरों के चमत्कारों से भी लाभ उठाना चाहते थे। हिजरी ६७६ (१५७१-७२ ई०) की बात है। मुल्ला ३० वर्ष के हो चुके थे। काँटगोला (जिला मुरादाबाद में काँट) को हुसेन खाँ ने हिमालय पर धावा बोलने के ख्याल से अपनी

जागीर में लिया था । मुल्ला साहब भी अपने संरक्षक के साथ वहाँ पहुँचे । फकीरों की खिदमत मुल्ला साहब के सुपुर्द थी । वहीं पता लगा कि कन्नौज के इलाके में मकनपुर (जिला कानपुर) में शेख बदीउद्दीन मदार की पवित्र कब्र है जिसके दर्शन से सारी मनोकामना पूरी हो जाती है । मुल्ला साहब की 'अक्ल की आँखों' पर पर्दा पड़ गया । वहाँ पहुँचे । दरगाह में कोई 'सख्त बे-अदबी' कर बैठे, लेकिन तुरन्त ही उसकी सजा भी वहीं मिल गई । विरोधी तलवार खींचकर उन पर दौड़ पड़े और एक के बाद एक नौ वार किये । हाथ और कन्धों का घाव हलका था, पर सिर का गहरा था । तलवार हड्डी तोड़ कर मगज पर पहुँच गई थी । बायें हाथ की अँगुली भी कट गई । वहीं बेहोश होकर गिर पड़े । जान पड़ा, काम खतम हो गया, लेकिन बच गये । मकनपुर से बाँगरमऊ (हरदोई) जिला आये । वहाँ एक बहुत अच्छे जर्राह ने दवा की । एक हफ्ते में घाव भर गया । उस वक्त मुल्ला ने मिन्नत माँगी कि खैरियत से रहा, तो हज करूँगा । लेकिन, वह मिन्नत कभी पूरी नहीं हुई । बाँगरमऊ से काँटगोला गये । समझा, अब बिल्कुल चंगे हो गये, इसलिए स्वास्थ्य स्नान किया । जखम अभी बिल्कुल ठीक नहीं हुए थे, उनमें पानी लग गया और घाव हरे हो गये । टुकड़िया ने भाई-बाप की तरह उनकी सेवा की । "खुदा उसे अच्छा फल दे । उसने गाजर का हलवा खिलाया और हर तरह से देखभाल की ।" लेकिन, घाव नासूर बन गया, वह भरने का नाम ही नहीं लेता था । वहाँ से ससुराल बदायूँ आये । बड़े दुःखी और निराश थे । एक दिन कुछ जागे, कुछ सो रहे थे, उसी समय देखा "चन्द सिपाही मुझे पकड़कर आसमान पर ले गये है । बादशाही यसाउल जैसे असा (डंडा) हाथ में लिये कुछ आदमी दौड़े फिर रहे हैं । एक मुंशी बैठा कुछ कागज देख रहा है । उसने कहा—"ले जाओ, ले जाओ, यह आदमी वह नहीं है ।" इतने में आँख खुल गई । देखा, दर्द को आराम है । मुल्ला ने यमपुर से लौटने की कहानी बचपन में किसी से सुनी थी, वही स्वप्न में उनके सामने साकार हुई ।

इसी साल बदायूँ में भयंकर आग लगी । इतने खुदा के बन्दे जल गये कि गिने नहीं जा सकते थे । सबको छकड़ों में भरकर नदी में फेंक दिया गया । हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद न था । वह लपटें नहीं, मौत की आँच थी । "हाय, जान बड़ी प्यारी है । स्त्री-पुरुष शहर की दीवार पर चढ़कर बाहर कूद पड़े, जले-भुने; लँगड़े-लूले रह गये । मैंने अपनी आँखों देखा-पानी आग पर तेल का काम कर रहा था । लपटें धाँय-धाँय कर रही थीं । दूर तक आवाज सुनाई देती थी । आग न थी, खुदा का गजब था । बहुतों को खाक करके पामाल कर दिया ।" कुछ दिन पहले द्वाबा (गंगा-जमुना के बीच के अन्तर्वेद) से एक मस्त फकीर आया था । मुल्ला ने उसे अपने घर में उतारा

बातें करते-करते वह एक दिन कहने लगा—"यहाँ से निकल जाओ।" मुल्ला ने पूछा—"क्यों ?" बोला —"यहाँ खुदा का तमाशा दिखलाई पड़ेगा।" लेकिन मुल्ला को इस पर विश्वास नहीं आया।

१५७३-७४ ई० (हिजरी ६८१) में दस वर्ष के दोस्त ही नहीं, बल्कि दीनी भाई टुकड़िया से उनका बिगाड़ हुआ। क्या कारण था, यह मालूम नहीं। ऐसे मुल्ला की टुकड़िया को बड़ी जरूरत थी। जब मुल्ला ने प्रार्थना न स्वीकार की, तो उसने बदायूँ में उनकी माँ के पास जाकर सिफारिश करने के लिए कहा, लेकिन मुल्ला मानने के लिए तैयार नहीं हुए। असल बात यह थी कि मुल्ला बदायूँनी ने अब शाही दरबार में जाने का निश्चय कर लिया था। यह वही सन् था जब अकबर शरीयत के मायाजाल से निकल कर अकल के मैदान में आ गया था। चारऐतान के इबादतखाने (प्रार्थना-मन्दिर) में शास्त्रार्थ हुआ करते थे। फौजी, अबुलफजल-मुल्ला बदायूँनी के सहपाठी-दरबार में अपनी अकल और विद्या की करामात दिखला रहे थे।

४. दरबार में

मार्च (१५७४ ई०) का महीना था जबकि मुल्ला बदायूँनी आगरा पहुँचे। जमाल खाँ कूर्ची से भेंट हुई। वह अकबर के विशेष दरबारियों में था। यद्यपि पंचशती का ही मनसब था, मगर बादशाह के पास तक उसकी पहुँच थी। दानी, खाने-खिलाने वाला आदमी था। अगले साल वह मर गया। " दुनिया में नेक नाम रहा, परलोक में नेकी साथ ले गया।"

जमाल खाँ ने मुल्ला के पीछे नमाजें पढ़ीं, उनके विद्वत्तापूर्ण भाषण सुने। बहुत खुश हुआ। अकबर के पास ले गया और बोला—"हुजूर के लिए नमाज का अगुवा लाया हूँ।" अपनी " मुंतखिबुत्-तवारीख" में स्वयं लिखते हैं—"तदबीर के पैर में तकदीर की बेड़ी पड़ी। ६८१ हिजरी (१५७४ ई०) में हुसेन खाँ से टूट कर बदायूँ से आगरा आया। जमाल खाँ कूर्ची और हकीम ऐनुल्मुल्क के द्वारा बादशाही सेवा प्राप्त की। इन दिनों शास्त्र-सभाओं का बहुत रिवाज था। पहुँचते ही सभाइयों में दाखिल हो गया। यहाँ तक हुआ कि जो आलिम किसी को कुछ समझते नहीं थे, उनसे बादशाह ने लड़वा दिया। खुदा की मेहरबानी, बुद्धि की ताकत, तेज प्रतिभा एवं दिल की दिलेरी से बहुतों को पराजित किया। पहली ही सेवा में बादशाह ने फरमाया, यह बदायूँनी हाजी इब्राहीम सरहदी का विजेता हो। चाहते थे, वह किसी तरह हार खाये। मैंने उस पर भी अच्छे-अच्छे आक्षेप किये। बादशाह बहुत खुश हुए। सदरुस्सदूर शेख अब्दुन् नबी खफा थे कि हमसे बिना पूछे ऊपर ही ऊपर यह दरबार में क्यों आ पहुँचा। अब जो शास्त्रार्थों में भिड़न्त

देखी, तो मसल हुई-एक तो साँप ने काटा, उस पर खाई अफीम। खैर, अन्त में धीरे-धीरे सदर का क्रोध स्नेह में बदल गया।"

मुल्ला बदायूँनी दरबार में नये-नये आये थे। चारों ओर से प्रशंसा सुनकर उनका दिमाग आसमान पर पहुँच गया था। उन्हें ख्याल नहीं आ रहा था, मै भी उसी तरह का मुल्ला हूँ, जैसे कि वह, जिन्हें इस समय मै परास्त करने में लगा हूँ। मुल्ला इस समय अबुलफजल के बहुत प्रशंसक तथा अकबर की गुणग्राहकता से मुग्ध थे। अकबर को मुल्लों को लड़ाने का शौक था ही, इसके लिए वह बदायूँनी को साथ रखता था। इसी समय पटना की ओर विद्रोह उठ खड़ा हुआ। शेरशाह के खानदान के रूप में पठानों ने हकूमत का मजा लिया था। वह जरा भी मौका पाते ही बगावत का झण्डा उठा लेते। बादशाही सेनापति मुनअम खाँ पठानों से लड़ रहा था। हालत ऐसी बिगड़ी हुई थी कि अकबर को स्वयं वहाँ जाने की जरूरत पड़ी। सेना तो आगरा से स्थल के रास्ते भेज दी, पर खुद बेगमों, शाहजादों, सेवकों और कितने ही अमीरों के साथ नदी के रास्ते चला। लिखते हैं : "नावों की बहुतायत से नदी का पानी दिखलाई नहीं पड़ता था। तरह-तरह की नावें थीं जिन पर आसमानी रंग के पाल चढ़े हुए थे। नावों में किसी का नाम था 'निहंगसरे', किसी का 'शेरसर' आदि-आदि। रंग-बिरंगे झण्डे लहरा रहे थे। दरिया का शोर, हवा का जोर, पानी का सर्राटा था। नावों का बेड़ा चला जा रहा था। मल्लाह अपनी बोली में गाना गा रहे थे। विचित्र अवस्था थी, जान पड़ता था, जल्दी ही हवा में पंछी और पानी में मछलियाँ नाचने लगेंगी। यात्रा का क्या कहना ? जहाँ चाहते, उतर पड़ते शिकार खेलते। जब चाहते, चल खड़े होते। कहीं रात को लंगर डाल देते और वहीं शास्त्रार्थ या शेर-ओ-शायरी की चर्चा चल पड़ती। फैजी भी साथ थे। नावों का बेड़ा मामूली सैर का बेड़ा नहीं था। इन नावों पर तोपखाने, हथियार-घर, खजाना, नगारखाना, तोशाखाना, फर्राशखाना, बावर्चीखाना, घोड़ों के तबेले सब थे। हाथियों के लिए बड़ी-बड़ी किश्तियाँ थीं। प्रसिद्ध बालसुन्दर हाथी के साथ दो हथिनियाँ एक नाव पर सवार थीं। समनपाल दो हथिनियों के साथ दूसरी नाव पर था। जो सजावट तम्बुओं और डेरों में होती है, वह इन नावों में भी थी। इनमें अलग-अलग कमरे थे जिनमें मेहराब और सुन्दर ताक बने हुए थे। नावें दोमंजिला-तिमंजिला थीं। सीढ़ीयों से ऊपर-नीचे चढ़ना-उतरना पड़ता था। हवा के लिए झरोखे थे, रोशनी के लिए कंदील। रूमी, चीनी, फिरंगी मखमलों और बनातों के परदे और बहमूल्य फर्श से सजावट की गई थी। बेड़े के बीच में बादशाह की आलीशान नाव चल रही थी।"

दो साल तक तबीयत खुश रही । हिजरी ६८३ (१५७५-७६ ई०) में पहुँचते-पहुँचते अब मुल्ला बदायूँनी को दरबार का रंग-ढंग नापसंद आने लगा । एकाएक कलम की रफ्तार बदलती है । साफ मालूम होता है कि कलम से अक्षर और आँखों से आँसू बराबर बह रहे है ।

बादशाह के सात इमाम थे । हफ्ते के हरेक दिन के लिए एक-एक इमाम था जो बारी-बारी से नमाज पढ़ाया करता था । मुल्ला बदायूँनी संगीत के भी प्रेमी थे । कण्ठ भी बड़ा मधुर पाया था । उनके मुँह से निकले फारसी शेर या अरबी की आयतें बडी मधुर मालूम होती थीं । लिखते हैं —"मधुर कण्ठ के कारण जैसे तोते को पिंजड़े में डालते हैं, उसी तरह मुझे उन (इमामी) में शामिल करके बुध की इमामी का काम प्रदान किया गया ।" हाजिरी देखने का काम खोजा (हिजड़ा) दौलत नाजिर के सुपुर्द था । वह बड़ा सख्त-मिजाज था, लोगों को बड़ा दिक करता था । इस प्रकार मुल्ला साहब "इमाम-अकबरशाह" बने ।

इसी साल बीसती (विंशतिक) का मनसब तथा कुछ इनाम बादशाह ने दिया । अबुलफजल को भी यही मनसब मिला था । मनसबदारों को हजारी, दोहजारी, पंचहजारी के मनसब दिये जाते थे । लेकिन, वह न मनसब के अनुसार घोड़े रखते, न आदमी और सरकारी रुपया खा जाते थे । इसकी रोकथाम के लिए नया फरमान जारी हुआ और घोड़ों पर दाग लगाया जाने लगा । इसलिए इस विधान को दाग भी कहते थे । मुल्ला का मनसब मिलते ही कहा गया कि इसके मुताबिक घोड़े दाग के लिए हाजिर करो । अबुलफजल और मुल्ला अब्दुल कादिर एक ही तवे की दो रोटियाँ थीं । अबुलफजल ने तुरन्त हुकुम के मुताबिक काम किया और इतनी अच्छी तरह से कि वह दोहजारी मनसबदार और वजीर बन गया जिसकी सालाना आमदनी चौदह हजार थी । अपने लिए कहते हैं —"तजुर्बा न होने तथा भोलेपन के कारण मैं अपने कम्बलों को भी नहीं सँभाल सका । मुझे उन दिनों यही ख्याल आता था कि सन्तोष बड़ी दौलत है । कुछ जागीर है, कुछ मदद बादशाह इनाम-अकराम से देंगे, इसी पर सबर करूँगा ।" दो साल दरबार में रहते हो गए । हिजरी सन् ६८३ (१५७५-७६ ई०) में कुछ दिन छुट्टी लेकर स्वतंत्र रहने का ख्याल पैदा हुआ । बादशाह ने छुट्टी देते हुए एक घोड़ा और रुपया साथ ही हजार बीघा जमीन भी देते कहा कि फौजी महकमे से तुम्हारा नाम हटा देते हैं ।

अगले साल (१५७६-७७ ई०) अकबर जियारत के लिए अजमेर में था। मुल्ला साहब भी वहाँ पहुँचे । राणा प्रताप से लड़ाई छिड़ी थी । राजा मानसिंह के नेतृत्व में भारी पलटन कुम्भलनेर की ओर जा रही थी । अजमेर में तीन कोस तक अमीरों के तम्बू लगे हुए थे । मुल्ला भी गाजियों को पहुँचाने के लिए गये ।

उस समय दिल में गाजी (धर्मवीर) बनने का शौक पैदा हुआ। लौटकर सीधे शेख़ अब्दुन् नबी (सदर, शेखुल्-इस्लाम) के पास पहुँचे और बोले : आप मुझे हुजूर से छुट्टी दिलवाकर इस लड़ाई में भिजवा दें। लेकिन, सदर से काम नहीं बना। बादशाह का पुस्तकपाठी नकीब खाँ उनका सहपाठी था ही, उससे कहा। उसने जवाब दिया—"सेनापति हिन्दू (मानसिंह) न होता, तो सबसे पहले मैं इस युद्ध के लिए छुट्टी लेता।" मुल्लो ने उसको यह कहकर समझाया—"हम अपना सेनापति हजरत के बन्दों को जानते हैं, हमें मानसिंह आदि से क्या मतलब ? नीयत ठीक होनी चाहिए।" अकबर एक ऊँचे चबूतरे पर पाँव लटकाये मिर्जा मुबारक की ओर मुँह किये बैठा था। नकीब खाँ ने इसी समय मुल्ला बदायूँनी के लिए प्रार्थना की। बादशाह ने पहले तो कहा—"इसका तो इमाम का ओहदा है, यह कैसे जा सकता है ?" नकीब खाँ ने कहा—"गाजी होने की कामना है।" मुल्ला को बुलाकर अकबर ने पूछा—" बहुत जी चाहता है ?"—"बहुत " "कारण क्या है?"—"चाहता हूँ इस प्रकार काली दाढ़ी को लाल करूँ।"

कारे-तु ब-खातिर स्त ख्वाहम्।
या सुर्ख कुनम् रूय' ज-तु या गर्दन्।

(तेरा काम मेरे दिल में है। इसे करना चाहता हूँ या तेरे लिए मुँह को सुर्ख करूँ या गर्दन को।)

बादशाह ने फरमाया—"भगवान् ने चाहा, तो फतह की ही खबर लाओगे।"

"मैं (मुल्ला) ने चबूतरे के नीचे से पैर छूने के लिए हाथ बढ़ाये। उन्होंने अपने पैर ऊपर खींच लिए। जब मैं दीवानखाने से निकला, तो फिर बुलाया। एक मुट्ठी भर कर अशर्फियाँ दीं और कहा 'खुदा हाफिज'। गिनीं तो ६५ अशर्फियाँ थीं।"

मुल्ला तलवार चलाने गये थे, पर उनकी कलम ज्यादा सफलता के साथ चली। लिखते हैं —"फतेह हुई। राणा भाग गया। अमीर लोग सलाह करने के लिए बैठे। इलाके का बन्दोबस्त शुरू हुआ। रामपरसाद नामक एक बड़ा ऊँचा जंगी हाथी राणा के पास था। बादशाह ने कई दफा माँगा था, पर उसने न दिया था। वह भी लूट में आया। अमीरों की सलाह हुई कि विजय-पत्र के साथ इसे हुजूर में भेजना चाहिए। आसिफ खाँ ने मेरा नाम लिया : यह फकत पुण्य के लिए आये थे, इनके साथ इसे भेज दो। मानसिंह ने कहा—"अभी तो बड़े-बड़े काम पड़े हैं। यह युद्धक्षेत्र में सेना की पाँति के आगे इमाम का काम करेंगे।" मैंने कहा—"यहाँ के इमाम के काम के लिए और हैं। मेरा अब यह काम है कि जाऊँ और हजरत के सेवकों की पाँति के आगे इमाम का कर्तव्य पूरा करूँ।"

मानसिंह इस तलीफे से बहुत खुश हुए । सावधानी के लिए तीन सौ सवार हाथी के साथ किये और सिफारिशनामा लिखकर विदा किया । थाना बैठाने के बहाने मोहना तक शिकार खेलते पहुँचाने आये जो कि वहाँ से बीस कोस था । मैं भाखोर और मॉडलगढ़ से होता आमेर पहुँचा जो कि मानसिंह का वतन था । रास्ते मे जगह-जगह लडाई की बातें और मानसिंह की विजय का हाल सुनाता आता था । लोग ताज्जुब करते थे ।"

"आमेर से पॉच कोस पर विजन में हाथी फँस गया । ज्यो-ज्यो आगे जाने की कोशिश करता, उतना ही अधिक धँसता जाता था ।" मुल्ला बहुत घबराये । लोग आये और बोले : पिछले साल भी यहाँ एक बादशाही हाथी फँस गया था । इसके निकालने का यही उपाय है—ठिलियों और मशको में पानी भर-भरकर डालते हैं, फिर हाथी निकल आता है । भिश्ती बुलाये गये, उन्होंने बहुत-सा पानी डाला ।

लिखते है—"बड़ी मुश्किल से हाथी निकला । हम आमेर पहुँचे । वहाँ के लोग फूले न समाते थे । ...हमारे राजा के लड़के ने ऐसी विजय प्राप्त की, खानदानी दुश्मन की गर्दन तोड़ दी और हाथी छीन लिया । टोंडा में से गुजरा । यहीं मै पैदा हुआ था, फिर बिसावर में आया । इसी जमीन की मिट्टी मेरे बदन मे पहले लगी थी ।" मुल्ला बदायूँ में नहीं पैदा हुए । बिसावर ननिहाल और पास में टोंडा उनका पितृगृह था । हो सकता है, पैदाइश ननिहाल में हुई हो । फिर वहीं वर्षों रहे । इसलिए बिसावर से उन्हें खास मुहब्बत थी । इस समय वह एक विजेता के तौर पर राणा के हाथी को लेकर इधर से गुज़र रहे थे । गाँव का एक-एक आदमी देखने के लिए आया । उन्हें मालूम हुआ, राणा को जीतने वाला उनके अपने गॉव का अब्दुल कादिर ही है, इसलिए सभी इसके लिए अभिमान करते थे । जन्मभूमि में इतनी प्रशंसा और सम्मान पाकर मुल्ला बदायूँनी यदि फूले न समायें, तो आश्चर्य क्या ?

आखिर फतेहपुर-सीकरी पहुँचे । विजय-पत्र और हाथी बादशाह के सामने पेश किये । पूछने पर बतलाया, हाथी का नाम रामपरसाद है । फरमाया : सब पीर की कृपा से हुआ है, इसलिए इसका नाम पीरपरसाद है । फिर अकबर ने मुल्ला को सम्बोधित करके कहा—"तुम्हारी भी तारीफ बहुत लिखी है । सच कहो, कौन-सी फौज में थे और क्या-क्या काम किया ?" मुल्ला ने नम्रतापूर्वक सब बातें बतलाईं । बादशाह मुल्लों को तो जानता ही था, इसलिए पूछ बैठा—" जंगी लिबास में थे या नंगे ही रहे ?"

"जिराबख्तर (कवच) था ।"

"कहाँ से मिल गया ?"

"सैयद अब्दुल्ला खाँ से ।"

बादशाह बहुत खुश हुआ और उसने ढेर मे हाथ मारकर एक पसार अशर्फियाँ इनाम दीं । गिनने पर ६६ निकली ।

हिजरी ६८५ (१५७७-७८) मे मुल्ला छुट्टी लेकर घर जा बीमार पड़ गये । जब अच्छे हुए, तो दरबार के लिए रवाना हुए । मालवा मे दीपालपुर में उस समय शाही स्कन्धावार पड़ा था । बाईसवे सन्‌जलूस की धूमधाम थी । मुल्ला साहब को इसी साल हुसेन खाँ टुकड़िया के मरने की खबर लगी । दोनों का एक विचार, एक विश्वास था । वह दोस्त और स्वामी था । यद्यपि किसी कारण उससे अलग हुए थे, तथापि वही उनके लिए ऐसा सच्चा और पक्का धर्मवीर था जिसकी तलवार आखीर तक काफिरों के गर्दन के लिए तैयार रही ।

हिजरी ६८५ (१५७७-७८ ई०) में मुल्ला ३६ साल के थे । हज की लालसा बहुत तीव्र थी । इस साल अजमेर से बादशाह ने शाह अबू-तुराब को मीर-हाज (हाजियों का सरदार) बनाकर हाजियों के साथ रवाना किया । भेंट के लिए बहुत-सा सामान देकर हुकुम दिया कि जो चाहे हज के लिए जाये । मुल्ला ने शेख अब्दुन् नबी से प्रार्थना की । मुझे भी छुट्टी दिलवा दें, ताकि मै भी हज कर आऊँ। शेख ने पूछा—"माँ जीती है ?"

"हाँ ।"

"भाइयों में से कौन है जो कि उसकी सेवा करे ?"

"गुजारे का सहारा तो मैं ही हूँ ।"

"माँ की इजाजत ले लो, तो ठीक है ।"

लेकिन बुढ़िया माँ कैसे इजाजत दे सकती थी ? बेचारे हज करने से रह गये ।

मुल्ला भी और आदमियों की तरह विरोधों के समागम थे । एक तरफ वह टुकड़िया और कट्टर मुलंटों को आदर्श धर्मवीर मानते थे, दूसरी ओर उनके विरोधी अकबर के साथ भी दिल जोड़ना चाहते थे । इस साल तक अभी अकबर की नीति से पूरे बागी नहीं हुए थे और उसे अल्ला की छाया और रसूल का नायब मानते थे । लिखते हैं—"मैं लश्कर के साथ रेवाड़ी के जिले में था । घर से खबर आई कि एक दासी के पेट से बेटा पैदा हुआ । बहुत मुद्दत और प्रतीक्षा के बाद हुआ था । खुश होकर अशर्फी भेंट की और नाम देने के लिए प्रार्थना की । बादशाह ने फरमाया—" तुम्हारे बाप और दादा का क्या नाम है ?"

'मलूकशाह-पुत्र हामिदशाह ।' उन दिनों या हादी (हे शिक्षक) का जप हुआ करता था । बादशाह ने फरमाया—'इसका नाम अब्दुलहादी रखो ।' हाफिज मुहम्मद इब्न खतीब ने मुझे बहुत कहा कि नाम रखने के भरोसे मत रहो । हाफिजों

को बुलाओ और लड़के की दीर्घायु के लिए कुरान पढ़वाओ। मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया। आखिर छह महीने का होकर बच्चा मर गया।

यहीं से पाँच महीने की छुट्टी लेकर मुल्ला बिसावर गये। लेकिन, छुट्टी खतम होने पर भी नही लौटे। मजहरी नाम की लौंडी से मुल्ला की नजर लड़ गई। लिखते है—कुदरत के प्रकाश का वह नमूना था। मै उस पर आशिक हो गया। उसके इश्क ने ऐसा भाव मन में भर दिया कि साल भर बिसावर में पड़ा रहा। इस समय मुल्ला की उमर ४० साल की हो गई थी। इसी उमर में बिसावर में उनको एक पुत्र मुहीउद्दीन पैदा हुआ। मालूम नहीं दासियो और बीबियों की सारी संख्या कितनी थी। गिनने की जरूरत भी नहीं थी, जब कि नौ से अठारह तक शादीशुदा बीवियाँ शरीयत के अनुसार रखी जा सकती थीं। वह दास-प्रथा का जमाना था। पैसा चाहिए, चाहे जितनी दासियाँ खरीद लो। अकबर को दास प्रथा पसन्द नही थी। उसने अपने दासों को मुक्त कर दिया था। पर दासों के रूप में लोगों की करोड़ों की सम्पत्ति फँसी हुई थी। उसको बरबाद कर आफत मोल लेने के लिए वह कैसे तैयार हो सकता था ?

बरस दिन गैर-हाजिर रहकर ६८६ (१५८१ ई०) में मुल्ला फतेहपुर-सीकरी में दरबार में हाजिर हुए। दीवाने-खास में बैठे-बैठे बात हो रही थी। अबुलफजल ने कहा—"हमें इस्लाम के सारे ग्रंथकर्त्ताओं से दो बातों की शिकायत है—१. उन्होंने जिस तरह पैगम्बर (मुहम्मद) की बातें साल-ब-साल लिखा, उसी तरह दूसरे पैगम्बरों का हाल नहीं लिखा।"

मुल्ला ने कहा—"कसस्सुल-अम्बिया में नबियों के किस्से तो हैं।"

"वह तो बहुत गोलमोल-सी है, विस्तार से लिखना चाहिए था।"

"पुराने जमाने की बातें हैं। भाष्यकारों और इतिहासकारों को इतना ही ठीक जँचा होगा, बाकी का प्रमाण न मिला होगा।"

"यह जवाब नहीं है। दूसरी बात यह कि कोई मामूली पेशे वाला आदमी ऐसा नहीं जिसका जिक्र वहाँ न हुआ हो। पर, पैगम्बर के अपने परिवार ने क्या गुनाह किया था कि उनको शामिल नहीं किया गया ?"

मुल्ला ने कुछ सफाई देने की कोशिश की, पर क्या हो सकती थी ? पैगम्बर के बेटी-दमाद-धेवतों को वंचित कर, उनमें से बहुत को मारकर दूसरों ने इस्लामी विजय का मजा लूटा। पैगम्बर के रक्त-सम्बन्धियों से ही तो उनको खतरा था, फिर वह 'आ बैल, मुझे मार' क्यों कहने लगे। इसलिए उनका उल्लेख भरसक होने नहीं दिया गया। मुल्ला ने अबुलफजल से पूछा—" प्रसिद्ध मजहबों में से तुम्हारी रुचि किधर ज्यादा है ?"

अबुलफजल बोले—"जी चाहता है, कुछ दिनों लामजहबी (धर्महीनता) के जंगल की सैर करूँ।"

मुल्ला को शायद उतना कट्टर बनने की जरूरत न होती, यदि उन्हे भी मौज-मेले की इनायत हो गई होती। फैजी और अबुलफजल को आसमान पर चढ़ा और अपने को जमीन पर खड़ा देखकर उनके मन में जो असंतोष होता था, वह आसानी से समझा जा सकता है। जहाँ लोगो को हजारों-लाखो की जागीरें मिलीं, बड़े-बड़े इलाके उनकी मिलकियत बने, वहाँ बेचारे मुल्ला हजार बीघा पाने मे भी आसानी से सफल नहीं हुए।

९८९ हिजरी (१५८१ ई०) में काबुल से लौटकर बादशाह फतेहपुर सीकरी आया। उसी समय मुल्ला साल भर के बाद दरबार में हाजिर हुए। इनका अभाव ऐसा नही था कि बादशाह को उसका पता न लगता। आखिर बहस-मुबाहिसों मे यह जरूर ही याद आते होंगे। देखने पर अबुलफजल से पूछा-यह यात्रा मे क्यों नहीं रहा ? काबुल के पास भी उसने मुल्ला के बारे में पूछा था। खैर, अबुलफजल ने कुछ कहकर बला टलवा दी।

फकीरी में संतोष करने की बातें मुल्ला साहब जैसे पहले किया करते थे, अब यह उसके मानने वाले नहीं थे। ९९३ हिजरी (१५८४-८५ ई०) में हजार बीघा जमीन मिली जिसके कारण हजारी कहे जा सकते थे। लेकिन, बारह वर्ष खिदमत करके भी वह जिस हालत में अपने को पाते थे, उससे बहुत असन्तुष्ट थे तथा कहीं और सहारा ढूँढ़ना चाहते थे। अब्दुर्रहमान खानखाना अपने साहित्य और विद्याप्रेम के लिए प्रसिद्ध थे। वह उस समय गुजरात के राज्यपाल थे। उनके मुसाहिब मिर्जा निजामुद्दीन अहमद का मुल्ला बदायूँनी से काफी परिचय था। उसने कोशिश की और खानखाना ने कहा : अब की बार मैं हुजूर से प्रार्थना करके मुल्ला को अपने साथ लाऊँगा। सीकरी आने पर दीवानखाना के मकतबखाना-जहाँ अनुवादक लोग बैठते थे—में खानखाना से मुल्ला मिले, पर उन्हें जल्दी-जल्दी गुजरात लौट जाना पड़ा, तकदीर ने मुल्ला की मदद नहीं की।

५. मृत्यु

९९९ हिजरी (१५९०-९१ ई०) में मुल्ला बीमार हो बदायूँ गये। बिसावर से बाल-बच्चों को भी वहीं लाये। दरबार से हाजिर होने का हुकुम आने लगा। आखिर बदायूँ से चले। अकबर कश्मीर जाते भिंवर में ठहरा था। वहीं जाकर हाजिर हुए। बादशाह ने पूछा—"वादे से कितने दिनों बाद आया ? "बतलाया—"पाँच महीने बाद।" जानते ही थे, बड़ी फटकार पड़ेगी, इसलिए बदायूँ के अफसरों और हकीम ऐनुल्मुल्क के प्रमाण-पत्र साथ लाये थे। अकबर ने सब पढ़ाकर सुना,

लेकिन कहा—"बीमारी पाँच महीने की नही होती । " मुल्ला को कार्निश करने की इजाजत नही मिली ।

फैजी ने भी सिफारिशी पत्र लिखा और मित्रो ने भी कोशिश की। पाँच महीने बाद जब बादशाह कश्मीर से लौटकर लाहौर आया, तो मुल्ला पर मेहरबानी हुई ।

मुल्ला के दोस्त एक के बाद एक इस दुनिया को छोड़ते चले जा रहे थे । इसका उन्हे अफसोस होना ही चाहिए । लिखते हैं—

यारॉ हमॉ रफ्तंद् व दरे-काबा गिरफ्तद् ।
मा सुस्त-कदम बर्-दरे-खुम्मार ब-मॉदीम् ।
आज नुकतये-मकसूद न शुद् फहमे-हदीसे ।
ला दीन व ला-दुनिया बेकार ब-माँदीम् ।

(सारे दोस्त चले गये और काबा के दरवाजे को जा पकड़ा । हम सुस्त-कदम कलवार के दरवाजे पर पड़े है । हदीस के ज्ञान की कोई बात नहीं ज्ञात हुई । बिना दीन और बिना दुनिया के हम बेकार पडे हैं ।)

दरबार में बेदीनी की धूम थी । लोग धडाधड़ 'दीन-इलाही' में दाखिल हो रहे थे, दाढ़ियॉ साफ हो रही थी । इनमें कोई ऐसे आलिम थे जो अपने को अद्वितीय विद्वान समझते थे । कोई खानदानी शेखो का चोगा पहनने वाले कहते थे : हम हजरत गौस के पुत्र है । हमारे शेख ने हुकुम दिया है कि हिन्द के बादशाह में कमजोरी आ गई है, तुम जाकर बचाओ। सब यहाँ आकर दाढी मुँड़वा लेते थे । १५ अक्तूबर, १५६५ ई० को फैजी का देहान्त हो गया जिनके ऊपर प्रहार करने में मुल्ला की कलम कभी नहीं चूकती थी । दूसरे दिन हकीम हमाम भी उठ गये । २३ फरवरी, १५६६ को मुल्ला ने अपनी 'मुंतखिबुत्-तवारीख' समाप्त की । जैसा कि बतलाया, अकबर और उसके जैसे विचार वालों पर जिस बेदर्दी के साथ कलम उठाई थी, उसके कारण होने वाले खतरे से ग्रन्थ को सुरक्षित अगली पीढ़ियाँ तक पहुँचाने का प्रबन्ध किया ।

५७ वर्ष की उमर थी जब कि बदायूँ में मुल्ला का देहांत हुआ । पास के अतापुर के आम के बाग में दफनाये गये । हो सकता है, उस समय अतापुर शहर से मिला हो । अब वह दूर हट कर है । आजाद लिखते है— "वहाँ एक खेत में तीन-चार कब्रें हैं जिनके ऊपर तीन-चार आम के वृक्ष हैं । यह मुल्ला का बाग कहलाता है । लोग कहते हैं, इन्हीं में मुल्ला साहब की कब्र भी है । अतापुर और बागे-अम्बा (आम-बाग) का कोई नाम भी नहीं जानता । जिस मुहल्ले में घर था, वह अब भी लोगों की जीभ पर है । पतंगी-टीला कहलाता है, सैयदवाड़ा में

है । " लोग बतलाते हैं, उनकी सन्तानों मे एक बेटी बची रही थी जिसकी औलाद खैराबाद (जिला सीतापुर) में मौजूद है ।

६. कृतियाँ

बदायूँनी अबुलफजल और फैजी की तरह ही कलम के जबर्दस्त धनी थे । उन्होंने बहुत-सी पुस्तके लिखीं या अनुवाद की जिनमे से अधिकाश अब भी मौजूद है—

१. सिंहासन बत्तीसी—राजा भोज के गड़े हुए सिंहासन के सम्बन्ध की बत्तीस कहानियाँ संस्कृत में मशहूर है । "सन् १५७५ ई० मे शाहंशाह ने मुझ पर बहुत मेहरबानी फरमाई और बडी मुहब्बत से कहा . "सिंहासन बत्तीसी की बत्तीस कहानियाँ जो राजा विक्रमादित्य के बारे में है, संस्कृत से फारसी मे अनुवाद करके 'तूती नामा' के रंग पर गद्य-पद्य मे तैयार करो और एक पृष्ठ नमूना के तौर पर आज ही पेश करो । भाषा जानने वाला एक ब्राह्मण मदद के लिए दिया गया । उसी दिन मैंने कहानी के आरम्भ का एक पृष्ठ तर्जुमा करके पेश किया । पसंद फरमाया ।"

समाप्त करके इसका नाम 'नामये-खिरद अफजा' (प्रज्ञावर्धिका) रखा गया। मुल्ला बदायूँनी के अनुवाद का काम इस पुस्तक से शुरू हुआ। फैजी की तरह वह संस्कृतज्ञ न थे, पर हरेक अनुवाद के लिए संस्कृतज्ञ पंडित मिल जाता था जो पुस्तक को देखकर सम्भवतः भाषा में कहता था जिसका अनुवाद फारसी में मुल्ला कर डालते थे । अकबर के जमाने में बहुत-सी संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद इसी तरह हुए ।

२. अथर्वन वेद—१५७५-७६ (हिजरी ६८३) में 'अथर्वन वेद' के अनुवाद करने का हुक्म हुआ । दक्खिन का कोई मुसलमान हुआ ब्राह्मण शेख बहावन बादशाह के चेलों में शामिल हुआ । उसने बतलाया कि हिन्दुओं के चौथे वेद अथर्वन में इस्लाम की बातें मिलती हैं । उसमें मुसलमानी कलमा "ला इलाहऽइल्ल-लल्लाहऽ" (कोई दूसरा भगवान् नहीं, सिवाय अल्ला के) की तरह लकार बहुत आते हैं और कुछ शर्तों के साथ गाय के गोश्त को भी भक्ष्य कहा गया है । मुर्दे जलाने और दफनाने की बात भी है । जान पड़ता है, किसी मुसलमान बने पंडित या मुसलमान प्रभुओं के खुशामदी ने इस नकली 'अथर्वन वेद' को बनाया । शायद इसी का अवशिष्ट भाग 'अल्ला उपनिषद्' नकली उपनिषदों के पुलिन्दे १०८ उपनिषदों में अब भी मौजूद हैं । मुल्ला लिखते हैं कि उसके कितने ही वाक्यों का अर्थ वह ब्राह्मण भी नहीं बतला सकता था । पहले फैजी को, फिर हाजी सरहिंदी को यह काम दिया गया । उनसे पार नहीं लगा, तो मुल्ला के सुपुर्द हुआ और उन्होंने इसे पूरा किया ।

३. तारीख अलफी—सन् १५८२ ई० (हिजरी ९९०) में यह ख्याल आया कि हजरत मुहम्मद के हिजरत करने का हजारहवाँ साल पूरा होने वाला है। इस समय एक ऐसा इतिहास लिखा जाय जिसमें हजार साल के मुसलमान बादशाहों का इतिहास हो। अरबी मे हजार को 'अलिफ' कहते हैं—"अलिफ लैला" का अर्थ है, हजार रात इतिहास का नाम 'तारीख-अलफी' रखना निश्चित हुआ था। इतने वृहद् ग्रन्थ को एक आदमी नहीं लिख सकता था, इसलिए अलग-अलग हिस्से बाँटे गये। पैगम्बर की मृत्यु के एक-एक वर्ष का हाल बाँटकर सात आदमियों को दिया गया। पहला साल नकीब खाँ को, दूसरा शाह फतहुल्ला को। इसी तरह एक-एक भाग हकीम हुमाम, हकीम अली हाजी इब्राहीम सरहिंदी, मिर्जा निजामुद्दीन अहमद और मुल्ला बदायूँनी को लिखने को मिला। दूसरे सप्ताह फिर इसी तरह सात आदमी निश्चित किये गए। पैगम्बर की मृत्यु के बाद के ३५ सालों का वर्णन लिखा जा चुका था। एक रात अकबर मुल्ला के लिखे हुए सातवें साल का वर्णन सुन रहा था। उसमें दूसरे खलीफा उमर के समय की कुछ कथाएँ आई थीं जिनमें शिया-सुन्नी के मतभेदों का उल्लेख था। नसीबीन मेसोपोतामिया का बहुत अच्छा शहर और विद्या का केन्द्र था। उसके ऊपर मुसलमानों की विजय की बात कहते हुए मुल्ला ने लिखा था : जब इस्लामी पलटन वहाँ पहुँची, तो मुर्गों के बराबर के बड़े-बड़े चींटें निकले। बादशाह इसे सुन कर बहुत आक्षेप करते मुल्ला से पूछ बैठा—ऐसी बातें क्यों लिखीं ?

मुल्ला ने कहा—"मैंने जो किताबों में देखा, सो लिखा, अपने से गढ़ा नहीं।"

मुल्ला के कहे अनुसार खजाने (पुस्तकागार) से मूल किताबों को मँगाकर नकीब खाँ को जाँच करने को कह दिया। शेख बदायूँनी की जान बची जब नकीब खाँ ने कहा—सचमुच यह बातें किताबों में हैं।

मुल्ला निजामुद्दीन अहमद पक्के शिया थे। अकबर के जमाने में छूट थी, इसलिए जो मन में आया, वह लिखा। चंगेज खाँ के समय (१३वीं सदी के प्रथम पाद) तक की उसने दो जिल्दें लिख डालीं। लोगों से सुना कि इस शिया ने सुन्नियों और उनके बुजुर्गों पर बड़ा कीचड़ उछाला है, तो मिर्जा फौलाद बिरलस को बड़ा क्रोध आया। वह मुल्ला अहमद के घर गया दोनों घर से साथ निकले। रास्ते में फौलाद ने मुल्ला को मार डाला। कातिल को भी उसके किये का दण्ड मिला। उसके बाद हिजरी ९९० (१५८२ ई०) तक का इतिहास आसफ खाँ ने लिखा। हिजरी १००२ (१५९३-९४ ई०) में मुल्ला बदायूँनी को हुक्म हुआ कि तारीख को शुरू से मिलाकर देखो और सनों में आगे-पीछे जो हो गया हो, उसे ठीक कर दो। पहली और दूसरी जिल्द को बदायूँनी ने ठीक

किया, तीसरी जिल्द को आसफ खाँ पर छोड़ दिया। इस प्रकार 'तारीख-अलफी' के कुछ भागों को मुल्ला बदायूँनी ने स्वयं लिखा और तीन जिल्दों में से दो जिल्दों के संशोधन का काम भी उन्होंने किया।

४. **महाभारत**—इसी साल (१५६३-६४ ई० में) महाभारत के अनुवाद का काम शुरू हुआ। अकबर ने इस समय 'शाहनामा' और दूसरी पुस्तकें सुनी थीं, कुछ को तो एक से अधिक बार भी। अकबर को ख्याल आया, हमारे हिन्द में भी ऐसी पुस्तकें होंगी। उसी समय उसे महाभारत के बारे में बतलाया गया और कहा गया, उसमें तरह-तरह की कथाएँ, उपदेश, नीतिवाक्य, जीव, धर्म, ज्ञान और उपासना की विधि आदि बतलाई गई है। हिन्द के लोग इसे पढ़ने और लिखने को महा उपासना मानते हैं। 'शाहनामा' और 'अमीर हमजा की कथा' को बादशाह ने सचित्र लिखवाया था। अब वह भारत के इस महान ग्रन्थ को फारसी में देखने के लिए इतना उत्सुक हो गया कि पंडितों को इकट्ठा करके उनके मुँह से सुनकर स्वयं फारसी में उसे नकीब खाँ को बोलता और वह उसे लिखता जाता था। लेकिन महाभारत जैसे डेढ़ लाख श्लोकों के बड़े ग्रंथ का स्वयं अनुवाद करना सम्भव नहीं था, इसलिए तीसरी रात मुल्ला बदायूँनी को बुलाकर फरमाया—"नकीब खाँ के साथ मिलकर तुम इसे लिखा करो।" तीन-चार महीने में वह १८ पर्वों में से सिर्फ दो पर्वों का अनुवाद कर सके। इधर अनुवाद होता और उधर रात को उसे बादशाह को सुनाना पड़ता। बदायूँनी कट्टर मुल्ला थे, काफिरों की पुस्तकों के अनुवाद करने को भी महापाप समझते थे। हिजरी ६६६ (१५६०-६१ ई०) में इसी पाप को धोने के लिए मुल्ला ने कुरान लिखकर उसे अपने पीर शेख दाऊद जहनी की कब्र पर अर्पित किया और दुआ की कि इससे उनके वह पाप धुल जायें। बादशाह ने उनके अनुवाद में कट्टरपन की छाया देखी, तो बड़ा फटकारा और हरामखोर कहा।

बाकी अनुवाद का काम मुल्ला शेरी और नकीब खाँ को दिया गया। हाजी सुल्तान थानेसरी ने भी कुछ काम किया। फैजी को गद्य-पद्य में लिखने के लिए हुक्म हुआ जो दो पर्व से आगे नहीं बढ़ सका। बादशाह ने मुल्लों की कारस्तानी से बचाने के लिए हुक्म दिया कि मक्षिका-स्थाने मक्षिका अनुवाद करो। मुल्ला साहब इस कुफ्र की किताब के अनुवाद के प्रति अपनी सहज घृणा दिखलाते हुए लिखते हैं—"अधिकतर तर्जुमा करने वाले कौरवों और पांडवों के पास पहुँच गये हैं। जो बाकी हैं, उन्हें खुदा नजात दे और उनकी तोबा मंजूर करे।"

फिरदौसी के महान ग्रंथ का नाम 'शाहनामा' (राजग्रन्थ) है जिसमें कवि ने ईरान के वीरों की गाथाएँ बड़े सुन्दर ढंग से पद्यबद्ध की हैं। भारत के वीरों

के इस महाग्रंथ का नाम बादशाह ने 'रज्मनामा' (युद्ध-ग्रन्थ) रखा। महाभारत का अर्थ आज की तरह उस समय भी महायुद्ध लिया जाता था। इस ग्रन्थ को बादशाह ने दो-दो बार सचित्र लिखवाया और अमीरों को भी हुक्म दिया कि वह पुण्य समझकर ऐसा करें। अबुलफजल ने आठ पृष्ठ की इस पर भूमिका लिखी। एक इतिहासकार ने लिखा है : मुल्ला साहब को इस काम के लिए १५० अशर्फियाँ और दस हजार रुपया इनाम मिला था। मुल्ला ने कुफ्र की कमाई समझकर इस बात को छिपाने की कोशिश की।

५. **रामायण**—९९२ हिजरी (१५८४ ई०) मे बादशाह ने वाल्मीकि रामायण का तर्जुमा करने का काम मुल्ला बदायूँनी के सुपुर्द किया। वह २५ हजार श्लोको की पुस्तक महाभारत से भी पुरानी है। मुल्ला अपनी तारीख मे गुपचुप डंक लगाते कहते है—"एक कहानी है। रामचन्दर अवध का राजा था। उसको राम भी कहते है और अल्लाह की महिमा का प्रकाश समझकर पूजते हैं। उनका संक्षिप्त वृत्तांत यह है : उसकी रानी सीता पर आशिक हो उसे एक दस-सिरवाला देव (राक्षस) हर ले गया। वह लंका के टापू का मालिक था। रामचन्द अपने भाई लखमन के साथ उस टापू में पहुँचा, बन्दरों और रीछों की बेशुमार लश्कर जमा की। ...चार सौ कोस का पुल समन्दर पर बाँधा। किन्हीं-किन्हीं बन्दरों के बारे में कहते है, वह कूद-फाँदकर पार हो गये। कुछ अपने पाँवों से पुल पर चलकर उतरे। ऐसी बुद्धि-विरोधी बाते बहुत है जिसे अकल न हाँ कहती, न ना। किसी तरह रामचन्दर बन्दर पर चढ़कर पुल से उतरा। एक सप्ताह घमासान लड़ाई हुई। रावण को बेटों-पोतों समेत मारा। हजार वर्ष का खानदान बरबाद कर दिया और लंका उसके भाई को देकर लौट आया। हिन्दुओं का विश्वास है कि रामचन्दर पूरे दस हजार वर्ष हिन्दुस्तान पर हुकूमत करके अपने ठिकाने पर पहुँचा। ये बातें सच नहीं, केवल कहानी हैं, केवल ख्याल हैं, जैसे शाहनामा और अमीर हमजा का किस्सा।" मुल्ला साहब को रामायण-महाभारत की कहानियाँ सिर्फ किस्सा मालूम होती थीं, लेकिन नसीबीन के मुर्गों के बराबर चीटें सच जान पडते थे। लाहौल वाला कूवत।

६. **मुअजमुल-बलदान**—दो सौ जुजों (४० हजार श्लोक के बराबर) की इस पुस्तक की तारीफ एक दिन हकीम हुमाम ने बादशाह से की। बादशाह ने कई अनुवादकों के जिम्मे यह काम सुपुर्द किया। मुल्ला के हिस्से दस जुज आये जिसे उन्होंने एक महीने में अरबी से फारसी में कर दिये। बादशाह ने मुल्ला की भाषा और काम की चुस्ती देखकर प्रसन्नता प्रकट की।

७. **नजातुर्-रशीद**—उपर्युक्त पुस्तक समाप्त करने के बाद मुल्ला बीमार हो पाँच महीने की छुट्टी लेकर शमशाबाद में अपनी जागीर पर जाते ख्वाजा

निजामुद्दीन के साथ हो लिये । घर मे जाकर इस पुस्तक को मुल्ला ने ख्वाजा के कहने पर लिखा । पुस्तक मे मेहदीपंथ का विस्तार के साथ वर्णन आया है । मुल्ला ने उसे इतनी अच्छी तरह से लिखा है कि इसे देखकर अनजान आदमी कह सकता है कि मुल्ला बदायूँनी खुद मेहदी-पंथी थे । लेकिन, मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी मेहंदी पर उन्होंने जो यह कृपा की, उसका कारण दूसरा ही था । मुहम्मद जौनपुरी के दामाद शेख अबुलफजल गुजराती से मुल्ला बदायूँनी की बहुत घनिष्ठता थी । मेहंदी-पंथी लोग केवल आर्थिक समानता का ही प्रचार नहीं करते थे, बल्कि उनमें संतों-सूफियो की तरह ध्यान योग भी चलता था । शरीयत के बहुत से क्रिया-कलापों मे वह दूसरे मुसलमानों से भी एक कदम आगे थे । इसी कारण मुल्ला बदायूँनी ने मेहंदीपंथियों के साथ इंसाफ करते हुए उस पंथ के ज्ञान-ध्यान की शिक्षा के उपकार से अपने को पंथियों के साथ इंसाफ करते हुए, उस पंथ के ज्ञान-ध्यान की शिक्षा के उपकार से अपने को उऋण करना चाहा ।

इसी साल जब कि वह छुट्टी पर बीमार होकर बदायूँ पहुँचे, बादशाह ने 'सिहासन बत्तीसी' को फिर से अनुवाद करने के लिए कई बार हुक्म भेजे । पहला अनुवाद किताबखाने से गुम हो गया था । अकबर की बेगम सलीमा सुल्तान को वह बहुत पसन्द आया था और उन्होंने बादशाह से बार-बार इसका तकाजा किया । मुल्ला बादशाह के हुक्म की अवहेलना करके बदायूँ में डटे रहे । अकबर ने हुक्म दिया—इसकी माफी बन्द करो और आदमी भेजो, वह उसे पकड़कर लाये । शेख अबुलफजल ने ढाल का काम किया और मुल्ला बच गये ।

८. **जामेअ-रशीदी**—अरबी की इस इतिहास की पुस्तक की तारीफ सुनकर बादशाह ने तर्जुमा कराना चाहा । मिर्जा निजामुद्दीन अहमद आदि ने इस काम को मुल्ला बदायूँनी को सुपुर्द करने की सलाह दी । मुल्ला पहुँचे, तो उन्हें अल्लामी शेख अबुलफजल की सलाह से अनुवाद करने के लिए हुक्म हुआ । इस ग्रन्थ में बनी-उमैया, अब्बसिया, मिस्री खलीफों का विशद वर्णन है । इस्लाम की सेवा थी, इसलिए मुल्ला ने बड़ी खुशी से इस काम को किया ।

९. **मुन्तखिबुत्-तवारीख**—यह मुल्ला बदायूँनी का सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक ग्रन्थ है । इसे उन्होंने पैसे के लिए नहीं, बल्कि इतिहास-प्रेम के लिए लिखा । यद्यपि उदार विचार वालों के ऊपर खुलकर डंक लगाने में कोई कसर नहीं उठा रखी, पर इसे इतिहासकार के दोटूक फैसले का नमूना भी कह सकते हैं । अकबर के अन्तिम सालों और जहाँगीर के शासन से बहुत मुश्किल से इसे बचकर निकलना पड़ा । जहाँगीर को जब मालूम हुआ, तो इसे नष्ट करने की कोशिश की, परन्तु तब तक वह एक से हजार हो चुका था और उसको खतम नहीं किया जा सकता था ।

अपनी तलवार का जिस तरह दुरुपयोग कट्टर सैनिक हुसेन खाँ टुकड़िया ने किया, कुछ-कुछ उसी तरह अपनी कलम का दुरुपयोग मुल्ला बदायूँनी ने करना चाहा; पर, दुरुपयोग की जगह अक्सर वह सत्य को प्रकट करने में सफल हुए ।

टोडरमल १२

(मृ० १५८९ ई०)

१. आरंभिक जीवन

अबुलफजल राजनीति और शासन में अद्वितीय थे। मानसिंह महान सैनिक थे। दोनों के गुण अकबर के जिस नवरत्न में मौजूद थे, वह थे टोडरमल। टोड़र का जन्म अवध में सीतापुर जिले के लहरपुर गाँव में १६वीं सदी के प्रथम पाद के अन्त में हुआ था। टंडनखत्री होने के कारण कितने ही लोग उन्हें लाहौरी-पंजाबी बनाना चाहते हैं, पर जिस तरह आचार्य नरेन्द्रदेव खत्री होने से पंजाबी नहीं हो सकते, वैसे ही टोडरमल भी पंजाबी नहीं, अवध के थे। बेवा माँ ने बड़ी गरीबी में इस अद्भुत प्रतिभा के धनी पुत्र को पाला था और जैसे-तैसे करके उसे शिक्षा भी दिलाई थी। लेकिन, उस समय कौन कह सकता था कि लहरपुर का एक अनाथ बच्चा एक समय सारे हिन्दुस्तान का विधाता बनेगा। टोडरमल ने लड़ाइयों में अपनी तलवार का जौहर दिखाया, लेकिन उसका प्रभाव उसी समय तक रहा। पर, देश के शासन-प्रबन्ध और भू-कर-व्यवस्था के लिए जो नियम टोडरमल ने निकाले, उसकी छाप सारे मुगल-शासन और अँग्रेजी शासन से होते आज भी मौजूद है।

पहिले वह मामूली दफ्तरी मुन्शी नियुक्त हुए। फिर अमीर मुजफ्फर खाँ के दफ्तर में पहुँचे। हर जगह उनके काम को देखकर लोग प्रभावित हुए। अन्त में अकबर के दफ्तर में दाखिल हुए। वह हरेक चीज को बहुत सोच-समझकर करते थे। नियम की पाबन्दी और काम की सफाई तो उनके स्वभाव में थी। जो भी सीखने-जानने लायक बात होती, उसके पीछे पड़ जाते। काम काम को सिखाता है और टोडरमल हरेक काम को खूब अच्छी तरह से करना चाहते थे। सरकारी कागज-पत्रों की जानकारी में उनका ज्ञान अपने सहकारियों से जल्दी ही आगे बढ़ गया। बड़ी सल्तनत के अभिलेखों और कागज-पत्रों का क्या ठिकाना था ? लेकिन, उस जंगल में से किसी चीज को तुरन्त लाकर बादशाह के सामने रख देना टोडरमल के बायें हाथ का खेल था। अब बादशाह को उन्हें अपने साथ रखना अनिवार्य हो पड़ा।

टोडरमल बड़ा पूजा-पाठ करते थे। एक बार वह बादशाह के साथ सफर में थे। किसी दिन कूच के समय जल्दी-जल्दी में उनके ठाकुर जी का सिंहासन छूट गया या किसी ने वजीर का बहुमूल्य बटुवा समझकर चुरा लिया। टोडरमल बिना पूजा किए न कोई काम करते थे, न अन्न मुँह में डाल सकते थे। उन्होंने

खाना छोड दिया । बादशाह को मालूम हुआ, तो बुलाकर समझाया —"ठाकुर जी चोरी गये, तो अन्नदाता ईश्वर तो मौजूद है, वह तो चोरी नही गया ? स्नान करके उसका ध्यान करके खाना खाओ । आत्महत्या किसी धर्म में पुण्य नही है।" टोडरमल ने अकल की बात मान ली । एक तरफ टोडरमल अपने धर्म के बारे मे इतने कट्टर थे तो दूसरी ओर वह समय की माँग को समझते थे । वह सबसे पहले आदमी थे जिन्होंने अपनी धोती-मिर्जई छोड़ी और उसकी जगह पर बरजू (पायजामा) पहनकर ऊपर से चोगा धारण किया, पैरों मे मोजे चढ़ाये और तुर्कों का रूप बनाकर घोडे दौड़ाने लगे । उस समय जामिनी भाखा (फारसी) पढने से हिन्दू परहेज करते थे । टोडरमल ने इस बेवकूफी से बाज आने के लिए कहा और उनके जैसे भक्त की देखादेखी हिन्दू फारसी पढकर दफ्तर के बडे-बडे दर्जों पर पहुँचने लगे ।

२. दीवान (वजीर)

सबसे पहले टोडरमल का उल्लेख अकबर के सिंहासन पर बैठने के नवें वर्ष (१५६५ ई०) में मिलता है । हुमायूँ को भारत में दुबारा सफल बनाने में जिन सेनापतियों ने सहायता की, उनमें अली कुली खाँ खानजमाँ भी था । वह उज्बेक तुर्क था । हेमू को हराने में उसका विशेष हाथ था । जौनपुर सूबे का वह सूबेदार था । वह, उसका भाई बहादुर तथा उसके चाचा इब्राहीम बादशाह से बागी हो गये । उन्होंने अपने खिलाफ भेजी गई सेना को हरा दिया और वह नीमसार (जिला सीतापुर) में हटने के लिए मजबूर हुई । खानेजमाँ और उसके साथी नही चाहते थे कि उनका यह झगड़ा आगे बढ़े । वह अनुकूल शर्त के साथ सुलह करने के लिए तैयार हुए । लेकिन टोडरमल ने इसका विरोध किया ।

चित्तौड़, रणथम्भौर, सूरत के संग्रामों में भी टोडरमल ने भाग लिया था । लाखों की प्यादा, सवार, तोपखाना, हाथियों की पलटन का इन्तजाम करना आसान काम नहीं था । टोडरमल ने उनका इन्तजाम इतनी अच्छी तरह से किया कि सभी खुश थे । वह सिपाहियों की तरह चुस्त और व्यवस्था-प्रशंसक थे । हिजरी ६८० (१५७२-७३ ई०) में अकबर ने उन्हें गुजरात के दफ्तर और माल-बन्दोबस्त करने के लिए भेजा । कागज-पत्र का जंगल पार करना हरेक के बस की बात नहीं है, लेकिन टोडरमल के लिए वह कोई चीज नहीं थी । कुछ ही दिनों में उन्होंने सब कागज ठीक करके बादशाह के सामने पेश कर दिये ।

बिहार में ६८१ हिजरी (१५७३-७४ ई०) में मुनअम खाँ सेनापति था । लड़ाई का फैसला नहीं हो रहा था । अकबरी जेनरल लड़ाई लड़ने की जगह आराम ज्यादा पसन्द करते थे । बादशाह जानता था, टोडरमल केवल कलम और

शासन-प्रबन्ध में ही कुशल नहीं है । उसने उन्हें सेना का प्रबन्ध करने के लिए भेजा । टोडरमल मुनअम खाँ की लश्कर में पहुँचे जो दुश्मन के मुकाबिले मे खडी थी । उन्होने सेना का हिसाब-किताब देखा । बड़े-बड़े बुड्ढे तजुर्बेकार तुर्क सेनापति वहाँ मौजूद थे । वह हुमायूँ और कुछ तो बाबर के समय अपना जौहर दिखलाते आये थे । वह भला एक कलम चलाने वाले गुमनाम मुत्सद्दी का अपने ऊपर देखरेख करना क्यो पसन्द करते ? लेकिन, वह यह भी जानते थे कि यह मुत्सद्दी ही नहीं, अकबर की कान और आँख है, अपनी योग्यता का परिचय दे चुका है । टोडरमल की व्यवस्था के अनुसार लड़ाई हुई । पठान हार कर भागने के लिए मजबूर हुए। पटना पर बादशाही झण्डा गड गया । टोडरमल को इस सफलता के लिए झण्डा और नगाड़ा मिला । बिहार के बाद बंगाल की ओर बढ़ना था । उसके लिए जो जेनरल नियुक्त किये गए, उनमें फिर टोडरमल का नाम आया, वस्तुतः इस मुहिम के वही प्राण थे । बंगाल की राजधानी पहले गौड़ (जिला मालदा) थी, लेकिन मलेरिया के कारण उसे टाँडा में परिवर्तित करना पड़ा था । टाँडा में बादशाही सेना की जो जबर्दस्त फतेह हुई, उसमें मुनअम खाँ के साथ टोडरमल का नाम सबसे पहले आया ।

दाऊद खाँ बिहार, बंगाल का प्रभु, पठानों का सबसे जबर्दस्त मुखिया था । उसने शाही सेना को अनेक बार परेशान किया था । एक जगह की हार से वह हिम्मत हारने वाला नहीं था । उसने अपने बाल-बच्चों को रोहतास के किले में छोड़कर बादशाही सेना पर झपट्टा मारा । यह ऐसा जबर्दस्त आक्रमण था कि मुनअम खाँ को भी सफलता में सन्देह मालूम होने लगा । शाही सेना के व्यूह के बीच में सेनापति मुनअम खाँ का झण्डा लहरा रहा था । दुश्मन के हरावल ने जबर्दस्त हमला करके शाही हरावल को पीछे ढकेलना शुरू किया । टोडरमल पंक्ति के दाहिने पार्श्व में थे । वह अपनी जगह से टस से मस नहीं हुए और अपनी सेना के साथ बराबर डटकर लड़ते रहे । दुश्मन ने खबर उड़ा दी कि मुनअम खाँ मर गया । जब लोगों ने टोडरमल से यह बात कही, तो उन्होंने कहा—" "खानखाना नहीं रहा, तो क्या हुआ ? हम अकबरी प्रताप के सेनापतित्व में लड़ रहे हैं ।" लड़ाई जोर-शोर से जारी रही । अफगानों का सेनापति गूजर खाँ मारा गया । पठान भागने के लिए मजबूर हुए और मैदान शाही सेना के हाथ रहा । टोडरमल की तलवार ने जौहर दिखलाया, दाऊद खाँ के नाकों दम कर दिया और ९८३ हिजरी (१५७५-७६ ई०) में दाऊद ने सुलह की प्रार्थना की । उसके प्रतिनिधि, खानखाना मुनअम खाँ और अमीरों के खेमे में पहुँचे । लड़ाई लड़ते-लड़ते वह थक गये थे, इसलिए सुलह करने के लिए उतावले थे । लेकिन, टोडरमल सुलह के विरुद्ध थे । उन्होंने कहा —"दुश्मन

की जड़ उखड़ चुकी है, थोड़े से प्रयास से पठान खतम हो जायेंगे । अपने आराम और इनकी प्रार्थना पर ध्यान मत दो । धावा किए जाओ और पीछा न छोड़ो ।" अमीरों ने बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन टोडरमल ने नहीं माना । इस पर भी सुलह की गई । टोडरमल ने सुलहनामे पर अपनी मुहर नहीं लगाई । विजय की खुशी मनाई गई, पर उसमें भी टोडरमल शामिल नहीं हुए ।

यहाँ के काम से छुट्टी होने पर बादशाह ने टोडरमल को बुला भेजा । वह बंगाल की बहुत-सी बहुमूल्य भेंटों के साथ चुने हुए ५४ हाथी भी अपने साथ लाये । बंगाल उस समय अपने हाथियों के लिए बहुत मशहूर था ।

दीवान (१५७६ ई०)—बादशाह ने टोडरमल को सल्तनत के दीवान का पद दिया और थोड़े ही दिनों बाद उन्हें 'वज़ारतकुल' और 'वकालत-मुस्तकिल' (स्थायी वकील) के पद प्रदान कर अपनी सल्तनत का वित्त-मंत्री बना दिया । इसी साल खानखाना मुनअम खाँ मर गया । दाऊद खाँ ने तो अपने मतलब के लिए सुलह की थी । वह उस पर क्यों कायम रहता ? सारे बिहार-बंगाल में फिर आग लग गई । शाही अमीर तलवार पर सान देने की जगह अपने थैलों को भर रहे थे । काम बिगड़ता देखकर अकबर ने अपने एक जेनरल खानेजहाँ हुसेन कुल्ली खाँ (बैरमखाँ के बहनोई) और टोडरमल को यह काम सौंपा । बिहार में पहुँचने पर टोडरमल ने शाही जेनरलों की जो हालत देखी, उससे उनको बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ । एक तरफ तो वह सुस्ती और बेपरवाही दिखा रहे थे और दूसरी तरफ खानेजहाँ तथा टोडरमल के नीचे रहना पसन्द नहीं करते थे । कितनों ने ही जलवायु का बहाना करके छुट्टी लेनी चाही । किन्हीं ने कहा : खानेजहाँ किज़िलबाश (शिया) है, हम उसके नीचे काम नहीं कर सकते । टोडरमल ने समझा-बुझाकर, डरा-धमका कर, लोभ-लालच देकर उन्हें ठीक किया और इस प्रकार सेना लड़ने लायक हो गई । टोडरमल सिर्फ कलम और जबान के ही धनी नहीं थे । विन्सेण्ट स्मिथ ने उन्हें अकबर के योग्यतम जेनरलों में कहा है । वह तलवार का हाथ दिखाने में सबसे चुस्त थे । उन्हीं के कारण बंगाल का बिगड़ा हुआ काम फिर ठीक हो गया ।

दाऊद खाँ सबसे भयंकर शत्रु था । शेरशाह की जाति और समय का सरदार था । उसके इर्द-गिर्द पूर्व के सारे पठान जमा हो गये थे । टोडरमल जानते थे कि पठान शेरशाह के जमाने को भूल नहीं सकते, उनसे कभी स्थायी सुलह नहीं हो सकती, खासकर जब तक कि दाऊद खाँ उनका नेता है । बरसात के दिन थे । लड़ाई हो रही थी । दोनों तरफ के वीर दिल खोलकर लड़ रहे थे । पठानों की शिकस्त हुई, दाऊद खाँ पकड़ा गया । उसे जिन्दा रहने में खतरा समझ कर कतल कर दिया गया । दाऊद खाँ के खतम होने के साथ पठानों की रीढ़ टूट

गई । टोडरमल ने दरबार में हाजिर हो ३०४ हाथी भेंट किये—मालूम ही है, अकबर को हाथियों का बहुत शौक था; बिगड़ैल से बिगडैल हाथी को बस में करना उसके बायें हाथ का खेल था ।

३. महान जेनरल

गुजरात में (१५७६-७७ ई०)—गुजरात मे वजीर खाँ को असफल देखकर अकबर ने मैंने अतमुद्दौला (राज्य-विश्वासपात्र) टोडरमल को इस काम के लिए भेजा । उन्होंने जाकर सुल्तानपुर के इलाके के इन्तजाम को देखा, फिर सूरत गये । भड़ौंच, बड़ौदा, चम्पानेर, पाटन के दफ्तरों को देखने से पता लग गया कि शासन-प्रबन्ध में कहाँ खराबी है । इसी अव्यवस्था से शत्रुओं ने फायदा उठाया था । अकबर के चचा कामरान की बेटी बाबर के कृपापात्र तैमूरी शाहजादा इब्राहीम मिर्जा को ब्याही थी । वह अपने बेटों को लेकर गुजरात आई । असंतुष्ट लोग उसके झण्डे के नीचे आकर जमा हो गए । वजीर खाँ में मुकाबला करने की ताकत नहीं थी, वह किलाबन्द होकर बैठ गया । टोडरमल के पास दौड़ा-दौड़ा आदमी गया । वह दफ्तर का काम छोड़ तलवार लेकर उठ पड़े । वजीर खाँ को किले से खींचकर बाहर मैदान में लाये । विद्रोहियों ने बड़ौदा पर अधिकार कर लिया था । उधर चल पड़े । बड़ौदा चार कोस रह गया जब कि बागियों को खबर लग गई । वह दुम दबा कर भागे । आगे-आगे बागी भागते जा रहे थे, पीछे-पीछे टोडरमल। खम्भात गये, तो टोडरमल भी वहाँ पहुँचे । जूनागढ़ में भी शरण नहीं मिली, वह भाग कर धोलका गये जहाँ उन्हें लड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा । विद्रोहियों का नेता मेहरअली कुलाबी वजीर खाँ को नहीं, राजा टोडरमल को यमराज के रूप में देख रहा था । वह समझता था, अगर किसी तरह टोडरमल को हम खतम कर दें, तो काम बन जाय। लेकिन, टोडरमल लड़ाई के मैदान के जबर्दस्त खिलाड़ी थे । उनके सामने दाल गलती न देखकर कुलाबी, वजीर खाँ के ऊपर टूट पड़ा । टोडरमल उसकी रक्षा के लिए वहाँ मौजूद थे । लड़ाई में कामरान की बेटी हारी । पिता के जानी दुश्मन की बेटी नये तरीके से लड़ाई लड़ रही थी । बेगम की देखादेखी औरतों में भी जोश आया था । मर्दाना पोशाक में बाकायदा औरतों की सेना तैयार हुई थी । तीर, भाला और दूसरे हथियारों को चलाना उन्होंने सीखा था । युद्धबन्दियों में काफी तादाद स्त्री सैनिकों की थी । लूट के सामान और हाथियों के साथ टोडरमल ने इन स्त्री सैनिकों को भी ज्यों का त्यों, मर्दाना लिबास में तीर-कमान हाथ में दे दरबार में भेज दिया । टोडरमल का पुत्र धारा उन्हें सीकरी ले गया ।

बंगाल में (१५८० ई०)—टोडरमल अपने सहायक ईरानी महागणक ख्वाजा शाह मंसूर के साथ हिसाब-किताब सँभालने में लगे । इसी समय सारी

सल्तनत को बारह सूबों में बाँटा गया। सूबों के शासक सिपहसालार कहे जाते थे जिन्हें पीछे सूबेदार कहा जाने लगा। विभाग के अध्यक्ष दीवान (वित्तमंत्री), बख्शी (सैनिक-वेतन विभाग), मीर-अदल (मृत्यु-दंडनायक), सद्र (धर्मादा-अध्यक्ष), कोतवाल (पुलिस), मीर-बहर (नाव जहाज, घाट आदि के अध्यक्ष) और वाकयानवीस (घटना-लेख-अध्यक्ष) बनाये गये। बंगाल की गड़बड़ी के कारण टोडरमल को सारा बोझ शाह मंसूर के ऊपर छोड़कर जनवरी, १५८० ई० में उधर रवाना होना पड़ा। पहले बंगाल में विद्रोह करने वाले पठान होते थे, लेकिन अब शाही अफसरों ने बगावत का झण्डा उठाया था। तारीफ यह कि ये सबके सब तुर्क और मुगल अर्थात् अकबर के अपने रक्त-सम्बन्धी थे। अकबर तीन पुश्त से देख चुका था कि मतलब के सामने खून कुछ काम नहीं करता और जातभाई तुर्कों-मुगलों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। इसीलिए तो उसने मानसिंह और टोडरमल जैसों को अपनी ढाल बनाया था। इसमें क्या शक, यदि अकबर ने हिन्दुओं को अपनी ओर न किया होता, तो उसे कभी इतनी सफलता नहीं मिलती। टोडरमल उन लोगों के खिलाफ भेजे गये थे जो बादशाह के स्वजन कहे जाते थे। वह नियमनिष्ठ हिन्दू थे जबकि बागी सबके सब मुसलमान थे। वह यह भी समझते थे कि आखिर यह लोग भी तख्त के जबर्दस्त सहायक रहे है और आगे भी इनकी जरूरत होगी। वह चाहते थे कि उन्हें समझा-बुझाकर रास्ते पर लायें। उधर बागी टोडरमल के आने की बात सुनकर आपे से बाहर हो गये। उन्होंने चाहा कि किसी ढंग से उनका काम तमाम कर दिया जाय। लेकिन टोडरमल हर तरह से चुस्त थे। वह बागियों को चीरते-फाड़ते मुंगेर पहुँचे। आत्मरक्षा के लिए जरूरी था कि मुंगेर को एक जबर्दस्त रक्षा-दुर्ग का रूप दिया जाय। उन्होंने वहाँ गंगा के किनारे एक आलीशान किला खड़ा किया। चार महीने तक बागियों ने उन्हें घेरे रखा। टोडरमल ने ऐसा प्रबन्ध कर लिया था कि बागी और अधिक दिनों तक ठहरने की हिम्मत नहीं कर सके। वह भागने के लिए मजबूर हुए। शाही सेना ने आगे बढ़कर तेलियागढ़ी के घाटे पर अधिकार कर लिया। घाटा राजमहल की पहाड़ियों और गंगा के बीच में अवस्थित है और इसे बंगाल का दरवाजा कहा जाता था। बंगाल के विद्रोह को दबा देने के बाद फिर टोडरमल को दिल्ली लौटना पड़ा। शासन, विशेषकर वित्त-प्रबन्ध को भी उनकी उतनी ही आवश्यकता थी जितनी सेना को।

'दीवानकुल'—लौटने पर अकबर ने टोडरमल को दीवानकुल (सारे राज्य का वित्त-मंत्री) बना दिया। १५८२ ई० में टोडरमल ने भोज दिया। अकबर उनके घर गया। १५८५ ई० में वह चारहजारी मन्सब पर थे।

पश्चिमोत्तर सीमान्त पर (१५८६ ई०)—अकबर ने कश्मीर को लेने से पहले स्वात उपत्यका को अपने हाथ में करना चाहा। इसी मुहिम में बीरबल को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। अपने नर्म-सचिव के मारे जाने का अकबर को बहुत अफसोस हुआ। खबर मिलते ही उसने टोडरमल को इस मुहिम पर भेजा। मानसिंह जमरूद में (पेशावर के पास) डेरा डाले पडे थे। उनसे मिलकर काम करना था। टोडरमल ने जाकर कोहलंगर के पास स्वात की बगल मे छावनी डाली। वहाँ की स्थिति काबू में लाने मे बहुत देर नही हुई। फिर बाकी काम को मानसिंह पर छोडकर टोडरमल लौट आये।

टोडरमल अब बूढे हो चुके थे। भक्त पुरुष थे। चाहते थे, अपना अन्तिम समय हरद्वार मे गंगाजी के किनारे भगवान के भजन मे बिताये। बादशाह के पास इसके लिए प्रार्थना की। बादशाह ने पहले उनको खुश करने के लिए स्वीकृति का फरमान भेज दिया, लेकिन उसके बाद ही दूसरा फरमान पहुँचा : भगवान का भजन भगवान के बन्दों की सेवा और सहायता करने से बढकर नहीं है, इसी सेवा को भजन मानो। स्वीकृति-पत्र पाने पर वह हरद्वार की ओर चलते लाहौर में अपने बनवाये तालाब के किनारे पडे थे। यहीं दूसरा फरमान मिला। वह लौट पडे। लेकिन, उन्हें बहुत समय सेवा करने का मौका नहीं मिला। ग्यारहवे दिन उनको अपनी जाति के ही एक आदमी ने (लाहौर मे) मार डाला जिसे उन्होने किसी अपराध के लिए दण्ड दिया था। चाँदनी रात थी। हत्यारे ने बूढे के ऊपर वार किया। राजा भगवानदास के मरने के पाँच दिन बाद नवम्बर, १५८६, में टोडरमल ने भी अपनी जीवन-लीला समाप्त की। इसमें क्या शक, कि टोडरमल का अकबर के नवरत्नो में बहुत ऊँचा स्थान था। इतिहासकार मुल्ला बदायूँनी तो किसी अ-मुस्लिम के यश को फूटी आँखों नही देखना चाहता था। उसने टोडरमल की मृत्यु पर हर्ष प्रकट करते हुए कहा —

टोडरमल आँकि जुल्मश् ब-गिरफ्तऽ बूद् आलम्।
चूँ रफ्त सूये-दोजख खल्के शुदन्द खुर्रम्।

(टोडरमल, जिसके जुल्म ने दुनिया को दबा रखा था। जब नरक की ओर गया, तो लोग खुश हो गये।)

४. महान् प्रशासक

मुल्ला और कितने ही औरों को भी टोडरमल पसन्द नहीं आ सकते थे, क्योंकि यह बहुत खरे आदमी थे, हिसाब-किताब की गड़बड़ी उनकी पकड़ से नहीं बच पाती थी। बदायूँनी ने खुद उनके काम के बारे में लिखा है (बदायूँनी २।१९२)—१५७५ ई० में अकबर के दिमाग में आया कि राज्य को प्रबन्ध के

लिए बाँटते वक्त करोड़-करोड़ की मालगुजारी का एक-एक इलाका बनाया जाय। पता लगा, ऐसा करने से देश को १८२ भागों में बाँटा जा सकता है। करोड़ से मतलब करोड दाम का था। दाम, द्रम्य या द्राख्मा के रूप मे एक ग्रीक सिक्का था जो बाख्त्रिय-ग्रीक के चाँदी के सिक्को के रूप में एक रुपये के करीब होता था। पर, अकबर के वक्त दाम ताँबे का सिक्का रह गया था। इसमें ३१५ से ३२५ ग्रेन ताँबा होता था। डबल दाम भी होते थे जिसी के नाम पर हमारे यहाँ अँग्रेजी जमाने मे भी पैसे को डबल कहा करते थे। इसमें ६१८ से ६४४ ग्रेन तक ताँबा रहता था। अकबरी रुपया करीब-करीब हमारे रुपये के बराबर ही था, अर्थात् १७.२५ ग्रेन (१५ ग्रेन मास)। दाम को २५ जीतलों में बाँटा गया था, पर वह केवल हिसाब के लिए था, उसका कोई सिक्का नहीं था। एक रुपये में ४० दाम हुआ करते थे, अर्थात् एक करोड़ दाम का अर्थ है ढाई लाख रुपया। ढाई लाख की आमदनी के करोड़ी महाल बनाये गए जिनको अफसर आमिल या करोड़ी कहा जाता था। बदायूँनी के अनुसार—

"एक करोड़ का नाम आदमपुर रखा गया था, दूसरे के शेखपुर, तीसरे का अयूबपुर। इसी प्रकार दूसरे पैगम्बरों के नाम के अनुसार दूसरों के नाम थे। इसके लिए अफसर 'करोड़ी' नियुक्त किये गये थे। वह नियम की पाबन्दी नहीं करते थे। करोड़ियों की लूट-खसोट के कारण देश का बड़ा भाग उजड गया था। रैयतों के बीवी-बच्चे बेचे जाकर तितर-बितर हो गये थे। हरेक जगह भारी अव्यवस्था फैली थी। करोड़ियों को टोडरमल ने खूब ठीक किया। अपने जुल्मों के लिए उनमें से कितने ही मारे गये, कितने ही खूब पिटे। सांसत करने में कोई कसर उठा नहीं रखी गई। बहुतेरे मालगुजारी-अधिकारी जेलखानों में बहुत समय तक पड़े रहते मर गये, जल्लाद या तलवार से मारने वाले की जरूरत नहीं पड़ी। उनको कब्र और कफन देने की जरूरत थी।"

जनता के लुटेरों को ऐसे कड़े हाथ से दबाने वाला सर्वजनप्रिय आदमी भला कैसे अफसरों का प्रिय हो सकता था।

"करन चहत निज प्रभु कर काजा।" यह पंक्ति मानो समकालीन महान कवि तुलसीदास ने टोडरमल के लिए ही लिखी थी—एक टोडरमल तुलसीदास के भी भक्त थे, पर वह यह टोडरमल नहीं थे। वाराणसी में इनके बसने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। हरद्वार में वह गंगावास जरूर करना चाहते थे, लेकिन उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। टोडरमल के चरणों में अपने आप लक्ष्मी और सम्मान पहुँचे, पर वह मान के नहीं, काम के भूखे थे। उनके बराबर युद्धकुशल व्यक्ति अकबर के पास बहुत नहीं थे। उन्होंने अपने युद्धकौशल को बंगाल में, गुजरात में, पश्चिमोत्तर सीमान्त में अनेक बार दिखलाये, लेकिन कभी

इच्छा नहीं की कि मैं इन मुहिमों का मुख्य सेनापति बनाया जाऊँ। किसी भी सेनापति के सहायक रह कर वह अपने प्रभु का कार्य करना चाहते थे। लड़ने के लिए पलटन को हथियार से लैस करना, उसे संचालित करना बड़े कौशल का काम है, लेकिन उससे भी बड़ा काम है : पलटन की रसद, कमसारियट का ठीक से प्रबन्ध करना। नदियो के रास्ते मे हजारों नावों की आवश्यकता पड़ती थी, लाखो आदमियो के लिए खाद्य-सामग्री भी उसी परिमाण में और समय पर चाहिए। इस काम को टोडरमल उतनी ही सफलता और सुगमता से कर लेते थे, जैसे भूमि और वित्त के प्रबन्ध को।

१५८२ ई० में उन्हीं के सुझाव पर मुद्रा में सुधार हुआ। जीतल, दाम, डबल दाम, रुपया आदि का सुधार यद्यपि शेरशाह ने किया था, पर उसको और सुव्यवस्थित रूप देना टोडरमल का काम था। उन्होंने दफ्तर का हिसाब-किताब रखने के भी कायदा-कानून बनाये थे। पर ऐसी कोई कृति मौजूद नहीं है जिसे हम केवल उनकी कह सकें। 'खजाने-इसरार' (वित्त-रहस्य) नामक एक फारसी पुस्तक के बारे में शम्शुल-उलमा आजाद कहते हैं—"मैंने बड़ी कोशिश से कश्मीर में जाकर पाई। लेकिन, भूमिका देखी, तो आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह १००५ हिजरी (१५९६-९७ ई०) की कृति है जब कि वह खुद १५८९ ई० में मर गये थे। शायद उनकी याददाश्त की किताब पर किसी ने भूमिका जोड़ दी। ...उसके दो भाग है—एक में धर्म, ज्ञान, ध्यान, पूजा-पाठ आदि-आदि और दूसरे में दुनिया का कारबार। दोनों में छोटे-छोटे बहुत से अध्याय हैं। हर बात का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है—..आचार और जीवन यात्रोपाय के अतिरिक्त कला, संगीत, सगुन... आदि। इस किताब से यह भी मालूम होता है कि वह अपने धर्म का पक्का और विचारों का पूरा था, हमेशा ज्ञान-ध्यान में रहता था, पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्यों को अक्षरशः पूरा करता था।" कलम का धनी होने पर भी जान पड़ता है, टोडरमल उसे अपने दफ्तर तक ही सीमित रखना चाहते थे। इसलिए अबुलफजल की तरह इस मैदान में अपना जौहर नहीं दिखा सके। 'दीन-इलाही' का बहुत जोर था, लेकिन टोडरमल पर उसका कोई असर नहीं पड़ा। अकबर सात खून माफ समझने वाला आदमी था। वह गुणों की कदर करता, दोषों की उपेक्षा कर जाता था। अबुलफजल भला क्यों चाहते कि ऐसा लायक आदमी 'दीन इलाही' में न आये। वह लिखते हैं —"बादशाह ने वित्तीय और राजकीय मामलों को उसकी सुबुद्धि के हवाले करके हिन्दुस्तान का दीवानकुल बनाया। वह सच्चा और निर्लोभी, अच्छा राजसेवक था। बिना लालच काम-काज करता था। क्या ही अच्छा होता यदि द्वेष और बदला लेने का भाव उसमें न होता। उसके मन के क्षेत्र में जरा नर्मी फूट निकलती। यह भी ठीक है, यदि धार्मिक पक्षपात का रंग

वह चेहरे पर न फेरता, तो इतनी निन्दा के योग्य न होता। इस सबके बाद भी कहना पड़ेगा कि वह पूरे दिल से निर्लोभी, परिश्रमी और कदरदान राजसेवक था। वह कमनजीर नही, बल्कि बेनजीर था।"

दाग का नियम—अकबर को शुरू से ही लड़ाइयों के भीतर से गुजरना पड़ा और मरने के समय के करीब तक उनसे पिण्ड नही छूटा। यथालाभ संतुष्ट वह कैसे हो सकता था जबकि वह सारे भारत को एक और मजबूत देखना चाहता था। इस काम के लिए साम दाम से काम लेना चाहता था, लेकिन अन्त में फैसला तलवार पर ही होता था। इसीलिए सेना को सदा तैयार रखना जरूरी समझता था। उस समय सूबो के अफसरो को सिपहसालार (सेनापति) कहा जाता था और सरकारो (जिलों) के अफसरों को फौजदार। यह भी उसी बात को बतलाता है। असैनिक व्यवस्था सैनिक प्रबन्ध के अधीन थी, इसलिए सैनिक संख्या के रूप मे ही मन्सबों को बॉटा गया था —दहबाशी (दसिक अफसर), बीसती (बीसी), दो-बीसती (चालीसा), पजाही (पचासा), सेहबीसी (साठी), चहारबीसती (असीक), नूजबाशी (नब्बई), सदी (शतिक), पजसदी (पंचशतिक), हजारी, दोहजारी, सेहजारी (तीन हजारी) चार हजारी, पंजहजारी (पॉच हजारी)। मन्सब के मुताबिक अफसर को उसी संख्या मे आदमियो और सैनिक असबाब अपने साथ रखने पडते थे। पंजहजारी मन्सबदार को पॉच हजार पैदल सेना के अतिरिक्त ईराकी, तुर्की, ताजिकी, आदि जाति के ३३७ घोड़े, पॅच दर्जों के सौ हाथी, माल ढोने के लिए ८० ऊँट, २० खच्चर और १६० बैलगाडियॉ रखनी पडती थीं। उन्हें इस खर्च के लिए २८ हजार से ३० हजार रुपया मासिक वेतन मिलता था। यह इसलिए था कि अवसर आने पर बिना देर किये फौजें तैयार रहे और उन्हे जरूरत के स्थान पर ले जाया जा सके। पर, अफसर तनखाह का पैसा और दूसरा खर्च अपनी जेब मे रख नाममात्र के सैनिक और घोडे अपने साथ रखते थे। जब खबर मिलती, तो इधर-उधर दौड-धूप करके अपनी पलटन पूरी करने की कोशिश करते। देखभाल के समय तुरन्त सवार नौकर रख लेते और परेड मे दिखला कर फिर छुट्टी कर देते। घोडो का देखना जब एक जगह हो जाता, तो उन्ही को दूसरी जगह ले जाकर दिखला देते। यह खुली धोखा-धड़ी बड़ी खतरनाक थी। इसकी रोकथाम के लिए यह जरूरी समझा गया कि घोड़ों को दाग दिया जाये। उसी ख्याल से आजकल वोट देने वालों के अँगूठे पर रंग लगा दिया जाता है जिससे वह दूसरे नाम से वोट न दे सकें। यह दाग का काम ऐसा था जिसे बडे से छोटे अफसर तक पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि वहाँ पैसे का सवाल था। इस कड़वे काम को करने का जिम्मा जिस आदमी के ऊपर हो, वह कैसे लोगों को खुश रख सकता था। टोडरमल की यही मुश्किल थी।

टोडरमल राज्य-शासन के सारे रहस्यों के ज्ञाता, हिसाब-किताब के काम में बेनजीर थे। वह मंत्रालय के कायदे-कानून, सल्तनत के विधान, रैयत की भलाई, दफ्तर के कायदे को ठीक-ठाक से चलाने के गुर जानते थे। कोष को भरपूर रखना, यातायात के साधनों को कायम रखना, परगनों की मालगुजारी की दर निश्चित करना, जागीरों की तनखाह, अमीरों के मन्सबों के नियम टोडरमल ही ने बनाये थे जो उनके बाद भी अँग्रेजों के आने तक और कुछ तो उनके राज्य में भी चलते रहे। काम हैं—

१. गाँव-गाँव और परगने की मालगुजारी उन्होंने बाँधी।

२. नापने की ५५ गज की जरीब सूखी-गीली होने के अनुसार घट-बढ़ जाती थी। टोडरमल ने बाँस या नर्कट की ६० गज की जरीब मुकर्रर की जिसकी बीच-बीच में लोहे की कड़ियाँ डलवाई जिसमें कि अन्तर न पड़े।

३. उन्हीं के सुझाव के अनुसार हिजरी ६८२ (१५७४-७५ ई०) में सारे मुल्क को बारह सूबों में बाँटा गया और दससाला बन्दोबस्त मुकर्रर हुआ। राज्य में कुछ गाँवों का परगना, कितने ही परगनों की सरकार (जिला) और कितनी ही सरकारों का एक सूबा बनाया गया।

४. रुपये के ४० दाम ठहराये गये। दफ्तर मे परगना की लगान दामों में दर्ज होती।

५. करोड़ दाम पर एक आमिल (अफसर) मुकर्रर करके उसका नाम करोड़ी रखा गया।

६. अमीरों (जेनरलों) को अपने अधीन नौकर सैनिक रखने पड़ते थे। उनके घोड़ों के लिए दाग का नियम निश्चित किया गया। जिसमें एक जगह का घोड़ा दो-दो, तीन-तीन जगह न दिखा सके और कमी के कारण ठीक वक्त पर हर्ज न हो...।

७. बादशाही नौकरों को सात टोलियों मे बाँटा गया। सप्ताह के सातों दिन अपनी पारी के अनुसार हर टोली में से आदमी आकर चौकी में हाजिर रहते थे।

८. हर रोज एक-एक आदमी चौकी नवीस मुकर्रर होता जो ड्यूटी पर आने वालों की हाजिरी लेता। वही प्रार्थना या हुक्म आदि को जारी करता या उचित स्थान पर पहुँचाता।

९. हर हफ्ते के लिए सात वाकया-नवीस (घटना-लेखक) मुकर्रर होते जो ड्योढ़ी पर बैठे सारे दिन का हाल लिखा करते।

१०. अमीरों और खानों के अतिरिक्त चार हजार एक्का सवार खास शाही प्रतिहार (गारद) थे, इन्हें अहदी (एक्का) कहते थे। इनका दारोगा (अफसर) भी अलग होता था।

११. अकबर ने कई हजार खरीदे गुलाम या युद्धबन्दी दासों (गुलामों) को दासता से मुक्त कर दिया था । उन्हें चेला कहा जाता था । अकबर का कहना था—भगवान के सभी बन्दे मुक्त है, उन्हें गुलाम (दास) कहना उचित नहीं है... ।

१२ भारत के राजा या बादशाह क्रय-विक्रय, दीहात की मालगुजारी, कर-उगाही, नौकरो की तनखाहो का हिसाब तंकों में किया करते थे, पर देते थे पैसे । चाँदी की ढलाई वाले चाँदी के तंके कहलाते जिन्हें राजदूतों और डोमों (नर्तकों) को इनाम में दिया करते थे । उनका साधारण चलन नहीं था । वह बाजार में चाँदी के मोल बिकते थे । टोडरमल ने मन्सबदारों और मुलाजिमों की तनखाहे इन्हीं चाँदी के तंकों मे जारी कीं और नियम वनाया कि गाँवों से रुपये में कर वसूल किया जाये । रुपये का वजन ११ मासा रखा । "उसमें ४० दाम माने गये...। वही नौकरों को तनखाह में मिलती थी और उसी रुपये के अनुसार सभी गाँवों, कस्बों, परगनों की जमा सरकारी दफ्तरों में लिखी जाती थी । इसका नाम अमल-नकद-जमाबन्दी रखा गया था । मालगुजारी इस तरह निश्चित्त की जाती कि बरसाती जमीन के गल्ले में आधा काश्तकार और आधा बादशाह का हिस्सा है । दूसरे में चौथाई खर्च और क्रय-विक्रय की लागत लगा कर गल्ले में से एक-तिहाई बादशाही और दो-तिहाई किसान का । ऊख आदि आला जिन्स कहलाती थीं । इनमें पानी, देखभाल, कटाई आदि की मेहनत्त अनाज से ज्यादा लगती थी, इसलिए उपज में से खेत के अनुसार चौथाई, पाँचवाँ, छठा या सातवाँ हिस्सा बादशाही हक और बाकी काश्तकार का हक था । ..."

टोडरमल जैसे कुशल जेनरल और योग्य शासक पर अकबर का विशेष पक्षपात होना उचित था । चित्तौड के मुहासिरे (दिसम्बर, १५६७ ई०) में एक सुरंग के उड़ाने का जिम्मा टोडरमल को मिला था । १५७३ में सूरत में शत्रु की शक्ति की जाँच का काम उन्हें मिला था । १५७३ ई० में गुजरात का भूकर-बन्दोबस्त उन्होंने किया । गुजरात के बिगड़े शासन को ठीक करने के लिए अकबर ने उन्हें सूबेदार बनाकर १५७६ ई० में वहाँ भेजा था ।

टोडरमल को इतनी जिम्मेवारियों का काम देने से नाराज कुछ मुसलमान अमीरों ने बादशाह के पास शिकायत की : आपने एक हिन्दू को मुसलमानों के ऊपर इतना बड़ा अधिकार दे दिया है, यह उचित नहीं है । इस पर अकबर ने कहा—"हर कुदाम शुमा दर-सरंकारे-खुद् हिन्दुये दारद् । अगर माहम हिन्दुये दाश्तऽवाशीम्, चिरा अज-ओ बद बायद बूद्।" (आप में से हरेक अपने कारबार में हिन्दू मुंशी रखते हो । अगर मैंने भी हिन्दू रखा, तो उससे क्या बुरा होगा ।)

१. बाल्य

हिन्दू के पहले युग में सर्वेसर्वा मुसलमान कवि थे, यह मंझन, कुतबन, जायसी की कृतियों से मालूम है। इनसे पहले मैथिली के विद्यापति और काशी के कबीर ही हिन्दी-गगन के चमकते नक्षत्र थे। फिर अकबर का समय आया जबकि हिन्दी कविता को बहुत आगे बढ़ने का मौका मिला। इस युग में जहाँ सूर और तुलसी जैसे सूरज-चाँद उदय हुए, वहाँ रहीम भी हमारी कविता के उन्नायक बने। उनकी हिन्दी कविता कितनी चुभती है, यह इसी से मालूम है कि उनके दोहे तुलसी की चौपाइयों की तरह लोगों के मुँह पर चढ़े हुए हैं। उनके एक-एक दोहे में गागर में सागर की तरह गम्भीर अर्थ और तजुर्बा भरा होता है। उनकी कविताओं में साम्प्रदायिक संकीर्णता की गंध नहीं मिलती। इतनी उदारता का कारण क्या है, इसे समझना बहुत मुश्किल नहीं है। हम जानते हैं कि चार वर्ष के रहीम १६ वर्ष के अकबर की छत्रछाया में पले थे---अकबर, जिसने साम्प्रदायिकता को अपने ही हृदय से नहीं, बल्कि देशवासियों के हृदय से ही उखाड़ फेंकना चाहा। रहीम के पिता बैरम खानखाना भी उसी तरह उदार थे। वह स्वयं कई पीढ़ियों के शिया थे। भारतवर्ष में सुन्नियों का बोलबाला था, शियों के ऊपर कुफ्र का फतवा होते देर नहीं लगती थी। इसलिए भीतर से शिया रहते उन्हें बाहर से सुन्नी दिखना पड़ता था। बाबर शिया शाह इस्माईल का एक बार कृपापात्र और शिया भी था। हुमायूँ को भी ईरान के शिया बादशाह का सहारा मिला था। यह भी कहा जाता है कि वह भीतर से शिया था। शिया सम्प्रदाय ने ईरान में सांस्कृतिक उदारता का प्रसार किया और भारत में भी उसके विचार उदार रहे। जब बाप पर शिया होने का सन्देह किया जाता था, तो बेटे रहीम पर क्यों न किया जाता जिसकी अपनी उदारता में हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं था। हिन्दुओं की भाषा में कविता करता, हिन्दू कवियों को मुक्तहस्त होकर दान देता। लेकिन इस तरह के सन्देह के शिकार उस समय और भी थे। अकबर के महामंत्री अबुलफजल और उनके बड़े भाई तथा अपने समय के अद्वितीय विद्वान फैजी को शिया कहा जाता था। दोनों के पिता मुबारक ने अपने उदार विचारों के कारण बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेलीं।

बीच के थोड़े दिनों में सैयद, लोदी और सूर राजवंशों को छोड़कर दिल्ली के मुसलमान शासक सभी तुर्क थे। गुलाम, खिलजी और तुगलक तीनों मध्य एशिया के तुर्क थे और अन्तिम मुगल राजवंश भी। तुर्कों के साथ इन राजवंशों का विशेष पक्षपात होना स्वाभाविक था। अन्तिम मुस्लिम काल में तो चार राजनीतिक

दलो की प्रतिद्वन्द्विता थी जिनमें ईरानी दल के नेता मुर्शिदाबाद और लखनऊ के शिया नवाब थे । पठानो का एक अलग मजबूत दल था जिनमें बंगशों और रुहेलों की प्रधानता थी । तीसरा दल मुल्कियों का था जिनके नेता सैयद-बन्धु थे । चौथा दल शाही समझा जाता था, इसे तूरानी कहते थे । तुर्कों की मध्य-एशिया की भूमि को तुर्किस्तान और तूरान दोनों कहा जाता था । आरम्भ मे तूरानी दल सबसे बलिष्ठ था । बाबर-हुमायूँ-अकबर-जहाँगीर के समय इस दल की शक्ति बड़ी जबर्दस्त थी । तूरान (तुर्किस्तान) में कई तुर्क जातियाँ थीं । आज उनके ही प्रतिनिधि कजाक, किर्गिज, उज्बक, तुर्कमान हैं । बाबर और उनके वंशज आजकल के उज्बेकिस्तान से आये थे । उन्हें उज्बक कहा जा सकता है यदि भाषा और जाति का ख्याल किया जाये । लेकिन मंगोल खान उज्बक के वंशज शैबानी खान ने बाबर को मध्य-एशिया से भगाया था, इसलिए वह उज्बकों का नाम भी सुनने के लिए तैयार नही था । दरअसल शैबानी खानदान ने ही देश को उज्बेक नाम दिया । उससे पहले बाबर के समय वह अपने को चगताई कहते थे । चगताई महान विजेता चिंगीज खान का द्वितीय पुत्र था । वह मंगोल था जबकि उसकी प्रजा, वहाँ के लोग तुर्क थे । जो भी हो, बाबर के तुर्क, उसके पोते के समय भी अपने को चगताई कहते थे । बैरम खाँ चगताई नही, बल्कि तुर्कमान तूरानी दल के अभिन्न अग थे । अन्तिम मुगल-काल मे तूरानी दल का मुखिया निजामुल्मुल्क भी तुर्कमान था जिसने हैदराबाद मे अपने राज्य की स्थापना की ।

बैरम के पूर्वज तैमूर की विजयों में उसके सहायक थे । उन्होंने बड़े-बड़े दर्जों पर रह कर अपने स्वामी की सेवा की थी । कराकुलू तुर्कमानों के बहारलू कबीले का सरदार यारअली बाबर की सेवा में रहा । यारअली का पुत्र सैफअली अफगानिस्तान में मुगलो की ओर से शासक था । उसका बेटा बैरम अभी छोटा ही था जबकि बाप मर गया । वह हुमायूँ का समवयस्क था । अपनी योग्यता से उसने हुमायूँ को और पीछे उसके पिता बाबर को खुश किया । संगीत और साहित्य की चर्चा उसके खानदान में बराबर रहती थी । बैरम के यहाँ गवैयों और वादकों की बड़ी कदर थी । वह स्वयं अपनी मातृभाषा तुर्की और फारसी का कवि था । योग्यता के बारे में क्या कहना ? हुमायूँ के भारत को पुनः प्राप्त करने में बैरम खाँ का बड़ा हाथ था । हुमायूँ के समय में भी राज का देखना बैरम के हाथ में रहा और अकबर के आरम्भिक शासन में बैरम की कितनी चलती थी, इसे सभी जानते हैं ।

बैरम की कई बीवियाँ थीं जिनमें से एक हुमायूँ की भांजी सलीमा भी थी । इससे यह भी मालूम होगा कि बैरम खाँ का सम्बन्ध शाही खानदान से था । कई बेगमों के रहने पर भी बैरम को सन्तान बहुत पीछे हुई । उसका

बड़ा बेटा रहीम तो बाप के मरने से चार वर्ष पहले पैदा हुआ था, और शाहजादियों से नही । उसकी माँ हसनखाँ मेवाती की भतीजी थी । मामा उन्हीं मेघ लोगो का सरदार था जो अब भी रोहतक-भरतपुर मे बड़ी संख्या में रहते है । आरम्भिक मुस्लिम शासन में हिन्दू मेघो ने दिल्ली के शासको का नाको दम कर रखा था । पीछे वह सबके सब मुसलमान हो गये । हसन खाँ मेवाती की एक भतीजी (जमाल खाँ की बेटी) रहीम की माँ थी और मौसी अकबर की बेगमों मे से थी । अब्दुर्रहीम का जन्म लाहौर में सफर १४ तारीख ६६४ हि० (मंगलवार १७ दिसम्बर, १५५६ ई०) में हुआ । रहीम के जन्म से कुछ ही महीने पहले पानीपत में हेमू को हरा कर मुगल राजवंश की पुनः नीव पड़ी थी ।

बैरम खाँ तुर्कमान हुमायूँ के पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठने में सबसे बड़ा सहायक था, यह बतला आये है । अकबर गद्दी पर बैठने के समय १३ वर्ष ही का था । बैरम बाप को भी अँगुली पर नचाता था, इसलिए बेटे को यदि दुधमुँहा बच्चा समझे, तो आश्चर्य क्या ? लेकिन, अकबर बहुत दिनों तक दुधमुँहा रहने के लिए तैयार नहीं था । उसके १६-१७ वर्ष के होने तक बैरम खाँ का सितारा डूबने लगा । उसके सामने अकबर ने तीन प्रस्ताव रखे : या तो हमारे दरबारी बन करके रहो या चँदेरी-कालपी के जिले के हाकिम बन जाओ अथवा हज करने जाओ । खानखाना जिस जगह पहुँचा था, वहाँ से नीचे उतरने के लिए वह तैयार नहीं था । उसने हज को ही स्वीकार किया । चार वर्ष का अब्दुर्रहीम भी बाप के साथ था । गुजरात के खम्भात बन्दरगाह से मक्का की तरफ जाने वाले जहाज को पकड़ना था । पठानों के साथ बैरम खाँ ने जिस तरह का बर्ताव किया था, उससे वह उसे क्षमा करने के लिए तैयार नहीं थे । पाटन में पहुँचने पर ३०-४० पठानों के साथ मुबारक खाँ लोहानी मुलाकात करने आया और हाथ मिलाने के बहाने बैरम की पीठ में तलवार घुसेड़ दी । खंजर आर-पार हो गया । फिर एक तलवार और सिर पर मार कर उसने वहीं उसे खतम कर दिया । कातिल ने कहा, माछीवाड़ा में इसने मेरे बाप को मारा था, उसी का मैंने आज बदला लिया ।

हिजरी ६६८ (१५६० ई०) में रहीम अनाथ हो गया । उसकी एक मौसी अकबर की बेगम थी । यह खबर अकबर तक पहुँची । उसे बहुत अफसोस हुआ । सलीमा सुल्तान बेगम चार वर्ष के बच्चे को लेकर किसी तरह अहमदाबाद पहुँची । दरबार में आने के सिवा कोई चारा नहीं था । चार महीने बाद आगरा की ओर चलने का इन्तजाम हुआ । अकबर ने ढांढ़स बँधाते हुए अपने फरमान में लिखा कि माँ-बेटे को अच्छी तरह दरबार में लाओ । फरमान उन्हें जालोर में मिला । आगरा पहुँचने पर शाही महलों में सलीमा बेगम को उतारा गया ।

अकबर ने रहीम के ऊपर कृपा दिखलाते उसकी सलीमा को अपनी बीवी बनाया। जिस वक्त रहीम सामने लाया गया, तो अकबर ने आँसू बहाते हुए उसे गोद में उठा लिया। लोगों से सख्त हिदायत की कि बच्चे के सामने कोई खानबाबा (बैरम खाँ) का जिक्र न करे, पूछे तो कह दे कि खुदा के घर में हज्ज करने गये। इस प्रकार १५६० में रहीम अकबर का पुत्र-सा बन गया। वह उसे प्यार से मिर्जा खाँ कह कर पुकारा करता था। रहीम का बाप साहित्य-संगीत-कला में प्रवीण पुरुष था। रहीम के विश्वासपात्र नौकर और उसके परिवार का उसके निर्माण में बहुत हाथ था। अकबर भी उसकी शिक्षा-दीक्षा का बराबर ध्यान रखता था। तुर्की और फारसी रहीम की मातृभाषाएँ थीं। माँ के हरियाना के होने से हिन्दी भी उसके लिए मातृभाषा जैसी थी। इन तीनों भाषाओं पर रहीम का अधिकार था। अरबी भी अच्छी तरह पढ़ता था —हिन्दुस्तान मे अरबी दरबारी जबान नही, पर धर्म और दर्शन के लिए उसका बहुत ऊँचा स्थान माना जाता था।

रहीम असाधारण सुन्दर तरुण था। चित्रकार उसकी तस्वीरें उतारते थे जिन्हें अमीर लोग अपनी बैठकों में सजाने के लिए लगाते थे। होश सँभालते ही रहीम का शायरों और कवियों, संगीतज्ञों और कलाकारों से सम्पर्क हुआ।

२. महान सेनापति

लेकिन, अकबर रहीम को कलाकार नहीं, सैनिक बनाना चाहता था। रहीम के जीवन का अधिकांश भाग सिपाही के तौर पर ही बीता। अभी वह नौ ही वर्ष का था जब अकबर ने उसे 'मनअम खान' की उपाधि प्रदान की। १६ वर्ष की उमर (१५७३ ई०) में जब अकबर गुजरात-विजय के लिए चला, तो रहीम सैनिक अफसर के तौर पर उसके साथ गया। इसी वक्त अकबर ने दो महीने की यात्रा सात दिन में पूरी की थी। १६ वर्ष के लड़के रहीम का साथ जाना बतलाता है कि वह कितना जीवट वाला था। १६ वर्ष की उमर (१५७६ ई०) में अकबर ने रहीम को गुजरात का राज्यपाल बनाया। मिर्जा खान नहीं चाहता था कि दूर रहे, लेकिन अकबर ने उसे मजबूर किया। रहीम ने इस छोटी उमर में भी अपनी योग्यता दिखलाई। अगले साल अकबर का चित्तौड़ के महाराणा से युद्ध हुआ, रहीम ने उसमें भाग लेकर अपनी योग्यता दिखलाई। अगले साल २४ वर्ष की उमर (१५८१ ई०) में रहीम को रणथम्भौर की जागीर मिली। २६ वर्ष की उमर (१५८२ ई०) में वह जहाँगीर का अतालीक नियुक्त हुआ। अतालीक तुर्की शब्द है जिसका अर्थ गुरु और शिक्षक है। उस वक्त क्या मालूम था कि आज रहीम जिसका अतालीक बन रहा है, वही अपने अतालीक को अन्तिम जीवन में तड़पा डालेगा।

गुजरात से अनुपस्थित रहने पर वहाँ की बगावत ने फिर गम्भीर रूप लिया। गुजरात में जौनपुर की तरह एक शाही खानदान कई पीढ़ियों तक राज्य करता रहा। दिल्ली से बाहर रहने वाले मुसलमान सुल्तानो की तरह गुजराती सुल्तान भी अपनी हिन्दू प्रजा को अपनी तरफ करने में बहुत सफल हुए, इसलिए उन्हें मुगलों के खिलाफ बगावत करने में सहायक मिल जाते थे। दूसरों को इस काम में सफल न देखकर २७ साल के रहीम को अकबर ने सेनापति बना कर भेजा और रहीम ने विजय प्राप्त की। अकबर ने रहीम को 'खानखाना' की उपाधि प्रदान की। मध्य-एशिया मे खान राजा को कहते थे। यह मंगोल शब्द इसी अर्थ में बराबर प्रचलित रहा। १६१७ ई० तक बुखारा की हुकूमत से बादशाह को छोड कोई दूसरा अपने नाम के साथ खान नहीं लगा सकता था। हिन्दुस्तान में उसका मूल्य जरूर कम होने लगा, लेकिन वह आज की हालत में नहीं पहुँचा था। 'खानखाना' का अर्थ राजाधिराज है। २७ वर्ष की उमर में रहीम ने अपने बाप की इस उपाधि को भी प्राप्त किया।

अबुलफजल, फैजी भीतर से शिया और बाहर से सुन्नी थे। बैरम खाँ की भी यही बात थी। इस ख्याल से भी रहीम अबुलफजल के बहुत नजदीक थे। अबुलफजल अकबर का प्रधान-मंत्री ही नहीं था, बल्कि राजकाज में उसी की राय सर्वोपरि मानी जाती थी। रहीम के साथ अबुलफजल को बहुत स्नेह था।

३. महान लेखक

३४ वर्ष की उमर (१५६० ई०) में रहीम ने अकबर की आज्ञा से बाबर के आत्मचरित 'तुज्क-बाबरी' का फारसी में अनुवाद किया। बाबर हमारे यहाँ एक विजेता, योग्य शासक और सेनापति के तौर पर मशहूर हैं। लेकिन मध्य-एशिया में उसे महान साहित्यकार माना जाता है, गद्य और पद्य दोनों में। 'तुज्क-बाबरी' चगताई तुर्की गद्य का महान ग्रन्थ है। उस समय जिसे चगताई तुर्की कहते थे, आज उसी को उज्बकी कहते हैं। उज्बकी स्कूलों और कालेजों में बाबर की कृतियाँ बड़े सम्मान के साथ पढ़ी जाती हैं। इसी साल रहीम को जौनपुर की जागीर मिली। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग के सम्पर्क में आने का इस तरह अब्दुर्रहीम को मौका मिला—रहीम के बरवे पर अवधी-भोजपुरी का असर है। अधिक दिनों तक रहीम का जौनपुर से सम्बन्ध नहीं रहा और अगले ही साल उन्हें मुल्तान की जागीर मिली। अकबर चाहता था, वह वहाँ जायें, इसीलिए उन्हें इस तरफ जागीर दी। ३७ वर्ष की उमर (१५६३ ई०) में रहीम ने अकबर के लिए कन्दहार को जीता। बादशाह रहीम की जीतों को अपनी जीत समझता था। उसे रहीम के साथ विशेष प्रेम का एक यह भी कारण था कि जहाँ अपने उत्तराधिकारी से विद्रोह

का डर हो सकता था, वहाँ रहीम से उसकी कभी सम्भावना नहीं थी। सबसे ज्यादा खतरा और कठिनाई का सामना जहाँ होता, वहाँ वह रहीम को भेजता। अहमदनगर को अकबर ने अपने राज्य में मिलाना चाहा। वीरांगना चाँद बीबी से मुकाबिला था। दूसरो के असफल होने पर ३६ वर्ष की उमर (१५६५ ई०) मे रहीम को वहाँ भेजा गया। मुकाबिला आसान नहीं था, पर रहीम भी असाधारण सेनापति थे। ५ फरवरी, १५६७ ई० को अहमदनगर पर उन्होने विजय प्राप्त की। इसी साल उनकी बीवी महाबानू और पुत्र हैदरी की मृत्यु हो गई।

४. दुस्सह जीवन

अकबर के शासन का अंतिम समय था, जबकि अकबर के पुत्र दानियाल का १६०४ ई० में देहान्त हो गया। दानियाल रहीम का दामाद था। पुत्र और दामाद का इस तरह वियोग रहीम को ४६ वर्ष की उमर तक पहुँचने पर सहना पड़ा। रहीम ५० साल के हो चुके थे जब कि जहाँगीर गद्दी पर बैठा।

अभी भी रहीम दक्षिण के सेनापति थे। ५३ वर्ष की उमर (१६०८) में बूढ़े सेनापति को अहमदनगर में पहली हार खानी पड़ी। ५६ वर्ष (१६११ ई०) मे उन्हे कन्नौज-कालपी की जागीर मिली। सोचा, बाकी जीवन शान्ति से बीतेगा। अगले ही साल उनकी पोती और शाहनवाज की बेटी का ब्याह उत्तराधिकारी शाहजहाँ से होना बड़ी प्रसन्नता की बात थी। अगले साल रहीम का सबसे बड़ा बेटा एरज मर गया, उसके अगले साल दूसरा लड़का रहमान दाद भी चल बसा। रहीम अपने पुत्रों की मृत्यु देखने के लिए दीर्घजीवी थे।

बाप-दादों की तरह ही जहाँगीर चाहता था कि उसकी सल्तनत काबुल, कन्दहार से और आगे बढ़े, इसलिए बीच में फिर से कन्दहार का हाथ से निकल जाना उसे पसन्द नहीं आया। जहाँगीर ने १६२१ ई० में चाहा कि बूढ़े सेनापति शाहजहाँ को लेकर फिर से कन्दहार को विजय करे। यदि वह उधर गये होते, तो शायद उनके जीवन के अन्तिम वर्ष दूसरी तरह के होते। इसी बीच शाहजहाँ और उसके भाई शहरियार का झगड़ा हो गया। शहरियार नूरजहाँ के पहले पति की पुत्री से ब्याहा दामाद था और शाहजहाँ सौतेला बेटा। जहाँगीर शाहजहाँ को चाहता था, लेकिन नूरजहाँ के सामने जबान भी नहीं हिला सकता था। धौलपुर की जागीर नूरजहाँ ने शहरियार को दिलवाई थी। वही जागीर गलती से शाहजहाँ को मिल गई। दोनों के अनुयायियों में खून-खराबा की नौबत आई। शाहजहाँ रहीम का पोता-दामाद था, इसलिए इस बात को लेकर जहाँगीर के साथ बूढ़े अतालीक का मनमुटाव हो गया। मनमुटाव फिर भीषण दुश्मनी में बदल गया। जहाँगीर ने रहीम के पुत्र दाराब का सिर काटकर भेंट के तौर पर यह कहलवाते भिजवाया कि बादशाह ने आप के लिए खरबूजा इनायत किया

है । ७० वर्ष के बूढ़े बाप ने रूमाल को हटाया, तो वहाँ अपने बेटे का सिर देखा । किसी व्यक्ति पर जो अन्तिम दर्जे की मुसीबत और जुल्म हो सकता है, रहीम ने उसे देख लिया । बादशाह पीछे चाहे कितना ही पश्चाताप करे, उससे क्या होता है ? रहीम ने बाप-बेटे मे बिगाड न हो, इसी की कोशिश की थी और नतीजा उलटा हुआ । बेटे शाहजहाँ को कैद मे भी रहना पड़ा और जहाँगीर ने तो उनका सर्वस्व हरण करते दाराब की वैसी मृत्यु का दृश्य दिखलाया। अब रहीम के अधिक दिन नहीं रह गये थे । उसी साल बादशाह ने रहीम के दिल के घाव को मिटाने की कोशिश की । फिर से उन्हे 'खानखाना' उपाधि दी, जागीर और पद भी पहले की तरह कर दिया । लेकिन, उससे क्या होता था ? १ फरवरी, १६२७ ई० मे रहीम ने दिल्ली में अपना शरीर छोड़ा। हुमायूँ के मकबरे से नातिदूर उनका भी आलीशान मकबरा बना जिसमे लाल पत्थर में संगमरमर की पच्चीकारियाँ थीं । १८वीं सदी के मध्य म सफदरजंग ने उसके संगमरमर को निकालकर अपने नाम की इमारत में लगवाया । दिल्ली रहीम को भूल गई । एक बार तो जान पड़ा कि उनका मकबरा उनके नाम की तरह एक दिन नामशेष हो जायेगा ।

५. महान कवि

इतिहास ने रहीम को एक बडे सेनापति, बडे राजनीतिज्ञ और बड़े दानी के तौर पर ही याद किया है । वह तीनों थे, इसमें शक नही । किन्तु, आज या आगे भी रहीम उनके कारण हमारे हृदयों में आसीन नही रहेंगे, बल्कि हिन्दी के एक महान् कवि के तौर पर ही अमर रहेंगे । दिल्ली के खुसरो ने फारसी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान प्राप्त किया, गालिब ने उर्दू के महान कवि का पद पाया। इन दोनों की कब्रें सौ-ड़ेढ़ सौ गज ही के अन्तर पर है । गालिब की कब्र से सौ-डेढ़ सौ गज से ज्यादा दूर रहीम की समाधि नही है, इसे संयोग ही समझिए। खुसरो की कब्र उतनी ही बड़ी है जितने मे वह सोये हैं । गालिब की भी अभी दो साल पहले तक गुमनाम सैकड़ों कब्रों के बीच में एक कब्र थी जिसे अब संगमरमर की छोटी-सी मढ़ी का रूप दे दिया गया है। रहीम की कब्र अपनी आकृति और विशालता में हुमायूँ के मकबरे की तरह है। वह सदियो से उपेक्षित रही । लोगों ने उसे गिरने-पड़ने के लिए छोड़ दिया था । दिल्ली बढ़ते-बढ़ते अब रहीम की समाधि के चारों ओर पहुँच गई है । सौभाग्य से समाधि अपने आस-पास के दस-पंद्रह एकड भूमि के साथ अक्षुण्ण बनी रही । केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय से आशा नहीं की जा सकती कि हिन्दी के इस महान कवि की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए वह कोई जल्दी बड़ा कदम उठायेगा । लेकिन, क्या हिन्दी जनता इस उपेक्षा को बर्दाश्त कर सकेगी ? शायद इसीलिए शिक्षा-विभाग तिनके से

ानी पिलाने लगा है। जिस तरह रहीम की समाधि की मरम्मत का काम हो रहा है, उससे आशा नहीं कि इस शताब्दी के अन्त तक भी वह पूरा हो सकेगा। रहीम हिन्दी ही के नहीं, बल्कि फारसी के भी कवि थे और सबसे बढ़कर यह, के उन्होंने सैकड़ों फारसी कवियो को आश्रय दिया था। 'मासिर रहीमी' हजार पृष्ठ से बड़ा ग्रन्थ बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें रहीम के कृपापात्र सैकड़ों फारसी कवियों की कृतियों को संगृहीत किया गया है। यदि शिक्षा-मंत्रालय इसका भी ख्याल करे, तो उसे ऐसी सुस्ती नहीं दिखलानी चाहिए।[1]

६. रहीम की कविताओं के कुछ नमूने

१ तरुवर फल नहि खात है, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम परकाज हित, सम्पति सँचहिं सुजान॥

२. रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत॥

३. दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचान।
सोंच नहीं वित हानि को, जो न होय हित हानि॥

४. कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
विपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत॥

५ तब ही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै रहीम॥

६. सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥

७. खीरा को मुँह काटि के, मलियत लोन लगाय।
रहिमन करुये मुखन की, चहियत यही सजाय।

८. जो गरीब सों हित करें, धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥

९. जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष ब्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग॥

---

१ रहीम की हिन्दी में कृतियाँ हैं—१. दोहावली, २. बरवे नायिका भेद, ३. शृंगार सोरठ, ४. मदनाष्टक, ५. रासपंचाध्यायी, ६. दम्पती विलास।

१०. धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥
११. रहिमन अब वे बिरछ कहँ, जिनकी छाँह गँभीर ।
बागन बिच-बिच देखियत, सेहुंड़ कंज करीर ॥
१२. रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥
१३. रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पियावत मान बिन ।
जो विष देय बुलाय, प्रेम सहित मरिबो भलो ॥
१४ लहरत लहर लहरिया, लहर बहार ।
मोतिन जरो किनरिया, बिथुरे बार ॥
१५. लागेउ आनि नबेलियही, मनसिज बान ।
उकसन लाग उरोजवा, दृग तिरछान ॥
१६. कासो कहौं सँदेसवा, पिय परदेसु ।
लगेहु चहत नहिं फूले, तेहि बन टेसु ॥
१७. पिय आवत अँगनैया, उठि कै लीन ।
साथे चतुरु तिरियवा, बैठक दीन ॥
१८. सुभग बिछाई पलँगिया, अँग सिंगार ।
चितवति चौक तरुनियाँ, दै दृग द्वार ॥

मानसिंह
(मृ० १६१४ ई०)

१. आरंभ

अकबर ने भारत में एक जातीयता स्थापित करने के लिए महान प्रयत्न किए, मुल्लों और कट्टर मुसलमानों की कुछ भी परवाह न की। इस काम मे हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करने का सबसे अधिक बोझ जिसके कन्धे पर था, वह मानसिह थे। अकबर कट्टर मुसलमानों की नजर में काफिर था। मानसिह अपनी फूफी और बहिन को अकबर और जहाँगीर से ब्याह कर हिन्दुओं की ओर से पतित माने जाते थे और आज भी हिन्दू धर्मध्वजियो की दृष्टि मे वह वही मालूम होते हैं। पतित कहना तब भी आसान था, पर मानसिंह को राजपूत बिरादरी पतित नहीं कर सकी। मेवाड़ के राणा कट्टरता के पक्षपाती थे। प्रताप ने आजादी के लिए जो कुर्बानियाँ कीं, वह सदा स्मरणीय रहेंगी। पर, भारत में जो दो संस्कृतियाँ सदा के लिए एकत्र हुई थीं जिसके कारण राष्ट्र दो विरोधी दलों में विभक्त हो गया था, उनका समन्वय करना जरूरी था। ब्रह्मपुत्र, गंगा और सिन्धु भले ही अलग-अलग जगहों से भिन्न-भिन्न रूपों में आई हो, पर समुद्र में जाकर उन्हें एक हो जाना था। प्राचीन काल से भारत में निषाद, किरात, द्रविड़, ग्रीक, शक, श्वेत-हूण, अहोम (थाई) आदि जातियाँ अपने अलग-अलग रूपों मे भिन्न-भिन्न स्थानों से आईं, पर उन्हें अन्त में एक स्रोत का रूप लेना पड़ा। यह ठीक है कि पहिली आगन्तुक जातियों ने भारतीय संस्कृति का सम्मान किया और अपनी देनें देकर उसमें अपने को विलीन कर लिया जबकि मुसलमानों का रुख इससे उल्टा था। जिन बातो के लिए वह बिल्कुल मजबूर थे, सिर्फ उन्हें ही उन्होंने स्वीकार किया। उनका इस बात का जबर्दस्त आग्रह रहा कि हम अपने व्यक्तित्व को अलग बनाये रखेंगे। हिन्दू अपने व्यक्तित्व को खोकर उसमें मिल सकते है, परन्तु हम वैसा करने के लिए तैयार नहीं।

यह मनोवृत्ति हमेशा नहीं रह सकती थी। एक प्रयत्न सफल न होने पर भी इस जातीय महान समस्या को छोड़ा नहीं जा सकता था। वह फिर-फिर सामने आयेगी और हल कराके छोड़ेगी। अकबर ने उसी को करने का भारी प्रयत्न किया जिसके लिए उसे काफिर कहा गया। उसके इस काम में मानसिंह सहकारी थे।

अकबर ऐसे समय में पैदा हुआ जब धर्मों-मजहबों के खूनी रूप को देखकर उन्हें धतता नहीं बताया जा सकता था। धतता न बताने पर फिर दो ही

और रास्ते थे—१ सभी धर्मों का समन्वय, २ या उनकी जगह पर एक नये धर्म की स्थापना । वह समन्वय का पक्षपाती था, सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखता था । पर, कबीर, नानक जैसे समन्वयकर्ता असफल हो चुके थे । वह दोनों जातियों के मानसिक सम्बन्ध को भी पूरी तौर से स्थापित नहीं कर सके थे, भौतिक संबंध की तो बात ही क्या । शायद इसीलिए अकबर को दीन-इलाही की नींव डालनी पड़ी । मानसिंह अकबर को अपने सगे भाई से भी अधिक प्रिय थे—सगे भाई मुहम्मद हकीम की बगावत को दबाने का काम मानसिंह को मिला था । मानसिंह अफगानिस्तान तक के शासक रहे । लेकिन, दीन-इलाही में शामिल होने के लिए वह तैयार नहीं थे । दीन-इलाही के पैगम्बर स्वयं बादशाह, खलीफा अबुलफजल और चौथे नम्बर के नेता ब्राह्मण बीरबल थे । लोग बड़े शौक से—ऊपर या भीतर के मन से—शाही दीन में शामिल हो रहे थे । कितने ही लोग आशा रखते थे कि मानसिंह भी उसमें शामिल होंगे पर बात आने पर मानसिंह ने अकबर से कहा—"अगर चेला होने का अर्थ जान न्यौछावर करना है, तो उसे आप अपनी आँखों देख रहे हैं । यदि जरूरत हो, तो परीक्षा देने के लिए भी तैयार हूँ । जहाँ तक मजहब का सवाल है, मै हिन्दू हूँ । मुझे नये मजहब की जरूरत नहीं ।" नये मजहब का उस समय वही डौल था जो हमारे यहाँ इस शताब्दी में थ्योसोफी का, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी शामिल हो सकते थे ।

मानसिंह के रास्ते में कठिनाइयाँ थीं । पहले ही से लोग फूफी, बहिन देने के कारण उन्हें बदनाम कर रहे थे । पक्के हिन्दू रहने का आग्रह ही था जिसने उनके वंश को राणा के खानदान से रोटी-बेटी कायम रखने में कोई रुकावट पैदा नहीं की । राजपूतों ने भी मानसिंह की नीति को जल्दी ही स्वीकार कर लिया और उदयपुर छोड़कर सभी ने बादशाह के खानदान से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया । हाँ, यह एकतरफा सौदा था : लड़कियाँ दे देते थे, पर शाहजादियाँ नहीं लेते थे । अकबर चाहता था कि दोनों ओर से रक्त का दानादान होवे । इसी साल (१५५६ ई०) एक राजपूत युवराज राजपूतों की इस नीति की व्याख्या करते कह रहे थे—लड़की दे देने से हमारा खून नहीं बिगड़ा, क्योंकि वह तो काटकर बाहर फेंक दी गई; पर, यदि लड़की लेते, तो हमारा राजपूत खून अशुद्ध हो जाता । आम हिन्दू के लिए लड़की लेने से लड़की देना अधिक शर्म की बात है, लेकिन राजस्थान के राजघरानों ने इसकी व्याख्या अपने ढंग से कर डाली और इस प्रकार अकबर और उसके साथियों के स्वप्न के पूरा होने का रास्ता रोक दिया ।

जो भी हो, जिन लोगों ने एक नये और भव्य भारत का स्वप्न देखा, उसमें अकबर के बाद मानसिंह का नाम जरूर लिया जायेगा । यदि वह स्वप्न चरितार्थ हुआ होता, तो न भारत कभी गुलाम होता, न देश का विभाजन होता ।

मानसिंह का जन्म १५३० ई० में आमेर मे हुआ था; अभी जयपुर के बराने और कछवाहो की राजधानी होने में बहुत देर थी । राजा बिहार (बिहारी) मल पाँच भाई थे—बिहारीमल, पूरनमल, रूपसी, आस्करन और जगमल । राजा बिहारीमल के बाद उनके लड़के भगवानदास को गद्दी मिली । भगवानदास का कोई अपना बेटा नहीं था । उन्होंने अपने भाई के लड़के मानसिंह को गोद लिया था ।

अकबर के गद्दी पर बैठने का पहला साल (१५५५-५६ ई०) था जबकि १३-१४ साल के लडके कुँवर मानसिंह को राजा भगवानदास के साथ अकबर के सम्पर्क में आने का मौका मिला । मजनूँ खाँ काकशाल नारनौल (पटियाला) का हकीम बना कर भेजा गया । शेरशाह को पैदा करने का सौभाग्य नारनौल को ही मिला था । हाजी खाँ शेरशाह का अफसर था । उसने मजनूँ खाँ पर आक्रमण किया । राजा बिहारीमल हाजी खाँ के सहायक थे । कछवाहों की ताकत शत्रु की पीठ पर रहने से मजनूँ खाँ के लिए मुकाबिला आसान नहीं था । बिहारीमल ने इस समय सहायता की और हाजी खाँ से बातचीत करके मजनूँ खाँ को घिरावे से मुक्त कर दिया । मजनूँ खाँ ने दरबार मे आकर कछवाहा राजा की बड़ी प्रशंसा की । दरबार के कर्ता-धर्ता बैरम खाँ खानखाना (अब्दुर्रहीम खानखाना के बाप) की राजनीति कट्टर मुसलमानों की नहीं थी । फरमान जाने पर राजा बिहारीमल दरबार में हाजिर हुए । अकबर हेमू के पराजय के बाद दिल्ली में आया हुआ था । राजा का बड़ा सम्मान हुआ । बादशाह का जुलूस शहर में निकल रहा था । मस्त शाही हाथी कभी इधर कभी उधर मुँह फेरता, दर्शक डर कर भाग जाते, लेकिन राजपूत अपनी जगह पर डटे रहते । अकबर के ऊपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा । अभी वह १३-१४ वर्ष का लड़का अपने खेलों में ही मस्त था, इसलिए उसके मुँह से एक गम्भीर राजनीतिज्ञ जैसी बात निकलवाना पीछे के दरबारियों की कारस्तानी है, इसमें शक नहीं । कहा जाता है, उसी समय अकबर ने राजा बिहारीमल से कहा—"तुरा निहाल ख्वाहम् कर्द, अन्करीब मी-बीनी कि एजाज-व-इफ्ले-खारत् ज़ियाद-बरज़ियाद मी-शवद् ।" (तुझे निहाल करूँगा, जल्दी ही देखेगा कि तेरा मान-सम्मान अधिकाधिक होगा)।

मेवात का हाकिम मिर्जा अश्रुफुद्दीन हुसेन को बनाया गया । उसने आमेर के कुछ इलाके को दबाना चाहा । राजा के विरोधी भाई ने सहायता की जिसके कारण मिर्जा को सफलता मिली ।

२. अकबर से पहली भेंट

हिजरी ६६८ (१५६०-६१ ई०) में अकबर अजमेर जियारत (तीर्थयात्रा) करने गया था । रास्ते में किसी अमीर ने बतलाया कि राजा बिहारीमल पर मिर्जा ने ज्यादती की है, बेचारा मारा-मारा फिर रहा है । बादशाह ने एक अमीर को

बिहारीमल को लाने के लिए भेजा। राजा स्वयं नहीं आया, लेकिन भेंट के साथ प्रार्थना-पत्र तथा अपने भाई को दरबार में भेजा। अकबर ने दुबारा आने के लिए आग्रह किया, तो राजा बिहारीमल अपने बड़े बेटे भगवानदास के ऊपर भार छोड़ कर सांगानेर मे अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ। बादशाह अब बैरम खाँ के हाथ की कठपुतली नहीं था। उसने इतना अच्छा बर्ताव किया कि बिहारीमल उसका अनन्य भक्त बन गया और दरबारी अमीरों में उसे स्थान मिला। इसके कुछ समय बाद राजा भगवानदास और मानसिंह भी दरबार मे पहुँचे। बिहारीमल को छुट्टी मिली और दोनों बाप-बेटे अकबर के सदा साथ रहने वाले दरबारी हो गये।

अकबर अब तक इस निश्चय पर पहुँच चुका था कि हमें दोनों जातियों को साथ लेकर चलना है, दोनों के बीच की खाइयों को पाटना है। इसकी पहलकदमी उसने अगले साल (१५६१-६२ ई०) की, जबकि उसकी आयु १६ साल की थी और राजा बिहारीमल की बेटी अर्थात् मानसिंह की सगी फूफी के साथ अपना ब्याह किया। यही बेगम जहाँगीर की माँ हुई, अर्थात् आगे के मुगल बादशाह इसी की औलाद में से थे। इसे 'मरियम जमानी' (युग की मरियम) की उपाधि मिली जिससे ही वह इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके बाद मानसिंह और राजा भगवानदास अकबर के अत्यन्त घनिष्ठ हो गये। अंतःपुर के प्रबन्ध का भार सदा राजा भगवानदास के ऊपर छोड़ा जाता था। यह बतलाता है कि अकबर का उन पर कितना विश्वास था।

मानसिंह बहुत दिनों तक कुँवर मानसिंह रहे और १५८८ ई० के आस-पास भगवानदास के मरने के बाद ही राजा मानसिंह बने। वह अकबर की हरेक बड़ी मुहिम में शामिल रहे। मेवाड़ के राणा का वीरों की अद्‌भुत परम्परा कायम करने के कारण बहुत ऊँचा स्थान था। अकबर सारे भारत को एक करना चाहता था। उसके इस काम में जिन्होंने खुशी से सहायता दी, उन्हें उसने मानसिंह और उसके बाप की तरह मान-सम्मान देकर अपनी ओर किया। जो झुकने वाले नहीं थे, उनके साथ कड़ाई की। राणा उदयसिंह ने राणा साँगा-सी हिम्मत और कौशल न रहने पर भी झुकना पसन्द नहीं किया। इसके कारण अपने शासन के ११वें वर्ष (सितम्बर, १५६७ ई०) में अकबर ने चित्तौड़ पर अभियान किया। कहते है, इससे पहले भी एक बार अकबर ने कोशिश की थी, पर उसे सफलता नहीं मिली। यह भी बतलाया जाता है कि मालवा के बाजबहादुर को शरण देने के कारण अकबर राणा से नाराज हुआ। इसे बहाना कहना चाहिए। अकबर जानता था, जब तक चौहानों के रणथम्भोर और सीदियों के चित्तौड़ को नतमस्तक नहीं किया जाता, तब तक न हमारी

धाक जम सकती है और न सैनिक महत्त्व के इन अजेय किलो को शत्रुओं के हाथ मे रहने के खतरे से बचाया जा सकता है। २० अक्टूबर, १५६७ को चित्तौड के उत्तर-पूर्व दस मील तक अकबर की सेना छावनी डाल कर पड़ी। मुहासिरा गम्भीर था। चित्तौड केवल आदमी के हाथों का बनाया दुर्ग नहीं था, बल्कि सवा तीन मील लम्बा, हजार गज से अधिक चौडा, आठ मील के घेरे वाला, चार से पॉच सौ फीट ऊँचा एक अद्‌भुत पहाड (चित्रकूट) दुर्धर्ष दुर्ग के रूप मे परिणत हो गया था। फिर भी वह अजेय नही था, क्योकि इसके पहले अलाउद्दीन खिलजी चित्तौड़ पर अधिकार कर चुका था। बहादुरशाह गुजराती ने भी १५३३ ई० मे चित्तौड़ को बरबाद किया था। उदयसिह मुकाबिले के लिए नही आये। यह काम जयमल्ल राठौर ने किया और २३ फरवरी, १५६८ को वीर जयमल्ल के मारे जाने के बाद ही अकबर अपने मंसूबे में कामयाब हो सका। तीन सौ राजपूतनियो ने जौहर करके अपने को आग के अर्पण कर दिया।

इतनी कठिनाइयो का सामना करना पडा कि उन्होने अकबर को भी बदहवास कर दिया था। उसने शहर मे कत्लेआम का हुकुम दे दिया। तीस हजार आदमी मौत के घाट उतारे गये। राजा भगवानदास चित्तौड की लड़ाई मे अकबर के सहायक थे।

३. महान सेनापति

१. गुजरात-विजय—४ जुलाई, १५७२ को गुजरात-विजय के लिए अकबर ने फतेहपुर सीकरी से प्ररथान किया। नवम्बर, १५७२ में वह गुजरात की राजधानी अहमदाबाद के सामने था। गुजराती तख्त के दावेदार मुजफ्फरशाह को आसानी से पकड कर पेन्शन दे अपने अधीन बना लिया गया, पर इतने से काम खतम होने वाला नहीं था। अकबर के अपने तैमूरी वंश के मिर्जा, बाबर के कृपापात्र, विरोध कर रहे थे। इब्राहीम हुसेन मिर्जा संभल से जाकर गुजरात का स्वामी बनना चाहता था। सरनाल के कस्बे मे उसकी खबर पाकर अकबर माही नदी के किनारे पहुँचा। शत्रु की ताकत को जानते हुए भी उसने दूसरों की सलाह नहीं मानी और दो सौ आदमियों के साथ दिन में ही आक्रमण करने का निश्चय किया। इन दो सौ आदमियों मे मानसिंह और भगवानदास भी थे। बहुत खतरनाक कदम था। सरनाल की गलियों मे अकबर और उसके दो सौ आदमी सर्वस्व की बाजी लगा कर घुस गए। लड़ाई में राजा भगवानदास का भाई भूपति काम आया। भगवानदास ने बादशाह के प्राणों की रक्षा में बड़ी बहादुरी से काम लिया। एक बार तीन आदमी बादशाह के पास पहुँच गए। उस समय भगवानदास ने अपने भाले से एक को घायल कर गिरा दिया और

बाकी दो से अकबर ने मुकाबिला किया । विजय अकबर के हाथ मे रही । २४ दिसम्बर को वीरो का सम्मान किया गया । राजा भगवानदास को एक झण्डा और नगाडा मिला । इससे पहले किसी हिन्दू को ऐसा सम्मान नही मिला था ।

२३ अगस्त, १५३५ को फतेहपुर सीकरी से अकबर पचास मील प्रतिदिन की चाल से चल कर सात दिन में छह सौ मील की यात्रा करके अजमेर, जालौर, दीसा पाटन होते हुए अहमदाबाद पहुँचा । इस यात्रा मे भी राजा भगवानदास और कुँवर मानसिंह उसके साथ थे ।

२६ फरवरी, १५३७ में सूरत पर अकबर का अधिकार हुआ । इसी समय की घटना है : शाही पान-गोष्ठी चल रही थी । अकबर यद्यपि अपने बेटे की तरह का भयंकर पियक्कड़ नहीं था, तथापि वह अपने हमजोलियों से पीछे नहीं रहना चाहता था । वीरों की परीक्षा की बात चल पड़ी । दो तरफ मुँह वाले भाले को लेकर एक आदमी खड़ा रहे और दो दिशाओं से दो राजपूत दौड़कर उस भाले से ऐसा टक्कर लें कि भाला सीने से पीठ में होकर निकल आये । ऐसे जोड़े हो सकते थे, लेकिन अकबर का वहाँ प्रतिद्वन्द्वी कौन था ? उसने स्वयं इसमें भाग लेने की घोषणा की । तलवार की मूठ को दीवार मे लगाकर वह खुद उसकी नोक पर अपनी छाती मारने के लिए दौड़ा । इसी समय मानसिंह ने तलवार को झटका देकर फेंक दिया । ऐसा करते समय तलवार से अकबर के हाथ पर घाव लग गया । अकबर ने मानसिंह को तुरन्त नीचे गिरा दिया और अपने हाथ से उनका गला घोंटने लगा । यह हालत देख सैयद मुजफ्फर ने अकबर की अँगुली जोर से मरोड़ी और इस प्रकार मानसिह का गला छूटा । इसमें शक नही, शराब के नशे में अकबर ने उस समय होश-हवास खो दिया था ।

२. हल्दीघाटी (जून, १५७६)—चित्तौड के पतन के समय अकबर को उदयसिंह से मुकाबिला करना पडा था जो उसका जोडी नहीं हो सकता था । लेकिन, अब उसके बेटे प्रताप ने आजादी का झण्डा अपने हाथ में लिया था। वह सिर से कफन बाँधकर मुगल सेना के नाकों दम कर रहा था । इतिहासकार विंसेंट स्मिथ के अनुसार—"उसकी जाति-भक्ति उसका अपराध था । अकबर ने अधिकांश राजपूत राजाओं को अपनी सूझ-बूझ और राजनीतिक चाल से अपनी ओर कर लिया था । वह राणा की स्वतंत्रवृत्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकता था । यदि वह झुक नहीं सकता, तो उसे तोड़ डालना होगा ।" प्रताप के मुकाबिले के लिए जो सेना भेजी गई थी, उसका मुख्य सेनापति नाम के लिए शाहजादा सलीम था, नहीं तो वह कुँवर मानसिंह के अधीन थी । सात साल का सलीम भला क्या सेना-संचालन करता ? राणा मुकाबिले के लिए अपने

तीन हजार घोड़सवारों के साथ हल्दीघाटी में तैयार थे जहाँ से गोगुंडा के दुर्ग का रास्ता जाता था । खमनोर गाँव के पास इसी घाटी मे जून, १५७६ को यह स्मरणीय लड़ाई लड़ी गई जिसके लिए टॉड ने लिखा है—"इस घाटी पर मेवाड़ के तरुण पुष्प तैयार खड़े थे और इसकी रक्षा के लिए जो महान संघर्ष हुआ, वह हमेशा स्मरण किया जायेगा ।" इतिहासकार बदायूँनी जेहाद का पुण्य कमाने के लिए कलम की जगह तलवार लेकर वहाँ पहुँचा था । लेकिन काफिर मानसिंह के अधीन जेहाद कैसी ? युद्ध सूर्योदय से मध्याह्न तक होता रहा । उसकी भयंकरता के लिए क्या कहना ? मुगल साम्राज्य की सारी शक्ति एक ओर थी और एक ओर था अरावली की पहाड़ियों में मारा-मारा फिरता राणा प्रताप और उसके मुट्ठी भर वीर । राणा घायल हुए । चेतक ने अपने प्राण की बलि देकर राणा को युद्धक्षेत्र के बाहर पहुँचाया । राणा के प्रसिद्ध हाथी रामप्रसाद को मानसिंह ने बदायूँनी की देख-रेख में सीकरी भेजा । लेकिन, यह हार ऐसी नहीं थी जिससे प्रताप की हिम्मत टूट जाती । थोड़े ही दिनों बाद अकबर को दूसरी ओर फँसना पड़ा और प्रताप १५६७ में मृत्यु से पहले चित्तौड़, अजमेर और मांडलगढ़ छोड़कर प्राय: सारे मेवाड़ को लौटाने में सफल हुए । इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने प्रताप के संघर्ष के बारे में कहा —"अकबर के इतिहासकार...यद्यपि शायद ही कभी उन वीर शत्रुओं के बारे में एक शब्द लिखते है जिनके दु:ख और संकट ने, जिनकी साधनहीनता ने अकबर को विजयी बनाया, तथापि वह पराजित स्त्री-पुरुष भी स्मरणीय हैं, बल्कि विजेता से भी अधिक ।"

हल्दीघाटी से सात वर्ष पहले रणथम्भोर पर अकबर ने अधिकार प्राप्त किया । इसका मुहासिरा फरवरी, १५६६ में शुरू हुआ था । इसमें भी राजा भगवानदास और कुँवर मानसिंह ने बादशाह की ओर से लड़ते हुए अपनी भक्ति और पराक्रम का परिचय दिया था । इसी साल अगस्त में कालंजर पर अकबर का अधिकार हो गया । इस प्रकार मध्य प्रदेश के अजेय दुर्गों को अपने हाथ में करके अकबर इधर से निश्चिन्त हो गया । लेकिन, एक तरफ वह सफलता प्राप्त करता था, दूसरी ओर नये झगड़े उठ खड़े होते थे ।

३. काबुल का मोर्चा—अकबर का छोटा (सौतेला) भाई मिर्जा मोहम्मद हकीम काबुल (अफगानिस्तान) का शासक था । अनेक प्रादेशिक शासक विद्रोह करके बुरी तरह नष्ट हुए थे । इसी बीच अकबर ने इस्लाम से खुल्लमखुल्ला इन्कार कर दिया था जिसके कारण मुल्लाओं और मतलब-परस्त जले-भुने हुए अमीरों ने सोचा कि हुमायूँ के दूसरे पुत्र को यदि हम अकबर के खिलाफ खड़ा कर सकें, तो काम बन सकता है । उनकी नजर हकीम की तरफ गई । लेकिन,

हकीम "एक बहुत ही नीच प्राणी था। वह शासन या युद्धक्षेत्र में अपने भाई से मुकाबिला करने में बिल्कुल अयोग्य था।" अकबर को इस षड्यन्त्र का पहले ही पता लग गया। वित्त-मंत्री शाह मसूर एक मामूली क्लर्क से इतने ऊँचे पद पर अपनी योग्यता और उससे भी अधिक अकबर की कृपा से पहुँचा था। वह भी इस षड्यत्र मे शामिल था। उसकी चिट्ठियाँ पकड़ी गई। एक महीने पहिले पद से हटाये जाने के बाद फिर उसको उसके स्थान पर नियुक्त किया गया, लेकिन वह फिर अपनी आदत से बाज नहीं आया, फलतः जेल मे डाला गया। दिसम्बर, १५८० में मिर्जा हकीम के अफसर नूरुद्दीन ने पंजाब पर हमला किया। अगली बार शादमान ने इसी काम को दुहराया और प्राणों से हाथ धोया। उसके असबाब में बहुत-सी चिट्ठियाँ मिली जिनसे शाह मंसूर और दूसरे कितने ही उच्च अधिकारियों का भांडाफोड़ हुआ। इसमें शक नहीं, यदि अकबर को राजपूतो का बल न होता, तो मुल्लाओं और जेहादियों की बन आती। राजपूती तलवारों को इकट्ठा करने का सबसे बड़ा काम मानसिंह ने किया था। अकबर शेख-सैयद-मुगल-पठानों पर कैसे विश्वास कर सकता था जबकि उसकी कृपा से मंत्री के ऊँचे पद पर पहुँच कर भी लोग धोखा देने के लिए तैयार थे ?

अकबर ने मानसिंह को स्यालकोट की जागीर दी। वह स्यालकोट में तैयारी करने लगे [illegible] के किले का बन्दोबस्त करने के लिए भेज दिया। शादमान, मिर्जा का कका (दूधभाई) था। उसकी माँ ने मिर्जा को झूला हिला-हिला कर पाला था। वह मिर्जा के साथ खेलकर बड़ा हुआ था और वस्तुतः बहादुर जवान था। शादमान ने अटक के किले को घेर लिया। मानसिंह भी रावलपिंडी पहुँचे। खबर मिलते ही वह अकट की ओर दौड़े। शादमान और मानसिंह के भाई सूरजसिंह ने अपने जौहर दिखलाये और राजपूत की तलवार ने शादमान का काम तमाम कर दिया। यह खबर सुन मिर्जा स्वयं १५ हजार सवार सेना लेकर आया। अकबर ने आदेश भेजा था : हराकर भगाने की नहीं, बल्कि हाथ में करने की जरूरत है। बादशाही फौज के पीछे हटने से हिम्मत बढ़ी और मिर्जा लाहौर में रावी के किनारे बाग-मेहंदी कासिम खाँ में आ उतरा। राजा भगवानदास, कुँवर मानसिंह, सैयद हामिद बारा और दूसरे शाही अमीर लाहौर के भीतर किलेबन्द हो गए।

देर नहीं हुई, मिर्जा को पता लग गया कि फँसाने के लिए यह चारा फेंका गया है। अकबर भी सरहिन्द पहुँच चुका था। मिर्जा काबुल की ओर भागा। रावी को बाग से एक कोस ऊपर पार हुआ। जलालपुर के इलाके में चनाब और भेरा के करीब झेलम में उतरा। फिर पिंडीघेप के पास सिन्ध उतर कर वह काबुल की ओर भागा। इस तरह शिकार को हाथ से छोड़ा कैसे जा सकता था ?

मानसिंह अपनी सेना ले पेशावर की ओर बढ़े। १२ वर्ष का सलीम और ११ साल का मुराद दोनों शाहजादे भी साथ थे जो अपनी-अपनी सेना के मुख्य सेनापति बनाये गए थे। यह केवल शोभा के लिए ही था, इसे कहने की आवश्यकता नही।

काबुल का मोर्चा शाही अमीरों (जेनरलों) को पसन्द नहीं था। वह वहाँ की सर्दी और दुहरी तकलीफों को भली प्रकार जानते थे, इसलिए चाहते थे कि पेशावर से आगे न बढ़ा जाय। उन्होंने कई तरह से बादशाह को समझाने की कोशिश की, लेकिन अकबर इसके लिए तैयार नहीं था। उसने मानसिंह को और आगे बढ़ने का हुकुम दिया। बरसात में सिंध पर नावों का पुल बाँधना सम्भव नहीं हुआ। अलग-अलग नावों के जरिये अकबर और उसकी सेना सिंध पार हुई। अकबर मीठी-मीठी बातें कहलाकर मिर्जा को समझाने की कोशिश करता था—"तुम्हारे खानदान के अमीर आज हुकूमत कर रहे है। इस दौलत से भाई बेनसीब क्यों रहें ? पुराने बुजुर्गों ने छोटे भाई को पुत्र कहा है। पर, असली बात तो यह है कि बेटा और भी पैदा हो सकता है, पर भाई नहीं हो सकता। तुम्हारी बुद्धि और समझ को यह उचित है कि मोहनिद्रा को भंगकर मुलाकात से खुशहाल बनो।" बात का कोई इच्छानुसार परिणाम नहीं होता दिखाई दिया, बल्कि षड्यंत्र के सम्बन्ध में कुछ और पत्र पकड़े गये। युद्ध-परिषद् बैठी। बहुतों ने सलाह दी कि मिर्जा को क्षमा करके उसे मुल्क देकर लौट चला जाय। अबुलफजल अभी तीस वर्ष का नौजवान था। उसने इसके खिलाफ बोलते बतलाया कि शाही सेना इतने सामान के साथ इतनी दूर आ गई है। बादशाह खुद सेनापति यहाँ मौजूद हैं, लक्ष्य भी कुछ ही दूर पर है। ऐसी स्थिति में थोथी बातों पर लौट चलना बुद्धिमानी नहीं है। लौटने के लिए भी देखिए—बरसात आ गई है, नदियों में बाढ़ है। उन्हें इतनी बड़ी सेना और असबाब के साथ पार करना कितना मुश्किल होगा ? परिषद् के दूसरे अमीर अबुलफजल की बात से नाराज हो गए। इस पर अबुलफजल ने कहा—बहुत अच्छी बात। हरेक आदमी अपनी राय पेश करे। जब तक पूछा नहीं जायगा, मैं नहीं बोलूँगा। परिषद् की कार्यवाही लिखकर बादशाह के सामने रखी गई। संयोग से अबुलफजल को बुखार आ गया और वह हाजिर नहीं हुआ। अमीरों ने चाल चलनी चाही, पर उनकी एक न चली। अकबर ने कहा : "काबुल की सर्दी और सफर की तकलीफ से जो लोग डर कर आराम का ख्याल करते हैं और काम की बात नहीं देखते, वह यहीं रहें। हम सेना लेकर आगे जाते हैं।" अब आगे बढ़ने के सिवा चारा क्या था ? सलीम को राजा भगवानदास के साथ पेशावर में छोड़ सेना आगे बढ़ी।

मिर्जा हकीम को मालूम हुआ कि शाह और उसकी सेना बिना पुल के ही अटक से पार हो गई। उसकी हिम्मत टूट गई। वह अपने बाल-बच्चों को बदख्शाँ भेजकर खुद भी काबुल से निकला। उसके अफसर रात को बादशाही सेना पर छापामारी भर कर सकते थे। फरीदूँ खान ने छापा मारकर मानसिंह के साथ चलते शाही खजाने को लूट लिया। शाही डाकिया ने खजाना लुटते देखा, तो वह उल्टे भागा। मानसिंह मुराद को लिए इस समय छोटा-काबुल पहुँच चुके थे जो काबुल से १५ कोस इधर था। डाकिया ने खबर दी—शाही सेना की हार हुई और अफगानों ने रास्ता बन्द कर दिया है। मानसिंह यह कैसे विश्वास कर सकते थे ? यदि हार हुई होती, तो सैकड़ों भगोड़े अवश्य आये होते। आगे बढ़ने का निश्चय किया। मिर्जा लड़ाई करने के लिए मजबूर हुआ, लेकिन हार कर भागने के सिवा उसके हाथ कुछ नहीं आया। मानसिंह विजय-दुंदुभी बजाते काबुल में दाखिल हुए। उस काबुल में, जो दसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दुओं का था। उसके बाद से पौने छह सौ वर्षों तक हिन्दू वहाँ किसी गिनती में नहीं रह गये थे। अपनी संस्कृति और देश-रक्षा के लिए सैकड़ों वर्षों तक अपना खून बहा कर पठान अब कट्टर मुसलमान और हिन्दू के नाम से भी नफरत करने वाले हो गए थे। बुत-खाक (मिट्टी-मूरत) के स्थान पर बादशाह का डेरा पड़ा। विजय के बाद अकबर के सामने मिर्जा हकीम को लाया गया। अकबर ने उसे फिर काबुल का शासक बनाकर सीमान्त का प्रबन्ध मानसिंह के सुपुर्द किया।

सलीम मानसिंह की फूफी का लड़का कछवाहों का नाती था। सलाह हुई, युवराज की शादी उसी वंश में करके सम्बन्ध को और मजबूत किया जाय। १५८५ ई० में राजा भगवानदास की लड़की से १६ वर्षीय सलीम का ब्याह हुआ। अकबर स्वयं बारात लेकर गया। दो करोड़ तंका मेहर (स्त्री-धन) करके निकाह भी पढ़ा गया और ब्राह्मणों ने हवन करा फेरे भी फिरवाये। दुल्हन को दूल्हें के घर तक नालकी (पालकी) के ऊपर अशर्फियाँ न्यौछावर करते लाये। राजा भगवानदास ने सैकड़ों घोड़े, सौ हाथी तथा खुतनी, हब्शी, चेरकासी और हिन्दी सैकड़ों दास-दासियाँ दीं। अबुलफजल ने हर्ष करते हुए कहा—

दीनी दुनिया रा मुबारकबाद कीं फर्खन्द अक्द।
अज़ बराये इन्तिजा दीनी दुनिया बस्तऽअन्द॥

(दीन और दुनिया के लिए मुबारकबाद है जो कि यह आनन्दमय ब्याह दीन और दुनिया के इन्तिजाम के लिए किया गया।)

इसी समय खबर मिली कि शराब पीने में हद करने के कारण मिर्जा हकीम का देहान्त हो गया। मृत्यु के समय (जुलाई १५८५) वह सिर्फ ३१ वर्ष

का था। मिर्जा के मरने के बाद काबुल का प्रबन्ध मानसिंह के सुपुर्द हुआ। दो साल तक सैनिक और असैनिक भारी जिम्मेवारी का यह काम मानसिंह ने बड़ी योग्यता से किया। बादशाह रावलपिण्डी मे आया था। अपने पुत्र जगतसिंह को काबुल में रखकर मानसिंह दरबार मे हाजिर हुए। अकबर ने सरहदी इलाके को जागीर के तौर पर मानसिंह को दिया और काबुल के इन्तिजाम के लिए राजा भगवानदास को भेजा। थोड़े ही समय में वह पागल हो गये। इस पर मानसिंह को फिर काबुल जाना पड़ा। १५८७ ई० में मानसिंह की बहिन से लाहौर में सलीम को पहला पुत्र हुआ जिसका नाम खुसरो रखा गया। वह तख्त का अधिकारी होकर पैदा हुआ था, पर अपने नालायक बाप की ईर्ष्या का उसे शिकार होना पड़ा। जवान होकर लाहौर में ही वह बाप से बागी हुआ और यहीं बाप के सामने तलवार के घाट उतारा गया।

४. महान शासक

बिहार-राज्यपाल—दिसम्बर १५८७ मे मानसिंह की आवश्यकता बिहार को हुई। अकबर ने उन्हें हाजीपुर-पटना के शासन का भार देकर भेजा। पान-गोष्ठी में खानखाना, मानसिंह और दूसरे अमीर भी शामिल थे। अकबर ने मानसिंह को दीन-इलाही में आने का संकेत किया। मानसिंह ने कहा—"मैं हिन्दू हूँ। यदि आपका आदेश हो, तो मैं मुसलमान हो जाऊँगा, पर मैं इन दोनों के अतिरिक्त और धर्म को नहीं जानता।" बदायूँनी ने लिखा है : बात वहीं खतम हो गई। बादशाह ने फिर आगे बात नहीं की और उसे बंगाल भेज दिया। बिहार के सूबे के मुख्य नगर हाजीपुर और पटना गंगा के आर-पार थे। लेकिन, जान पड़ता है, मानसिंह का रहना हाजीपुर और गण्डक के इस पार सोनपुर में अधिक होता था। आज भी वहाँ इसके निशान मौजूद हैं : सोनपुर के पास 'राजा मानसिंह का गढ़', 'बाग-राजा मानसिंह', 'मुगलवाड़ी' ('आभा', पृष्ठ ६०-६१)।

"नारायणी के तट पर चकअबूसईद मौजे की ऊँची जमीन को राजा मानसिंह के गढ़ के नाम से पुकारते हैं। लोगों का कथन है कि मुगल-काल में इसी स्थान पर राजा मानसिंह का गढ़ था। यहाँ पर आज भी गढ़ के बड़े-बड़े पत्थर तथा ईंट के बुर्ज उसकी याद दिलाते हैं। इधर कुछ दिनो से यह गढ़ किलू बाबा के गढ़ के नाम से पुकारा जाता है। कहते हैं, किलू बाबा ने चकअबूसईद मौजा पर कब्जा कर अपना घर बनाया था।

इसी मौजे में एक दौलत कुआँ है जिसके सम्बन्ध में यहाँ के लोगों का विश्वास है कि इस कुएँ में अपार धनराशि भरी पड़ी है। यह भी कहते हैं कि इस कुएँ में आज भी विशाल सर्प रहता है।....

सरकारी कागजात में....कटहरिया के समीप जो हथियार तथा बागीचा वगैरह है, वह आज भी राजा मानसिंह के नाम से विख्यात है । कटहरिया मठ के दक्खिन से लेकर बोरिंग हाउस तक राजाबाग बोला जाता है । इस बाग में आज भी कुआँ मौजूद है, जिसके अन्दर के पत्थर मे राजा मानसिंह का नाम खुदा हुआ है ।

मोगलवारी राटे हरिहरनाथ के पश्चिम है । मोगलवारी के अवशेष भी आज प्राप्त नहीं हैं । ऐसा विश्वास है कि इस स्थल की खुदाई हो, तो सम्भव है, मुगल-कालीन कुछ सामग्री मिले ।"

मानसिंह का शासन-काल बिहार के लिए बड़ा ही सुख और समृद्धि का समय रहा । उन्होंने वहाँ कितने ही गढ़ और दूसरी इमारतें बनवाई, मन्दिरों को भूमिदान दिये । कुछ दानपत्र अब भी वहाँ मिलते हैं । नवम्बर १५८६ में लाहौर में राजा भगवानदास का देहान्त हुआ । उसके मरने के बाद अब कुँवर मानसिंह राजा मानसिंह हो गये और साथ ही शाही दरबार का सबसे ऊँचा मन्सब (पद) पंजहजारी भी उन्हें मिला ।

मानसिंह जैसा सिद्धहस्त सैनिक सिर्फ शासन करने भर से कैसे सन्तोष कर सकता था और तब जब कि उसकी तलवार को म्यान में न रहने देने के लिए बंगाल और उड़ीसा में पठान यत्नशील थे । उड़ीसा में प्रतापदेव को जहर देकर उनके बेटे नरसिंह देव ने सिंहासन सँभाला । लेकिन उसे जल्दी ही प्राणों से हाथ धोना पड़ा । बंगाल के पठान-प्रभु सुलेमान किरानी ने उड़ीसा की इस हालत से फायदा उठा उसे अपने हाथ में कर लिया । कतलू खाँ और दूसरे अफगान (पठान) उड़ीसा में मनमानी करने लगे । मानसिंह को अच्छा अवसर मिला ।

आम तौर से दशहरे के बाद वर्षा के खतम हो जाने पर ही सैनिक अभियान अच्छा समझा जाता था, लेकिन अकबर ऐसी परम्परा को नहीं मानता था । मानसिंह ने भी बरसात को ही पसन्द किया । वह अपने बड़े बेटे के साथ सेना ले उड़ीसा की ओर बढ़ा । पहले कतलू के बड़े बेटे ने मुकाबिला किया और हार खानी पड़ी । इस पर मानसिंह स्वयं आगे बढ़ा । संयोग से इसी समय कतलू मर गया । अफगानों में फूट पड़ गई । कितने ही पठान मानसिंह से आ मिले । बाकी पठानों ने सुलह करने में ही भलाई समझ अकबर को अपना अधिराज माना और बहुमूल्य भेटों के साथ डेढ़ सौ हाथी मानसिंह ने दरबार में भेजे ।

लेकिन, अफगान इस सुलह को अधिक दिनों तक मानने के लिए तैयार नहीं हुए । उन्होंने पुरी-उड़ीसा पर हाथ साफ किया, फिर बादशाही इलाके पर भी आक्रमण करना शुरू किया । मानसिंह को तो बहाना चाहिए था । एक बड़ी सेना

ले वह स्वयं गंगा द्वारा चले और दूसरे सरदारों को झारखण्ड के रास्ते भेजा। पठान सुलह के इच्छुक हुए, पर मानसिंह उनकी सुनने के लिए तैयार नहीं थे। अन्त में वह हिम्मत बटोरकर लड़े; लेकिन हार के सिवाय कुछ हाथ नहीं आया। मानसिंह ने अब अकबरी सीमा पुरी के समुद्र-तट तक पहुँचा दी। हाजीपुर-पटना शासन-केन्द्र होने लायक नही था, इसलिए वह राजधानी आकमहल ले गये जिसे अकबरनगर नाम दिया गया, पर वह मशहूर हुआ राजमहल के नाम से। वह सथाल परगना में अब एक छोटा सा कस्बा है, पर, पुराने समय मे यह बड़े सैनिक महत्व का स्थान माना जाता था। दक्षिण में पहाडों और उत्तर में गंगा की धारा ने इसे एक सैनिक महत्व के घाटे का रूप दे दिया था। बंगाल की यह राजधानी औरंगजेब के समय तक रही। १५५२ ई० तक मानसिंह बंगाल-बिहार के भाग्य विधाता रहे— यद्यपि रहना उनका अधिकतर अजमेर मे होता था। हिजरी १००२ (१५६३-६४ ई०) में अकबर ने अपने पोते खुसरो को छह वर्ष की उमर में पंजहजारी बना उड़ीसा की जागीर दी। मानसिंह अपने भांजे के अतालीक (संरक्षक गुरु) नियुक्त हुए और जागीर का प्रबन्ध भी वही करते। १५६३-६४ ई० (हिजरी १००२) मे कूचबिहार के राजा ने बादशाह की अधीनता स्वीकार की। उस समय पूर्वी भारत का वह सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था जिसके पास ४ लाख सवार, २ लाख पियादे, ७०० हाथी और हजार सैनिक नावें लड़ने के लिए तैयार रहती थीं।

१००५ (१५६६-६७ ई०) में मानसिंह के बेटे जगतसिंह को पंजाब की पहाड़ियों का शासक नियुक्त किया गया। मानसिंह का दूसरा बेटा हिम्मतसिंह इसी समय मर गया जिसकी योग्यता पर पिता को भारी अभिमान था। इसी साल बंगाल मे ईसा खाँ अफगान ने बगावत की। मानसिंह ने अपने बेटे दुर्जनसिंह को सेना देकर भेजा। पठानों ने दुर्जनसिंह को धोखेबाजी से मार डाला।

१००८ हिजरी (१५६८-६६ ई०) में मध्य-एशिया के खान अब्दुल्ला के मरने की खबर सुनकर अकबर को बाप-दादों के स्वप्न को साकार बनाने का ख्याल आया और चाहा कि पूर्वजों की भूमि को हाथ में लूँ। लेकिन दक्षिण की बहमनी रियासतों को लेने पर भी वह तुला हुआ था। उसने शाहजादा दानियाल के साथ अब्दुर्रहीम खानखाना और शेख अबुलफजल को दक्खिन की मुहिम पर भेजा। पीछे स्वयं भी उनकी मदद के लिए जाना पड़ा। राणा प्रताप भी अभी भुलाये नहीं जा सकते थे। जहाँगीर को एक बड़ी सेना देकर उधर भेजा। इस सेना के मानसिंह सर्वेसर्वा थे। राणा को वह अपना खास शत्रु समझते थे। बंगाल की सूबेदारी मानसिंह के बेटे जगतसिंह को दी गई थी। वह जाने के लिए आगरा में तैयारी कर रहा था, इसी समय एकाएक मर गया। इस पर जगतसिंह के बेटे

मानसिंह को बाप का स्थान दिया गया। मानसिंह को अफगानो से सख्त मुकाबिला करना पड़ा, शाही सेना को हार खानी पड़ी। बगाल मे फिर पठानो की तूती बोलने लगी।

सलीम को अपने ऐश से मतलब था। उदयपुर के पहाड़ों मे घूमता राणा मुकाबिला कर रहा था। उन पत्थरो में घूमना सलीम को पसन्द नही था। उसने मुहिम बन्द कर दी और बंगाल की तरफ कूच कर दिया। उसके दिल में कुछ और ही था। आगरा में पहुँचा। अपनी प्यारी दादी-मरियम मकानी—को सलाम करने भी नहीं गया। दादी को कुछ भनक लगी। उसने खुद जाकर मिलना चाहा, लेकिन सलीम नाव पर बैठ कर प्रयाग के लिए रवाना हो गया। वहाँ फिर वही ऐश-आराम शुरू हुआ। पर, सलीम ने प्रयाग मे ऐशो-आराम पर ही सन्तोष नहीं किया, बल्कि बाप के खिलाफ बगावत करने का इन्तजाम किया। अकबर को सन्देह हुआ, शायद इसमे मानसिंह का भी हाथ है।

मानसिंह की असफलता और पठानों के विद्रोह की बात सुनी, तो मानसिंह उधर दौड़े। पूर्णिया, विक्रमपुर, जहाँ-जहाँ पठानों ने बगावत के झण्डे खड़े किये थे, अपनी सेनाएँ भेजीं और खुद भी लड़ाई मे शामिल हुए। सब जगह पठानों को दबा कर ढाका में पहुँच कर वह शासन करने लगे। अब मानसिंह की ओर से बादशाह का सन्देह दूर हो चुका था। इन संघर्षों में पठानों के साथ पुर्तगीज या डच सिपाही भी शामिल हुए थे। यहीं पहली बार यूरोपियनों को भारत के युद्ध में भाग लेते देखा गया।

अकबर जानता था कि मेरे तख्त पर योग्य व्यक्ति बैठेगा, तभी वह मेरी सफलताओं को आगे बढ़ा सकता है। सलीम ने अपने को बिल्कुल अयोग्य साबित किया, इसी कारण अकबर की कभी-कभी इच्छा होती थी कि बेटे की जगह पोते खुसरो को उत्तराधिकारी बनाये। खुसरो राजा मानसिंह का भांजा और राज्य के एक बहुत बड़े अमीर खानेआजम अजीज कोका का दामाद था। यह दोनों यदि खुसरो को बादशाह देखना चाहते थे, तो कोई आश्चर्य नहीं। १०१३ हिजरी (१६०४-५ ई०) में अकबर ने खुसरो को दसहजारी मन्सब दिया और मानसिंह को साढ़े सात हजारी का पद दे उनके पोते भाऊ सिंह को भी हजारी का मन्सब प्रदान किया। अब तक पंजहजारी से ऊपर का मन्सब किसी अमीर को नहीं मिला था। मानसिंह पहले थे जो साढ़े सातहजारी बने। उन्हें बंगाल जाने का हुकुम हुआ। खुसरो को साथ ले मानसिंह बंगाल के लिए रवाना हुए। उनकी अनुपस्थिति में २७ अक्टूबर, १६०५ को आगरा में अकबर का देहान्त हो गया। अकबर ने स्वयं मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े सलीम को अपना उत्तराधिकारी नियत कर दिया। सलीम के समर्थकों की कमी नहीं थी।

शाहजादा सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल-सिंहासन पर बैठा। उसे अपने ममेरे भाई मानसिंह से शिकायत थी, लेकिन उसने उसका ख्याल नहीं किया और उन्हें अपनी तरफ से बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया। कुछ महीने बाद खुसरो बागी हो गया, लेकिन उसके कारण जहाँगीर ने मानसिंह पर गुस्सा उतारना पसन्द नहीं किया। उसने सिंहासन पर बैठने के एक साल आठ महीने बाद स्वयं लिखा है—"राजा मानसिंह ने किला रोहतास जो कि मुल्क पटना में अवस्थित है से आकर हाजिरी बजाई। छह-सात आदेश गये, तब आया। खान आजम की तरह यह भी इस दौलत के पुराने पापियों मे है। इन्होंने जो मुझसे किया और जो मेरी ओर से इनके साथ हुआ, उसे खुदा जानता है। कोई भी किसी से इस तरह नहीं बर्ताव कर सकता। राजा ने नर और मादा सौ हाथी भेंट किये जिसमें एक में भी ऐसा नहीं है कि वह खासा के हाथियो में दाखिल किया जा सके। यह मेरे बाप के बनाये हुए नौजवानों में से है। इसके अपराधो को मैं मुँह पर नहीं लाया और बादशाही दया से उसे सुर्खरू किया।" दो महीने बाद फिर वह लिखता है—"मेरे सभी घोड़ों में श्रेष्ठ एक घोड़ा था। उसे मैंने कृपावश राजा मानसिंह को प्रदान किया। मानसिंह मारे खुशी के इस तरह लोट-पोट हो रहा था कि अगर मै उसे राज्य देता, तो भी वह इतना खुश न होता।"

मानसिंह भवितव्यता के सामने सिर झुका चुके थे और जहाँगीर के शासन को उन्होंने दिल से मान लिया था। तो भी खुसरो के सम्बन्ध के कारण जहाँगीर के मन से सन्देह दूर नहीं होता था। मानसिंह साबित करना चाहते थे कि मैं बाप की तरह ही बेटे का भक्त हूँ। इसीलिए बंगाल से लौटकर उन्होंने दक्षिण की मुहिम पर जाने के लिए आज्ञा ली। हिजरी १०२१ (१६१२-१३ ई०) में वह अपनी सेना लेकर दक्षिण पहुँचे और वही हिजरी १०२३ (१६१४ ई०) में उनका देहान्त हुआ। यद्यपि नियम के अनुसार आमेर की गद्दी मानसिंह के बड़े बेटे जगतसिंह के पुत्र मानसिंह को मिलनी चाहिए थी, लेकिन जहाँगीर ने मानसिंह के बचे हुए पुत्रों में सबसे बड़े भाऊसिंह को मिर्जा राजा की पदवी के साथ चार हजारी का मन्सब प्रदान किया।

मानसिंह, अब्दुर्रहीम खानखाना और खाने आजम (मिर्जा अजीज) अकबर के सबसे बड़े सेनापति थे। जहाँगीर के शासन में खानखाना और खाने आजम को बड़े अपमान का जीवन बिता कर मरना पड़ा। मानसिंह के ऊपर भी काले बादल छाये, लेकिन वह उससे बच कर निकल गये। मानसिंह बड़े ही मधुर-स्वभाव, उदार और मिलनसार पुरुष थे। एक बार खानखाना (रहीम) और मानसिंह शतरंज खेल रहे थे। शर्त हुई थी, जो हारे, वह जानवर की बोली बोले। खानखाना की चाल दबने लगी। मानसिंह ने हँसना शुरू किया। कहा—तुमसे बिल्ली की बोली

बुलवाऊँगा । खानखाना ने दो-चार चाल तक हिम्मत की । फिर आशा नहीं रह गई, तो दूसरी चाल चलकर उठ खड़े हुए—"ऐ हा, अज खातिरम् रफ्तऽबूद्, हाला यादम् आमद्। बिरवम् कि जूदतर सर-अंजामश कुनम्।" (ओहो, मेरे ख्याल से उतर गया था । अच्छा हुआ, अब याद आ गया । जाऊँ और जल्दी उसको पूरा करूँ ।) मानसिंह ने कहा—"न मि-शवद्।...सदाये पिश्क ब-कुनीद् व बिरवीद्।" (नहीं हो सकता । बिल्ली की बोली बोलिये और जाइये ।) इस पर खानखाना बोल उठे —"शुमा दामनम् ब-गुजारीद्, मी-आयम् ।" (आप मेरा दामन छोड़ दें, मैं आता हूँ, मै आता हूँ ।)" "मी-आयम्" का उच्चारण उन्होंने म्याऊँ की तरह किया जिस पर मानसिंह हँस पड़े ।

एक और लतीफा कहा जाता है । बंगाल में किसी फकीरशाह दौलत की ख्याति सुनकर वह दर्शन करने गये । शाह साहब उनकी बातचीत से प्रसन्न होकर बोले—"मानसिंह आप मुसलमान क्यों नहीं हो जाते ?" मानसिंह ने मुस्कुराते हुए कहा—"खतमऽल्लाहु अला-कुलूबेहिम् ।" (अल्ला ने दिल पर मोहर कर दी है । जब अल्ला ने मोहर कर दी है, तब मै उसके तोड़ने की गुस्ताखी क्यो करूँ ?

मानसिंह, खानखाना और खाने आजम तीनों अकबर के अत्यन्त प्रिय थे । तैमूर ने अपने लिए अमीर की पदवी स्वीकार की । वह खान, सुल्तान या शाह नहीं बना । तैमूरी शाहजादों को मिर्जा-अमीरजादा—कहा जाता था । मिर्जा बड़े सम्मान का शब्द था । अकबर खानखाना को मिर्जा खाँ, खाने आजम अजीज को मिर्जा अजीज और मानसिंह को मिर्जा राजा कह कर पुकारता था । मानसिंह बादशाह के अपने परिवार के आदमी थे ।

मानसिंह के वास्तुकला-प्रेम और धर्म-प्रेम का साकार उदाहरण वृन्दावन का गोविन्द देव मन्दिर है जिसे दिल्लीवासी वास्तुशास्त्री गोविन्ददास ने पंचमंजिला बनाना चाहा था, पर वह कभी पूरा न हो सका, तो भी एक अभिज्ञ अंग्रेज ग्राउस का कहना है—"हिन्दूकला की उपजों में यह अत्यन्त प्रभावशाली है, कम से कम उत्तरी भारत में ।"

शाहजहाँ ने जिस भूमि पर ताजमहल को बनाया, वह राजा मानसिंह की थी ।

आज से चार सदियों पहले हमारे इन पूर्वजों ने एक महान काम अपने सिर पर उठाया था । उनकी सफलता क्षणिक साबित हुई, पर उससे उसका महत्व कम नहीं होता । वह जो कुछ करना चाहते थे, उसकी सारी बातें उन्हें स्पष्ट नहीं थीं । कितनी ही परस्पर विरोधी बातें भी उनसे हो जाती थीं, पर यह तो वह निश्चय ही जानते थे कि हमें अपने लोगों को एक जाति के रूप में परिणत करना है, संस्कृति को एक कर रोटी-बेटी का परहेज छोड़ देना है । मानसिंह इस

जाति-निर्माण के एक अगुवा थे । उन्हें बहुत दिनों तक विभीषण माना गया, पर सारे देश को एक राष्ट्र और एक जाति मे परिणत करने का स्वप्न देखने वाला विभीषण नहीं हो सकता । प्रताप अपनी कुर्बानियों के लिए हमेशा प्रातःस्मरणीय रहेंगे, पर यदि प्रताप की आज चलती, तो मेवाड़ भारतीय गणराज्य का अंग न बनता ।

उत्तरार्द्ध

अकबर

आरम्भिक जीवन (१५४२-६४ई०) १५

बाबर[1] ने भारत में अपने वंश को मुगल (मंगोल) प्रसिद्ध किया, पर वस्तुतः वह मुगल नहीं तुर्क—बिरलस—था। उसकी माँ कुतुलुग निगार खानम् मुगोलिस्तान के खान यूनस (१४६८-८७ ई०) की बेटी थी, इसलिए माँ की तरफ से उसकी अपनी रगों में चिंगीज का रुधिर जरूर था। अकबर की माँ हमीदा बानू ईरानी थी। इस प्रकार उसके शरीर में ईरानी रक्त भी था।

(तुर्क)	(मंगोल)
तुगाई (बिरलस)	चिंगीज (मृ० १२२७ ई०)
|	|
तैमूर (१३७०-१४०५ ई०)	चगताई (मृ० १२४२ ई०)
|	|
शाहरुख (१४०६-४७ ई०)	|
|	|
मीराशाह	|
|	|
अबूसईद (१४५२-६६ ई०)	यूनस खान (मृ० १४८७ ई०)
|	|
उमरशेख	=कुतुलुग निगार
(ईरानी)	|
|	|
अली अकबर जामी	बाबर (मृ० १५३० ई०)
|	|
हमीदा बानू (मरियम मकानी)	= हुमायूँ (मृ० १५५६ ई०)
	|
	अकबर (मृ० १६०५ ई०)

बाबर ने क्यों भारत में अपने को मुगल प्रसिद्ध किया ? सम्भवतः उसका यह प्रयत्न काबुल में शुरु हो गया था जिसे छोड़ना मुश्किल था। लेकिन, काबुल वाले बाबर की जन्मभूमि तूरान (आधुनिक सोवियत मध्य-एशिया)

१. तुर्की उच्चारण बाबुर।

से अच्छी तरह परिचित थे। वह जान सकते थे कि तैमूरी वंश का शाहजादा मुगल नहीं, तुर्क है। चिंगीज के खून को मध्य-एशिया मे बहुत पीछे तक अत्यन्त पवित्र माना जाता था। इसलिए वहाँ वाले लोग ढूँढ़-ढूँढ़ कर चिंगीजी वंश के किसी पुरुष को लाकर अपना खान (राजा) बनाते थे। तैमूर सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न विजेता था। उसे खान की गद्दी पर बैठने में कोई रुकावट नही हो सकती थी, लेकिन, तैमूर समरकन्द की गद्दी पर चिंगीजवंशी गुड़िया खान को ही रख, स्वयं अमीर भर बना रहा। उसके परपोते अबूसईद तक चिंगीजी गुड़िया खान होते रहे। तैमूर अपने लिए सिर्फ 'अमीर' इस्तेमाल करता था। जब तैमूर अमीर था, तो इस शब्द का महत्त्व क्यों न बढ़ जाता ? तैमूरी शाहजादों को अमीरजादा—संक्षिप्त मिर्जा—कहा जाता था।

१. जन्म (१५४२ ई०)

अकबर का जन्म २८ दिसम्बर, १५४२ को अमरकोट पश्चिमी पाकिस्तान में हुआ था। आजकल कितने ही लोग इसे उमरकोट समझने की गलती करते है। वस्तुत यह इलाका राजस्थान का अभिन्न अंग था। आज भी वहाँ हिन्दू राजपूत अधिक बसते हैं। रेगिस्तान और सिन्ध की सीमा पर होने के कारण अंग्रेजो ने इसे सिन्ध के साथ जोड़ दिया और विभाजन के बाद वह पाकिस्तान का अंग बन गया।

बाबर ने २२ वर्ष की वय (१५०४ ई०) में काबुल में अपना राज्य स्थापित किया। मध्य-एशिया में बाप-दादो के राज्य के उज्बेक-शैबानियों के हाथ से फिर लौटा पाने की आशा न रहने पर बाईस साल बाद उसने पूर्व की ओर बढ़ने का निश्चय किया। २१ अप्रैल, १५२६ में दिल्ली के पठान सुल्तान इब्राहीम लोदी को हराकर वह भारत का बादशाह बना। पर, उसकी स्थिति तब तक दृढ़ नहीं हुई जब तक कि १६ मार्च, १५२७ को खनुवाँ (सीकरी से कुछ मील पर) में राणा साँगा (संग्रामसिंह) की अधीनता में लड़ते राजपूतों को उसने हरा नहीं दिया। गंगा और सरयू के संगम पर (बलिया जिले में) मई, १५२६ में एक लड़ाई और लड़नी पड़ी जिसके बाद उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग पर उसका झण्डा फहराने लगा। बाबर बहुत दिनों तक राज्य-भोग नहीं सका और ४८ वर्ष की उमर में २६ दिसम्बर, १५३० को उसका आगरा में देहान्त हुआ।

गोरी और उसके सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने जल्दी-जल्दी में दिल्ली को मुस्लिम भारत की राजधानी बना दिया। तब से तुगलकों-लोदियों के समय तक वही राजधानी रही। पीछे मालूम हुआ कि इसके लिए अधिक उपयुक्त स्थान आगरा है जहाँ सैनिक स्कन्धावार बाँधने पर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम-चारों ओर आक्रमण

या प्रतिरक्षा की कार्रवाई करने में अधिक सुभीता है । इसीलिए बाबर ने आगरा को भी एक राजधानी बना दिया और वह वहीं मरा । शेरशाह के सूरी वंश का भी आगरा एक राजधानी रहा । यही बात अकबर के समय मे भी दुहराई गई ।

बाबर के चार लडके थे—हुमायूँ, कामराँ, हिन्दाल और अस्करी । सबसे बडा हुमायूँ बाप के मरने पर (२६ दिसम्बर, १५३० को) दिल्ली के तख्त पर बैठा । हुमायूँ वैसे अयोग्य नहीं था, लेकिन अफीम अकल को चाट गई थी । उसके भाई चाहते थे, हम गद्दी पर बैठें । पठान भूल नहीं सकते थे कि हाल ही में हमने दिल्ली पर शासन किया है । दिल्ली के पास वाले पठान दब गये, पर पूर्व में वैसा नहीं हो सका । भारत के सभी पठान अफगान नही थे । पूर्व में राजपूत, भूमिहार जैसी जातियाँ मुसलमान होकर पठान बन गईं जिससे पठानों का संख्या-बल बढ़ा । शेरशाह का बाप जौनपुर की सल्तनत से सम्बद्ध था । शेरशाह का बचपन वहीं बीता । उसने वहीं रहते भाँप लिया कि किस तरह हिन्दुओं की सहायता से जौनपुर ने दिल्ली से स्वतन्त्र हो शर्की की मजबूत सल्तनत कायम की । उसने देखा : मजहबी तअस्सुब के बल पर दिल्ली को झुकाया नहीं जा सकता, क्योंकि मजहबी पेशवा दिल्ली के सुल्तान को छोड़कर दूसरे का समर्थन करना नहीं पसंद करेंगे । यदि धर्मान्धता को छोड़ दिया जाय और हिन्दुओं के साथ भाई-चारा स्थापित किया जाय, तो काम बन सकता है। अकबर से पहले ही शेरशाह ने इस नीति को सफलतापूर्वक अपनाया ।

हुमायूँ मुश्किल से नौ वर्ष शासन कर सका । २६ जून, १५३६ को गंगा-किनारे चौसा (शाहबाद जिले) में उसे शेरखाँ (शेरशाह) के हाथों करारी हार खानी पड़ी । चौसा अपने ऐतिहासिक युद्धों के लिए आज उतना प्रसिद्ध नहीं है जितना अपने स्वादिष्ट आमों के लिए । चौसा की हार के बाद कन्नौज में हुमायूँ ने फिर भाग्य-परीक्षा की, लेकिन शेरशाह ने १७ मई, १५४० को अपने से कई गुनी अधिक सेना को हरा दिया । हुमायूँ पश्चिम की ओर भागा । कितने ही समय तक वह राजस्थान के रेगिस्तानों में भटकता रहा, पर कहीं से कोई सहायता नहीं मिली । इसी भटकंत जीवन में उसका परिचय हमीदा बानू से हुआ । बानू का पिता शेख अली अकबर जामी मीर बाबा दोस्त हुमायूँ के छोटे भाई हिन्दाल का गुरु था । हमीदा की सगाई हो चुकी थी लेकिन चाहे बेतख्त का ही हो, आखिर हुमायूँ बादशाह था । सिन्ध में पात के मुकाम पर १५४१ ई० के अन्त या १५४२ ई० के आरम्भ में १४ वर्ष की हमीदा का ब्याह हुमायूँ से हो गया । अपने पिछले जीवन में यही हमीदा बानू मरियम मकानी के नाम से प्रसिद्ध हुई और अपने बेटे से एक ही साल पहले (२६ अगस्त, १६०४

ई० मे) मरी। उस समय क्या पता था, हुमायूँ का भाग्य पलटा खायेगा और हमीदा की कोख से अकबर जैसा अद्वितीय पुत्र पैदा होगा।

अगस्त, १५४२ ई० में अपने सात सवारो के साथ हुमायूँ अमरकोट पहुँचा। अमरकोट (थरपाकर जिले का सदर-मुकाम) रेगिस्तान के भीतर से सिंध जाने वाले रास्ते और रेगिस्तान के छोर पर सूखी पहाड़ियों में है। अमरकोट के राणा परशाद ने हुमायूँ का दिल खोलकर स्वागत किया। उसने अपने जाति के दो हजार और दूसरे के तीन हजार सवार हुमायूँ के लिए जमा कर दिये। हुमायूँ ने विजय की तैयारी की। अकबर इस समय हमीदा बानू के गर्भ मे था। दो या तीन हजार सवारों को लेकर २० नवम्बर को हुमायूँ ठट्ठाभक्कर के जिलों पर आक्रमण करने चला। अमरकोट के बीस मील पर एक तालाब के किनारे उसका डेरा पडा था। वहीं पर तर्दी बेग ने कुछ सवारों के साथ दौड़कर युवराज के जन्म की खुशखबरी दी। बच्चा पूर्णमासी के दिन (१४ शाबान, ६४६ हिजरी, तदनुसार गुरुवार २३ नवम्बर, १५४२) पैदा हुआ था, इसलिए बदर (पूर्णचन्द्र) शब्द जोड़कर नाम बदरुद्दीन मुहम्मद अकबर रखा गया। हजरत मुहम्मद के दामाद अली को मुहम्मद अकबर कहा जाता था, शायद इसी ख्याल से शिशु के नाम के साथ इसे जोडा गया। हुमायूँ ऐसी स्थिति में नहीं था कि अपने प्रथम पुत्र के जन्मोत्सव को उचित रीति से मना सकता। सारी कठिनाइयों मे मालिक के साथ रहने वाला, जौहर, अकबर के समय बहुत बूढ़ा होकर मरा। उसने लिखा है—

"बादशाह ने इस संस्मरण के लेखक को हुकुम दिया—जो वस्तुएँ तुम्हें मैंने सौंप रखी है, उन्हें ले आओ। इस पर मैं जाकर दो सौ शाहरुखदी (रूपया), एक चाँदी का कड़ा और दो दाना कस्तूरी (नाभि) ले आया। पहली दोनों चीजों को उनके मालिकों के पास लौटाने के लिए हुक्म दिया। ....फिर एक चीनी की तश्तरी मँगाई। उसमें कस्तूरी को फोड़कर रख दिया और यह कहते हुए उपस्थित व्यक्तियों में उसे बाँटा : अपने पुत्र के जन्मदिन के उपलक्ष्य में आप लोगों को भेंट देने के लिए मेरे पास बस यही मौजूद है। मुझे विश्वास है, एक दिन उसकी कीर्ति सारी दुनिया में उसी तरह फैलेगी, जैसे इस स्थान में यह कस्तूरी।"

ढोल और बाजे बजा कर खुशखबरी की सूचना दी गई।

वहाँ से अपने आदमियों के साथ हुमायूँ छोटे से कस्बे जून में गया जो अमरकोट से ७५ मील पर अवस्थित है। उस पर अधिकार करके उसने वहीं अपना डेरा डाल दिया। इसी बीच रमजान के रोजे शुरु हो गये। शिशु के साथ हमीदा बानू को अमरकोट से लाने के लिए आदमी भेजे। वह धीरे-धीरे चल कर २० रमजान (२८ दिसम्बर) को जून पहुँची। उस दिन शिशु ३४ दिन का हो गया था। ११ जुलाई १५४३ तक हुमायूँ वहीं रहा। उसे आशा थी, शायद सहायता

पाकर मै फिर अपने राज्य को लौट सकूँ, लेकिन जो आदमी उसके पास थे, उनमें भी बहुत से साथ छोडकर चले गए। हुमायूँ ने भारत से निराश होकर अब ईरान की ओर नजर फेरी। बाबर अपनी जन्मभूमि और तख्त से जब वंचित हुआ था, उस समय ईरान के शाह इस्माईल ने उसकी भारी मदद की थी और एक बार कुछ महीनो के लिए वह समरकन्द के तख्त पर बैठ भी गया। हुमायूँ ने सोचा, इस्माईल का बेटा तहमास्प शायद इस समय मदद करे।

शाह इस्माईल ने ईरान मे एक शक्तिशाली सल्तनत कायम करके शिया धर्म को ईरान का राष्ट्रीय धर्म घोषित किया। ईरान जैसी प्राचीन और अत्यन्त सुसंस्कृत जाति अरबों की बेजा नाजबर्दारी करने के लिए तैयार नही था। उसने समय-समय पर अपनी स्वच्छन्दता दिखलाई भी। इस्माईल को मालूम हो गया कि जब तक धर्म में अरबो के एकाधिपत्य को स्वीकार किया जायगा, तब तक हमारे लिए कोई आशा नहीं। ईरानी दिमाग ने सोचा : अली और उनकी सन्तान हसन, हुसेन की आड में हम अपने राष्ट्रीय सम्मान को आगे बढ़ा सकते है। हसन, हुसेन का ब्याह अन्तिम सासानी शाहंशाह यज्दगर्द की शाहजादियों से हुआ था। पैगम्बर की प्रिय पुत्री फातिमा की औलाद इन्हीं शाहजादियों से आगे चली। ईरानियों को यह अभिमान करने का अवसर था कि अली की औलाद मे हमारा भी खून सम्मिलित है। ईरानियों ने आजकल तो यहाँ तक कहना शुरु किया है कि कुरान भी एक ईरानी के दिमाग की उपज है। पैगम्बर के समय उनके विरोधी यह आक्षेप करते थे : मुहम्मद के ऊपर अल्ला से आयतें नहीं उत्तर रही है, बल्कि इनको बनाने वाला एक विदेशी —ईरानी—है। इस्माइल के राजवंश को सफावी वंश कहा जाता था। उसका पूर्वज एक शिया धार्मिक नेता था जिसकी आठवीं पीढ़ी में इस्माईल पैदा हुआ : सफी—सदरुद्दीन—अलीख्वाजा—इब्राहीम—सुल्तान शेख सदरुद्दीन—सुल्तान जुनैदा—सुल्तान हैदर—शाह इस्माईल—शाह तहमास्प।

तहमास्प की सहायता प्राप्त करने के ख्याल से हुमायूँ कन्दहार की ओर चला। बड़ी मुश्किल से सेहवान तक उसने सिन्ध पार किया, फिर बलोचिस्तान के रास्ते क्वेटा के दक्षिण मस्तंग स्थान पर पहुँचा जो कन्दहार की सीमा पर था। इस समय यहाँ उसका छोटा भाई असकरी मिर्जा अपने भाई काबुल के शासक कामराँ की ओर से हुकूमत कर रहा था। हुमायूँ को खबर मिली कि असकरी हमला करके उसको पकड़ना चाहता है। मुकाबिला करने के लिए आदमी नहीं थे। जरा भी देर करने से काम बिगड़ने वाला था। उसके पास घोड़ों की भी कमी थी। उसने तर्दीबेग से माँगा, तो उसने देने से इन्कार कर दिया। हुमायूँ हमीदा बानू को अपने पीछे घोड़े पर बैठा पहाड़ों की ओर भागा। उसके जाते देर नहीं लगी कि असकरी दो हजार सवारों के साथ पहुँच गया। हुमायूँ साल

भर के शिशु अकबर को ले जाने में असमर्थ हुआ । वह वहीं डेरे में छूट गया। असकरी ने भतीजे के ऊपर गुस्सा नही उतारा और उसे जौहर आदि के हाथ अच्छी तरह कन्दहार ले गया । कन्दहार में असकरी की पत्नी सुलतान बेगम वात्सल्य दिखलाने के लिए तैयार थी ।

हुमायूँ अपनी पत्नी और थोडे से आदमियो के लिए सूखे पहाडो और रेगिस्तानों की खाक छानता सीस्तान पहुँचा । कजवीन (तेहरान से थोडी दूर उत्तर-पूर्व) में शाह ने स्वयं आकर अपने मेहमान का भव्य स्वागत किया । जिस आशा से हुमायूँ वहाँ गया था । उसके पूरा होने की भी आशा हुई । हॉ, तहमास्प ने यह आग्रह किया कि तुम शिया हो जाओ । हुमायूँ शिया बना, पर भारत मे आने के बाद नहीं रह सका, क्योंकि यहाँ उसके अमीर शियों के विरुद्ध थे और बैरम तथा दूसरे शिया अमीर भी ऊपर से सुन्नी बन कर रहते थे ।

२. माता-पिता से अलग (१५४२-४५ ई०)

अकबर असकरी की पत्नी की देख-रेख में रहने लगा । खानदानी प्रथा के अनुसार दूधमाताएँ —अनका—नियुक्त की गईं । शमशुद्दीन मुहम्मद ने १५४० ई० में कन्नौज के युद्ध में हुमायूँ को डूबने से बचाया था, उसी की बीवी जीजी अनका को दूध पिलाने का काम सुपुर्द हुआ । माहम दूसरी अनका थी । यद्यपि उसने दूध शायद ही पिलाया हो, पर वही मुख्य अनका मानी गई और उसके पुत्र—अकबर के दूध भाई (कोका या कोकलताश)—अदहम खान के पीछे बहुत मान बढ़ा । अकबर के मुँह से शैशव की बात सुनकर अबुलफजल ने 'आईने-अकबरी' में १६ दिसम्बर, १५४३ की घटना कह कर लिखा है—

मैंने यह परमभट्टारक शाहंशाह के पवित्र अधरों से स्वयं सुना है : "मुझे अच्छी तरह याद है, उस समय की एक घटना, जबकि मैं एक वर्ष का था । ...परममान्य परमभट्टारक जगत्पति (हुमायूँ) ईराक की ओर चले गये । मुझे कन्दहार लाया गया । उस समय मैं एक वर्ष तीन महीने का था । एक दिन अदहम खान की माँ माहम अनका ने मिर्जा असकरी से कहा : तुर्की प्रथा है कि जब बच्चा चलना शुरु करे, तो बाप दादा या जो भी उसके स्थान पर हों, वह अपनी पगड़ी उतार कर उससे चलते हुए बच्चे को मारे जिसमें वह जमीन पर गिर जाये । इस समय परमभट्टारक जगत्पति यहाँ नही है, उनके स्थान पर आप हैं, इसलिए यह विधि आप करें, यह नजर झाड़ने के लिए सीपन्द (बूटी) जैसी है । मिर्जा ने तुरन्त अपनी पगड़ी उतारकर मेरे ऊपर फेंकी । मैं गिर पड़ा । वह मारना और गिरना अब भी मेरे लिए प्रत्यक्ष-सा है । इसके साथ ही मंगल के लिए बाबा हसन अबदाल के रौजे पर ले जाकर उन्होंने मेरा मुंडन कराया । वह यात्रा और बालों का काटना भी मेरे सामने दर्पण की तरह साफ दीखता है ।"

इससे मालूम होगा कि अकबर बहुत जल्दी चलने लगा था और उसकी स्मृति असाधारण तीव्र थी ।

शाह तहमास्प ने १५४४ ई० के उत्तरार्ध में ईरानी सेना दे कन्दहार पर चढ़ाई करने की इजाजत दी । कन्दहार में बेटे के बारे में सोचने लगे । किसी ने सलाह दी, इसे बाप के पास भेज देना चाहिए । कामरॉ अपने पास भेजने के लिए कह रहा था । असकरी को क्या विश्वास था कि हुमायूँ के भाग्य का पासा लौटने वाला है ? उसने अकबर को काबुल भेज दिया । कामरॉ ने उसे अपनी फूफी खानजादा बेगम के हाथ में दे दिया । दूसरे दिन बवाग-शहर-आरा में दरबार था । शबेबरात के लिए दरबार को खूब सजाया गया था । इस दिन बच्चे छोटे-छोटे नगाड़ों से खेलते है । अकबर भी दरबार में बुलाया गया था । कामराँ के बेटे मिर्जा इब्राहीम को रंगीन नगाड़े दिये गये । अकबर बच्चा ही था, उसने कहा : मैं यही नगाड़ा लूँगा । दोनों ने जिद्द कर दी । कामराँ ने कहा : दोनों कुश्ती लड़ो, जो जीतेगा, उसी को नगाड़ा मिलेगा । इब्राहीम कुछ बड़ा था और आशा यही थी, वही पछाड़ेगा, लेकिन बात उल्टी हुई । अकबर ने उसे दे पटका । दरबारी हँस पड़े । भाग भाखने पर विश्वास करने वाले सोचने लगे : यह खिलौने का नगाड़ा नही है, बल्कि बाप के वैभव का नगाड़ा है ।

३. हुमायूँ पुनः भारत-सम्राट (१५४३-५६ ई०)

हुमायूँ रूठी राजलक्ष्मी को मनाने के लिए ईरान से कन्दहार की ओर चला । सीस्तान में उसे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि शाह ने बारह हजार की जगह चौदह हजार सवार प्रदान किये हैं । सेना को लेकर वह कन्दहार आया । असकरी मिर्जा शहरबन्द हो गया । कुछ दिनों के मुहासिरे के बाद सितम्बर १५४५ में उसने आत्म-समर्पण किया । भाई ने माफ कर दिया । ईरानी सैनिकों ने किले पर अधिकार करके वहाँ जो भी खजाना मिला, उसे शाह तहमास्प के पास भेज दिया । हुमायूँ को अच्छा नहीं लगा । कुछ ही समय बाद एकाएक आक्रमण करके उसने कन्दहार को ईरानियों से छीन लिया । अब उसने काबुल की ओर लगाम फेरी । कामराँ के बहुत से अनुयायी उसे छोड़कर चले गए । लड़ाई में हार हुई । अब वह काबुल छोड़ भारत की ओर चला । १५ नवम्बर, १५४५ को हुमायूँ बिना विरोध के काबुल शहर में दाखिल हुआ । अकबर और उसकी जेठी सौतेली बहिन बख्शी बानू को पिछले जाड़ों में कन्दहार से काबुल भेजा गया । खानजादा बेगम अकबर को बहुत प्यार करती थी । हुमायूँ को अपने तीन वर्ष के बेटे से मिलकर बड़ी खुशी हुई । हमीदा बानू को वह कन्दहार में छोड़ गया था । काबुल में जम जाने पर अब उसे भी बुला लिया । विश्वास करना मुश्किल है, लेकिन कहा जाता है कि अकबर ने माँ को

देखते ही पहचान लिया । मार्च १५४६ के किसी दिन धूमधाम से अकबर का खतना हुआ । इसी समय उसका नाम बदरुद्दीन से बदल कर जलालुद्दीन कर दिया गया । भारी खतरों से वह पार हुआ, इससे उसके जलाल (प्रताप) का परिचय मिलता था, इसलिए जलालुद्दीन (प्रतापधर्म) नाम अधिक उपयुक्त समझा गया । अकबर का जन्म वस्तुतः २३ नवम्बर को हुआ था, लेकिन ज्योतिष के सुफल के ख्याल से इतिहासकारों ने उसे हटाकर ५ रजब (१५ अक्टूबर) रविवार बना दिया । नाम बदलने मे एक यह भी कारण था कि जो नया जन्मदिन स्वीकार किया गया, उस दिन पूर्णमासी नहीं थी । इतिहास अकबर को जलालुद्दीन के नाम से ही जानता है और स्वामिभक्त जौहर के संस्मरण से ही पता लगता है कि पूर्णमासी के दिन पैदा होने के कारण शिशु का नाम पहले बदरुद्दीन रखा गया था ।

बेटे के खतने के बाद हुमायूँ ने चाहा कि और आगे बढ़ने के पहले काबुल से उत्तर हिन्दूकुश पहाड़ के पार अवस्थित बदख्शाँ पर अधिकार कर लूँ । उसने काबुल से कूच किया । किश्म मे पहुँचने पर इतना सख्त बीमार हुआ कि चार दिन तक बेहोश पड़ा रहा । छोटे भाई हिन्दाल ने चाहा, भाई की जगह खुद ले ले । सबसे छोटा भाई असकरी काबुल के किले में नजरबन्द था । शिशु अकबर वहीं अन्तःपुर की बेगमों के हाथ में था । कामराँ सिन्ध की ओर भटकता फिर रहा था । उसे मौका मिला और उसने आकर काबुल पर फिर अपना अधिकार जमा लिया । हुमायूँ को अब बदख्शाँ से पहले काबुल को देखना था । उसने आकर घेरा डाला, किले पर जब हुमायूँ के सैनिक गोलाबारी कर रहे थे । उस समय कामराँ ने शिशु अकबर को उसका लक्ष्य बनने के लिए दीवार पर बैठा दिया । किसी की नजर उधर गई । गोलाबारी बन्द कर दी गई । कहते हैं, इस समय माहम अनगा (अनका) खुद अकबर को गोद में लेकर गोला की ओर पीठ करके बैठ गई । कामराँ ने दुबारा काबुल पर अधिकार करके अपनी पाशविकता का परिचय विरोधियों के अबोध बच्चों को मार कर दिया था । वह अकबर के साथ भी ऐसा कर सकता था लेकिन अकबर को तो एक बड़े इतिहास का निर्माण करना था । अन्त में कामराँ ने देखा, काबुल को किसी तरह बचाया नहीं जा सकता । वह २७ अप्रैल, १५४७ में वहाँ से चुपके से निकल कर बदख्शाँ की ओर चला गया ।

जून, १५४८ में हुमायूँ अपने भाई हिन्दान के साथ बदख्शाँ पर चढ़ा । अकबर अपनी माँ के साथ काबुल में रह गया । अगस्त में कामराँ ने भाई के सामने आत्म-समर्पण किया । दोनों आँखों में आँसू भरकर एक-दूसरे से मिले । मिर्जा असकरी के पैरों की भी बेड़ियाँ इसी समय काट दी गईं । जाड़े के आरम्भ

में काबुल लौटकर हुमायूँ ने बलख के अभियान की तैयारी शुरु की । १५४६ ई० में भारी हानि उठा किपचक स्थान में हुमायूँ बुरी तरह घायल हो गया । तीन महीने तक यही विश्वास किया जाता था कि उज्बेको की लड़ाई मे हुमायूँ काम आया । कामराँ फिर (१५५० ई० मे) काबुल और अकबर का मालिक बन गया । इसी साल हुमायूँ ने फिर कामराँ को हराया । मिर्जा असकरी की गिरफ्तारी के साथ काबुल और अकबर हाथ में आये । अकबरी को क्षमा करके उसने मक्का निर्वासित कर दिया । लेकिन वह रास्ते मे ही मर गया । नवम्बर, १५५१ में किसी लड़ाई मे ३२ वर्ष की उमर में हिन्दाल मारा गया । हिन्दाल का असली नाम मुहम्मद नासिर या अबूनासिर मुहम्मद था । हिन्द का होने से हिन्दाल नाम पड़ा । वह हुमायूँ का सबसे अधिक पक्षपाती था । हुमायूँ ने उसे गजनी की जागीर दी थी । उसके मरने पर उसकी लड़की रुकैया बेगम का ब्याह छुटपन में ही अकबर के साथ करके वह जागीर अकबर को दे दी और उसी साल (१५५१ ई०) के अन्त मे उसे गजनी में गुड़िया हाकिम बना कर भेज दिया गया । रुकैया जहाँगीर के वक्त में १५२६ ई० में ८४ साल की होकर निरसन्तान मरी । घोडे से गिरने से हुमायूँ को चोट लग गई, तब यही अच्छा समझा गया कि नौ वर्ष के जागीरदार को गजनी से बुला कर पास रखा जाय ।

हुमायूँ के लिए कामरान एक बड़ी समस्या था । वह हिन्दुस्तान की तरफ बढ़ना चाहता, लेकिन कामरान से हर वक्त खतरा रहता था । सितम्बर, १५५३ में नमक के पहाड़ों (पिंडदादन खॉ) के घक्खर सरदार सुल्तान आदम खाँ ने कामरान को पकड़ लिया । कामरान उस समय स्त्री का भेस बना कर छिपा हुआ था । आमद खाँ ने उसे ले जाकर हुमायूँ के सामने हाजिर किया । यद्यपि कामरान अपनी करनी से मौत का मुस्तहक था, लेकिन हुमायूँ भाई की जान लेना नहीं चाहता था । उसने मारने की जगह उसे अन्धा कर दिया । बाद में उसे मक्का जाने की इजाजत दी जहाँ तीन साल के भीतर वह मर गया । कामरान के एक पुत्र से खतरा था, इसलिए उसे हुमायूँ ने बन्दीखाने में डाल दिया । ग्वालियर के किले को अकबर के समय शाहजादों के कैदखाने के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था । डर था कि कहीं वह बाप का रास्ता न ले, इसलिए संकट के समय १५६५ ई० में ग्वालियर में उसे मरवा दिया गया ।

१५५४ ई० में शेरशाह का पुत्र सलीम (इस्लाम) शाह ग्वालियर में मर गया । उसके १२ वर्ष के बेटे को तीन दिन भी गद्दी पर बैठे नहीं हुआ था कि उसे मामा और शेरशाह के भतीजे मुहम्मद आदिल (अदली) शाह ने मार कर गद्दी संभाल ली । उस समय कई सूरी शाहजादे अलग-अलग इलाकों पर अधिकार जमाये आपस में लड़ रहे थे । हुमायूँ के लिए यह बहुत अच्छा मौका था और

१५५४ ई० मे नवम्बर के मध्य में वह काबुल से हिन्दुस्तान की ओर चला। जलालाबाद से काबुल नदी पार करने के बाद उसने १२ वर्ष के अपने उत्तराधिकारी के मंगल के लिए एक खास विधि की जिसका उल्लेख जौहर ने किया है—

"जब हम वहाँ पहुँचे, तो देखा परमभट्टाकर चन्द्रमा की ओर मुँह किये बैठे है। उन्होंने शाहजादे को सामने बैठने के लिए कहा। फिर कुरान की कुछ आयतें पढ़ीं। हरेक आयत के खतम होने पर शाहजादे पर दम (फूँक) मारते थे। शाहजादा बहुत खुश था।.."

इसी समय मुनअाम खाँ को अकबर का अतालीक (संरक्षक गुरु) नियुक्त किया गया और सेना का संचालन बैरम खाँ के हाथ में दिया गया। आपस मे झगड़ते सूरियों को दबाने मे बहुत मुश्किल नहीं हुई। फरवरी, १५५५ में हुमायूँ ने लाहौर ले लिया। २२ जून को सरहिन्द में शेरशाह के भतीजे सिकन्दर सूर के ऊपर भारी विजय प्राप्त की। विजय का सेहरा अकबर के सिर पर बाँधा गया, क्योंकि बैरम खाँ और शाह अबुल मआली एक-दूसरे को विजेता नहीं बनने देना चाहते थे। इसी समय अकबर को युवराज घोषित किया गया। इसी वक्त अकबर के मामा, हमीदा बानू के भाई ख्वाजा मुअज्ज़म को शत्रु के साथ साज-बाज करने के कारण गिरफ्तार किया गया। जुलाई में हुमायूँ दिल्ली को अपने हाथ में करने मे सफल हुआ। नवम्बर में १३ वर्ष के अकबर को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया और मुनअाम खाँ की जगह बैरम खाँ अलातीक मुकर्रर हुआ।

लेकिन, हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बहुत दिनों तक नही रह सका और उत्तरी भारत के प्रधान नगरो पर अधिकार करने की उसकी योजना कार्यरूप में परिणत नहीं हुई। २४ जनवरी, १५५६ को शुक्रवार के शाम का वक्त था (पुराना किला में)। शेरशाह के बनवाये शेरमण्डल को पुस्तकालय के रूप में परिणत कर दिया गया था। हुमायूँ को पुस्तक पढ़ने का बड़ा शौक था। बेटा यद्यपि जीवन भर निरक्षर रहा, तथापि कानों द्वारा वह भी पुस्तक-पाठ का वैसा ही शौकीन था। छत पर वार्तालाप करते समय अजान की आवाज आई। हुमायूँ ने ऊपरी सीढ़ी पर बैठना चाहा, पर पैर फिसल गया और वह नीचे फर्श पर सिर के बल गिरा। खोपड़ी फट गई और ऐसा बेहोश हुआ कि होश में नहीं आया और तीन दिन बाद मर गया। मृत्यु की खबर से दुश्मन फायदा उठायेंगे, इसलिए उसे छिपा रखा गया। अकबर उस समय पंजाब में था। तुर्की का एक नौसेनापति सिदी अलीरईस उस समय दिल्ली में था। उसे हुमायूँ के स्वस्थ होने की झूठी खबर देकर लाहौर भेजा गया। यह समय निकालने की तरकीब थी। मृत्यु की खबर तभी प्रकट की गई, जबकि १४ फरवरी, १५५६ को कलानोर (जिला गुरुदासपुर) में अकबर को गद्दी-नशीन कर दिया

गया । गुरदासपुर से १५ मील पश्चिम यह कस्बा आजकल पाकिस्तान मे है । अंग्रेजो ने १८ फुट लम्बे चौडे और ३ फुट ऊँचे ईंट के 'तख्ते अकबरी' को स्मारक के तौर पर सुरक्षित रखा था । पर, पाकिस्तान अकबर को नहीं, औरंगजेब को अपना आदर्श मानता है, इसलिए वह इस पवित्र स्थान की सुरक्षा करने की फिकर करेगा, इसकी कम ही सम्भावना है । कलानोर, जो कल्याणपुर या कलानगर का अपभ्रंश मालूम होता है हिन्दू-काल में भी यह महत्त्वपूर्ण स्थान था । लाहौर के हिन्दू राजाओं का भी अभिषेक यहीं होता था ।

गद्दी के दिन शाह अबुल मआली ने खटपट की । यह काशगर के किसी ऊँचे वंश का था । हुमायूँ ईरान से जब कन्दहार लौटा, तो यह उसके पास नौकर हो गया । हुमायूँ ने अधिक स्नेह दिखलाते इसे "फरजन्द" (पुत्र) की पदवी दी थी । सरहिन्द की विजय का श्रेय लेने में बैरम खाँ और अबुल मआली का जो झगड़ा था, उसे हम बतला आये है । मआली ने पहले तो गद्दी-नशीनी में शामिल होने से इन्कार कर दिया, फिर दरबार में अपने बैठने के स्थान आदि के बारे मे कुछ शर्तें रखीं । बैरम खाँ ने सब मान लीं । गद्दी हो गई । दावत के लिए दस्तरखान बिछा । उसी समय बैरम खाँ के इशारे पर मआली की मुश्कें बाँध ली गईं । बैरम खाँ चाहता था, इसी समय उसे खतम कर दिया जाय, लेकिन अकबर ने ऐसा करना पसन्द नहीं किया । उसे कैद कर दिया गया जहाँ से वह निकल भागा । अकबर के चाचाओं में यदि कोई इस समय मौजूद होता, तो कुछ गड़बड़ी जरूर करता ।

दिल्ली की सबसे पुरानी इमारतों में हुमायूँ का मकबरा सबसे सुन्दर है । हुमायूँ की दूसरी पत्नी हाजी बेगम ने अपने खर्च पर इसे बनवाना शुरु किया । मीर मिर्जा गयास इसका वास्तुशास्त्री था । अप्रैल १५७० में जब अकबर अजमेर से दिल्ली गया, तो यह हाल ही में बनकर तैयार हुआ था, अर्थात् इसके बनाने में १३-१४ साल लगे ।

अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हकीम को मुनअम खाँ की अतालकी मे काबुल का उपराज नियुक्त किया गया ।

४. शिक्षा

अकबर आजीवन निरक्षर रहा । प्रथा के अनुसार चार वर्ष, चार महीने, चार दिन पर अकबर का अक्षरारम्भ हुआ और मुल्ला असामुद्दीन इब्राहीम को शिक्षक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । कुछ दिनों बाद जब पाठ सुनने की बारी आई, तो वहाँ कुछ भी नहीं था । हुमायूँ ने सोचा, मुल्ला की बेपरवाही से लड़का पढ़ नहीं रहा है । लोगों ने भी जड़ दिया—" मुल्ला को कबूतरबाजी का बहुत शौक है । उसने शागिर्द को भी कबूतरों के खेल में लगा दिया है ।" फिर मुल्ला

बायजीद शिक्षक हुए, लेकिन कोई फल नहीं हुआ । दोनो पुराने मुल्लाओं के साथ मौलाना अब्दुल कादिर के नाम को भी शामिल करके चिट्ठी डाली गई । संयोग से मौलाना का नाम निकल आया । कुछ दिनो वह भी पढ़ाते रहे । काबुल मे रहते अकबर को कबूतरो और कुत्तों के साथ खेलने से फुर्सत नहीं थी । हिन्दुस्तान में आया, तब भी वही रफ्तार बेढंगी रही । मुल्ला पीर मुहम्मद—बैरम खाँ के वकील को काम सौपा गया । लेकिन वहाँ तो कसम खा ली थी कि "ओनामासीधम्, बाप पढ़े ना हम ।" कभी मन होता, तो मुल्ला के सामने किताब लेकर बैठ जाता । हिजरी ६६३ (१५५५-५६ ई०) में मीर अब्दुल लतीफ कजवीनी ने भी भाग्य-परीक्षा की । फारसी तो मातृभाषा ठहरी, इसलिए अच्छी साहित्यिक फारसी अकबर को बोलने-चालने में ही आ गई थी । कजवीनी के सामने दीवान हाफिज शुरु किया, लेकिन जहाँ तक अक्षरो का सम्बन्ध था, अकबर ने अपने को कोरा रखा । अकबर ने कबूल किया और कुछ दिनों रेखाएँ खींची, लेकिन किताबों पर आँखें गड़ाने में उसकी रूह काँप जाती थी ।

अक्षर-ज्ञान के अभाव से यह समझ लेना गलत होगा कि अकबर अशिक्षित था, आखिर पुराने समय मे जब लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था, हमारे ऋषि भी आँख से नहीं, कान से पढ़ते थे । इसीलिए ज्ञान का अर्थ संस्कृत में श्रुत है और महाज्ञानी को आज भी बहुश्रुत कहा जाता है । अकबर बहुश्रुत था । उसकी स्मृति की सभी दाद देते है, इसलिए सुनी बातें उसे बहुत जल्द याद आ जाती थीं । हाफिज, रूमी आदि की बहुत-सी कविताएँ उसे याद थीं । उस समय की प्रसिद्ध किताबो में से शायद ही कोई होगी जिसे उसने नहीं सुना । उसके साथ बाकायदा पुस्तकपाठी रहते थे । फारसी की पुस्तकों के समझने में कोई दिक्कत नही थी, अरबी पुस्तको के अनुवाद (फारसी) सुनाता था । 'शाहनामा' आदि पुस्तकों को सुनते वक्त जब पता लगा कि संस्कृत में भी ऐसी पुस्तके हैं, तो वह उनको सुनने के लिए उत्सुक हो गया और 'महाभारत', 'रामायण' आदि बहुत-सी पुस्तकें अपने लिए उसने फारसी में अनुवाद कराईं । 'महाभारत' को 'शाहनामा' के मुकाबिले का समझकर वह अनुवाद करने के लिए इतना अधीर हो गया कि संस्कृत पंडित के अनुवाद को सुनकर स्वयं फारसी में बोलने लगा और लिपिक उसे उतारने लगे। कम फुर्सत के कारण यह काम देर तक नहीं चला । अक्षर पढ़ने की जगह उसने अपनी जवानी खेल-तमाशों और शारीरिक-मानसिक साहस के कामों में लगाई । चीतों से हरिन का शिकार, कुत्तों का पालना, घोड़ों और हाथियों की दौड़ उसे बहुत पसन्द थी । किसी के काबू में न आने वाले हाथी को वह सर करता था और इसके लिए जान-बूझ कर खतरा मोल लेता था ।

नाबालिग बादशाह (१५५६-६४ ई०)

१. बैरम की अतालीकी (१५५६-६०)

कलानोर में १४ वर्ष के अकबर को बादशाह घोषित कर दिया गया, पर उसे खेल-तमाशे से फ़ुर्सत नहीं थी। ऊपर से बैरम खाँ जैसा घाघ आदमी उसका सरपरस्त था। सल्तनत भी अभी आगरा से पंजाब तक ही सीमित थी। हुमायूँ और बाबर के राज्य के पुराने सूबे हाथ में नहीं आये। बंगाल में पठानों का बोलबाला था, राजस्थान मे राजपूत रजवाड़े स्वच्छन्द थे। मालवा में माँडू का सुल्तान और गुजरात में अलग बादशाह था। गोंडवाना (मध्य-प्रदेश) में रानी दुर्गावती की तपी थी, कहावत है-''ताल में भूपालताल और सब तलैया। रानी में दुर्गावती और सब गधैया।'' खानदेश, बरार, बिदर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीजापुर, दिल्ली से आजाद हो अपने-अपने सुल्तानों के अधीन थे। किसी वक्त मलिक काफूर ने रामेश्वरम् पर अलाउद्दीन का झंडा गाड़ा था, आज वहाँ विजयनगर का हिन्दू राज्य था, सिन्ध, बलोचिस्तान सभी दिल्ली से मुक्त थे।

अदली साल ही भर दिल्ली के तख्त पर रह सका। उसे इब्राहीम खाँ ने पूर्व की ओर भगा दिया। उसने चुनार में अड्डा जमाया। तीन वर्ष के शासन के बाद १५५७ या १५५८ ई० में बंगाल के पठानों ने उसे मार डाला, इब्राहीम खाँ को शेरशाह के दूसरे भतीजे सिकन्दर सूर ने दिल्ली से भगाया। वह वहाँ से पूर्व की ओर भागा जहाँ बारह वर्ष बाद उड़ीसा में मारा गया। अकबर के गद्दी पर बैठने के समय सिकन्दर सूर ही उसका जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी था।

लेकिन, अदली के समय एक और प्रचण्ड शत्रु से अकबर को मुकाबिला करना पड़ा था। वह था हेमू (हेमचन्द्र विक्रमादित्य) जिसे कुछ इतिहासकार रेवाड़ी का धूसर बनिया (भार्गव) बतलाते हैं। पर अधिक सम्भावना है कि वह बिहार का रौनियार था। आज भी हेमू के बिहारी बन्धु अपने पर्व-त्यौहारों में अपने वीर के गीत गाते है। अदली ने हेमू के ऊपर भार दिया जिसे हेमू ने बड़ी योग्यता के साथ पूरा किया। उसने बाईस लड़ाइयाँ जीतीं। इब्राहीम को पराजित किया। हुमायूँ के आने पर स्वयं चुनार में रहते अदली ने हुमायूँ से मुकाबिला करने के लिए उसे भेजा। आने तक हुमायूँ मर चुका था। कलानोर में अकबर के गद्दी पर बैठने के बाद तर्दीबेग को पंजहज़ारी मन्सब देकर दिल्ली का राज्यपाल नियुक्त किया गया। हेमू ने ग्वालियर, आगरा होते दिल्ली पहुँचा और तर्दी को हराकर १६० हाथी, हजार अरबी घोड़े और बहुत-सा गनीमत का माल अपने हाथ में

किया। अब आगरा और दिल्ली दोनो राजधानियाँ हेमू के हाथ में थीं। तर्दीबेग भाग कर अकबर के पास सरहिन्द पहुँचा। बैरम खाँ पहिले ही से तर्दीबेग को पसन्द नहीं करता था। उसने विश्वासघात का दोष लगाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी को कत्ल करवा दिया। हुमायूँ के भागते वक्त तर्दीबेग साथ था, इसके बारे में हम बतला आये हैं और यह भी कि जब हुमायूँ को घोड़े की जरूरत पड़ी, तो उसने उसे देने से इन्कार कर दिया। हुमायूँ जब काबुल लौटा, तो फिर क्षमा माँगकर उसके साथ हो लिया। इस प्रकार उसकी नीयत यद्यपि साफ नहीं थी, तथापि बैरम खाँ ने रास्ते का काँटा समझकर ही उसे अलग किया।

दिल्ली और आगरा पर अधिकार करके हेमू ने देखा, जिसके लिए विजय प्राप्त की, उनमें कोई योग्य नहीं है, शेरशाह के वंश के सभी एक-दूसरे का गला काटने के लिए तैयार हैं। उसे यही उचित मालूम हुआ कि स्वयं सारा अधिकार अपने हाथ में ले ले। पठान भी उसके साथ थे और पूरबियों की पलटन भी। हेमू ने विक्रमादित्य के नाम से दिल्ली में अपना अभिषेक कराया। साढ़े तीन-सौ वर्ष बाद फिर भारत के सिंहासन पर एक हिन्दू बैठा। पर यह हर्ष मनाने का समय नहीं था। इसी समय दिल्ली और आगरा के इलाकों में भयंकर अकाल पड़ा जो दो सालों (१५५५-५६ ई०) तक रहा। लोग दाने-दाने के लिए मोहताज थे। हेमू बयाना (आगरा से २५ मील दक्षिण-पश्चिम) में छावनी डाले पड़ा था। लोग 'हाय रोटी' कहते मर रहे थे। बदायूँनी के अनुसार "हेमू लाख आदमियों की जान को एक जौ के दाने से बढ़कर नहीं समझता था और वह अपने पाँच सौ हथियारो को चावल, चीनी और घी खिला रहा था। सारी दुनिया इसे देखकर छी-छी करती थी।"

दिल्ली और आगरा के हाथ से चले जाने पर दरबारियों ने सलाह दी कि हेमू इधर भी बढ़ सकता है, इसलिए बेहतर है, यहाँ से काबुल चला जाय। लेकिन बैरम और अकबर ने इसे पसन्द नहीं किया। वह अपनी सेना ले पानीपत पहुँचे और वही जुआ खेला, जिसे तीस साल पहले दादा ने खेला था। हेमू की सेना संख्या और शक्ति, दोनों में बढ़-चढ़कर थी। पोर्तुगीजों से मिली तोपों का उसे बड़ा अभिमान था। १५०० महागजों की काली घटा मैदान में छाई हुई थी। १५ नवम्बर को हेमू ने मुगल दल में भगदड़ मचा दी, पर इसी समय उसकी आँख मे एक तीर लग कर भेजे के भीतर घुस गया, वह संज्ञा खो बैठा। नेता के बिना सेना में भगदड़ मच गई। हेमू को गिरफ्तार कर बैरम ने मरवा दिया, हम यह बतला चुके हैं। कहा जाता है, बैरम ने अकबर से अपने हाथों दुश्मन का सिर काटकर गाजी बनने की प्रार्थना की थी, लेकिन अकबर ने वैसा करने से इन्कार कर दिया। अकबर इस समय अभी मुश्किल से १४ वर्ष का हो पाया

था। उसमें इतना विवेक था, इसे मानने के लिए कुछ इतिहासकार तैयार नहीं हैं। हिन्दू चूक गये, पर हेमू की जगह उन्होंने अकबर जैसे शासक को पाया जिसने आधी शताब्दी तक भेद-भाव की खाई पाटने की कोशिश की।

दिल्ली से अकबर दिसम्बर में सरहिन्द लौट गया, क्योंकि अभी सिकन्दर सूर सर नही हुआ था। मई, १५५७ में सिकन्दर ने मानकोट (रामकोट, जम्मू) के पहाडी किले में कितनी ही देर तक घिरे रहने के बाद आत्म-समर्पण किया। उसे खरीद और बिहार के जिले जागीर मे मिले, जहॉ वह दो वर्ष बाद मर गया।

काबुल से शाही बेगमें भी मानकोट पहुँचीं। उनके स्वागत के लिए अकबर दो मंजिल आगे गया। मानकोट से लाहौर होते जालन्धर पहुँचने पर बैरम खाँ ने हुमायूँ की भॉजी, सलीमा बेगम से ब्याह किया। लेकिन यह ब्याह कुछ ही समय का रहा, क्योंकि ३१ जनवरी, १५६१ में बैरम खाँ की हत्या के बाद फूफी की लड़की सलीमा अकबर की बहुत प्रभावशालिनी बीवी बनी और १६१२ ई० में मरी।

अक्टूबर १५५८ में अकबर दिल्ली से सदल-बल जमुना से नाव द्वारा आगरा पहुँचा। यधपि आगरा एक नगण्य नगर नहीं था, बाबर और शूरी बादशाहों ने भी उसकी कदर की थी, तथापि उसका भाग्य अकबराबाद बनने के बाद ही जगा।

बैरम खां की अतालीकी के अंतिम वर्षों में राज्य सीमा खूब बढ़ी। जनवरी फरवरी १५५६ में ग्वालियर ने अधीनता स्वीकार की। इसके कारण दक्षिण का रास्ता खुल गया और ग्वालियर जैसा सुदृढ़ दुर्ग तथा सांस्कृतिक केन्द्र अकबर के हाथ में आया। इसी साल पूर्व में जौनपुर तक मुगल झण्डा फहराने लगा। रणथम्भोंर के अजेय दुर्ग को लेने की कोशिश की गई, पर उसमें सफलता नहीं हुई। मालवा को भी बैरम खाँ लेने में असफल रहा और इस प्रकार साबित कर दिया कि अब अतालीक से ज्यादा आशा नहीं की जा सकती। अकबर भी अब १८ वर्ष का हो रहा था, वह बैरम की गुड़िया बनकर रहना नहीं चाहता था।

२. बैरम का पतन (१५६० ई०)

बैरम खाँ का सम्बन्ध तूरान (मध्य-एशिया) की तुर्कमान जाति से था—हैदराबाद के निजाम भी तुर्कमान हैं। इतिहासकार कासिम फिरश्ता के अनुसार वह ईरान के कराकुइलु तुर्कमानों के बहारलु शाखा से सम्बद्ध था। अलीशाकर बेग तुर्कमान तैमूर के प्रसिद्ध सरदारों में से था जिसे हमदान, दीनवर खुजिस्तान आदि पर शासक नियुक्त किया गया था। अलीशाकर की सन्तानों में

शेरअली बेग हुआ । तैमूरी शाह हुसेन बायकरा के बाद जब तूरान में सल्तनत बरबाद हो गई, तो शेरअली काबुल की तरफ भाग्य-परीक्षा करने आया । एक बार हारने पर उसने हिम्मत न हारी और अन्त में युद्धक्षेत्र में मारा गया । उसका बेटा यारअली और पोता सैफअली अफगानिस्तान चले आये । यारअली को बाबर ने गजनी का हाकिम नियुक्त किया । थोडे ही दिनो बाद उसके मरने पर बेटे सैफअली को वही दर्जा मिला । वह भी जल्दी ही मर गया । अल्पवयस्क बैरम अपने घरवालो के साथ चला गया । वही कुछ दिनों पढ़ता-लिखता रहा । फिर समवयस्क शाहजादा हुमायूँ का नौकर हो गया । बैरम को साहित्य और सगीत से भी बहुत प्रेम था । वह जल्दी ही स्वामी का अत्यन्त प्रिय हो गया। १६ वर्ष की उमर ही में एक लड़ाई में बैरम ने बड़ी वीरता दिखाई । इसकी ख्याति बाबर तक पहुँच गई और खुद उससे कहा : शाहजादा के साथ दरबार में हाजिर करो । बाबर के मरने के बाद हुमायूँ बादशाह की छाया के तौर पर रहने लगा । हुमायूँ ने चाँपानेर (गुजरात) के किले पर घेरा डाला । किसी तरह से दाल गलती न देखकर चालीस मुगल बहादुर सीढ़ियों के साथ किले में उतर गये जिनमें बैरम खाँ भी था । किला फतह हो गया । शेरशाह से चौसा गें लड़ते वक्त बैरम साथ था । कन्नौज मे भी वह लड़ा । कन्नौज की पराजय के बाद मुगल सेना में जिसकी सींग जिधर रामाई, वह उधर भागा । बैरम खॉ अपने पुराने दोस्त सम्भल के मियाँ अब्दुल वहाब के पास पहुँचा । फिर लखनऊ के राजा मित्रसेन के पास जंगलों में दिन गुजारता रहा । शेरशाह हाकिम नसीर खाँ को पता लगा । उसने बैरम को पकड़ मँगवाया । नसीर खाँ चाहता था कि बैरम को कत्ल कर दें, पर दोस्तों की कोशिश से किसी तरह बच गया । अन्त मे उसे शेरशाह के सामने हाजिर होना पड़ा जिसने एक मामूली मुगल सरदार को महत्व न दे उसे माफ कर दिया । बैरम फिर गुजरात के सुल्तान महमूद के पास गया, पर उसे अपने स्वामी से मिलने की धुन थी, जब हिजरी ६५० (१५४३-४४ ई०) में हुमायूँ ईरान से लौटकर काबुल लेते सिन्ध की ओर बढ़ा, तो बैरम अपने आदमियों के साथ हुमायूँ की ओर से लड़ने लगा । हुमायूँ को इसकी खबर लगी, तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं था । हिन्दुस्तान मे सफलता मिलने वाली नहीं थी, इसलिए हुमायूँ ने ईरान का रास्ता लिया । बैरम भी उसके साथ था । शाही काफिले में कुल मिलाकर सत्तर आदमी से ज्यादा नहीं थे । ईरान से लौट कर हुमायूँ ने कन्दहार को घेरा । उसने चाहा, भाई कामराँ को समझा-बुझाकर खून-खराबा रोके ? उसे समझाने के लिए हुमायूँ ने बैरम खाँ को काबुल भेजा, लेकिन वह कहाँ होने वाला था ? कन्दहार पर अधिकार करके

बैरम खाँ को हाकिम नियुक्त किया । कन्दहार-विजय के बारे मे हुमायूँ ने स्वयं कहा—

''रोज नौरोज बैरम'स्त इम्रोज ।
दिले अहबाब बेगम'स्त इम्रोज ।
(आज नववर्ष दिन बैरम है । आज मित्रो के दिल बेफिकर है ।)

हिजरी ६६१ (१५५३-५४ ई०) में लोगों ने चुगली लगाई कि बैरम स्वतंत्र होना चाहता है, लेकिन बैरम नमक हराम नहीं था । हुमायूँ एक दिन स्वयं कन्दहार पहुँचा । बैरम ने बहुतेरा चाहा कि बादशाह उसे अपने साथ ले चले, लेकिन कन्दहार भी एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान था जिसके लिए बैरम से बढकर अच्छा शासक नहीं मिल सकता था । अकबर के जमाने मे भी बहुत दिनों तक कन्दहार बैरम खाँ के शासन में रहा । उसका नायब शाह मुहम्मद कन्दहारी उसकी ओर से काम करता था । हुमायूँ हिन्दुस्तान की ओर बढ़ते सतलुज के किनारे माछीवाड़ा पहुँचा । पता लगा, परले पार बेजवाडा में तीस हजार पठान डेरा डाले पड़े है । पठान लकड़ी जलाकर ताप रहे थे । रात को रोशनी ने लक्ष्य के बतलाने में सहायता की । अपने एक हजार सवारों के साथ बैरम उनके ऊपर टूट पड़ा । दुश्मन की संख्या का उनको पता नहीं लगा । तीरों की वर्षा से पठान घबरा गये । वह सारा माल-असबाब छोड़कर भाग गये । इसी विजय के उपलक्ष्य में हुमायूँ ने उसे 'खानखाना' की उपाधि दी । तर्दीबेग बैरम का प्रतिद्वन्द्वी था, लेकिन हेमू से हारकर भागने के समय बैरम को मौका मिल गया और उसने इस काँटे को निकाल बाहर किया । अकबर के गद्दी पर बैठने के दिन अबुल मआली ने कुछ गड़बड़ी करनी चाही थी, लेकिन बैरम ने जैसी खूबसूरती से इस गुत्थी को सुलझाया, वह उसका ही काम था । हेमचन्द से पराजित होकर मुगल अमीर निराश हो चुके थे, वह काबुल लौट जाना चाहते थे । पर, बैरम ने रोक दिया ।

हुमायूँ के मरने पर अकबर की सल्तनत का भार सँभालना बैरम के ऊपर था । खानखाना की योग्यता और प्रभाव को देखकर मरने से थोड़ा पहले हुमायूँ ने अपनी भाँजी सलीमा सुल्तान बेगम की शादी बैरम से निश्चित कर दी थी । अकबर के दूसरे सनजलूस (१५५८ ई०) मे बड़े धूमधाम से यह शादी हुई । दरबार के कुछ मुगल सरदार और कितनी ही बेगमें इस सम्बन्ध से नाराज थीं । तैमूरी खानदान की शाहजादी एक तुर्कमान सरकार से ब्याही जाय, इसे वह कैसे पसन्द कर सकते थे ?

अकबर ने होश सँभाला । वह खानबाबा के हाथ की कठपुतली नहीं रहना चाहता था । उधर बैरम ने भी अपने आपको सर्वेसर्वा बना लिया था । इसके कारण उसके दुश्मनों की संख्या बढ़ गई थी । दरबार में एक दूसरे के खून के

प्यारो दो दल हो गये जिनमें विरोधी दल के सिर पर अकबर का हाथ था। बैरम खाँ की तलवार और राजनीति ने अन्त में हार खाई। वह पकड़कर अकबर के सामने उपस्थित किया गया। अकबर ने कहा—"खानबाबा, अब तीन ही रास्ते है। जो पसन्द हो, उसे स्वीकार करो : (१) राजकाज चाहते हो, तो चँदेरी और कालपी के जिले ले लो, वहाँ जाकर हुकूमत करो। (२) दरबारी रहना पसन्द है, तो मेरे पास रहो, तुम्हारा दर्जा और सम्मान पहले ही जैसा रहेगा। (३) यदि हज करना चाहते हो, तो उसका प्रबन्ध किया जा सकता है।" खानखाना ने तीसरी बात मंजूर की।

हज के लिए जहाज पकड़ने वह समुद्र की ओर जाता हुआ पाटन (गुजरात) में पहुँचा। जनवरी १५६१ में विशाल राहसलंग सरोवर में नाव पर सैर कर रहा था। शाम की नमाज का वक्त आ गया। खानखाना किनारे उतरा। इसी समय मुबारक खॉ लोहानी तीस-चालीस पठानों के साथ मुलाकात करने के बहाने आ गया। बैरम हाथ मिलाने के लिए आगे बढा। लोहानी ने पीठ में खंजर मारकर छाती के पार कर दिया। खानखाना वहीं गिरकर तडपने लगा। लोहानी ने कहा—माछीवाड़ा में तुमने हमारे बाप को मारा था, उसका हमने बदला लिया। बैरम का बेटा और भावी हिन्दी का महान कवि अब्दुर्रहीम उस समय चार साल का बच्चा था। अकबर को मालूम हुआ। उसने खानखाना की बेगमों को दिल्ली बुलवाया। बैरम की बीवी तथा अपनी फूफी (गुलरुख बेगम) की लड़की सलीमा सुल्तान के साथ स्वयं ब्याह करके बैरम परिवार के साथ घनिष्ठता स्थापित की। सलीमा बानू अकबर की बहुत प्रभावशाली बेगमों में से एक थी।

तीसरे सनजलूस (१५५८-५६ ई०) में शेख गदाई को सदरे-सुदूर बनाया गया था। गदाई शिया था और बैरम भी। अमीरों में बहुत बडी तादात सुन्नियों की थी। हिन्दुस्तान का इस्लाम सुन्नी था। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ था कि इतने बड़े पद पर किसी शिया को रखा गया हो। बैरम खाँ के इस कार्य ने सभी सुन्नी अमीरों को उसके खिलाफ एकमत कर दिया। यह भी बैरम खाँ के पतन का एक बड़ा कारण हुआ। अकबर की माँ हमीदा बानू (मरियम मकानी), उसकी दूधमाँ माहम अनका, दूधभाई अदहम खान, उनका सम्बन्धी तथा दिल्ली का हाकिम शहाबुद्दीन बैरम खाँ के खिलाफ षड्यंत्र करने वालों के मुखिया थे। वह अकबर को यह भी समझा रहे थे कि बैरम कामराँ मिर्जा के लड़के को गद्दी पर बैठाना चाहता है। ये लोग बैरम के सर्वनाश के लिए तुले हुए थे। खानखाना के सलाहकार उससे कह रहे थे—'अकबर को गिरफ्तार करो। लेकिन, बैरम ऐसी नमकहरामी के लिए तैयार नहीं था। जब मालूम होने लगा कि बैरम का सितारा डूबने जा रहा है, तो कितने ही सहायक भी उससे अलग हो गए।

अकबर ने अपनी स्थिति को मजबूत देख अपने शिक्षक मीर अब्दुल लतीफ के हाथो लिखाकर निम्न सन्देश भेजा—

"चूँकि मुझे तुम्हारी ईमानदारी और भक्ति पर पूरा विश्वास है, इसलिए सभी महत्वपूर्ण राज-काज को तुम्हारे हाथ मे छोड़कर मैं केवल अपने सुख-विलारा में लगा रहा। अब मैं सरकार की बागडोर को अपने हाथ में लेने का निश्चय कर चुका हूँ। अब यही अच्छा है कि तुम मक्का हज करने जाओ जिसे कि इतने दिनो से तुम चाहते थे। हिन्दुस्तान के परगनों में से एक अच्छी-सी जागीर तुम्हारे खर्च के लिए दी जायगी जिसकी आमदनी तुम्हारा कारपरदाज तुम्हारे पास भेजा करेगा।'

माहम अनका मामूली औरत नहीं थी। इस समय अकबर पूरा उसके प्रभाव मे था। अबुलफजल लिखते है—"अपनी महान बुद्धि और राजभक्ति के बरा उसने राजकाज को अपने हाथ में कर लिया। इसमें शक नहीं, हुमायूँ को हिन्दुस्तान के तख्त पर फिर से बैठाने में बैरम खाँ का सबसे बड़ा हाथ था और अकबर के पहले चार सालों में उसने ही सल्तनत को मजबूत कर उसका विस्तार किया।" ग्वालियर और जौनपुर के बड़े राज्य उसने ही १५५८-६० ई० में जीत कर अकबर की सल्तनत में मिलाये और रणथम्भोर पर भी अधिकार करने का असफल प्रयत्न किया। मालवा को भी वह ले चुका होता यदि दरबार मे बैरम के खिलाफ षड्यंत्र न होने लगता।

बैरम की बीवी सलीमा सुल्तान बेगम हुमायूँ की सगी बहिन गुलरुख बेगम की पुत्री हिजरी ६६१ (१५५३-५४ ई०) में पैदा हुई। इस प्रकार हिजरी ६६५ (१५५७-५८ ई०) में जब उसकी शादी बैरम से हुई, तो वह सिर्फ चार-पॉच साल की थी, अर्थात् बैरम के मरने के समय जनवरी १५६० ई० सात-आठ वर्ष की हो सकी थी। सलीमा बानू का देहान्त हिजरी १०२१ (१६१२-१३ ई०) में हुआ था। वह बहुत सुशिक्षित और बुद्धिमती महिला थी। उसके लिए अकबर ने 'सिंहासन बत्तीसी' का फारसी में दुबारा तुर्जुमा 'खिरदअफजा' के नाम से मुल्ला बदायूँनी से करवाया। फारसी में उसका एक पद्य है—

काकुलत्-रामन् जे-मस्ती रिश्तये-जाँ गुफ्त अम्।
मस्त बूदम् की सबब हर्फे 'परीशाँ गुफ्त' अम्"

(मस्ती में मैंने तेरी अलकों को प्राण का सम्बन्ध कहा। इसी कारण मस्त हो मैंने चिन्ता के अक्षर कहे।)

३. बेगमों का प्रभाव (१५६०-६४ ई०)

अकबर ने बैरम खाँ के हाथ सल्तनत की बागडोर छीनी, पर अभी वह उसे अपने हाथ में नहीं ले सका। वस्तुतः माहम अनका अपनी बेटी और सम्बन्धियों

के बल पर बैरम को पछाडने में सफल हुई थी । वह कब चाहती कि अकबर हमारे प्रभाव से निकल जाय ? पीर मुहम्मद शिरवानी ने षड्यंत्र को सफल बनाने में अपने आका बैरम खाँ से विश्वासघात किया था । तर्दीबेग का भी सर्वनाश करने मे उसका ही हाथ था । वह माहम अनका के अत्यन्त कृपापात्रो मे था । इस समय बैरम की आँख मालवा पर लगी हुई थी जहाँ पठानों की हुकूमत शजात खाँ (सहजावल खाँ) सूर माण्डू मे पहले सलीमशाह सूर की ओर से, फिर स्वतन्त्र शासक रहा । हिजरी ६६३ (१५५५-५६) में उसके मरने पर उसका सबसे बडा लड़का बाजबहादुर मालवा की गद्दी पर उसी साल बैठा था जिस साल अकबर तख्त पर बैठा था । बाजबहादुर (सुल्तान बायजीद) अयोग्य तथा क्रूर आदमी था । उसने अपने छोटे भाई और कितने ही अफसरों को मरवाकर अपने को मजबूत करना चाहा । अपने पड़ोसी गोंड राजाओं की ओर हाथ बढ़ाना चाहा और बुरी तौर से हारा । वह संगीत का शौकीन था । उसने अदली (आदिलशाह सूर) से संगीत की शिक्षा पाई थी, यह हम बतला चुके है। मदिरा, मदिरेक्षणा और संगीत उसके जीवन का लक्ष्य था । उसके दरबार मे नृत्य और संगीत में अत्यन्त कुशल रूपमती गणिका थी, जिसके प्रेम में वह पागल था । इस प्रेम को लेकर कितने ही कवियों ने कविताएँ लिखीं ।

१५६० ई० की शरद में माहम अनका (अनगा) के पुत्र अदहम खान की अधीनता में मालवा पर आक्रमण करने की तैयारी हुई । पीर मुहम्मद शिरवानी कहने के लिए सहायक सेनापति था । नहीं तो वस्तुतः वही सर्वेसर्वा था । नालायक नौजवान अदहम खाँ अपनी माँ के कारण ही प्रधान सेनापति बनाया गया था । सारंगपुर के पास १५६१ ई० में बाजबहादुर की हार हुई । मालवा का खजाना शाही सेना के हाथ में आया । बाजबहादुर ने अपने अफसरों को कह रखा था कि हार होने पर दुश्मन के हाथ में जाने से बचानें के लिए बेगमों को मार डालना । अपने सौंदर्य के लिए जगत्-प्रसिद्ध रूपमती पर तलवार चलाई गई, लेकिन वह मरी नहीं । अदहम ने लूट के माल को अपने हाथ में रखना चाहा और थोड़े से हाथी भर अकबर के पास भेजे । पीर मुहम्मद और अदहम खाँ ने मालवा में भारी क्रूरता की । मालवा के हिन्दू-मुसलमानों में कोई अन्तर नहीं रखा । मालवा पर पहिले से हुकूमत करने वाले भी मुसलमान थे । विद्वान शेखों और सम्माननीय सैयदों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा । यह खबर अकबर के पास पहुँची । वह जानता था, माहम अपने पुत्र के लिए कुछ भी करने से उठा नहीं रखेगी, इसलिए बिना सूचना दिये वह एक दिन (२७ अप्रैल, १५६१ को) थोड़े से आदमियों को लेकर आगरा से चल पड़ा । खबर मिलते ही माहम ने लड़के के पास दूत भेजा, लेकिन अकबर उससे पहले ही मालवा पहुँच गया । अदहम खाँ हक्का-बक्का रह गया ।

उसने आत्म-समर्पण करके छुट्टी लेनी चाही। अकबर को मालूम हुआ कि उसने बाजबहादुर के अन्तःपुर की दो सुन्दरियों को अपने लिए छिपा रखा है। माहम घबराई। सोचा, यदि यह दोनों अकबर के सामने हाजिर हुई, तो बेटे का भाण्डाफोड़ हो जायगा, इसलिए उनको जहर देकर मरवा डाला।

इसी समय अकबर ने पहले-पहल अपने राजनीतिक साहस का परिचय देते बिजली की गति से अदहम पर झपट्टा मारा था। मालवा का काम ठीक करके ३८ दिन बाद (४ जून, १५६१) वह आगरा लौट आया। गर्मियों का दिन था। लौटते वक्त रास्ते में नरवर के पास के जंगलों में शिकार करने लगा और पाँच शावकों के साथ एक बाघिन को तलवार के एक वार से मार दिया। इसी समय एक और भी खतरा उसनें आगरे में मोल लिया। हेमू का हाथी हवाई बहुत ही मस्त और खतरनाक था। एक दिन अकबर को उस पर सवारी करने की धुन सवार हुई। दो-तीन प्याले चढ़ाकर वह उसके ऊपर चढ गया। इतने से सन्तोष न कर उसने मुकाबिले के दूसरे हाथी रनबाघा से भिडन्त करा दी। रनबाघा हवाई के प्रहार को न बर्दाश्त कर जान लेकर भागा। हवाई उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। अकबर हवाई के कंधे पर बैठा रहा। रनबाघा के पीछे-पीछे हवाई जमुना के खड़े किनारे से नीचे की ओर दौड़ा। नावों का पुल पहाड़ों के नीचे कैसे टिक सकता था ? पुल डूब गया। परले पार आगे-आगे रनबाघा भागा जा रहा था और पीछे-पीछे हवाई। लोग साँस रोककर यह खूनी तमाशा देख रहे थे। अकबर ने अपने ऊपर पूरा काबू रखते हवाई को रोकने की कोशिश की और अन्त में उसमें सफल हुआ।

१५६२ ई० की भी अकबर के जीवन की एक घटना है। साकित परगना (एटा जिला) के आठ गाँवों के लोग बड़े ही सर्कश थे। अकबर ने स्वयं उन्हें दबाने का निश्चय किया। एक दिन शिकार के बहाने निकला। डेढ़-दो सौ सवारा और कितने ही हाथी उसके साथ थे। बागी चार हजार थे, लेकिन अकबर ने उसकी संख्या की परवाह नहीं की। उसने देखा, शाही सवार आगा-पीछा कर रहे हैं। फिर क्या था ? अपने हाथी दलशंकर पर चढ़कर वह अकेले परोख गाँव के एक घर की ओर बढ़ा। जमीन के नीचे अनाज की बखार थी जिस पर हाथी का पैर पड़ा और वह फँस कर लुढ़क गया। दुश्मन बाण-वर्षा कर रहे थे। पाँच बाण ढाल में लगे। अकबर बेपरवाह होकर हाथी को निकालने में सफल हुआ और मकान की दीवार तोड़ते भीतर घुसा। घरो में आग लगा दी गई। एक हजार बागी उसी में जल मरे।

इससे एक साल पहले १५६१ ई० के पूर्वार्द्ध की बात है। अकबर अभी १६ वर्ष का था। वह जनता के सुख-दुख जानने की कोशिश करता था।

साधु-फकीरों से मिलने का भी उसे बहुत शौक था । कभी-कभी भेस बदल कर निकल जाता था । एक रात भेस बदले वह आगरा में जमुना पार एक बड़ी भीड़ में जा रहा था । किसी ने उसको पहचान लिया और दूसरों से कहा । गुण्डों की पहचान में आना खतरे की बात है । एक मिनट की देर किये बिना पास आ उसने देखने वालों की ओर अपनी पुतलियाँ ऐसी ऐंचातानी बनाई कि उन्होने कहा—"इसकी ऑखे बादशाह जैसी नही हैं ।"

जौनपुर का सूबेदार खानजमॉ अलीकुल्ली खॉ को बनाया गया था । बाबर, हुमायूँ अपने तूरानी भाइयों पर बहुत विश्वास करते थे और उन्हे ऊँचे-ऊँचे पदो पर रखते थे । लेकिन, ऐन-मौके पर धोखा देने से वे कभी बाज नहीं आते थे । खानजमॉ और उसके भाई बहादुर खाँ पर स्वतंत्र बनने की धुन सवार हुई । अकबर को भनक लगी । जुलाई १५६१ में वह शिकार के बहाने चल पड़ा । जब यह पता लगा, तो दोनों को घबराहट हुई और गंगा के किनारे कड़ा (इलाहाबाद जिला) मे आकर उन्होंने नजर भेट की । अकबर ने उसे स्वीकार किया और अगस्त के अन्त होने से पहले ही वह आगरा लौट आया ।

उसी साल नवम्बर में शमशुद्दीन मुहम्मद खान अतगा काबुल से आया । नवम्बर १५६१ में अकबर ने अतगा को राजनीतिक, वित्तीय और सैनिक विभागो का मंत्री बनाया । माहम अतगा समझती थी, मैं प्रधानमंत्री हूँ, विभाग अतगा को क्यों दिये गये । मुनअम खाँ को भी अतगा का आगे बढ़ना अच्छा नहीं लगा, लेकिन, तुरन्त कुछ करना मुश्किल था । इसी समय चुनार (जिला मिर्जापुर) का किला भी बिना लड़े-भिड़े अकबर के हाथ में चला आया ।

अदहम खाँ अब भी मालवा मे था । अकबर ने अदहम खाँ को बुला लिया और मालवा का प्रबन्ध पीर मुहम्मद के हाथ में दे दिया । पीर मुहम्मद ने बुरहानपुर और विजयगढ़ पर सफल आक्रमण किये । उसने बुरहानपुर और असीरगढ़ के लोगों को या तो तलवार के घाट उतारा, या गुलाम बना लिया, नर्मदा के दक्षिण के बहुत से कस्बों और गाँवों को उजाड़ दिया । हुकुम नहीं था, तो भी बाजबहादुर का पीछा किया और नर्मदा पार करते समय घोड़ा ऊँटों से टकरा गया और पीर मुहम्मद गिरकर, बदायूँनी के शब्द में, "पानी द्वारा आग (दोजख) में पहुँच गया ।" इससे बाजबहादुर को मौका मिल गया और वह फिर आकर माण्डों में अपने तख्त पर बैठ गया ।

(१) हिन्दू राजकुमारी से ब्याह—एक रात अकबर शिकार के लिए आगरा के पास के किसी गाँव से जा रहा था । वहाँ कुछ गवैयों को अजमेरी ख्वाजा का गुणगान गाते सुना । उसके मन में ख्वाजा की भक्ति जगी और १५६२ की जनवरी के मध्य में थोड़े से लोगों को लेकर वह अजमेर की ओर चल पड़ा ।

आगरा और अजमेर के मध्य में देबसा में आमेर (पीछे जयपुर) के राजा बिहारीमल मिले और अपनी सबसे बड़ी लड़की को ब्याहने का प्रस्ताव किया। अजमेर मे थोड़ा ठहरकर लौटते वक्त साँभर मे राजकुमारी से अकबर ने ब्याह किया। बिहारीमल के ज्येष्ठ पुत्र भगवानदास को कोई लड़का नहीं था, उन्होने अपने भतीजे मानसिंह को गोद लिया था। राजा भगवानदास और कुँवर मानसिंह अब अकबर के सगे-सम्बन्धी हो गये। इसी कछवाहा राजकुमारी का नाम पीछे 'मरियम जमानी' पड़ा, जिससे जहाँगीर पैदा हुआ। अकबर की अपनी माँ हमीदा बानू को 'मरियम मकानी' (सदन की मरियम) कहा जाता था। कछवाहा रानी की कब्र सिकन्दरा मे अकबर की कब्र के पास एक रौजे मे है, जिससे स्पष्ट है कि वह पीछे हिन्दू नहीं रही।

अब तक सल्तनत के स्तम्भ तूरानी समझे जाते थे, अब राजपूत भी स्तम्भ बने. और वह तूरानियों से अधिक दृढ साबित हुए।

अकबर को चीतों के द्वारा हरिन का शिकार बहुत पसन्द था। सिकन्दर सूर पर विजय प्राप्त करते समय कुछ पालतू चीते हाथ आये थे। अकबर को जब मालूम हुआ, कि इनसे हिरन का शिकार किया जाता है, तो उसको यह शौक ऐसा लगा कि उसके पास हजार पालतू चीते हो गये थे। साँभर से लौटते समय चीते पर नियुक्त एक शिकारी ने एक जोड़ा जूता चुरा लिया। अकबर ने दण्ड के रूप में उसके पैर कटवा दिये। इसमें शक नहीं, अपने पिछले जीवन में वह कभी ऐसी क्रूरता नहीं दिखला सकता था।

मालवा हाथ से निकल गया था। १५६२ ई० में फिर अकबर का ध्यान उधर गया। अब्दुल्ला खाँ उज्बेक को भेजा। उसने बाजबहादुर को भगाकर फिर मालवा पर मुगल झण्डा गाड़ दिया। बाजबहादुर कितने ही वर्षों तक राजदरबारों में घूमता रहा। आखिर १५वें सन्‌जलूस (१५७१ ई०) में वह अकबर की शरण में आया, जिसने उसे एकहजारी मन्सब के साथ जागीर दे दी, पीछे दोहजारी बना दिया। उज्जैन में अब भी एक कब्र है, जिसे रूपमती और बाजबहादुर की कब्र बतलाया जाता है।

युद्धबन्दियों को गुलाम बनाकर बेच देने का रिवाज था। अकबर ने इसी साल सख्त हुकुम दिया, कि ऐसा न किया जाय। इसी साल एक कड़ी लड़ाई के बाद मेड़ता (राजपूताना) का किला भी फतह हुआ।

(२) अदहम खाँ की हत्या—१६ मई, १५६२ की दोपहर को अकबर महल में आराम कर रहा था। शम्शुद्दीन मुहम्मद अतगा के मंत्री बनाये जाने से माहम अनगा बहुत नाराज थी। उसका नालायक बेटा अदहम खाँ गुस्से से पागल हो गया था। अनगा के सम्बन्धी और हितमित्र डरने लगे थे कि शासन उनके

हाथ में नहीं रहेगा, इसलिए कुछ करना चाहिए। मुनअम खाँ और अफसरों के साथ शम्शुद्दीन दरबार में बैठा अपने काम मे लगा हुआ था। इसी समय अदहम खाँ आ धमका। शम्शुद्दीन सम्मान के लिए खड़ा हो गया, लेकिन उसे स्वीकार करने की जगह अदहम खाँ ने कटार निकाल ली। उसके इशारे पर उसके दो आदमियों ने वार किया और अतगा आँगन में गिर पड़ा। हल्ला-गुल्ला अकबर के कमरे तक पहुँचा। अदहम खाँ ने चाहा, अकबर को भी इसी समय खत्म कर दूँ, लेकिन शाही नौकरों ने दरवाजे को भीतर से बन्द कर दिया। अकबर को खबर मिली, तो वह दूसरे दरवाजे से तलवार लिए बाहर निकला। अदहम खाँ को देखते ही उसने पूछा —"अतगा को तुमने क्यों मारा ?" अदहम खाँ ने बहाना करते हुए अकबर का हाथ पकड़ लिया। अकबर ने हाथ खींचना चाहा, तो अदहम ने बादशाह की तलवार पकडनी चाही। अकबर ने जोर का मुक्का मारा, जिससे अदहम बेहोश होकर गिर पड़ा। अकबर ने आदमियों को हुकुम दिया-- इसे बाँधकर नीचे गिरा दो। हुकुम की पाबन्दी आधे दिल से ही की गई और अदहम मरा नहीं। अकबर ने दुबारा हुकुम दिया और लोगों ने पकड़ कर फिर उसे नीचे फेंका। अदहम की गर्दन टूट गई, खोपड़ी से उसका भेजा निकल आया। अदहम के काम में सहानुभूति रखने वाले मुनअम खाँ, उनका दोस्त शहाबुद्दीन और दूसरे अमीर जान लेकर भाग गए।

अकबर अन्तःपुर में गया। माहम अनगा चारपाई पर बीमार पड़ी थी। उसने संक्षेप में सारी बात बतला दी, यद्यपि साफ नहीं कहा कि अदहम मर चुका है। अनगा ने इतना ही कहा—"हुजूर ने अच्छा किया।" माहम अनगा को इसका इतना जबर्दस्त आघात लगा कि चालीस दिन बाद उसने भी अपने बेटे का अनुगमन किया। अकबर ने कुतुबमीनार के पास माँ बेटे के लिए एक सुन्दर मकबरा बनवा दिया। अदहम खाँ तथा उसकी माँ के मरने के साथ अब अकबर पूरी तौर से स्वतंत्र था।

अदहम के साथी भगोड़े पकड़े गए, लेकिन अकबर ने बड़ी उदारता दिखलाई। मुनअम खाँ को मंत्री और खानखाना की पदवी दी। अतका लोग अनगा खानदान से खून का बदला लेना चाहते थे, लेकिन अकबर ने उन्हें समझा-बुझाकर राजी कर लिया। बीच की अन्धेरगर्दी से वित्त और भू-कर का प्रबन्ध बहुत गड़बड़ हो गया था। चारों ओर घूस का बाजार गरम था। अकबर ने सूर बादशाहों के एक योग्य हिजड़े को "एतमाद (विश्वास) खाँ" की पदवी देकर यह काम सुपुर्द किया, जिसने बड़ी सफलतापूर्वक उसे ठीक कर दिया।

इसी साल (१५६२ ई०) में ग्वालेरी तानसेन अकबर के दरबार में आये। तानसेन के संगीत की ख्याति उस वक्त चारों ओर फैली हुई थी। माँग करने पर बघेला राजा रामचन्द्र ने अकबर के पास तानसेन को भेज दिया।

अकबर सब तरह से स्वतंत्र हो लकीर का फकीर नहीं रहना चाहता था। अक्टूबर या नवम्बर, १५६२ की मानसिक स्थिति के बारे में उसने कहा है----

"अपने २०वें वर्ष के पूरा करने के समय मैने अपने भीतर एक बड़ी कड़वाहट अनुभव की। प्रयाण के आध्यात्मिक सम्बल के अभाव के कारण मेरी आत्मा अत्यन्त दु:खी थी।"

१५६३ ई० में अकबर की सौतेली माँ माह चूचक बेगम (मिर्जा मुहम्मद हकीम की माँ) ने मुनअम खाँ के पुत्र अकबरी सूबेदार गनी खाँ को काबुल से निकाल दिया। मुनअम खाँ फौज लेकर गया, उसे भी बेगम ने हरा दिया। हिजरी ९७० के अन्त (अगस्त, १५६३) में मुनअम खाँ के दरबार में लौटने पर अकबर ने स्वागत किया। इसी बीच शाह अबुल मआली ने मक्का से लौटकर काबुल पहुँच कर बेगम की लड़की से ब्याह किया। बेगम ने आशा की थी कि शाह उसकी मदद करेगा, पर अबुल मआली स्वयं काबुल का बादशाह बनना चाहता था। उसने अप्रैल, १५६४ में बेगम को मार डाला, इस पर बदख्शाँ में मिर्जा सुलेमान ने आकर मआली का काम तमाम किया। कुछ समय तक काबुल सुलेमान के हाथ में रहा।

१५६३ ई० में अकबर मथुरा के पास शिकार खेलने लगा। सात बाघों में पाँच को उसने मारा। यहीं उसे खबर मिली कि मथुरा के हिन्दू यात्रियों पर कर लगाया जाता है। अकबर ने कहा, अपने मालिक की पूजा के लिए जमा किए हुए लोगों पर कर लगाना खुदा की इच्छा के विरुद्ध है। उसने उसी समय अपने सारे राज्य में तीर्थ कर बन्द करने का हुकुम दे दिया। इस कर से सरकारी खजाने को दस लाख रूपया सालाना आमदनी थी। इसी समय अकबर एक दिन में ३६ मील पैदल चलकर मथुरा से आगरा पहुँचा। कई आदमियों ने उसका अनुकरण करना चाहा, लेकिन तीन ही निभा सके।

(३) घातक आक्रमण---१५६४ ई० के आरम्भ में अकबर दिल्ली गया। ११ जुलाई को निजामुद्दीन औलिया के मकबरे की जियारत करके लौटता माहम अनगा के बनवाये मदरसे के पास से गुजर रहा था, उसी समय मदरसे के कोठे से एक हब्शी गुलाम फौलाद ने तीर मारा। कन्धे के भीतर घुस गये तीर को तुरन्त निकाल लिया गया और हब्शी भी पकड़ा गया। पता लगा, फौलाद, शाह अबुल मआली के मित्र मिर्जा शरफुद्दीन हुसैन का गुलाम है। दिल्ली के शरीफ परिवारों की कुछ सुन्दरियों को अकबर ने अपने अन्त:पुर में डाल दिया। मध्य-एशिया में जिस सुन्दरी पर बादशाह की नजर पड़ जाती, पति उसे तलाक देकर बादशाह को प्रदान कर देता। अकबर ने एक शेख को अपनी तरुण बीवी को तलाक देने के लिए मजबूर किया था। इज्जत का सवाल था, इसीलिए फौलाद ने तीर मारा

था। लोगों ने फौलाद से पूछताछ करके जानकारी प्राप्त करनी चाही। अकबर ने रोककर कहा— न जाने यह किन-किन के ऊपर झूठी तोहमत लगायेगा। फौलाद को मृत्यु-दण्ड मिला। घायल अकबर घोड़े पर सवार हो महलों में लौट आया और दस दिन बाद घाव के अच्छे हो जाने पर आगरे लौटा। २१ साल की उमर में ऐसे घातक आक्रमण के बाद भी अपने विवेक को न खोना बतलाता है कि अकबर असाधारण पुरुष था।

(४) **जजिया बन्द**—कछवाहा राजकुमारी से ब्याह और राजपूतों की घनिष्ठता का असर होना ही था। साथ ही बीरबल भी पहुँच चुके थे। अकबर ने पिछले साल तीर्थ-कर उठा दिया था। अब उसने एक और बड़ा कदम उठाया और केवल हिन्दुओं पर जजिया के नाम से जो कर लगता था, उसे अपने सारे राज्य में बन्द कर दिया। यह कर पहले-पहल द्वितीय खलीफा उमर ने अ-मुस्लिमों पर लगाया था, जो हैसियत के मुताबिक ४८, २४ और १२ दिरहम[1] सलाना होता था। जजिया केवल बालिग पुरुषों से ही लिया जाता था जिससे सल्तनत को भारी आमदनी थी पर अकबर ने उसकी कोई परवाह नहीं की। वह समझता था, इस प्रकार वह अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के हृदय को जीत सकेगा। औरंगजेब ने

१ दाम दिरहम का ही अपभ्रंश है, मूलतः यह ग्रीक सिक्का द्राखमा था। द्राखमा और दिरहम चाँदी के सिक्के थे, जबकि दाम ताँबे का पैसा था, जो एक रुपये में ४० होता था। एक दाम में ३१५ से ३२५ ग्राम तक ताँबा होता था। अकबर के समय जजिया में कितना दिरहम लिया जाता था, इसका पता नहीं। मुहम्मद बिन कासिम ने ७१२ में सिन्ध को जीतते समय हिन्दुओं पर जजिया लगाया था। फीरोजशाह तुगलक (१३५१-८८ ई०) ने ४०,४२ और ६० तंका जजिया लगाया था। ब्राह्मणों को जजिया नहीं देना पड़ता था, लेकिन उसने उन पर भी १० तंका ५० जीतल कर लगाया। दिरहम उस समय चाँदी का और दीनार सोने का सिक्का था। दिरहम में ४८ ग्रेन चाँदी होती थी—रूपये में १८० ग्रेन के करीब चाँदी रहती है। एक दाम में २५ जीतल माना जाता था, पर जीतल का कोई सिक्का नहीं था, यह केवल हिसाब के लिए इस्तेमाल होता था। फीरोजशाह का चाँदी का सिक्का १७५ ग्रेन का था। काणी चाँदी के जीतल को कहते थे, जो पौने तीन ग्रेन की होती थी। एक तंका में ६४ काणियाँ होती थीं, जैसे रूपये में ताँबे का पैसा, जान पडता है अकबर के समय चाँदी के तंके की जगह पर चाँदी का रूपया जजिया में लिया जाता था, क्योंकि शेरशाह ने प्रायः आजकल के ही वजन का चाँदी का रूपया चला दिया था।

१५५ वर्ष बाद राजा जसवन्त सिंह के मरने के बाद १६७६ ई० में फिर जजिया हिन्दुओं पर लगाया।

लोग समझते थे, अबुलफजल के प्रभाव में आकर अकबर उदार बना, लेकिन तीर्थ कर और जजिया को अबुलफजल के दरबार मे पहुँचने से दस साल पहले ही अकबर ने बन्द कर दिया था। २२ वर्ष की उमर मे ही वह समझ गया था कि शासन में हिन्दू-मुसलमान का भेद खतम करना होगा।

अकबर की माँ का सौतेला भाई अकबरी दरबार का एक ऊँचा अमीर था। उसका लड़का ख्वाजा मुअज्ज़म बचपन ही से बड़ा उद्दण्ड और क्रूर स्वभाव का था। उसने कई बेगुनाहो के खून से अपने हाथ रँगे। मार्च १५६४ में हरम की एक प्रभावशालिनी महिला ने अकबर को सूचना दी कि ख्वाजा अपनी पत्नी मेरी बेटी को देहात मे ले जाकर मार डालना चाहता है। अकबर २० आदमियो को लिए शिकार के बहाने जमुना पार पहुँचा। लेकिन, तब तक ख्वाजा अपनी बीवी को मार चुका था। खून टपकती कटारी को उसने खबर लाने वाले के ऊपर फेका। अकबर के ऊपर भी वह आक्रमण कर सकता था। शाही आदमियों ने ख्वाजा के बाद एक खतरनाक आदमी का काम पहले ही खतम कर दिया। ख्वाजा पकड़ा गया। अकबर ने नौकरों के साथ उसे जमुना में डुबा देने के लिए कहा। वह मरा नहीं। फिर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। जहाँ वह पागल होकर मर गया। अकबर ने अपनी दूध माँ के सम्बन्ध का ख्याल नहीं किया और अत्याचारी अदहम खाँ को कठोर दण्ड दिया। अपने ममेरे भाई की परवाह नहीं की। अन्तःपुर के प्रभाव से बिल्कुल मुक्त २२ वर्ष का होते-होते अकबर धार्मिक पक्षपात से भी ऊपर उठ चुका था।

राज्यप्रसार (१५६४-६५)

अब अकबर की सल्तनत काबुल तक फैली हुई थी । जौनपुर, ग्वालियर, मालवा ले लेने के बाद पूर्व में उसकी राज्य-सीमा उत्तरी बिहार तक और दक्षिण में नर्मदा तक पहुँच चुकी थी । पर, वह सारे भारत को एक छत्र के नीचे लाना चाहता था, तभी देश समृद्ध और शक्तिशाली हो सकता था । इसी भावना ने उसे विजयों के लिए प्रेरित किया । उसका पहचान लक्ष्य गोंडवाना था, जिसकी शासिका रानी दुर्गावती थी ।

१. रानी दुर्गावती पर विजय (१५६४ ई०)

रानी दुर्गावती महोबा के चन्देल राजा की [illegible] ब्याह गढ़ाकटंगा के राजा से हुआ था । गढ़ाकटंगा के राजा [illegible]ाशाली कुलों का उच्चवर्ण में परिवर्तन हमेशा देखा गया है । वर्तमान शताब्दी मे ही कितने ही अ-राजपूत राजवंशी रोटी-बेटी करके राजपूत बिरादरी मे शामिल हो गए । रानी दुर्गावती के राज्य में आधुनिक मध्य-प्रदेश का प्रायः सारा उत्तरी भाग था । रानी का पति जवानी ही मे मर गया । दुर्गावती अपने पुत्र वीरनारायण की अभिभाविका होकर पिछले पन्द्रह सालों से शासन-भार सँभाले हुई थी । उसकी दूरदर्शिता और वीरता की दाद देते हुए अबुलफजल लिखते है—"बाजबहादुर और मियानो के साथ जबर्दस्त संघर्षों में वह सदा विजयी होती रही । अपने युद्धों में उसकी सेना में बीस हजार अच्छे सवार और एक हजार प्रसिद्ध हाथी होते थे ।. . ..बाण और बन्दूक चलाने में रानी दुर्गावती बड़ी सिद्धहस्त थी । शिकार में बराबर जाती और स्वयं बन्दूक से शिकार करती थी ।" इसमें शक नहीं, रानी दुर्गावती के राज्य पर अकबर का आँख गड़ाना उचित नहीं समझा जा सकता । उसके शासन में राज्य बहुत सुखी और समृद्ध था, फिर वह स्त्री भी थी । पर अकबर का स्वप्न दूसरा ही था । आसफ खाँ (प्रथम) ने पन्ना (बुन्देलखण्ड) के राजा को अधीनता स्वीकार करने को मजबूर करके वहाँ की पन्ना खानें शाही कब्जे में ले ली । मालवा पहले ही सर हो चुका था । अब अकबर ने आसफ खाँ को गढ़ा की ओर बढ़ने का आदेश दिया । रानी दुर्गावती के लिये कहावत गलत नही है—"रानिन में दुर्गावती और सब गवैया ।" लक्ष्मीबाई से पहले और उसी बुंदेलखण्ड भूमि में यह वीरांगना पैदा हुई । उसने सुन रखा था; अकबर की विजयिनी सेना के सामने कोई नहीं ठहर सकता, तो भी हिम्मत नहीं छोड़ी । लेकिन, उसके अनुयायियों में उतनी हिम्मत नहीं थी, बहुत से साथ छोड़कर भाग गये । अन्तिम लड़ाई उसने गढ़ा

और मॉडला (जबलपुर जिला) के बीच मे लड़ी । स्वय एक विशाल गज पर चढ़ी वह अकबरी सेना का मुकाबिला कर रही थी । दो तीर उसके शरीर में लगे । जब उसने अपने को बेकाबू पाया, तो बेइज्जती से बचने के लिये स्वयं अपने हाथों छाती मे कटार मार ली । इस प्रकार सदियों मे पैदा होने वाली उस असाधारण वीर महिला का अन्त हुआ । दो महीने के बाद आसफ खॉ चौरागढ़ किले (नरसिंहपुर जिला) को लेने में सफल रहा । ढले और बिना ढले सिक्कों की सोने की राशि, जड़ाऊ बर्तन, मोती, जवाहर, मूर्तियाँ, चित्र आदि के साथ बहुत भारी परिमाण में सोना-चाँदी हाथ में आया । कहा जाता है, एक सौ बड़े-बड़े घड़ों में अलाउद्दीन खिलजी की सोने की अशर्फियाँ भरी हुई थीं । तरुण राजा वीरनारायण ने भी माँ की तरह बहादुरी के साथ लडते हुए अपने प्राण दिए । अबुलफजल के अनुसार उसने पहले ही अपने दो अफसरों भोज कायथ और मियाँ भिखारी रूमी को हुकुम दिया था कि समय आने पर जौहर करा दें । जौहर में किसी तरह रानी की बहिन कलावती और राजा पुरगढ की लड़की बच गई, जिन्हें विजेताओं ने जीते जी पकड़कर अकबर के हरम में भेज दिया । आसफ खॉ को अपार सम्पत्ति तथा एक हजार हाथी मिले, लेकिन उसने सिर्फ दो सौ हाथी दरबार में भेजे । आसफ खॉ भी अदहम खॉ का रास्ता अपनाना चाहता था । अकबर किसी काम में उतावला नहीं होता था, इस समय वह जानते हुए भी अनजान बन गया ।

२. उज्बेकों का विद्रोह

खानजमाँ अलीकुल्ली खाँ ने हुमायूँ के भारत पर अधिकार प्राप्त करने में बड़ा काम किया था । वह उज्बेक था, अर्थात् उसका सम्बन्ध मध्य-एशिया के उस वंश से था, जिसने तैमूरी वंश के शासन को खतम करके बाबर को मार भगाया था । पर, वैयक्तिक स्वार्थ खानदान के स्वार्थ के ऊपर हुआ और इस उज्बेक ने हुमायूँ की सेवा और सहायता की । जौनपुर सूबे का उसे शासक बनाया गया । उसने सोचा, क्यों न मैं अपनी नई शर्की सल्तनत बनाऊँ । १५६५ ई० के आरम्भ में उसने विद्रोह कर दिया । खानजमाँ का भाई बहादुर खाँ और चचा इब्राहीम उसके साथ थे । शाही सेना दबाने के लिए आई । उसे हार खाकर नीमसार (सीतापुर जिला) की ओर हटना पड़ा । इसी समय टोडरमल का नाम पहले पहल आता है । दोनों तरफ से सुलह की बातचीत होने लगी । टोडरमल इसके सख्त विरोधी थे । अकबर ने स्वयं प्रयाण किया । मई, १५६५ में अकबर ने जमुना पार किया, कालपी होते वह प्रयाग पहुँचा । कड़ा मानिकपुर में बादशाही छावनी डाली और खानजमाँ ने पटना के सामने हाजीपुर में जाकर खड़े होने की हिम्मत की, जहाँ गंगा और गण्डक की धारायें मोर्चाबन्दी का काम कर रही थीं । अकबर छोड़ने वाला नहीं था । उसने जौनपुर में अपना मुख्य केन्द्र रखा । आसफ खाँ

मदद के लिए आया था। उसे भनक लगी, चौरागढ के पाप का भाण्डाफोड हो गया है, और जवाबदेही होने वाली है। वह साथ छोड़कर भाग गया। अकबर ने ऐसी स्थिति में नहीं पसन्द किया कि तलवार के बल पर फैसला किया जाय। दिसम्बर १५६५ में मेल कराने के ख्याल से मुनअम खॉ बक्सर के सामने गंगा के बीच नाव पर खानजमाँ से मिला। खानजमाँ ने दरबार में आकर क्षमा-प्रार्थना की। क्षमा देकर मार्च, १५६६ मे अकबर की ओर लौटा।

जुलाई, १५६४ में मालवा के सूबेदार अब्दुल खॉ उज्बेक ने विद्रोह किया, जिसे पीर मुहम्मद की जगह पर अकबर ने शासक बनाया था। अकबर सेना ले स्वयं उसको दबाने के लिए चला। नरवर के इलाके में हाथियों का खेड़ा करके ७० हाथी पकड़े। उस समय इस इलाके के जंगलों मे हाथी रहते थे। यद्यपि आज उनका सारे विन्ध्य पर्वत में कहीं पता नहीं है। माण्डू पहुँच कर अकबर ने अब्दुल्ला को हराया। वह गुजरात भाग गया। लौटते वक्त सिपरी में भी खेड़ा करके बहुत से हाथी पकडे और अक्टूबर में आगरा लौटा। अकबर को मस्त हाथी को दबाने का बड़ा शौक था। इसी समय खाँडीराय हाथी को उसने बस मे किया। खाँडीराय एक अंकुश की परवाह नहीं करता था। अकबर दो अंकुश लेकर उसकी गर्दन पर बैठा और उस पर काबू करने में सफलता पाई। अब्दुल्ला पीछे अपने उज्बेक भाई खानजमाँ से जौनपुर में जाकर मिल गया।

मिर्जा हकीम का आक्रमण (१५६६ ई०)—खानजमाँ के विद्रोह से अकबर के सौतेले भाई मुहम्मद हकीम का साहस बढ़ा। उसने काबुल से आ पंजाब पर आक्रमण किया। इस समय नगरचैन बसा कर अकबर चैन कर रहा था। खबर मिलते ही वह खानखाना (मुनअम खाँ) को राजधानी का भार सौप कर १७ नवम्बर, १५६६ को रवाना हुआ। दिल्ली में अपने पिता के मकबरे को देखने गया। जिसके पूरा होने में अभी तीन साल की देर थी। फरवरी १५६७ ई० के अन्त में वह लाहौर पहुँचा। मुहम्मद हकीम ने लाहौर में पहुँचकर अपने नाम का खुतबा पढवाया, पर भाई के आने पर सिन्ध पार भागा। लाहौर में रहते अकबर ने कमरगा का महान आखेट किया। चिंगीज खान को भी यह आखेट बहुत पसन्द था। तैमूर ने भी इसे अनेक बार दुहराया था। महासिरे की व्यूह-रचना की तरह इसमें पचासों मील लम्बे-चौड़े जंगल को सेना से घेर लिया जाता था। इस घेरे को संकुचित करते केन्द्र की ओर बढ़ने पर जंगल के सारे जानवर इकट्ठा हो जाते। शिकार शुरू होता। इसी को कमरगा कहते थे। एक महीने तक पचास हजार हँकवा लगाये गये थे, जिन्होंने शिकार के जानवरों को दस मील के घेरे में इकट्ठा कर दिया। अकबर ने तलवार, भाले, तीर-धनुष, बन्दूक सभी हथियार से चार या पाँच दिन तक शिकार किया। भारत में शायद पहली और अन्तिम बार इस तरह का

शिकार खेला गया । इसी समय आसफ खाँ शरण में गिरा और अकबर ने उसके कसूर को माफ कर दिया । हुमायूँ की कृपा से संभल की जागीर पाये तैमूरी मिर्जाओं के विद्रोह की इसी समय खबर मिली और अकबर आगरा लौटने के लिये मजबूर हुआ । मिर्जाओं ने अकबर को बहुत दिनों तक हैरान किया । उनके बारे में हम आगे कहेंगे ।

अकबर लाहौर से लौटते हुए अप्रैल में थानेश्वर में छावनी डाले पड़ा था । उस समय वहाँ कोई मेला था । गिरि, पुरी साधुओं में स्थान के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ था । संन्यासी और दूसरे साधु इस समय तक अपने-अपने नागों के सैनिक संगठन को तैयार कर चुके थे । समझाने-बुझाने से कोई राजी नहीं हुआ । दोनों ने बादशाह से प्रार्थना की कि हमें तलवार के द्वारा अपना फैसला करने की आज्ञा दी जाय । अकबर ने इजाजत दे दी । दोनों दल आमने-सामने खड़े हुए । पहले तलवार हाथ में लिये एक-एक नागा लड़ने के लिए आगे आया । फिर घमासान युद्ध शुरु हो गया । तलवारों के बाद वह तीर-धनुष, फिर ईंट-पत्थर पर उतर आये । अकबर ने जब देखा, पुरी संख्या में कम है, तो उनकी मदद के लिए उसने अपने आदमियों को संकेत किया । सहायता पा पुरियों ने गिरियों को मार भगाया । बीस आदमी काम आये । किसी-किसी का कहना है, पुरियों के दो-तीन सौ आदमी थे और गिरियों के पाँच सौ । अकबर इस खूनी संघर्ष को देखकर बहुत खुश हुआ ।

खानजमाँ का अन्त (१५६७ ई०)— खानजमाँ ने मन से अधीनता नहीं स्वीकार की थी । उसने गंगा न पार करने का वचन दिया था, लेकिन गंगा पार कर कालपी की ओर बढ़ा । अकबर भी मानिकपुर के घाट पर पहुँचा । वह अपने हाथी पर चढ़कर गंगा में कूद पड़ा । बड़े ही खतरे की बात थी, लेकिन अक़बर को उसकी परवाह नहीं थी । हजार-डेढ़ हजार अनुयायी भी गंगा में कूदे । अकबर का अन्दाज ठीक साबित हुआ । खानजमाँ और उसके सरदार शराब पीकर मस्त थे । कोई सन्तरी की देखभाल के लिये नहीं रखा गया था । लड़ाई इलाहाबाद जिले के एक गाँव में हुई, जिसका नाम सकराबल या मकराबल था । विजय के उपलक्ष्य में उसका नाम बदलकर फतेहपुर कर दिया गया । खानजमाँ मारा गया । बहादुर ने कैदी बन अपना सिर कटवाया । कुछ सरदारों को अकबर ने माफ कर दिया, कितनों को हाथी के पैरों के नीचे दबा कर मरवाया । हुकुम दिया कि तूरानी विद्रोहियों का सिर काट कर लाने वाले को एक अशर्फी और हिन्दुस्तान का एक रूपया प्रति सिर इनाम दिया जाये । अकबर के क्रोध का ठिकाना ही नहीं था । मनकुवार से वह प्रयाग और वाराणसी गया । दोनों नगरों ने फाटक बन्द करने की गुस्ताखी की थी । जिसके लिए उन्हें लूटकर दण्ड दिया गया । वाराणसी

जौनपुर लौटकर कडा आया। खानजमाँ की जागीर मुनअम खाँ खानखाना को मिली। इस अभियान से निवृत्त हो १८ जुलाई, १५६७ को अकबर आगरा पहुँचा।

३. चित्तौड़ रणंथम्भौर विजय

१. चित्तौड़ पर अधिकार (१५६७ ई०)—जिस समय कोई और खतरा नहीं होता तो, अकबर स्वयं किसी मुहिम के बारे में सोचता। वह २५ वर्ष का था। कछवाहों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये पॉच साल हो चुके थे। चित्तौड से सीसोदिया, राजपूतों में शिरोमणि माने जाते थे। बाबर ने तब अपने सिंहासन को सुरक्षित नही समझा, जब तक कि वह राणा साँगा को हराने में सफल नही हुआ। अकबर का ध्यान मेवाड़ की ओर जाना आवश्यक था। उसे बहाना मिलने में कोई दिक्कत नहीं हुई। राणा ने मालवा के सुल्तान बाजबहादुर को शरण दी थी। अकबर के दरबार में राणा का लड़का शक्तसिंह रहता था। अकबर का स्कन्धावार धौलपुर में पडा था। एक दिन मजाक करते हुए उसने शक्तसिंह से कहा—"भारत के अधिकांश राजा और बड़े आदमी मेरे प्रति अपना सम्मान प्रकट कर चुके हैं, राणा ने ऐसा नहीं किया। मै उसे दण्ड देने के लिए जाना चाहता हूँ।" शक्तसिंह उस वक्त क्या जवाब देते ? उन्होंने भागे-भागे जाकर अपने बाप राणा उदयसिंह को इसकी सूचना दी। बिना हुकुम शक्तसिंह के भागने को अकबर ने बुरा माना। अब उसने अपने इरादे को और भी पक्का कर लिया। इसी तैमूरी मिर्जाओं ने मालवा में लूट-पाट मचा रखी थी। अकबर ने उनको दबाने का काम अपने सेनापतियों को दिया और स्वयं चित्तौड़ के खिलाफ कूच किया।

सवा तीन मील लम्बे और करीब १२०० गज चौड़े एक पहाड़ के ऊपर बना चित्तौड़ का अजेय दुर्ग था। पहाडी का घेरा नीचे आठ मील के करीब, ऊँचाई चार-पाँच सौ फुट तक थी। चित्तौड के सामने पूर्व की ओर एक छोटी सी पहाड़ी चित्तौड़ी है। किले के भीतर जाने के कई दरवाजे, जिसमें रामपोल किले के पश्चिम ओर था। पूर्व में सूरजपोल और उत्तर में लखौतापोल के दरवाजे थे। किले के भीतर कई तालाब थे जिनके कारण वहाँ पानी का कोई कष्ट नहीं हो सकता था।

राणा सीसोदिया और गुहिलौत कहे जाते थे। गुहिल छठीं शताब्दी के अन्त में इस वंश का मूल राजा था। ७२८ ई० में बप्पा रावल ने मौरी (मौर्य) वंश से राज्य छीना। यह भी कहा जाता है कि गुहिल बडनगर (आनन्दपुर, गुजरात) का नागर ब्राह्मण था। नागर ब्राह्मण से सूर्यवंशी क्षत्रिय कैसे उत्पन्न हुए, इस पर आश्चर्य करने की जरूरत नहीं। इतिहास में ऐसे हेर-फेर बहुत हुए हैं। यह भी परम्परा है कि राणा के वंश का सम्बन्ध बलभी के पुराने राजवंश तथा

गुजरात के मेड़ो से है । खुसरो नौशेरवाँ की बेटी भी इस वंश की माताओं मे थी। यह भी परम्परा है कि वंशस्थापिका एक राजमाता विधवा ब्राह्मणी थी । मेवाड ने पीढ़ियों तक अपनी आन के लिए खून की होली खेली, जिसके ही कारण इस वंश का सम्मान भारत में सर्वोच्च माना गया ।

राणा साँगा ने बाबर का जबर्दस्त विरोध किया । बाबर के मरने से एक साल पहले १५२९ ई० मे वह मरे । राणा साँगा की गद्दी पर इस समय पिता की मृत्यु के बाद पैदा हुआ पुत्र उदयसिंह था ।

२० अक्टूबर, १५६७ को अकबर ने अपना डेरा चित्तौड़ के सामने डाला । सारी मुगल सल्तनत की सैनिक शक्ति को लेकर वह आया था । मुगल सेना दस मील तक पड़ी हुई थी । तीन तोपें किले की ओर मुँह करके लगा दी गई । तीनों में एक लखौतापोल के सामने थी । राजा टोडरमल को दूसरी तोप पर नियुक्त किया गया था । अकबर ने अपने सामने आध मन भारी गोला ढलवाया । कई बार आक्रमण कर भारी हानि के साथ मुगल सेना को पीछे हटना पड़ा । अब सुरंग द्वारा रास्ता बनाने के सिवा और कोई चारा नहीं था। खड़े हाथी चले जाने लायक सुरंग तैयार की गई । दो बारुदी माइनें रखी गई। पलीता लगाया गया, लेकिन दोनों का एक बार बिस्फोट नहीं हुआ । सैनिक भीतर की ओर दौड़े, उसी समय दूसरी सुरंग फूटी । दो सौ आदमियों ने अपनी जान खोई, जिनमें बारा का एक सैयद भी था ।

अकबर को जल्दी सफलता की आशा नहीं रह गई । उसने धीरज से काम लेने का निश्चय किया । राजा टोडरमल और कासिम खाँ ने दूसरी सुरंग तैयार की । (इसी कासिम खाँ ने आगरे का किला बनाया था) । अकबर स्वयं बिना खाये, बिना सोये सुरंग बनते वक्त उसकी देखभाल करता रहा । २३ फरवरी, १५६८ मंगलवार को अकबर किले की ओर देख रहा था । एक सरदार टूटी दीवार की देखभाल कर रहा था । बिना जाने ही अकबर ने अपनी बन्दूक 'संग्राम' दाग दी । एक घंटे के भीतर ही प्रतिरक्षी अपने स्थान से हट गये; किले में कई जगह आग लग गई । राजा भगवानदास ने बतलाया, जौहर हो रहा है—अन्तःपुर की रानियाँ अपनी इज्ज़त बचाने के लिए आग में जल रही हैं । अगले दिन सबेरे पता लगा, कि जिस सरदार को अकबर ने मारा था, वह वेदनौर का राठौर बीर जयमल था । जिसने उदयसिंह के किला छोड़ कर चले जाने पर प्रतिरक्षा का भार अपने ऊपर लिया था ।

जयमल के बाद किले की कमान अब कैलवा के सरदार पत्ता ने ली, जो उस समय केवल १६ साल का था । पत्ता का पिता मर चुका था । एकमात्र पुत्र के ख्याल से उसकी माँ ने चिता में पति का अनुगमन नहीं किया था ।

मॉ ने स्वयं बेट को हुकुम दिया : केसरिया बाना पहनो और चित्तौड़ के लिये प्राण दो। वह स्वयं भी वैसा ही करते अपनी बहू को लेकर रण में कूदी। कितनी ही और क्षत्राणियों ने उनका अनुसरण किया। सास ने बहू को सामने गिरते देखा। पत्ता लडते हुए मारा गया। जौहर के अगले दिन अकबर किले के भीतर गया। अबुलफजल ने लिखा है—"परमभट्टारक ने मुझे बतलाया कि जब मै गोविन्द श्याम मन्दिर के पास पहुँचा, तो एक महावत ने अपने हाथी के पैरों के नीचे एक आदमी को कुचलवाया। पूछने पर कहा—मैं आदमी का नाम नहीं जानता। लेकिन, अकबर को वह एक सरदार-सा मालूम हुआ, क्योकि बहुत लोगों ने उसके साथ लड़ते हुए अपने प्राण दिये। अन्त में पता लगा कि वह पत्ता था। उसे बादशाह के सामने लाया गया। अब भी उसमें प्राण थे, लेकिन थोड़ी देर में मर गया। अबुलफजल के अनुसार तीन सौ औरतों ने जौहर में प्राण दिये थे। किले में प्रवेश करते समय आठ हजार राजपूतों ने बड़े महँगे दामो अपने प्राणों को बेचा। अकबर को इस वीरता का सम्मान करना चाहिए था, लेकिन उस समय वह चूक गया। उसने कत्लेआम करने का हुकुम दिया। तीस हजार आदमियों ने प्राण गँवाये। कहा जाता है, मरे हुए लोगो के जनेऊ को तौला गया तो वह साढ़े ४७ मन (मन = ४ सेर) हुआ। हाल तक अपने गोप्य पत्रों पर ७४॥ का अंक हमारे यहाँ लिखा जाता रहा, जिसका अर्थ था : 'अगर किसी अनधिकारी ने इस पत्र को पढ़ा, तो उसे इतने आदमियों के मारने का पाप लगेगा।[१]

इस प्रकार फरवरी, १५६७ में अकबर ने सदा के लिए निर्जन चित्तौड़ पर अधिकार प्राप्त किया।

चार वर्ष बाद राणा उदयसिंह गोगुण्डा मे मरा और सीसोदियों का झण्डा उसके पुत्र राणा प्रताप के सुदृढ़ हाथों में आया, जिसे अकबर कभी झुका नहीं सका। जहाँगीर ने चित्तौड़ को फिर से बनाने की मनाही की। १६५३ ई० (हि० १६०४) में हुकुम की अवहेलना करने पर शाहजहाँ ने स्वयं जाकर मरम्मत किये हुए भाग को गिरवा दिया। ४ मार्च, १६८० को औरंगजेब ने चित्तौड़ पहुँचकर वहाँ सैनिक छावनी स्थापित की। इसी समय उसने वहाँ के ६३ मंदिर तोड़े। देवकुल में राणाओं की मूर्तियाँ रखी थीं, उन्हें भी औरंगजेब ने तुड़वा दिया। १७४४ या १७४५ ई० में ईसाई साधु स्टीफेन ठालर ने चित्तौड़ को जंगली जानवर से भरा पाया। कुछ साधु अब भी वहाँ रह रहे थे। मुगल सल्तनत के छिन्न-भिन्न होने के समय १८वीं सदी के उत्तरार्ध में फिर चित्तौड़ राणा के हाथ में आया।

---

१ प्रताप के संघर्ष के लिये देखें अध्याय २०।

चित्तौड़ के नष्ट होते समय वहाँ के लोहार प्रण करके निकले थे कि हम अब कभी एक जगह नही बसेगे। अपनी गाड़ियों को घर बनाये घुमन्तू (गाड़िया लोहार) चार शताब्दियों तक जगह-जगह घूमते रहे और स्वतन्त्र भारत मे ही कितने ही फिर चित्तौड़ के भीतर लौटे।

अकबर उस समय यद्यपि चूक गया, पर उसे राजपूतों की वीरता नहीं भूली। उसने जयमल और पत्ता की सुन्दर मूर्तियाँ बनवाकर आगरा के किले में स्थापित कीं। औरंगजेब के शासन के आरम्भ में १६६३ ई० में फ्रेंच यात्री बर्नियर ने इन मूर्तियों को दिल्ली के किले के दरवाजे पर देखा था। शाहजहाँ ने १६३८ ई० में इस किले को फिर से बनवाना शुरु किया, जिसके दरवाजे पर उन्हें उसने स्थापित किया। औरंगजेब भला यह क्यों पसंद करता ? बर्नियर की यात्रा के थोड़े दिनों बाद औरंगजेब ने उन्हें तुड़वा दिया। राणा अमरसिंह और उनके पुत्र करणसिंह ने जब जहाँगीर की अधीनता स्वीकार की, तो उनकी संगमरमर की दो मूर्तियाँ जहाँगीर ने स्थापित की थीं, जिन्हें अजमेर में रहते समय १६१६ ई० में बनवाकर वह आगरा ले गया था।

अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई के लिए ख्वाजा अजमेरी से मनौती मानी थी : विजय होने पर मैं पैदल वहाँ से अजमेर-शरीफ की जियारत करूँगा। उसी के अनुसार २८ फरवरी को वह अजमेर की ओर पैदल चला। देखा-देखी कितने ही अमीरों ने नहीं, बल्कि बेगमों ने भी पैदल-यात्रा शुरु की। फरवरी के अन्त में गर्मी भी आरम्भ हो गई थी। मुश्किल से वह चित्तौड़ से चालीस मील मांडल के कस्बे में पहुँचे थे कि लोगों के हौसले पस्त होने लगे। डूबते को तिनके का सहारा, अजमेर से दूत आकर बोला : ख्वाजा ने सपन दिया है, बादशाह को सवारी पर चलना चाहिए। सब लोग सवारी पर चढ़ गये और केवल अन्तिम मंजिल पैदल चले। जियारत के बाद मार्च (१५६८ ई०) में अकबर आगरा लौटा। रास्ते में दो बाघों के शिकार के साथ एक आदमी मारा गया। कालिंजर, चित्तौड़ और रणथम्भोंर अजेय दुर्ग समझे जाते थे। चित्तौड़ पर अधिकार करके अकबर की इच्छा रणथम्भौर को भी लेने की थी। लेकिन इसी समय तैमूरी मिर्जाओं और दूध माँ जीजी अनगा (शमशुद्दीन की बीवी) के कुलवाले—अतकाखेल—की सरकशी का मामला आया। पहले इनसे भुगत लेना अच्छा समझा गया। मई १५६२ ई० में शमशुद्दीन की हत्या करने का अदहम खाँ को कैसे दण्ड मिला, यह हम बतला आये हैं। जीजी अनगा का पुत्र मिर्जा अजीज कोका (पीछे खाने आजम) अकबर का दूधभाई और लाडला भी था। अतकाखेल को पंजाब में जागीरें मिली थी। उनको और ज्यादा दिन तक वहाँ जमने देना अच्छा नहीं, इसलिए अकबर ने उन्हें पंजाब की जागीरें लौटाकर दूसरी जगह जागीरें लेने के लिए मजबूर किया। केवल मिर्जा कोका के पास दीपालपुर (देवपालपुर, जिला मौंटगोमरी) की जागीर रहने दी। बाकी में किसी को रुहेलखण्ड में ले जाकर पटका, किसी को और जगह। अब पंजाब की सूबेदारी

खानजहाँ हुसैन कुल्ली खाँ को मिली। वित्त-विभाग को मजबूत करने के लिए शहाबुद्दीन अहमद खाँ को वित्त-मन्त्री नियुक्त किया।

(२) **रणथम्भौर-विजय (१५६६ ई०)**—शेरशाह के अफसर हाजी खाँ ने ९६६ हिजरी (१५५८-५६ ई०) में रणथम्भौर को राव सुरजन के हाथ मे बेच डाला था। राव सुरजन ने इस पर कई महल और दूसरी इमारते बनवाई। यह स्वाभाविक गिरिदुर्ग था। बहुत जगह पहाड़ की प्राकृतिक दीवारे थीं। अलाउद्दीन ने भी रणथम्भौर पर अधिकार किया था, लेकिन बहुत समय लगा कर। यहाँ पास-पास दो पहाड़ है, जिनमें से एक का नाम रण और दूसरे का थम्भौर है असली किला थम्भौर के ऊपर है।

१५६८ के अन्त में अकबर ने रणथम्भौर के लिए तैयारी की। बूँदी की सीमा से कुछ मील उत्तर जयपुर के पूर्व-उत्तर दिशा में अवस्थित रणथम्भौर उस समय हाड़ा चौहानों के हाथ में था।[1] बूँदी पीछे भी हाड़ा चौहानों के हाथ में रही। फरवरी १५६६ में रणथम्भौर का मुहासिरा शुरु हुआ। पहाड़ के ऊपर अवस्थित इस अजेय दुर्ग के आरम्भिक तजुर्बे ने बतला दिया, कि चित्तौड़ की तरह इसका भी जीतना आसान नहीं होगा। रणथम्भौर के राजा राव सुरजनसिंह ने अन्तिम साँस तक लड़ने का निश्चय कर लिया था। कुँवर मानसिंह बातचीत के बहाने दुर्ग के भीतर जाने में सफल हुए। वह अपने साथ अकबर को भी परिचारक के तौर पर ले गये। कहते है, सुरजनसिंह ने बादशाह को पहचान लिया। हाड़ों को कुछ विशेष रियायतें देकर अकबर रणथम्भौर को बिना लड़े हाथ में करने में सफल हुआ। रियायतें कुछ थीं—बूँदी को डोला नहीं देना होगा, उन्हें दीवान-आम में भी हथियारबन्द होकर जाने का अधिकार होगा, वह राजधानी के लाल दरवाजे में भी अपना नगाड़ा बजाते प्रवेश कर सकेंगे। रणथम्भौर पर अधिकार करने के बाद राव सुरजन की इच्छा के अनुसार अकबर ने उन्हें वाराणसी में रहने की अनुमति दी, फिर दोहजारी मन्सब देकर वहाँ का शासक बना दिया। चुनार का किला राव सुरजन के हाथ में था। राव सुरजन जैसे धार्मिक शासक के अधीन रहकर वाराणसी की बहुत श्रीवृद्धि हुई। उन्होंने वहाँ ८४ इमारतें और ५० घाट बनवाये। राव सुरजन के दो लड़कों ने गुजरात के अभियान में अकबर के साथ जाकर बड़ी बहादुरी दिखलाई।

(३) **कालिंजर का आत्मसमर्पण (१५६६ ई०)**—रणथम्भौर के बाद अकबर ने अब उत्तरी भारत के तीसरे अजेय दुर्ग को लेने का निश्चय किया।

१. संस्कृत में इसका नाम रणस्तम्भपुर था। पुर का उर होना बतलाता है कि यह दुर्ग मुस्लिम काल के बहुत पहले से ख्याति प्राप्त कर चुका था। यहाँ पास-पास रण और थम्भौर (स्तम्भपुर) दो पहाड़ हैं, जिनके कारण यह नाम पड़ा।

इसी कालिंजर को विजय करने मे बारूद से झुलसकर शेरशाह ने अपनी जान गँवाई थी। बघेला राजा रामचन्द्र का उस वक्त किले पर अधिकार था, जिसने अकबर की आज्ञा पर तानसेन को उसके पास भेज दिया था, अकबर के जेनरल मजनू खाँ काकशाल ने कालिजर को घेर लिया। रामचन्द्र ने समझ लिया कि जो हालत चित्तौड़ और रणथम्भौर की हुई; वही कालिंजर की भी होगी, इसलिये बेकार के खून-खराबे से क्या फायदा ? उसने किले को मजनू खॉ के सुपुर्द कर दिया जिसका समाचार अगस्त १५६६ में मिला। अकबर ने राजा रामचन्द्र को प्रयाग के पास एक बडी जागीर प्रदान की।

गुजरात-विजय
(१५७२-७३ ई०)

१. प्रथम विजय (१५७२ ई०)

हुमायूँ ने थोड़े समय के लिए गुजरात पर अधिकार जरूर किया था, पर वहाँ पहले ही से एक अलग सल्तनत कायम हो गई थी, जिसका प्रभाव स्थानीय लोगो पर काफी था। इसलिये हुमायूँ के हाथ से निकलते उसे देर नही लगी। अकबर ने उत्तर में अपने शासन को मजबूत कर लिया था, इसलिये उसका ध्यान गुजरात की ओर गया। आगे हम देखेंगे कि कैसे संत सलीम चिश्ती के प्रभाव और पुत्र लाभ के कारण अकबर ने अपनी राजधानी आगरा से सीकरी में १५७१ ई० मे परिवर्तित की और चौदह सालों तक वहीं अकबर का शासन केन्द्र रही। गुजरात-विजय के उपलक्ष्य में ही सीकरी का नाम फतेह (विजय नगर) पड़ा। अकबर ने ४ जुलाई, १५७२ को बरसात में सीकरी से गुजरात का अभियान किया। गुजरात में उस समय मुजफ्फरशाह (३) नाम-मात्र का सुल्तान था। उसके जागीरदार अपने-अपने इलाकों के मालिक थे, जो आपस में लड़ा करते थे। इन्हीं में एतमाद खाँ भी था, जिसने ही गुजरात की दुरवस्था को देखकर अकबर को बुलाया। गुजरात में सूरत, खम्भात और दूसरे कितने ही मशहूर बन्दरगाह थे। सामुद्रिक व्यापार ने उसे एक बहुत धनी प्रदेश बना दिया था। अकबर गुजरात को लेकर अपनी राज्यसीमा को समुद्र तक पहुँचा सकता था।

३० अगस्त, १५६६ को कछवाहा राजकुमारी से अकबर का ज्येष्ठ पुत्र सलीम पैदा हुआ था, जो पीछे जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। गुजरात की यात्रा में जब वह अजमेर और नागौर के बीच फालौदी में ठहरा था, उसी समय दूसरे पुत्र के पैदा होने की खबर मिली, जिसका नाम अकबर ने दानियाल रखा। सितम्बर में अकबर ने नागौर में मुकाम किया। पीछे से कोई आक्रमण न कर दे, इसलिये अकबर ने दस हजार सवार खानेकलाँ मीर मुहम्मद खाँ अतका के अधीन मारवाड़ की ओर भेजे। सिरोही देवरा-चौहानों की थी। वहाँ के डेढ़ सौ राजपूतों ने झुकने की जगह मुगल तलवारों के सामने जान देना पसन्द किया। अकबर निश्चिंत हो नवम्बर, १५७२ में गुजरात की राजधानी अहमदाबाद के पास पहुँचा। भाग कर किसी खेत में छिपा मुजफ्फरशाह पकड़ा गया। अकबर ने उसे छोटी-सी जागीर दे दी। अपने कुछ आदमियों ने बादशाही रसद पर हाथ मारा था, जिसके लिए उन्हें हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवाया गया।

कुछ आदमियों को लेकर अकबर खम्भात गया, वहीं पहले पहल समुद्र की थोड़ी देर सैर की। यहीं पोर्तुगीज व्यापारी भेंट लेकर आये। युरोपियन व्यापारियों के साथ अकबर का यह सर्वप्रथम साक्षात्कार था। अकबर ने गुजरात की सूबेदारी (यह नाम पीछे का है, अकबर के वक्त सूबों के शासक सिपहसालार कहे जाते थे) मिर्जा अजीज कोका को दी। इसी समय पता लगा कि तैमूरी मिर्जा इब्राहीम हुसेन अकबरी अमीर रुस्तम खाँ को मारकर आगे बढ़ना चाहता है। सूरत को मिर्जाओं ने अपना गढ़ बना रखा था। बड़ौदा के पास से अकबर ने एक छोटी-सी सेना लेकर इब्राहीम के खिलाफ अभियान किया। माही नदी के घाट पर मालूम हुआ कि मिर्जा काफी बड़ी सेना के साथ नदी के दूसरे पार सरनाल के कस्बे में पड़ा हुआ है। लोगों ने सलाह दी कि कुमक आ जाने पर हमला करना चाहिए, पर अकबर अचानक मिर्जा के ऊपर चढ़ दौड़ना चाहता था। लोगों ने रात को आक्रमण करने की राय दी। अकबर ने कहा यह वीरोचित नहीं है। अकबर के साथ केवल दो सौ सैनिक थे, जिनमें मानसिंह, राजा भगवानदास और कितने ही दूसरे सरदार भी थे। सरनाल की सँकरी गलियों में मिर्जा को अपनी बड़ी सेना का कोई फायदा नहीं मिला। अकबर स्वयं लड़ रहा था। यहीं भगवानदास का भाई भूपत मारा गया। अकबर को तीन शत्रु सैनिकों ने घेर लिया। भगवानदास ने एक को भाले से घायल कर बेकार कर दिया और दो से अकबर ने अकेले अच्छी तरह मुकाबिला किया। मिर्जा हार कर भागा। रात के वक्त मुगल सेना उसका पीछा नहीं कर सकी। २४ दिसम्बर को अकबर अपने स्कन्धावार में लौट गया। भगवानदास को एक झण्डा और नगाड़ा इनाम में मिला। ऐसा इनाम पहली ही बार किसी हिन्दू को मिला था।

सूरत बाकी रह गया था। राजा टोडरमल ने शत्रु की शक्ति का पता लगाया। दिसम्बर के अन्त में अकबर बड़ौदा से चला। ११ जनवरी, १५७३ को सूरत पर मुगल सेना ने घेरा डाल दिया। गोवा से पोर्तुगीज सूरत वालों की सहायता के लिए आये। जब मालूम हुआ कि सूरत का पतन निश्चित है, तो उन्होंने दरबार में भेंट अर्पित की। अकबर फिरंगियों की जहाजी शक्ति के बारे में काफी सुन चुका था। उसको डर था कि कहीं पोर्तुगीज नौ सैनिक पोत भी आक्रमण न कर दें, इसलिए उसे गोवा के उपराज दोम अन्तोनियो दे नरोन्हा से सुलह करके बड़ी प्रसन्नता हुई। खम्भात में पहले पोर्तुगीजों से परिचय होने के बाद धर्म-जिज्ञासा की तृप्ति के लिए उसे पोर्तुगीज पादरियों के सत्संग का बराबर मौका मिलता रहा। हाजी समुद्र के रास्ते खम्भात या सूरत के मक्का जाया करते थे। अरब समुद्र पर पोर्तुगीजों का अधिकार था। इस समझौते से हाजियों की यात्रा सुरक्षित हो गई। अकबर कई सालों तक अपने पास से खर्च देकर हाजियों की बड़ी-बड़ी मण्डली मक्का भेजा करता था।

डेढ़ महीने के मुहासिरे के बाद २६ फरवरी, १५७३ को सूरत ने आत्मसमर्पण किया। शत्रु सेनापति हमजवान पहले हुमायूँ की सेवा में रह चुका था। अकबर ने उसकी जान बख्श दी, लेकिन मुँह से बादशाह की शान में बुरा शब्द निकालने के लिए उसकी जीभ कटवा ली।

यहीं पानगोष्ठी में अपनी बहादुरी का परिचय देते हुए दूसरों के साथ अकबर ने भी दीवार में तलवार गाड़ कर उस पर छाती मारना चाहा था और मानसिंह ने तलवार को निकाल फेका था। इस पर अकबर उसका गला घोट कर मारने ही वाला था कि लोगों ने बादशाह को खींचकर उसे बचाया। बाप-दादों के समय से पियक्कडी आदत चली आई थी। अकबर के दो बेटे मुराद, दानियाल और सौतेला भाई भी अत्यधिक शराब पीने के कारण ही मरे। अकबर ने पीछे शराब कम करके ताड़ी और अफीम की आदत लगा ली। जहाँगीर भी भारी पियक्कड़ था।

सूरत-विजय के बाद अकबर लौटा। १३ अप्रैल, १५७३ को सिरोही में पहुँचने पर पता लगा, इब्राहीम हुसेन मिर्जा घायल होकर मर गया।

२. तैमूरी मिर्जाओं का उपद्रव

तैमूर की सन्तानों मे उमरशेख मिर्जा का पुत्र बायकरा और पोता सुल्तान वैस था, जिसका पुत्र मुहम्मद सुल्तान था। खुरासान के तैमूरियों के हाथ से निकल जाने पर मुहम्मद सुल्तान बाबर के पास काबुल आया। खानदान वालों ने अक्सर धोखा दिया, तो भी बाबर को तैमूरी शाहजादों के साथ विशेष स्नेह था। वह सबको समेट कर रखना चाहता था। बाबर ने मुहम्मद सुल्तान को अच्छी तरह रखा। हुमायूँ ने भी उस पर बहुत दया दिखलाई। सुल्तान मिर्जा के पुत्रों मे मुहम्मद हसेन मिर्जा और हुसेन मिर्जा भी थे। मुहम्मद सुल्तान मिर्जा और नखवत सुल्तान मिर्जा ने दूसरे तैमूरी मिर्जाओं से मिलकर हुमायूँ से बगावत की। हुमायूँ ने उन्हें अन्धा करने का हुकुम दिया। नखवत अन्धा कर दिया गया। मुहम्मद सुल्तान कुछ दे दिवा कर नकली अन्धा बन बयाना के किले में बैठा रहा। कुछ दिनों बाद मुहम्मद जबान मिर्जा (हिरात के बादशाह सुल्तान हुसेन मिर्जा का पोता) भागकर गुजरात चला गया। मुहम्मद सुल्तान भी किसी तरह निकल भागा। कन्नौज में पहुँचकर वहाँ उसने पाँच छह हजार की सेना जमा की। जिस समय हुमायूँ बंगाल में शेरशाह से उलझा हुआ था, उसी समय मुहम्मद सुल्तान और बेटों ने दिल्ली के आस-पास लूट-मार मचाई। हुमायूँ ने अपने छोटे भाई हिंदाल को उन्हें दबाने के लिए भेजा। उसे खुद तख्त पर बैठने की फिकर हो गई। हुमायूँ हार कर आगरा पहुँचा। अब, सभी मुगल शाहजादों को फिकर पड़ी। मुहम्मद सुल्तान और उसके बेटे हुमायूँ के पास क्षमाप्रार्थी हुए, तो माफ कर दिये गए लेकिन कन्नौज

मे शेरशाह से लड़ने के समय वह हुमायूँ का साथ छोडकर भाग गये। कितने ही दूसरे अमीरों ने भी उनका अनुकरण किया।

हुमायूँ के भारत लौटने पर बूढ़ा मुहम्मद सुल्तान बेटों-पोतो के साथ फिर दरबार मे हाजिर हुआ। हुमायूँ ने उसे सम्भल सरकार (मुरादाबाद जिला) में आजमपुर निहटौर आदि के इलाकों की जागीर दे दी। मुहम्मद हुसेन मिर्जा, इब्राहीम हुसेन, मसूद हुसेन, आकिल मिर्जा के खून में बगावत भरी थी। खानजमाँ से दूसरी बार जब अकबर लड़ने गया, उस वक्त भी यह साथ छोडकर अपनी जागीर मे चले गए, सम्भल मे लूटमार शुरु की। वहाँ से भगाये जाने पर दिल्ली होते वह मालवा की तरफ जा लूट-खसोट करते रहे। बुड्ढा मुहम्मद सुल्तान अब भी तिकड़म भिडाने में लगा हुआ था। मुनअम खाँ ने उसे पकड़कर बयाना के किले मे भेज दिया। जहाँ ही वह मरा। मालवा मे मार पड़ी, तो मिर्जा गुजरात की ओर भागे। वहाँ महमूदशाह नाममात्र का बादशाह था। सूरत, भड़ौच, बड़ौदा, चम्पानेर पर चिंगीज खाँ का शासन था। उसने इनका स्वागत किया और भड़ौच में जागीर दी। इतनी जागीर से उनका काम कहाँ चलने वाला था ? उन्होंने इधर-उधर हाथ-पैर बढाना शुरू किया। चिंगीज खाँ की त्योरी बदल गई। यह खान देश की तरफ भागे। इसी बीच आपसी संघर्ष में चिंगीज मारा गया। खानदेश से पूरा पड़ता न देखकर मिर्जा गुजरात चले आए। सूरत में मुहम्मद हुसेन मिर्जा, चम्पानेर में शाह मिर्जा और सरनाल आदि में इब्राहीम हुसेन मिर्जा सर्वप्रभुत्व सम्पन्न हो बैठ गए।

अकबर से हार कर सभी मिर्जा पाठन के पास जमा हुए। निश्चय हुआ, इब्राहीम मिर्जा छोटे भाई मसऊद मिर्जा को साथ लेकर हिन्दुस्तान में लूट-मार करता पंजाब जा वहाँ विद्रोह फैलाये; मुहम्मद हुसेन मिर्जा और शाह मिर्जा दोनों शेर खाँ फौलादी से मिलकर पाटन में हलचल मचाये जिसमें अकबर सूरत का मुहासिरा उठाने के लिए मजबूर हों। लेकिन वह इसमें सफल नहीं हुए। अकबर सूरत को लेकर अहमदाबाद लौटा। इब्राहीम हुसेन मिर्जा लूटता-पाटता नागौर पहुँचा। रायसिंह, रामसिंह आदि अकबरी सरदारों ने इब्राहीम के छक्के छुड़ाये। लाहौर जाने की जगह वह सम्भल की ओर चल पड़ा। अकबर गुजरात में था। हुसेन कुल्ली खाँ काँगड़ा के अभियान में लगा हुआ था। इब्राहीम ने दिल्ली-आगरा पर हाथ साफ करना चाहा, लेकिन अमीरों की पलटन ने मिर्जा को पंजाब की ओर भागने के लिए मजबूर किया। उसने रास्ते मे सोनीपत, पानीपत, करनाल, अम्बाला आदि शहरों को लूटा। लाहौर में पहुँचने पर पता लगा, हुसेन कुल्ली खाँ दौड़ा आ रहा है। फिर वह लाहौर से मुल्तान की ओर भागा, जहाँ घायल हो बन्दी बन मरा।

मसऊद हुसेन मिर्जा गिरफ्तार कर दरबार में भेजा गया। उसे किला ग्वालियर में ले जाकर खतम कर दिया गया। मुहम्मद हुसेन मिर्जा, शाह मिर्जा और शेर खाँ फौलादी के साथ हो पाटन में सैयद महमूद बारा को घेर लिया। खानेआजम (मिर्जा कोका) खबर सुनते ही अहमदाबाद से वहाँ पहुँचा। मिर्जा ने पाँच कोस आगे बढ़कर लड़ाई की। फैसला नहीं हुआ, इसी समय रुस्तम खाँ और अब्दुल मतलब खाँ बारा कुमक लेकर पहुँच गया। मिर्जा दक्खिन की ओर भागे। हिजरी ८६० (१५७२-७३ ई०) में अख्तियारुल्मुल्क को लेकर उन्होंने गुजरात के कितने ही भागों पर अधिकार कर लिया। कोका अहमदाबाद में घिर गया। इस पर अकबर दूसरी बार गुजरात स्वयं पहुँचा। इसी लड़ाई में दोनों मिर्जा मारे गए।

कामराँ की बेटी गुलमुख बेगम (अकबर की चचेरी बहन) इब्राहीम हुसेन मिर्जा की बीवी बहादुर औरत थी और साथ ही उसे बाप से दुश्मनी की विरासत मिली थी। जब मिर्जा करनाल की लड़ाई में हार कर पंजाब की ओर भागा, तो वह सूरत से भाग कर दक्खिन चली गई—इसके लड़के का नाम मुजफ्फर हुसेन मिर्जा था, जिसे मुजफ्फर हुसेन शाह गुजराती से नहीं मिलाना चाहिए। मुजफ्फर दक्खिन में पलता रहा। हिजरी ६८५ (१५७७-७८ ई०) में १५-१६ वर्ष का हो, उसने बाप के झण्डे को अपने हाथ में लिया। अकबर के दबाये अमीर उसके पीछे हुए। अकबरी सेना को हरा वह खम्भात पहुँचा, फिर पाटन मे जा बजीर खाँ को घेर लिया। इसी समय टोडरमल पहुँच गये। मिर्जा भाग कर ढोलका, फिर हार कर जूनागढ़ भागा। टोडरमल राजधानी (सीकरी) लौट गए। मिर्जा ने आकर वजीर खाँ को अहमदाबाद में फिर घेर लिया। असफल हो भागकर खानदेश के स्वामी राजा अली खाँ के पास पहुँचा। राजा अली खाँ को अकबर को खुश करने के लिए एक बड़ी सौगात हाथ आई, उसने उसे दरबार में भेज दिया। अकबर ने दया दिखलाई, और उसकी बहन से सलीमा का ब्याह कर दिया। इसके बाद मिर्जाओं का विद्रोह देखने में नहीं आया।

३. गुजरात की दौड़ (१५७३ ई०)

गुजरात में पूरी तौर से शान्ति नहीं स्थापित हुई थी। मुजफ्फर मिर्जा और अख्तियारुल्मुल्क के गुजरात के खतरे की खबर अकबर के पास पहुँची। अकबर ३१ साल का था। जवानी का जोश चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। २३ अगस्त, १५७३ (२४ रवि० 11, ६८१ हि०) को वह तेज साँडनी पर सवार हो कुछ चुने हुए सैनिकों को लेकर गुजरात की ओर चल पड़ा। बारिश का महीना था। वर्षा न होने पर असह्य गर्मी पड़ रही थी। अकबर प्रतिदिन औसतन पचास मील की गति से चला। कभी-कभी घोड़े और रथ पर भी उसने सवारी की।

प्रायः छह सौ मील की यात्रा अजमेर, जालोर दीसा और पाटन के रास्ते करके ग्यारहवें दिन अहमदाबाद के पास पहुँचा। पाटन और अहमदाबाद के बीच बालिसना के छोटे से कस्बे में ठहर कर उसने अपनी सेना का निरीक्षण किया। सब मिलाकर तीन हजार आदमी थे और शत्रुओं की संख्या बीस हजार थी। उसने सौ आदमियों को अपना शरीर रक्षक चुना, बाकी के तीन ब्रिगेड बनाये। मध्य ब्रिगेड का संचालन अब्दुर्रहीम खानखाना को दिया, जो कि उस समय १६ वर्ष का लड़का था। यह मालूम ही है, जनवरी, १५६१ मे बैरम खाँ के मरने पर चार वर्ष के रहीम को अकबर ने अपना धर्मपुत्र बनाया था और उसकी शिक्षा-दीक्षा में कोई कसर नहीं उठा रखी। रहीम ने पहले-पहल अपने सैनिक कौशल का परिचय नहीं दिया और अन्त में अकबर का एक बड़ा सेनापति बना।

अकबर के साथ २७ सैनिक अफसर इस दौड़ में शामिल हुए थे, जिनमें १५ हिन्दू थे। लाल कलावन्त और साँवलदास, जगन्नाथ तथा ताराचन्द तीन चित्रकार थे। साँवलदास (साँवला) ने सरनाल के युद्ध का चित्र बनाया था, जो लन्दन की केनसिंग्टन म्यूजियम के एक हस्तलेख में अब भी मौजूद है। लाल कलावन्त प्रसिद्ध गायक बीरबल के पास रहता था, बादशाही सेना अहमदाबाद से कुछ मील पर साबरमती के किनारे पहुँची। आशा थी, खानेआजम (कोका) की सेना यहाँ उससे मिलेगी, किन्तु वह नहीं आई, दुश्मन सोच रहे थे—सीकरी बहुत दूर है, दो हफ्ते से पहले अकबर यहाँ नहीं पहुँच सकता। अकबर के साथ हाथी चला करते थे, वह भी साथ में नहीं थे। अहमदाबाद के दरवाजों से निकलकर खाने आजम कहीं बादशाही सेना से मिल न जाये, इसकी देखभाल अख्तियारुल्मुल्क ने अपने ऊपर ली थी। मुहम्मद हुसेन मिर्जा १५०० बागी मुगलों को लिये मुकाबिले के लिये तैयार था। नगर के भीतर सैनिकों के आने की प्रतीक्षा करने से इनकार कर जबर्दस्ती अपने घोड़े पर चढ़ अकबर नदी की ओर बढ़ा। सभी पीछे हो लिये। अकबर ने सिर्फ दो शरीर-रक्षक अपने पास रखे। बादशाही घोड़ा घायल हो गया। खबर फैलाई गई, अकबर मारा गया। लेकिन, इसका कोई फल नहीं हुआ, क्योंकि अकबर उनके साथ लड़ रहा था, मुहम्मद हुसेन मिर्जा घायल होकर पकड़ा गया। अकबर की विजय हुई। अपने पाँच हजार सैनिकों को लेकर अख्तियारुल्मुल्क ने पासा पलटना चाहा। वह भी मारा गया। घायल मिर्जा को कत्ल करने का हुकुम देने में अकबर ने बहुत आगा-पीछा किया, लेकिन लोगों ने सलाह दी, इस साँप को पालना अच्छा नहीं है। मिर्जा स्वर्ग सिधारा। लड़ाई समाप्त हो जाने के बाद ही खानेआजम आकर मिल सका।

इस प्रकार २ सितम्बर, १५७३ को अकबर ने गुजरात के भयंकर विद्रोह को दबा दिया । वहाँ तैमूरी रिवाज के अनुसार दो हजार सिरों की मीनार खडी की । शाह मदद ने राजा भगवानदास के भाई भूपत को सरनाल मे मारा था, बदला लेने के लिये अकबर ने अपने हाथो शाह मदद का सिर धड़ से अलग किया । मिर्जा भाइयो में शाह मिर्जा बचकर भाग निकला, लेकिन वह अकबर का कुछ बिगाड़ नहीं सका । गुजरात की इस दूसरी विजय के बाद अकबर तीन सप्ताह में चलकर फतेहपुर सीकरी पहुँचा । सारा अभियान ४३ दिन मे खतम कर, गुजरात के फतेह के बाद ५ अक्टूबर, १५७३ सोमवार के दिन सीकरी (अब फतेहपुर-सीकरी) में दाखिल हुआ । गुजरात मे भू-कर की व्यवस्था बहुत खराब हो गई थी । उसके प्रबन्ध के लिये टोडरमल को भेजा, जिन्होंने छह महीने के भीतर गुजरात की पैमाइश करके मालगुजारी बन्दोबस्त कर दिया । शासन का खर्च निकाल कर ५० लाख रूपया सालाना गुजरात से शाही खजाने को मिलने लगा । राजा टोडरमल के बाद काम को ठीक से चलाने के लिये दूसरे वित्त-विशेषज्ञ शहाबुद्दीन अहमद खॉ को १५७७ से १५८३-१५८४ ई० तक गुजरात का उपराज बनाया गया । शहाबुद्दीन ने गुजरात को १६ सरकारो (जिलो में) बॉटा । गुजरात की विजय स्थायी रही । छोटे-मोटे विद्रोह भले ही कभी हुए, नहीं तो १५७३ ई० की विजय के बाद १७५८ ई० तक गुजरात मुगल सल्तनत का सूबा रहा । अन्त में मराठो ने उसे मुगलों से छीन लिया ।

१५७४ ई० में सारंगपुर (अहमदाबाद, गुजरात) के हाकिम मुजफ्फर खाँ तुरबती को बुलाकर अकबर ने अपना वकील (प्रधान-मन्त्री) बना टोडरमल को उसके अधीन काम करने के लिये कहा । अब अकबर की प्रशासन-व्यवस्था निश्चित रूप लेने लगी । इसी समय सरकारी सेवा के घोडों को दाग लगाने का नियम स्वीकार किया गया, मन्सब (पद) निश्चित किये गए और शाही (खालसा) भूमि की व्यवस्था स्वीकार की गई । बतला चुके है, मन्सबदार और नीचे के अफसर घोड़ों को रखने के लिये तनख्वाह पाते थे, पर उतनी संख्या में न रखकर पैसे अपनी जेब में डाल लेते, एक ही घोड़े को कई जगह दिखला कर जाँच से छुट्टी पा लेते थे । इसे रोकने के लिये हर घोड़े के ऊपर जलते लोहे से दाग लगाने का नियम बनाया गया—इस नियम को अलाउद्दीन खिलजी और शेरशाह ने भी जारी किया था । मुजफ्फर खाँ से काम न सँभलते देख उसे हटा दिया गया ।

इब्राहीम पुत्र मुजफ्फर हुसेन मिर्जा के उपद्रव के समय उसे दबाने के लिये १५७६ ई० में टोडरमल को गुजरात भेजा गया । हाल ही में टोडरमल बंगाल में सफल अभियान करके ३०४ हाथियों के साथ दरबार में लौटे थे । वजीर खाँ की मदद के लिये वह गुजरात की तरफ दौड़े । अक्टूबर १५७६ में उनकी जगह

ख्वाजा शाह मंसूर शिराजी को अस्थायी वित्तमंत्री नियुक्त किया गया । मंसूर बड़ा योग्य आदमी था । अपनी योग्यता के बल पर ही वह एक मामूली मुंशी से इतने ऊँचे पद पर पहुँचा था । टोडरमल का वह तब तक प्रतिद्वन्द्वी रहा, जब तक कि अपने षड्यन्त्रों के कारण १५८१ ई० में उसे प्राणदण्ड नही मिला । टोडरमल मुजफ्फर मिर्जा को दबा गुजरात में शान्ति स्थापित कर १५७७ ई० के उत्तरार्ध में कितने ही विद्रोही बन्दियों को लिये दरबार में पहुँचे । अब उन्हें शाही वजीर के तौर पर सारे राज्य के प्रबन्ध में लगना पड़ा ।

इसी साल नवम्बर मे आकाश में धूमकेतु दिखाई पड़ने लगा । धूमकेतु छत्र भंग की सूचना है, यह आज भी विश्वास किया जाता है । शाह तहमास्प की मृत्यु (१५७६ ई० में) के बाद उसके उत्तराधिकारी शाह इस्माईल की हत्या भी छत्रभंग का प्रमाण मानी गई । भारत में भी कुछ लोगों के ऊपर उसका असर रहा ।

४. रहीम शासक (१५८४ ई०)

मुजफ्फर शाह गुजराती ने अधीनता स्वीकार कर अकबर के हाथों छोटी-सी जागीर पाई थी । १५७१ ई० में वह विद्रोह करके निकल भागा और १५८३ ई० तक जूनागढ़ में रहा । शहाबुद्दीन के कितने ही अनुयायी असन्तुष्ट हो मुजफ्फर शाह के साथ मिल गए । उसने खुलकर विद्रोह शुरु किया, जो आठ वर्ष तक चलता रहा । १५८३ ई० में शहाबुद्दीन की जगह एतमाद खाँ को गुजरात का उपराज नियुक्त किया गया । एतमाद खाँ को इतिहासकार निजामुद्दीन अहमद जैसा योग्य बख्शी मिला था । सब होते भी सितम्बर १५८३ में मुजफ्फरशाह अहमदाबाद में दाखिल हो शाह की उपाधि धारण कर गुजरात का बादशाह बन गया । उसने धोखे से नवम्बर में भड़ौच में आत्मसमर्पण किये शाही अफसर कुतुबुद्दीन को मार डाला । इलाहाबाद में सुनकर अकबर जल्दी-जल्दी जनवरी १५८५ में आगरा लौटा—अब फतेहपुर सीकरी राजधानी नहीं रह गई थी । अकबर ने बैरम-पुत्र अब्दुर्रहीम—जिसे वह प्यार से मिर्जा खान कहा करता था—को गुजरात का उपराज नियुक्त किया । रहीम ने शत्रु को थोड़ी-सी सेना से जनवरी १५८४ में, पहले अहमदाबाद के पास सरखेज में फिर नाडौर (राजपीपला) में हराया । मुजफ्फर शाह भागता फिरा । कच्छ में निजामुद्दीन ने उसे बुरी तरह से हराकर शरण देने वाले राजा को दो-तीन सौ गाँवों को बरबाद कर दिया । यह खबर मिली तो अकबर ने निजामुद्दीन को लौटा लिया । मुजफ्फरशाह काठियावाड़ और कच्छ में १५९१-९२ ई० तक बादशाही सेना को हैरान करता रहा । पकड़े जाने पर गर्दन काटकर उसने आत्महत्या कर ली । रहीम ने सारे गुजरात में शान्ति-व्यवस्था स्थापित की । इस सफलता के लिए उसे 'खानखाना' की उपाधि मिली ।

सीकरी राजधानी (१५७१-८५ ई०)

१. नगर चैन (१५६६ ई०)

सलीम के जन्म से कुछ पहले संत सलीम चिश्ती पर अकबर की भक्ति हो गई थी। इसीलिये सत के स्थान सीकरी में वह अपनी राजधानी ले गया। इससे पहले राजधानी आगरा थी, जो बाबर के समय ही से द्वितीय राजधानी चली आई थी। अकबर ने आगरा मे कई इमारते बनवाई—अभी आगरा के लाल किले के बनवाने मे देर थी। अकबर नगर के पास कोई दूसरी सुहावनी जगह तलाश कर रहा था। मॉडू से १५६४ ई० में लौटते समय आगरा से सात मील दक्षिण ककराली उसे बहुत पसन्द आई। वहीं उसने नगर चैन (अमनाबाद) की नींव डाली। एक सुन्दर बगीचे के बीच में बादशाह के लिए महल बना। आस-पास अमीरो ने भी अपने महल बनवाये। इस प्रकार नगर चैन ने एक अच्छी खासी नगरी का रूप धारण कर लिया। अकबर ने कितने ही राजदूतो से भी यही भेंट की। पीछे सीकरी ने अपनी ओर खींचा और अकबर को राजनीतिक संघर्षों में भाग लेने के लिए हर वक्त रिकाब में पैर रखने के लिए मजबूर होना पड़ा, इस प्रकार नगर चैन दिल से उतर गया। आगरा के महल मॉडू में ककराली गाँव के पास अब भी नगर चैन के कुछ ध्वंस मौजूद हैं, यद्यपि बाग का पता नहीं है।

आगरा में पहले से भी बादलगढ़ के नाम ईंटों का बना एक किला था। इसी के भीतर १५६१-६२ ई० के आरम्भ में अकबर ने बंगाली महल के नाम से एक इमारत बनवाई जिसके अवशेष अब भी आगरा के किले में मौजूद है। १५६५ ई० (सन जलूस १०) में अकबर ने कासिम खाँ को किले को लाल पत्थर का बनाने का हुकुम दिया। जहाँगीर के अनुसार इसके बनाने में १५-१६ साल और ३१ लाख रुपये लगे। किसानों पर इसके खर्च के लिए खास कर लगाया गया। अकबर ने किले के अतिरिक्त पाँच सौ दूसरी इमारतें भी बनवाईं जिनमें से बहुतों को गिरवा कर शाहजहाँ ने अपनी रुचि की इमारतें बनवाईं। अकबर का बनवाया जहाँगीरी महल अब भी मौजूद है।

२. पीरों की भक्ति

१५६४ ई० में अकबर को जुड़वां लड़के पैदा हुए, जिनके नाम उसने हसन और हुसेन रखे थे। हसन-हुसेन एक महीने ही तक इस दुनिया में रह सके। अकबर के हरम में बेगमों और रखेलियों की गिनती नहीं थी, पर कोई

सन्तान नही थी, यद्यपि २५-२६ वर्ष कोई ऐसी उमर नही है, जिसमे सन्तान से निराश होने की जरूरत हो, तथापि अकबर अधीर होने लगा । इस समय वह पक्का मुसलमान था । पीरो-फकीरों और उनकी कब्रो से मुराद पाने की बात पर आज की तरह उस वक्त भी मुसलमानो मे बहुत विश्वास था । अकबर कभी दिल्ली के निजामुद्दीन औलिया की कब्र पर जाकर माथा रगडता, कभी ख्वाजा अजमेरी की मजार पर—अजमेर में प्रतिवर्ष जियारत के लिए जाता । यह नियम १५७६ ई० तक बराबर चलता रहा । ख्वाजा अजमेरी की शिष्य परम्परा ही में शेख (संत) सलीम चिश्ती थे, जो आगरा से २३ मील पश्चिम सीकरी की पहाडी में रहा करते थे । उनकी सिद्धि की बड़ी ख्याति थी । लोग मानते थे, कि उनकी दुआ से मुरादें पूरी हो जाती है । चरणो में पड़ने पर शेख ने तीन पुत्रों के होने की भविष्यवाणी की । १५६६ ई० मे कछवाही बेगम गर्भ से हुई । अकबर ने चाहा, उसकी पहली सन्तान शेख सलीम के चरणों में ही हो, इसलिये अपनी बेगम को शेख के झोपड़े मे भेज दिया । वहीं ३० अगस्त १५६६ को बेटा पैदा हुआ जिसका नाम शेख के नाम पर सलीम रखा गया । उसी साल नवम्बर मे एक लड़की भी पैदा हुई जिसका नाम खानम सुल्तान पड़ा । अगले साल ८ जून को एक रखेल के पुत्र हुआ जिसका नाम मुराद था, पर सीकरी की पहाड़ी में पैदा होने के कारण अकबर उसे 'पहाड़ी' कहता था । तीसरा पुत्र भी एक रखेल से १० सितम्बर १५७२ को अजमेर में पैदा हुआ । अजमेर के संत शेख दानियाल के घर मे पैदा होने के कारण उसका नाम दानियाल रखा गया । अकबर की दो और लडकियाँ शुकरुन्निसा और आराम बानू हुईं । इस प्रकार अकबर के तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ थी। पुत्रियों मे खानम सुल्तान और शुकरुन्निसा का ब्याह हुआ था, आराम बानू [illegible] जहाँगीर के शासन में मरी । इसके पीछे मुगल शाहजादियों के [illegible] की प्रथा चल पड़ी ।

अप्रैल १५७२ में सन्तान सम्बन्धी मनौती के अनुसार अकबर पैदल ही जियारत के लिए रवाना हुआ और १४ मील प्रतिदिन की चाल से १६ मंजिलों को पार कर अमजेर पहुँचा । वहाँ से दिल्ली निजामुद्दीन औलिया के चरणों में भक्ति प्रकट करने के लिए गया । उसी साल सितम्बर में वह फिर अजमेर से लौटा और वहाँ नागौर में भी उसने कुछ इमारतें बनवाईं, जिनमें एक १७ छेदों का फौवारा भी था । इसी साल उसने बीकानेर और जैसलमेर की राजकुमारियों से ब्याह किया और मालवा के सुल्तान बाजबहादुर ने भी आत्मसमर्पण किया । जान पड़ता है, राजस्थान में जंगली गदहे उस समय मौजूद थे । एक दिन में अकबर ने १६ गदहे मारे थे । पुत्र-लाभ की खुशी में वह पंजाब की भी कई जियारतों में गया ।

१५७१ के अगस्त मे वह सीकरी चला आया। इसी साल तूरान (मध्य एशिया) के शक्तिशाली उज्बेक खान अब्दुल्ला का दूत दरबार मे हाजिर हुआ।

३. राजधानी-निर्माण

सीकरी का भाग्य अकबर की संत-भक्ति का सहारा ले खुला। उस छोटी-सी बस्ती और उसके पास की नंगी पहाडी का कलेवर बदलने लगा। अबुल-फजल ने लिखा है—

"बादशाह के महामहिम पुत्र (सलीम और मुराद) सीकरी मे पैदा हुए। पहुँचे हुए संत सलीम का यहाँ निवास था। इस आध्यात्मिक सम्पत्ति को बादशाह ने बाहरी वैभव रूप देना चाहा। ,बादशाह ने हुकुम दिया, शाही इमारतें बनाई जाये।"

सीकरी गॉव के चारों ओर दीवार बनाई जाने लगी, पर वह कभी पूरी नही हुई। शाही महल और सरकारी मन्त्रालयों की इमारते बनने लगीं, बगीचे लगाये गये, अमीरो और दूसरे लोगों ने अपने-अपने लिए मकान तैयार किये। गुजरात की विजय के बाद नगरी का नाम फतेहाबाद रखा गया, पर फतेहपुर ही के रूप में लोगो ने उसे स्वीकार किया। सलीम चिश्ती इन सूखी चट्टानों में जंगली जानवरो के बीच १५३७-३८ ई० से रहने लगे थे। अब वहीं इन्द्रपुरी बसने लगी। सीकरी के पास लाल पत्थर बहुतायत से मिलता है। इमारतो के बनाने मे उसे दिल खोलकर इस्तेमाल किया गया। शायद मैमार (राजगिर) मस्जिद सीकरी की सबसे पुरानी इमारत है, जो बादशाही महलों से तीस वर्ष पहले बनाई गई थी।

सलीम चिश्ती एक घुमक्कड़ और मस्तमौला फकीर थे। उन्होंने २२ हज किये। पहली बार जाकर १४, दूसरी बार ८ हज किये। आखिरी बार चार वर्ष मदीना में रहे और चार वर्ष मक्का में। मदीना रहते भी हज के समय मक्का चले आते थे। वह बहुत अच्छे विद्वान थे। मक्का वाले उन्हें शेखुल्-हिन्द (हिन्दुस्तान का संत) कहते थे। हजों और यात्राओं के बाद हिजरी ९७१ (१५६३-६४ ई०) में भारत लौट आये। सीकरी की पहाड़ी गुफा में साम्यवादी संत नियाजी[१] भी कितने ही समय तक रहे। यहीं सलीम ने भी अपना डेरा डाला। धीरे-धीरे वहाँ खानकाह (गुरुद्वारा) और मस्जिद बन गई। उसी जगह पीछे हि० ९८२ (१५७४-७५ ई०) में अकबर ने इबादतखाना (पूजागृह) की बडी इमारत बनवाई। इबादतखाना के पास ही अनूप तालाब था, जिसे अकबर ने एक करोड़ रूपये चाँदी-सोने के सिक्कों से भरवा दिया था। तालाब के किनारे महल और बैठकें बनी हुई थी,

---

१ इन्हें सलीम का भी शिष्य कहा जाता है।

जिसकी दीवारो-दरवाजों, आँगनो और ताकों की मेहराबो को जरी के पर्दो से सजाया गया था, नीचे मखमली फर्श और रेशम कालीन बिछे थे। इबादतखाने मे अमीर पूर्व में, सैयद पश्चिम मे, आलिम और मौलवी दक्षिण मे तथा संत-फकीर उत्तर मे बैठा करते थे। बादशाह जिस पर खुश होता, तालाब मे से मुट्ठी भर कर अशर्फियाँ देता। हिजरी ९८३ (१५७५-७६ ई०) में बदख्शॉ का स्वामी मिर्जा सुलेमान अपने पोते शाहरुख के कारण भाग कर हिन्दुस्तान आया, उसका स्वागत अकबर ने अनूप तालाब के ऊपर किया था।

सलीम चिश्ती के दर्शन के लिए यहीं पर उनकी झोपडी मे अकबर जाता। मुल्ला बदायूँनी भी शेख की सेवा मे अक्सर हाजिर हुआ करते। मुल्ला कहते है—"मैने जो उनकी करामात यह देखी कि जाड़े के मौसम मे फतेहपुर जैसे ठण्डे स्थान मे उनके पास सूती कुर्ता और मलमल की चादर के सिवा कोई और पोशाक न होती थी। सत्संग के दिनों में वह दो बार स्नान करते। खाना आधा तरबूज से भी कम था।" जहाँगीर ने अपनी तुजुक मे लिखा है—"एक दिन मेरे पिता ने पूछा, आपकी उमर क्या होगी और आप कब तक इन्तिकाल फरमायेगे।" शाह ने फरमाया : गुप्त बात का जानने वाला खुदा है। बहुत पूछा, तो मेरी (सलीम, जहाँगीर की) ओर इशारा करके फरमाया, "जब शाहजादा इतना बडा होगा कि किसी की याद करवाने से कुछ सीख ले।" शेख सलीम को गाना-बजाना सुनने का बड़ा शौक था, तानसेन तथा दूसरे शाही कलावन्त उनकी सेवा के लिए जाया करते थे। हिजरी ९७९ (१५७१-७२ ई०) में ९५ वर्ष की उमर में सलीम का देहान्त हुआ, अर्थात् अकबर ने जब सीकरी में रहना शुरु किया, उसके थोडे ही दिनों बाद। शेख बाल-बच्चेदार आदमी थे। उनके बड़े बेटे शेख बदरुद्दीन बाप के कदमों पर चलना चाहते थे। मक्का मे गर्मियो के दिनों में नंगे पाँव काबा की परिक्रमा करते पैरों मे छाले पड़ गये, बुखार आया और हिजरी ९९० (१५८०-८१ ई०) में वहीं मर गये। दूसरे बेटे शेख इब्राहीम का देहान्त हिजरी ९९९ (१५९०-९१ ई०) में हुआ। संत के घर में लक्ष्मी बरस रही थी, यह इसी से मालूम होगा कि शेख इब्राहीम ने मरते वक्त २४ करोड़ नकद छोड़ा। यदि यह दाम भी हो, तो भी साढे ६२ लाख रुपये होते है। इसके अलावा हाथी-घोड़े और दूसरी चीजें अलग थीं। शेख जीवन दूसरे साहबजादे थे, जिनके साथ जहाँगीर ने दूध पिया था। यही बड़ा होकर नवाब कुतुबुद्दीन खाँ बने। नूरजहाँ को उड़ा लाने के लिए शेर अफगन का शिकार करने के वास्ते जहाँगीर ने अपने इसी गुरु पुत्र को भेजा था। गुरु पुत्र शेर अफगन के साथ बहिश्त के यात्री बने—उसी साल जबकि अकबर का देहान्त हुआ।

यद्यपि सीकरी में इमारतों का निर्माण १५६६ ई० में शुरु हुआ, तथापि अकबर ने दो वर्ष बाद (१५७१ ई०) से यहाँ रहना शुरू किया । सीकरी में आने से पहले ही अकबर के हृदय में देश के प्रति विशेष पक्षपात हो चुका था, इसीलिए सीकरी की इमारतो पर भारतीय वास्तुकला की स्पष्ट छाप मालूम होती है । जहाँगीर महल (जोधाबाई महल) यहाँ की सबसे बड़ी और पुरानी इमारतो मे है । शायद इसमें ही सलीम की माँ कछवाहा रानी (मरियम जमानी) रहती थी । वैसे सलीम की एक बेगम तथा शाहजहाँ की माँ जोधपुर कुमारी भी थी । बडी मस्जिद को मक्का की मस्जिद के नमूने पर बनाया गया था, जिसकी समाप्ति हिजरी ६७६ (२६ मई १५७१-१५ अप्रैल १५७२) में हुई । मस्जिद के विशाल फाटक (बुलन्द दरवाजा) की समाप्ति चार साल बाद हुई । इसे १५७२ ई० मे गुजरात के दुबारा विजय के स्मारक के तौर पर बनवाया गया । दूसरी परम्परा बतलाती है, कि दक्खिन विजय के बाद (हिजरी १०१० सन् १६०१-२ ई०) उसी के स्मारक के तौर पर इसे बनवाया गया । लेकिन, १५८२ ई० के बाद अकबर मुसलमान नहीं रह गया था, इसलिए इस समय मस्जिद के दरवाजे के बनाने की सम्भावना नही । १५८५ ई० में ही अकबर ने सीकरी को ध्वस्त होने के लिए छोड़ दिया, इसलिए भी यह सम्भव नही है ।

१५६६ ई० मे सलीम का जन्म हुआ था । अकबर आमतौर से अब सीकरी में ही रहने लगा । तूरानी उज्बेकों के हमले के डर से १५८५ की शरद मे अकबर ने सदा के लिए सीकरी छोड़ दी । संत-भक्ति के जोश में अकबर ने सीकरी को राजधानी बना दिया, लेकिन इतनी बड़ी नगरी के लिए वहाँ कई दिक्कतें थीं । सबसे बड़ी समस्या पानी की थी । अकबर ने पहाडी के उत्तर छह मील लम्बी, दो मील चौड़ी एक विशाल झील बनवाई । १५८२ ई० में अतिवृष्टि के कारण इसका बाँध टूट गया, जिससे मालूम हुआ कि नगर की स्थिति अनुकूल नहीं है । अन्तिम बार सीकरी छोड़ने के थोड़े ही समय बाद सितम्बर, १५८५ मे अंग्रेज राल्फ फिच वहाँ पहुँचा । वह लिखता है—

"आगरा बहुत जनसंकुल और महान नगर है । इमारतें पत्थर की बनी हुई हैं । अच्छी लम्बी सड़कें हैं । पास मे एक बढ़िया नदी (जमुना) बहती है, जो जाकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है । बहुत अच्छी खाई के साथ यहाँ एक बढ़िया और मजबूत किला है । नगर में बहुत से मुसलमान और हिन्दू रहते हैं । राजा का नाम जेलाबदीन (जलालुद्दीन) एखबर (अकबर) है । वहाँ से हम फतेहपुर गये, जहाँ पर बादशाह का दरबार था । यह नगर आगरा से बड़ा है, लेकिन मकान और सड़कें उतनी अच्छी नहीं हैं । यहाँ बहुत से मुसलमान और हिन्दू रहते हैं ।......बतलाया जाता है, बादशाह के पास हजार हाथी, ३०

हजार घोडे, १४०० पालतू चीते, ८०० बेगमें, बहुत से बाघ भैसें, मुर्गे, बाज रहते है, जिन्हें देखकर बडा अचरज होता था।...आगरा और फतेहपुर के बीच बारह कोस, (२३ मील) का अन्तर है। सारे रास्ते में खाने-पीने की और दूसरी दुकाने है...। लोगो के पास बहुत से बढ़िया रथ है, जिनमें से कितने की कारुकार्य और सोने के मुलम्मे से सज्जित है। इनमें दो पहिया होती है, दो बैल खींचते है...। इन्हें घोडा भी खींच सकता है। इन पर दो-तीन आदमी बैठ सकते हैं। इनके ऊपर रेशम या और किसी कीमती कपड़े का ओहार पड़ा रहता है। ....सारे भारत और ईरान के व्यापारी यहाँ रेशमी तथा दूसरे कपड़े, बहुमूल्य पत्थर—लाल, हीरा और मोती —बेचने के लिए लाते है। फतेहपुर में हम तीनो २८ सितम्बर, १५८५ तक रहे। मैंने जौहरी विलियम लीड्स को फतेहपुर में जेलाबदीन एखबर की सेवा में छोड़ दिया, जिसने उसकी बहुत खातिर की। एक घर, पाँच गुलाम, एक घोड़ा और प्रतिदिन छह शिलिंग (४ रूपया) नकद देता था। ...आगरा में १८० नावो पर नमक, अफीम, हीग, सीसा, कालीन और दूसरी चीजे भर कर जमुना द्वारा मैं सतगाँव (सतगाँव हुगली जिला) गया।"

राजधानी के हटते ही सीकरी की दशा बिगड़ने लगी। दरबार और अमीरों के न रहने पर व्यापारी सीकरी में क्या करते ? यद्यपि इसका यह मतलब नहीं कि वह तुरन्त उजड़ गई। (आज भी सीकरी प्राय: दस हजार आबादी का एक अच्छा खासा कस्बा है।) मुहम्मदशाह (१७१६-४८ ई०) थोड़े दिनों तक यहाँ आकर रहा, इस प्रकार अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में चार दिनों की चाँदनी आ गई।

अकबर उस समय यहाँ आया था, जब धर्मों के बारे में उसे तीव्र जिज्ञासा थी। १५७४ से १५८२ ई० तक भिन्न-भिन्न धर्मों के विद्वान यही शास्त्रार्थ करते थे। "वादे वादे जायते तत्त्वबोध:" के अनुसार अकबर को यही तत्त्वबोध हुआ कि इस्लाम में उसकी आस्था नहीं रह गई।

सीकरी बादशाही इमारतें १५७० से १५८० ई० में बीच में बनीं। इसके बाद कुछ छोटी-मोटी मस्जिदें और कब्रें भर बनवाई गई। सीकरी छोड़ देने के बाद मई १६०१ में दक्षिण-विजय से लौटते वक्त आगरा जाते समय उसने अपनी पुरानी राजधानी को सिर्फ एक नजर देखा था।

अकबर की यह नगरी पहाड़ी के ऊपर पूर्वोत्तर से पश्चिम-दक्षिण की ओर सात मील के घेरे में लम्बी चली गई थी। नगर के पश्चिमोत्तर में बीस मील के घेरे में कृत्रिम झील थी, जो पानी देने के साथ-साथ एक ओर नगर की रक्षा-परिखा का भी काम करता था। बाकी तीन तरफ की चहारदीवारियों

का सैनिक मूल्य कुछ भी नही था । नगर मे नौ दरवाजे थे, जिनमे चार मुख्य थे —आगरा दरवाजा (उत्तर-पूर्व) दिल्ली दरवाजा, अजमेरी दरवाजा, ग्वालियर अथवा धौलपुर दरवाजा । दूसरे दरवाजे थे—लाल दरवाजा, बीरबल दरवाजा, चंदनपाल दरवाजा, टेढा दरवाजा और चोर दरवाजा । साधु मोनसेरेत बहुत समय तक सीकरी मे रहा । वह चार ही दरवाजो का उल्लेख करता है ।

विन्सेण्ट स्मिथ ने सीकरी की इमारतो के बारे मे लिखा है—

"दर्शक उत्तर पूर्व में अवस्थित आगरा दरवाजे से जब भीतर घुसता है, तो वह एक बाजार के ध्वंसावशेष के भीतर से होता हुआ नौबतखाना पहुँच टकसाल और खजाना की इमारत के बीच हो एक चौकोर मैदान में पहुँचता है । इसी के पश्चिम में दीवार-आम है । सडक से और दक्षिण-पश्चिम जाने पर दूसरा मैदान मिलता है, जिसके उत्तर मे ख्वाबगाह (शयनागार) और दक्षिण मे दफ्तरखाना है । फिर सड़क बड़ी मस्जिद से शाही दरवाजे पर पहुँचती है ।

"दीवान-आम के पश्चिम तथा पास मे दीवानखास और अन्त:पुर की इमारतें है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर बडी मस्जिद के पास तक चली गई है । कितनी ही इमारते गिर गई है । लेकिन अब भी अकबर की बनवाई काफी इमारतें मौजूद हैं । शाही दरवाजा (बुलन्द दरवाजा) सीकरी की बहुत विशाल और आकर्षक इमारत है और जैसा कि बतलाया, इसे द्वितीय गुजरात-विजय के उपलक्ष में बनवाया गया था । मुसलमान रहते समय अकबर इसी दरवाजे से नमाज पढने जाता रहा होगा । एक बार उसे स्वयं इमाम बन कर मस्जिद में खुतबा (उपदेश) पढ़ने का शौक चर्राया था । १५८१ में काबुल में रहते वक्त भी इस्लाम का बहुत पाबन्द था । अगले साल १५८२ ई० 'दीनइलाही' की घोषणा के साथ नमाज की जगह वह दिन-रात में चार बार सूर्य-पूजा करने लगा ।

"इसी मस्जिद के भीतर शेख चिश्ती की मजार है । शेख की मृत्यु १५७२ ई० में हुई थी । इसके बाद के वर्षों में यह इमारत बनाई गई । ऊपर का गंधोला संगमरमर नहीं, बल्कि लाल पत्थर का है । जिसके ऊपर सफेद प्लास्तर भी था । इस इमारत में कुछ वृद्धि, जहाँगीर के दूधभाई सलीम-पुत्र कुतुबुद्दीन (मृ० १६०७ ई०) ने की । मजार की बनावट इस्लामिक नहीं बल्कि हिन्दू हैं, जो अकबर की इमारत के लिए स्वाभाविक है । जहाँगीर के कथनानुसार समाधि और सारी मस्जिद के बनाने पर पाँच लाख रूपये खर्च हुए थे । जहाँगीर के कहने से यह भी मालूम होता है कि अकबर ने समाधि लाल पत्थर की बनवाई थी, जिसमें संगमरमर का काम जहाँगीर ने बढ़वाया ।

"सलीम चिश्ती की मजार को छोड सीकरी की सभी इमारतें लाल पत्थर की है, जो आसपास मे बहुतायत से मिलता है । अकबरी इमारतो को रांगमरमर, सीप और दूसरी वस्तुओं से, दीवारों और छतो को सुन्दर चित्रों से अलंकृत किया गया था । ख्वाबगाह और मरियम-महल की दीवारो मे अब भी उसके कुछ चिह्न मिलते है ।" बीरबल महल फतेहपुर सीकरी की इमारतो में एक दुमंजिला, छोटी-सी, पर बहुत ही सुन्दर इमारत है, जिसका निर्माण १५७२ ई० मे हुआ था । इसका निर्माण हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित शैली तथा प्रस्तर-शिल्प कला का उत्कृष्ट नमूना है । छत पठान शैली के गोल गुम्बद की है ।

"दीवान-खास बाहर से देखने पर एक दुमंजिला इमारत मालूम होती है, लेकिन भीतर जाने पर फर्श से छत तक वह एक ही कमरा है । बीच मे बहुत अलंकृत एक चतुष्कोण पाषाण-स्तम्भ है । इसी के ऊपर अवस्थित गद्दी पर बैठकर अकबर राजकाज देखता था । कमरे के चारो कोनो पर चार मन्त्री—खानखाना, बीरबल, अबुलफजल और फैजी—खड़े रहते थे।" विन्सेण्ट स्मिथ सीकरी के बारे में कहता है—"फतेहपुर सीकरी जैसी कोई कृति न उससे पहले निर्मित हुई और न आगे निर्मित की जा सकेगी । यह पाषाणमय अद्‌भुत घटना, अकबर के विचित्र स्वभाव की क्षणिक भावनाओं का साकार रूप है । उसके उस मूड में रहते बिजली की गति से आरम्भ करके इसे पूरा किया गया ।...दुनिया उस तानाशाह के लिए कृतज्ञ होगी जो कि ऐसी प्रेरणादायक बेवकूफी कर सकता था ।"

बंगाल-बिहार विजय (१५६६-८७ ई०)

अकबर को उत्तरी भारत के मुख्य भाग पर अधिकार करने मे बहुत दिक्कत का सामना करना पडा। गुजरात भी दो ही बार सिर उठाकर चुप हो गया। लेकिन बिहार, बंगाल, काबुल और दक्खिन ने उसका बहुत समय लिया। दक्खिन को तो वह पूरी तौर से अपने हाथ में कर भी नहीं सका। उसके बेटे और पोते भी उसी मे उलझे रहे, औरंगजेब के शासन का तो आधा समय इसी के संघर्ष मे बीता और वह वहीं दौलताबाद के पास खुल्दाबाद में १७०७ ई० मे मरा।

१. सुलेमान खाँ से संघर्ष (१५६६ ई०)

बंगाल-बिहार शेरशाह का गढ था। इसी के बल वह दिल्ली पर ध्वजा गाड़ने मे सफल हुआ था। इसे सर करने में अकबर को इक्कीस वर्ष लगे। बंगाल और बिहार सदियों से पठानों का गढ़ चला आया था। उसके साथ वहीं के हिन्दू शस्त्रधारी भी मिल गये थे। सूरीवंश के वस्तुतः शेरशाह और उसका पुत्र सलीमशाह दो ही प्रतापी बादशाह हुए। सलीमशाह के बेटे तथा अपने भांजे के खून से हाथ रंग कर अदली ने सल्तनत की बागडोर सँभाली, पर उसकी ऐयाशी और अत्याचारों से पठान नाराज हो गये। बंगाल मे कर्रानी पठानों का जोर था। उन्हें दबाने के लिए अदली ग्वालियर से बंगाल गया, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। बंगाल के हाकिम ताज खॉ ने सूरियों की अधीनता स्वीकार की थी। सलीमशाह के मरने के बाद अदली का दौर-दौरा होते ही कर्रानी उससे अलग हो गये। इन्हीं का सरदार ताज खॉ था। उसके मरने के बाद उसका स्थान छोटे भाई सुलेमान कर्रानी ने लिया। उसी सल्तनत में वाराणसी के कामरूप (असम) और उडीसा तक का भू-भाग था। उसने अपने नाम के साथ बादशाह नही जोडा, वह हमेशा 'हज़रतआला' (महाप्रभु) लिखवाता था। सुलेमान ने बंगाल के पुराने सुल्तानों की राजधानी गौड पर १५६४ ई० में अधिकार किया। पहले वही राजधानी रहा, लेकिन वह मलेरिया का घर था, इसलिए उससे दक्षिण-पश्चिम गंगा पार टाँडा को उसने अपनी राजधानी बनाया। आजकल टाँडा गंगा के गर्भ में जा चुका हैं। इसलिए वहाँ उस समय की कोई निशानी नहीं मिलती।

सुलेमान ने रोहतास के किले को लेना चाहा जिसमें अब भी बादशाही फौज पड़ी हुई थी। १५६६ ई० में अकबर ने खानजमाँ को भेजा, जौनपुर आदि लेते उसने जमानिया (जिला गाजीपुर) में अपने नाम से शहर बसाया, सुलेमान ने

बादशाही फौज रो लड़ना पसन्द नही किया । अधीनता स्वीकार करते मस्जिदो मे उसने अकबर के नाम का खुतबा पढवाया । खानजमॉ के विद्रोह करने पर सुलेमान ने अकबर का साथ दिया । सुलेमान अपने इस्लाम-प्रेम के लिए भी बहुत मशहूर था । उराके राथ डेढ़ सौ आलिम और सत बराबर रहते थे । भिनसार ही उठकर नमाज पढता, उसके बाद सूर्योदय तक धर्म-चर्चा मे बिताता । हिजरी ९८० (सन् १५७२ ई०) मे सुलेमान मर गया । उसका बड़ा लड़का बायजीद गद्दी पर बैठा । कुछ ही महीनो बाद अफगान रारदारों ने उसे मार कर छोटे लडके दाऊद को गद्दी पर बैठाया । इस समय लोदी खान की चलती थी जिसकी राय रो दाऊद को गद्दी मिली । पर, गूजर खाँ अपने को बड़ा रामझता था । उसने बिहार मे बायजीद के बेटे को गद्दी पर बिठा दिया । लोदी ने समझा-बुझाकर झगड़े को आगे बढने नही दिया । दाऊद अकबर के अधीन रहने के लिए तैयार नही था । उसने बादशाह की उपाधि धारण की, अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और दाऊदी सिक्के जारी किये । उसके बाप और चचा का अफगानो से भाई-चारे का रिश्ता था । दाऊद उनके साथ नौकरों जैसा बर्ताव करने लगा ।

२. दाऊद खाँ का विद्रोह (१५७२ ई०)

दाऊद को अपनी शक्ति का बड़ा घमण्ड था । उसके पास ४० हजार सवार थे, एक लाख चालीस हजार पैदल सेना थी, तरह-तरह की बीस हजार बन्दूकें और तोपें, ३६०० हाथी और कई सौ युद्ध-पोत थे । वह जानता था, अकबर उसके व्यवहार को क्षमा नही कर सकता, इसलिए अकबर के आने से पहले ही उसने खानजमाँ के बनाये जमानिया[1] के किले पर अधिकार कर लिया।

खबर पाने पर अकबर ने मुनअम खाँ खानखाना को जौनपुर के सिपहसालार से मिल कर आगे बढ़ने का हुकुम दिया । मुनअम एक बड़ी सेना लेकर पटना पहुँचा । लोदी खाँ—दाऊद के वजीर ने—उसका मुकाबला किया । बूढ़े मुनअम खाँ में अब जवानी का जोश नहीं था । मामूली संघर्ष के बाद उसने नरम शर्तों के साथ दाऊद से सुलह कर ली । अकबर ने इसे पसन्द नहीं किया और अपने 'सर्वश्रेष्ठ जेनरल' राजा टोडरमल को बिहार की सेना का कमाण्डर बनाकर भेजा । वित्तमंत्री का काम कुछ समय के लिए राय रामदास के ऊपर छोड़ टोडरमल बिहार की ओर बढ़े । यद्यपि दाऊद खाँ को गद्दी पर बैठाने मे लोदी खाँ का बड़ा हाथ था, पर उसे बूढ़े से बहुत डर लगा रहता था, इसलिए उसने धोखे से मरवा दिया; अकबरी सेना का पिण्ड एक जबर्दस्त शत्रु से अनायास ही छूट

१. जमानिया को खानजमाँ अलीकुल्ली खाँ शैबानी ने बसाया था, पर लाल बुझक्कड़ उसे यमदग्नि ऋषि के साथ जोड़कर सतयुग में ले जाना चाहते हैं ।

गया। अकबर की फटकार खाकर बूढ़े मुनअम खाँ ने लौट कर पटना का मुहासिरा किया। सफलता न देखकर अकबर को आने के लिए लिखा। वह वार्षिक जियारत करके अभी-अभी अजमेर से लौटा था। २२ अक्टूबर, १५७३ को पुत्रों का खतना फतेहपुर सीकरी में हुआ। सलीम उस समय चार वर्ष से थोड़ा ही बड़ा था। फैजी कुछ वर्ष पहले (१५६७ ई०) दरबार में पहुँच कर कविराज (मलकुश्शोअरा) बन चुका था। १५७४ ई० के आरम्भ में छोटा भाई अबुलफजल भी दरबार मे आ चुका था। इसी समय इतिहासकार मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी भी दरबार में आया।

मुनअम खाँ का सन्देश मिलते ही १५ जून, १५७६ को अकबर जमुना के द्वारा एक बड़ी सेना लेकर चला। बादशाह के लिए दो बड़े-बड़े बजड़े थे। नावों को खूब सजाया गया था। उन पर बाग लगा दिया गया था। दो-दो हाथियों के साथ ही विशाल हाथी भी नाव पर जा रहे थे। सेनापतियों मे राजा भगवानदास, कुँवर मानसिंह, राजा बीरबल, शाह बाज खान और नौ-सेनापति (मीरबहर) कासिम भी थे। बरसात की नदी मे नावो के लिए खतरा भी था। पर, बड़ी-बड़ी नावों के लिए इसी समय नदी में पर्याप्त पानी भी होता था। रास्ते में कई नावें रह गईं; ग्यारह को इलाहाबाद मे भी छोड़ना पड़ा। २६ दिन की नदी-यात्रा के बाद वाराणसी (बनारस) पहुँच कर अकबर तीन दिन वहाँ ठहरा। फिर गोमती और गंगा के संगम के आगे सैदपुर में लंगर डाला। यहीं स्थल-मार्ग से आने वाली सेना भी आ मिली। बरसात सैनिक अभियान का समय नहीं हैं। दशहरे के बाद ही हमारे यहाँ अभियान किये जाते थे। लेकिन अकबर ऐसी रूढ़ि को मानने वाला नहीं था। पहले ही से योजना बन चुकी थी। सैदपुर के आगे अब लड़ाई का मैदान आने वाला था, इसलिए अकबर ने बच्चों-बेगमों को जौनपुर भेज दिया। मुनअम खाँ को सन्देश भेजा : मैं तुरन्त पहुँच रहा हूँ। सैदपुर से चलकर प्रसिद्ध चौसाघाट पर पहुँचा। वह चौसा, जहाँ १५३६ ई० में हुमायूँ ने शेरशाह से हार खाकर तख्त को खोया था। सेना नाव से उतर गंगा के दक्षिणी किनारे पर से चली। यहीं अकबर को शुभ समाचार मिला कि सिन्ध का प्रसिद्ध किला भक्कर (सक्खर और रोड़ी के बीच सिन्ध के एक पहाड़ी द्वीप के ऊपर) सर हो गया। अकबर नाव द्वारा ही चलकर ३ अगस्त, १५७४ को पटना के पास जाकर उतर गया। सैनिक परिषद् बैठी। पता लगा, पटना को अधिकांश रसद गंगा पार हाजीपुर से मिल रही हैं। पहले हाजीपुर पर अधिकार करना आवश्यक समझा गया। वर्षा के कारण यहाँ गंगा, सोन, गण्डक सभी नदियाँ बढ़ी हुई थीं। गंगा का घाट तो कई मील का था। हाजीपुर पर अधिकार करने में दिक्कत हुई, लेकिन वह सर

हो गया। पठान सरदारों के सिरों को नावो में रखकर अकबर के सामने ले गये। उसने उन्हें दाऊद के पास भेज दिया।

उसी दिन कुम्हराड से दक्षिण-पूर्व प्राय: एक मील पर अवस्थित पंजपहाड़ी के ऊपर चढ़कर अकबर ने चारों ओर देखा। पंजपहाड़ी पहाड़ी नहीं मौर्यकाल के स्तूपों के अवशेष हैं जो छोटी-मोटी पहाड़ी-से मालूम होते है। दाऊद के पास अब भी २० हजार सवार, बहुत से जंगी हाथी, तोपे और दूसरे युद्ध-साधन थे, लेकिन उसे अगम अँधेरा मालूम होने लगा और रात को ही वह पटना छोड़कर बंगाल की ओर भाग गया। अकबर उसी रात पटना में दाखिल होना चाहता था, लेकिन उसे समझा-बुझाकर सबेरे तक के लिए रोका गया। सबेरे दिल्ली दरवाजे से वह शहर मे प्रविष्ट हुआ। तीस कोस (प्राय: ६०) मील तक दुश्मन का पीछा किया गया। २६५ हाथी और अपार सम्पत्ति हाथ आई; लेकिन दाऊद हाथ से निकल गया। पीछा करने में जल्दी करने की जरूरत नहीं, इसे अकबर ने नही माना और मुनअम खाँ को बंगाल का सूबेदार (सिपहसालार) नियुक्त करके २० हजार सेना के साथ दाऊद के पीछे जाने का हुकुम दिया। टोडरमल बूढ़े की सहायता के लिए भेजे गये। जौनपुर, वाराणसी, चुनार और कितने ही दूसरे इलाके सीधे शाही प्रबन्ध (खालसा) में कर लिए गए। अकबर लौट पडा। सितम्बर के अन्त में खानपुर (जिला जौनपुर) में पड़ाव पड़ा था। यहीं उसे मुनअम खाँ की सफलता की खबर मिली। सात महीने के जबर्दस्त अभियान के बाद १८ जनवरी, १५७५ को अकबर सीकरी लौटा।

टोडरमल और मुनअम खाँ ने गौड़ के सामने गंगा के दाहिने किनारे टाँडा में छावनी डाली। वहाँ से वह पठानों के ऊपर सेना भेजते थे। पठान एक जगह जम कर लड़ते नहीं थे। पर, इससे वह अपने मजबूत किलों को बचा नहीं सके। पहले सूरजगढ़ (मुँगेर जिला) पर अधिकार हुआ। फिर मुँगेर, भागलपुर और कहलगाँव भी मुगल सेना के हाथ में आ गए। खबर पा मुनअम खाँ टाँडा से चला। पठान सेनापति गूजर खाँ से टुकरोई[१] (जिला बालासोर) में जबर्दस्त मुकाबला हुआ। उसने हाथियों के सिरों पर चौंरी गाय की पूछें, चीलो-शेरों, पहाड़ी बकरों के चेहरे और सींग-सहित खाल बाँध दी थी। तुर्कों के घोड़े देखकर बिदके, पीछे हटे। गूजर खाँ बड़े जोर से मुगल सेना-पंक्ति के गर्भ पर टूट पड़ा। कितने ही अमीरों के साथ खुद मुनअम यहीं खड़ा था। गूजर की उसी से मुठभेड़ हो गई। खानखाना की कमर में तलवार भी नहीं थी। इतना बड़ा सेनापति भला अपनी तलवार कैसे ढो सकता था। सिर्फ

१. मेदिनीपुर और जलेश्वर के बीच।

कोड़ा हाथ मे था । कोडे से क्या लडता सिर, गर्दन और बॉहों पर कई भारी घाव लगे । सिर का घाव अच्छा हो गया, लेकिन उसके कारण ऑखों की रोशनी खराब हो गई । गर्दन का घाव भरा, पर सिर मुड़ नही सकता था । कन्धे के जख्म के मारे हाथ निकम्मा हो गया, वह उसे सिर तक उठा नहीं सकता था । तो भी बूढ़ा पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ । उसके साथी अमीर भी जख्मी हुए । इसी समय दुश्मन के हाथी आ गए । खानखाना का घोडा बिदकने लगा। नौकरो ने बाग पकड़ कर जबर्दस्ती पीछे खींचा । बेचारा बूढ़ा सफेद दाढी मे कालिख लगने देना नहीं चाहता था । पर मजबूरी थी । घोडा दौड़ाये चार कोस तक चला गया । अफगान भी पीछा करते चले आये । तम्बू और रसद-पानी सब लुट गया । इसी समय मुगल सेना लौट पड़ी । पठान बिखरे हुए थे, मुकाबला कैसे करते ? गूजर खॉं लोगों को बढ़ावा दे रहा था । इसी समय एक तीर लगा और वह घोडे पर से गिर पड़ा । सेनापति को न देखकर पठानों में भगदड़ मच गई ।

उस दिन शाही फौज को जबर्दस्त हार खानी पड़ी होती, लेकिन पॉंति के दाहिनी ओर टोडरमल अपनी सेना के साथ चट्टान की तरह खड़ा था । जेनरल शाहम खॉं (जलायर) बाये पार्श्व पर डटा हुआ था । दाऊद ने पासा पलटते देखकर स्वयं टोडरमल के पक्ष पर आक्रमण किया । पर, टोडरमल ने उसे आगे बढ़ने का मौका नहीं दिया । गूजर खॉं के मरने की खबर पा दाऊद की हिम्मत टूट गई । वह कटक वाराणसी की ओर भागा । फारसी इतिहासकार सिन्ध के किनारे अवस्थित अटक को अटक वाराणसी कहते हैं और उड़ीसा के कटक को कटक वाराणसी ।

टोडरमल दाऊद खॉं के पीछे-पीछे थे । कटक में पहुँचकर दाऊद ने किले को मजबूत करना शुरू किया और निश्चय कर लिया कि यहाँ जम कर लड़ना है । मुकाबले के लिए शाही सेनापति तैयार नही थे । भूमि अस्वास्थ्यकर थी । बीमारी फैल गई थी । टोडरमल ने बहुत प्रोत्साहित किया, लेकिन कोई असर नहीं हुआ । खानखाना को लिखा —— काम बन चुका है, बेहिम्मती के कारण वह पूरा नहीं हो रहा हैं । खानखाना के घाव अभी अच्छे नहीं हुए थे, तब भी वह सवारी पर चढ़कर वहाँ पहुँचा । दाऊद ने पैंतरा बदला और सुलह की बातचीत शुरू की । टोडरमल बिल्कुल खिलाफ थे, लेकिन दूसरे जेनरल पिण्ड छुड़ाना चाहते थे । इसी समय घोड़ाघाट में शाही सेना ने अफगानों को जबर्दस्त हार दी । दाऊद और ढीला पड़ा । खानखाना ने टोडरमल के विरोध की कोई परवाह न कर सुलह कर ली ।

विजय के उपलक्ष्य मे भारी जलसा किया गया । दाऊद स्वय अधीनता स्वीकार करने के लिए आया । उसने कमर से तलवार खोलकर खानखाना के सामने धरकर कहा—"चूँ ब-मिरलेशुमा अजीजॉ जख्मे व आजारे रसाद्, मन् अज-सिपाहगरी बेजार'म् । हाला दाखिल दुआगोयानेदरगाह शुदम् ।" (आप जैसे अजीजो को घाव और कष्ट होता है, इसलिए मै सिपाहगरी से बेजार हूँ । अब (अकबरी) दरगाह के दुआ करने वालों मे शामिल हो गया हूँ ।) खानखाना ने तलवार उठाकर अपने नौकर को दे दी और हाथ पकड़ दाऊद को अपने पास तकिये के पास बैठा लिया । कुशल-प्रश्न और बातचीत के बाद दस्तरखान पर तरह-तरह के खाने, रंग-रंग के शर्बत, स्वादिष्ट मिठाइयाँ चिनी गईं । खानखाना अपने हाथ से मेवो की तश्तरियॉ और मुरब्बों की प्यालियाँ दाऊद के सामने बढ़ाता था । नूरचश्म (नेत्र-प्रकाश) बाबाजान (प्रिय बेटा), फरजन्द कहकर बातें करता था । दस्तरखान उठा, पान दिया गया । मीरमुंशी कलमदान लेकर हाजिर हुआ । अहदनामा (सन्धिपत्र) लिखा गया । खानखाना ने बेशकीमत खलअत, जडाऊ कब्जे वाली तलवार तथा बहुमूल्य मोती-जवाहर बादशाह की ओर से दाऊद को प्रदान किये । इसके बाद कहा—"हाला मा कमरे-शुमा ब-नौकरी बादशाह मी-बंदीम् ।" (अब हम तुम्हारी कमर को बादशाह की नौकरी से बॉधते हैं ।) कमर बाँधने के लिए तलवार पेश करने पर दाऊद आगरा की ओर मुँह करके झुक-झुककर तस्लीम और आदाब बजा लाया । लेकिन इस जलसे का टोडरमल ने पूरा बायकाट किया और सुलहनामे पर भी अपनी मुहर नहीं लगाई ।

ठीक बरसात के दिनों मे ही खानखाना ने टाँडा को छोड़ गौड़ घोड़ाघाट के केन्द्रीय स्थान में शाही छावनी कायम करके अफगानों पर रोब डालना चाहा । गौड़ की आबोहवा बहुत खराब थी । अमीरों ने बहुत समझाया, लेकिन मुनअम खॉ ने न मान गौड़ को फिर से आबाद करना चाहा । गौड़ तो आबाद नहीं हुआ, हाँ गोर (कब्र) जरूर बहुत आबाद हुई । युद्ध मे बच निकले सेनप और सिपाही बीमारी से बिस्तरे पर पड़े-पड़े मरने लगे । हजारों आदमी आये, लेकिन मुश्किल से कुछ सौ जीते जी घर लौट पाये । कब्र खोदने की भी ताकत नही रह गई थी । वह मुर्दों को गंगा में बहा देते थे । खानखाना को बराबर सूचना मिल रही थी, लेकिन वह जिद्द पकड़े हुए था । संयोग ऐसा हुआ कि वही एक आदमी था, जो बिल्कुल बीमार नहीं हुआ । इसी समय पता लगा, जुनेद खाँ पठान ने बिहार में विद्रोह कर दिया हैं । लोगों के लिए बिल्ली के भागों छींका टूटा । वह गंगा पार हो टाँडा आया । टाँडा गौड़ से अधिक स्वास्थ्यकर था, पर वह यहाँ बीमार पड़ा और ग्यारहवे दिन ८० वर्ष की उमर में हिजरी ९८२ (सन् १५७४-७५ ई०) में बूढ़ा

चल बसा, खानखाना के कोई वारिस नही था, इसलिए वर्षों की जोडी माया सरकारी खजाने मे दाखिल हुई ।

३. दाऊद खाँ का दमन (१५७६ ई०)

३ मार्च, १५७५ टुकरोई की लडाई ने दाऊद खॉ की कमर तोड दी थी । टोडरमल की सलाह बिल्कुल ठीक थी । पर बूढे सिपहसालार ने दाऊद खॉ को पुन जीवन-दान दिया । मुजफ्फर खॉ को बिहार का सूबेदार बनाकर विद्रोह दबाने के लिए भेजा गया । उसने हाजीपुर को अपना केन्द्र बनाया । चौसा से तेलियागढी (राजमहल) तक के विशाल प्रदेश का शासन मुजफ्फर खॉ के हाथ मे जाना मुनअम को पसन्द नही आया । दोनो सिपहसालारो के वैमनस्य से शाही सेना की शक्ति कमजोर हुई । मुनअम खाँ ने गौड को इस ख्याल से भी अपना हेडक्वार्टर बनाना पसन्द किया था, क्योंकि घोड़ाघाट इलाके (जिला दीनाजपुर) मे उस समय विद्रोह फैला हुआ था, गौड़ से वह उसका दमन कर सकता था । मुनअम खॉ की मृत्यु और आपसी झगडे से फायदा उठा दाऊद ने सधि की शर्तें तोड़ दी और बंगाल के द्वार तेलियागढ़ी तक सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया । अकबर को सूचना मिली । उसने खानजहॉ हुसेन कुल्ली खाँ (हेमू को कैद करने वाले पंजाब के सिपहसालार) को मुनअम खाँ का उत्तराधिकारी नियुक्त किया । खानजहॉ बदख्शां-विजय की तैयारी कर रहा था । खानजहॉ की मदद के लिए टोडरमल भी आये । दोनो ने भागलपुर में पहुँचकर लौटते शाही सैनिको को रोका । फिर आगे बढ़ दाऊद को करारी हार देकर तेलियागढी पर अधिकार किया । खानजहाँ ने आकमहल में अपना डेरा डाला, जो पीछे (और अब भी) राजमहल के नाम से प्रसिद्ध हैं । मुजफ्फर खाँ ने भी सहायता की । अकबर ने समझ लिया, मुझे खुद जाना चाहिए । ऐन वर्षा के दिनो में २२ जुलाई, १५७६ को वह सीकरी से प्रस्थान कर बिराड़ गॉव में पहुँचा । यहीं सैयद अब्दुल्ला खाँ ने बंगाल-विजय की खबर दी और दाऊद का सिर ऑगन में पटक दिया । यह युद्ध १२ जुलाई को हुआ था । राजमहल से बिराड ग्यारह दिन में वह पहुँचा था । अकबर को आगे जाने की जरूरत नहीं थी ।

१२ जुलाई के राजमहल के निर्णायक युद्ध के बारे में कहा जाता है, मुजफ्फर खाँ बिहार से पाँच हजार सवारों के साथ आकर १० जुलाई को खानजहाँ से मिला । दोनों ने तुरन्त दाऊद पर हमला करने का निश्चय किया । सेना-पंक्ति के मध्य-भाग का कमांडर खानजहाँ था । उसके सामने दाऊद स्वयं सेना लेकर खड़ा था । मुजफ्फर खाँ की सेना के सामने दाऊद का चचा जुनैद था । बाम पार्श्व में अवस्थित टोड़रमल की सेना का मुकाबला करने के लिए दाऊद का

सर्वश्रेष्ठ सेनापति हिन्दू से कट्टर मुसलमान बना कालापहाड था । १२ जुलाई बृहस्पति था, जिस दिन राजमहल (आकमहाल) के पास यह घमासान लड़ाई हुई । टोडरमल हमेशा पहले रहते थे । उन्होने कालापहाड़ पर आक्रमण किया । जुनैद पिछली शाम को तोप के गोले से घायल हो उसी दिन मर गया । कालापहाड़ घायल होकर भागा, दाऊद का घोडा फँस गया । उसे बन्दी बनाया गया । बदायूँनी ने दाऊद के अन्त के बारे मे लिखा है—

"प्यास से परेशान दाऊद ने पानी माँगा । उसके जूते मे पानी भरकर सामने लाया गया । कैदी ने उसे पीने से इन्कार किया । खानजहाँ ने अपनी सुराही से पानी दिया, जिसे उसने पिया । खानजहाँ ऐसे सुन्दर नौजवान को मारना नही चाहता था, लेकिन जेनरलो ने मजबूर किया, क्योकि उसको जीता रखने पर उनकी राजभक्ति पर सन्देह किया जा सकता था । खानजहाँ ने सिर काटने का हुकुम दिया । दो प्रहार से काम नहीं बना, तीसरे प्रहार में सिर को धड से अलग कर दिया गया । फिर उसमें भुस भर कर सुगन्ध लगा सैयद अब्दुल्ला खाँ के हाथ देकर बादशाह के पास भेजा ।"

दाऊद का बे-सिर का शरीर टाँडा मे दबा दिया गया । इस प्रकार प्रायः २३५ वर्षों (१३४०-१५७६ ई०) के बाद बंगाल का स्वतंत्र राज्य समाप्त हुआ, जिसके अन्तिम शासक पठान थे । सारे समय एक शासक नहीं रहा । अधिक समय तक जगह-जगह पठान सरदार अलग-अलग शासन करते रहे । कभी-कभी सुलेमान या दाऊद जैसा कोई अधिक शक्तिशाली व्यक्ति पैदा होता, जिसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए सारे पठान-सरदार मजबूर होते । पठान शासको ने बिहार-बंगाल में बहुत-सी मस्जिदें और दूसरी इमारतें बनवाईं, जो उनकी यादगार के तौर पर अब भी मौजूद है ।

४. राणा प्रताप से संघर्ष (१५७६ ई०)

उदयसिंह के समय चित्तौड़ हाथ से निकल गया । उसके बाद फिर वह मुगल सल्तनत के छिन्न-भिन्न होने के बाद ही राणा के हाथ में आया । उदयसिंह को राणा प्रताप जैसा सुयोग्य पुत्र मिला, जो १५७२ ई० मे सीसोदियों की गद्दी पर बैठा । पूर्वजों की वीरता के पँवाड़े और सम्मान को छोड़कर उसे और क्या मिला ? अकबर राजपूतों के साथ भाई-चारा चाहता था, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर का दिखाया रास्ता सभी स्वीकार करें । पर मेवाड़ न डोला देने के लिए तैयार था और न नाम के लिए भी अधीनता स्वीकार करने के लिए । अकबर ने चित्तौड़-विजय के समय वीर राजपूतों के लोहे को देख लिया था । वह और भी नरम शर्तों के साथ सीसोदियों से मेल करता; पर राणा साँगा के उत्तराधिकारी एक ही रास्ता जानते थे—म्लेच्छ के साथ हमारा किसी तरह मेल नहीं हो सकता । अकबर

म्लेच्छ था। आमेर और दूसरों ने अपनी लडकियों को देकर अपना धर्म छोड़ा। प्रताप ऐसा नही कर सकता। धीरे-धीरे राजस्थान के प्राय. सारे ही राजाओं ने मुगलों को लड़कियाँ दीं। अकबर को दोतरफा राम्बन्ध अभीष्ट था। वह चाहता था, राजपूत राजकुमारियाँ अपने धर्म के साथ मुगल-महल मे रहें। धर्म व्यक्तिगत चीज हो, जाति के तौर पर हम सब एक बन जाएँ। १६वीं सदी के उत्तरार्ध में हिन्दुओं के लिए यह बहुत कडवा घूँट था। यदि इस कड़वे घूँट को उस समय हमारे देश ने पी लिया होता, तो सम्भव है, हमारा इतिहास ही दूसरा होता। जिन राजपूतो ने अपनी लडकियाँ मुगल शाहजादों को दीं, उन्होने भी उराकी अजब व्याख्या कर डाली—"हमने दूषित अँगुली को ही अपने शरीर से काट फेका। हमारा खून मुगलो में भले ही गया, लेकिन मुगलों का खून हमारे शरीर मे नहीं आने पाया।" इसी व्याख्या के कारण मुगलो को डोला देने वाले राजवंशो की भी रोटी-बेटी सीसोदिया के साथ चलती रही।

प्रताप की वीरता और त्याग इतिहास के पन्नों में सोने से लिखा गया है। पर हमारे देश का कल्याण अगल-अलग राजवशो में बँटने रो नहीं था। सारे देश को एकछत्र करने मे इन वंशो का उच्छेद आवश्यक था, जैरा कि १६४८ मे हुआ। हमें यह भूलना नहीं चाहिये कि प्रताप एक तरफ अपने कुल और धर्म की आन पर मर-मिटने वाला वीर था, तो दूसरी तरफ वह उरा भावना का प्रतीक था, जो देश को सैकड़ों टुकड़ों मे बाँटने के लिए तैयार थी। प्रायः चौथाई शताब्दी (१५७२-६७ ई०) तक प्रताप ने अकबर की जबर्दस्त शक्ति का मुकाबला किया। अकबर को राज्य के किरी-न-किसी कोने मे उलझे रहना पडता था। उरा समय प्रताप अपने बहादुर योद्धाओं के साथ अड़ावला की घाटियों से निकल कर मुगल शासित भूमि तक आक्रमण करता। जब दुश्मन की अधिक सेना आती देखता, तो अडावला की पहाड़ियों और उसके जंगलो की शरण लेता। मारे-मारे फिरते प्रताप और उसके बच्चे जंगल के कन्दमूल पर गुजारा करते। प्रताप अडिग रहा। कुम्भलनेर, गोगुंडा आदि पहाड़ी किलों को उसने मजबूत किया। इन संघर्षों के कारण बनास और बेरिस की उर्वर-उपत्यकाएँ बेचिरागी हो गईं। प्रताप का राज्य उरा समय नई राजधानी (उदयपुर) के पश्चिम कुम्भलनेर से रिकमनाथ तक प्रायः ८० मील लम्बा और मीरपुर से सितौला तक उतना ही चौड़ा रह गया था। मानसिंह ने प्रताप को समझाने की कोशिश की। प्रताप ने अछूत की तरह उसके सामने थाली रखवाई और स्वयं साथ बैठने की जगह अपमानजनक शब्द कहे। मानसिंह ने थाली से दो दाने उठाकर अपनी पगड़ी में रखे और मेवाड़-उच्छेद की प्रतिज्ञा के साथ

चल दिया । १५७६ ई० के अभियान द्वारा अकबर प्रताप को मार और मेवाड़ को अपनी सल्तनत मे मिला लेना चाहता था ।

हल्दीघाटी (१५७६ ई०)—अकबर बंगाल मे पठानो की शक्ति खतम करने मे करीब-करीब सफल हो चुका था । अब उसका ध्यान प्रताप की ओर गया । सलीम की शोभा बढाते मानसिह के नेतृत्व मे मॉडलगढ (बूँदी और चित्तौड के बीच) मे एक विशाल सेना जमा हुई । शाही सेना का लक्ष्य मॉडलगढ से सौ मील पर अवस्थित गोगुंडा (दक्षिण अडावला) का जबर्दस्त पहाडी दुर्ग था । हल्दीघाटी की लडाई से तीन साल पहले हिजरी ६८१ (१५७३-७४ ई०) मे ख्वाजा गयासुद्दीन कजवीनी को आसफ खॉ की उपाधि मिली थी । रानी दुर्गावती का विजेता अब्दुल अजीज आसफ खॉ से भिन्न यह दूसरा जेनरल था । गोगुडा जाने के लिए उससे १३-१४ मील पर हल्दीघाटी (हल्दीडॉडा) पार करनी पडती थी । राणा ने तीन हजार सवारो के साथ इसी घाटी मे शाही सेना से मुकाबला करने का निश्चय किया । टॉड के शब्दो मे—"इसी घाटी में मेवाड के वह फूल तैयार थे, जिन्हे एक स्मरणीय संघर्ष करना था । एक कुल के बाद दूसरा कुल अपनी सारी शक्ति लगाकर अपने राणा की वीरता का अनुकरण करने के लिए होड़ लगा रहा था । सबसे घमासान होती लड़ाई के बीच प्रताप के साथ लाल झण्डा फहरा रहा था ।. .लेकिन यह दुर्दम्य वीरता अकबर की अनेक तोपो और अनगिनत सेना के सामने बेकार थी । २२ हजार राजपूत उस दिन हल्दीघाटी की रक्षा के लिए जमा हुए थे, जिनमें सिर्फ आठ हजार जीवित युद्ध क्षेत्र से बाहर निकले ।"

जनवरी के महीने में घाट के मुँह पर खमनौर गाँव के पास यह संग्राम हुआ । काफिरो से लडकर गाजी बनने की लालसा से इतिहासकार बदायूँनी खासतौर से इस युद्ध मे शामिल हुआ था, जिसने हल्दीघाटी की लडाई का ऑखोदेखा वर्णन किया है । उस दिन देह जला देने वाली धूप और गरम लू चल रही थी, जिससे आदमी की खोपडी पिघल रही थी । बदायूँनी अपने सरदार आसफ खॉ से पूछ बैठा—"इस घमासान लड़ाई मे शत्रु और मित्र राजपूतो मे आप कैसे फर्क कर सकते है ?" आसफ खाँ ने जवाब दिया—"जिधर के भी राजपूत मरें, इससे इस्लाम को लाभ ही है ।" बदायूँनी ने बहुत खुशी प्रकट करते हुए लिखा, चित्तौड़ के वीर जयमल का पुत्र मर कर दोजख में गया । मुगलों की ओर डेढ सौ मुसलमान और कितने ही हिन्दू मारे गये । मालूम होने लगा था, शायद अकबरी सेना को भारी हानि उठानी पड़ेगी । इसी समय प्रताप घायल हो गया । राणा का स्वामी-भक्त घोड़ा चेतक अपने स्वामी को लेकर बाहर भागा । स्वयं मर गया, पर चेतक ने प्रताप को बचा लिया । मुगल सेना में दम नहीं था कि भागते शत्रु का पीछा करती । इसके लिए अकबर मानसिंह पर कुछ नाराज भी हुआ । राणा का मशहूर हाथी बदायूँनी को सीकरी ले जाने के लिए सौंपा गया, इसे हम पहले बतला चुके है ।

प्रताप और भी दूर चौड मे हटने के लिए मजबूर हुआ । लेकिन पीछे अपने जीवन में ही उसने चित्तौड़, अजमेर और माँडलगढ़ को छोडकर सारे मेवाड को अपने अधिकार मे कर लिया और पश्चिमोत्तर सीमान्त की रक्षा के लिए १३ वर्ष तक पंजाब में रुका अकबर कुछ नहीं कर सका । प्रताप ने १५६७ ई० मे. एक परम यशस्वी वीर के तौर पर अपने शरीर को छोड़ा । अपने उत्तराधिकारी पुत्र अमरसिंह को उसने यही वसीयत की कि सीसोदियों के झण्डे को नीचे न गिरने देना । मुगल इतिहासकार प्रताप की वीरता को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे, पर, विन्सेण्ट स्मिथ के शब्दों मे—"वे नर-नारी भी स्मरण करने के योग्य है; बल्कि पराजित विजेता से भी महान् हैं ।"

५. बंगाल-बिहार में फिर विद्रोह (१५७४ ई०)

बंगाल-सिपहसालार दिसम्बर १५७८ मे मरा । उसकी जगह मुजफ्फर खाँ तुर्बती को मार्च १५७६ मे सिपहसालार नियुक्त किया गया । तुर्बत (तुर्बते हैदरी) खुरासान में एक शहर है । मुजफ्फर खाँ वहीं का रहने वाला था और हुमायूँ के साथ भारत आया था । सिपहसालार की सहायता के लिए दीवान भूकर-सचिव बख्शी (सैनिक वेतन अधिकारी), सदर (धर्मादा विभाग-अध्यक्ष) आदि पदों पर दूसरे आदमी नियुक्त किये गये । उन्हें हुकुम हुआ, घोड़ों पर दाग लगाने के कानून की मजबूती से पाबन्दी की जाये और बिना आज्ञा के कब्जा की हुई जमीन को छीन कर खालसा कर लिया जाये । इस कड़ाई से बंगाल-बिहार के मुसलमान अमीर संतुष्ट नहीं हो सकते थे । आखिर उनकी जेब पर हाथ डाला जा रहा था । पूर्वी सूबों में काम करने वाले सैनिकों को जो विशेष भत्ता मिलता था, उसमें भी काट-छाँट की गई । अकबर ने आज्ञा दी, बंगाल में रहने वाले सैनिकों का वेतन दूना किया जाये और बिहार में काम करने वालों का ड्योढ़ा । ख्वाजा शाह मंसूर इस समय अकबर का वित्त-मंत्री था । उसने इस वृद्धि में क्रमशः पचास और बीस सैकडे की कमी कर दी और हुकुम दिया कि जो अधिक रुपया मिल चुका है, उसे लौटाया जाये । इसके साथ ही अकबर की धार्मिक उदारता से भी बंगाल-बिहार के मुसलमान सैनिक असन्तुष्ट थे । अभी वह सहिष्णुता (सुलहकुल) की नीति ही बरत रहा था, उसने न दीन-इलाही की घोषणा की थी और न इस्लाम के खिलाफ कोई कदम उठाया था । पर, मुल्लों की मिट्टी पलीत तो सीकरी में हो ही रही थी । इस्लाम के पक्षपाती अब अकबर के सौतेले-भाई काबुल के शासक मिर्जा मुहम्मद हकीम की ओर नजर दौड़ा रहे थे । अकबर की धार्मिक उदारता से यह लोग कितने असंतुष्ट थे, यह इसी से मालूम होगा कि १५८० ई० के आरम्भ में अकबर के साथ कभी घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले मुल्ला मुहम्मद यज्दी ने जौनपुर के काजी के तौर पर फतवा दिया कि ऐसे बादशाह के खिलाफ विद्रोह करना जायज है ।

सबका प्रभाव यही हुआ कि जनवरी १५८० में वजीर जमील, बाबाखान काकशाल आदि बंगाल के अमीरों ने खुला विद्रोह कर दिया। मुजफ्फर खाँ को बुरा लग रहा था कि बादशाह द्वारा नियुक्त दीवान, बख्शी उसकी स्वच्छन्दता में रुकावट डाले।

अकबर को फरवरी १५८० में विद्रोह का पूरा पता लगा। उसने टोडरमल और दूसरे जेनरलों को विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। कुछ रियायत करने के लिए भी कहा, जिसका कोई परिणाम नहीं हुआ। पटना के जागीरदार मासूम खाँ काबुली ने विद्रोहियों का साथ दिया। मासूम खाँ—जिसे अकबर ने आसी (अपराधी) की उपाधि दी थी—मिर्जा मुहम्मद हकीम से लिखा-पढ़ी कर रहा था। काबुल से उसका सम्बन्ध विद्रोहियों के लिए बड़े महत्व की बात थी। शुरू में विद्रोहियों का पल्ला भारी रहा। मुजफ्फर खाँ बिहार को आरक्षित समझ कर टाँडा चला गया। अप्रैल १५८० में विद्रोहियो ने उसे पकड़ कर बड़ी साँसत के साथ मारा। सारा बादशाही खजाना उनके हाथ मे चल गया। इस समय पश्चिमोत्तर (काबुल की तरफ) से जबर्दस्त खतरा था, इसलिए अकबर स्वयं बंगाल की तरफ नहीं जा सकता था। यज्दी जैसे मुल्लों के प्रचार से असन्तुष्ट सभी मुसलमान सैनिकों और अमीरो ने सल्तनत के खिलाफ भयंकर तूफान खड़ा कर दिया। अकबर ने ठीक ही समझा था—पश्चिमोत्तर के खतरे के सफल होने पर दिल्ली-आगरा हाथ से निकल जायेगा, जिसे फिर से लेने में भारी कठिनाइयाँ होगी। इसके विरुद्ध यदि काबुल की ओर के खतरे को दबा दिया गया, तो पूर्व के विद्रोह को दबाने में दिक्कत नहीं होगी। उसने अपना सारा ध्यान पंजाब और काबुल की ओर लगाया।

लेकिन, उसे पूर्व के लिए (टोडरमल जैसे) कुशल सेनानायक मिले थे। मुँगेर के किले मे टोडरमल चार महीने के लिए घिर गये, लेकिन इतनी अच्छी तरह प्रबन्ध किया कि घेरने वालों को स्वयं मुँगेर से हटना पड़ा। टोडरमल ने बंगाल के द्वार तेलियाघाट पर फिर से अधिकार करके विद्रोहियों को जबर्दस्त हार दी। अकबर ने अपने प्यारे दूध-भाई मिर्जा अजीज कोका को बंगाल का सिपहसालार नियुक्त किया था। यह बड़ा ही घमण्डी और स्वेच्छाचारी थी, जिसके कारण काफी समय से वह उपेक्षित था। अकबर ने पाँचहजारी मन्सब और खानेआजम की उपाधि देकर उसे यह काम सौंपा। शाहबाज खाँ को राजपूताने की मुहिम से बुलाकर कोका की मदद के लिए भेजा। वित्त-मंत्री शाह मंसूर कानूनों की कड़ाई करने के कारण बदनाम हो गया था, इसलिए उसे हटा कर वजीर खाँ (गुजरात के गवर्नर आसफ खाँ के भाई) को वित्त-मंत्री नियुक्त किया गया। शाहबाज खाँ ने विद्रोहियों को जनवरी १५८१ में सुल्तानपुर बेलहरी में (अयोध्या से २५ कोस

पर जौनपुर और अयोध्या के बीच) करारी हार दी। बादशाही सेना का पल्ला भारी हो गया और १५८४ ई० तक बिहार-बंगाल के विद्रोहियों को दबा दिया गया। उडीसा पर अधिकार करने की बात थोड़े दिनों के लिए छोड दी गई। अकबर ने बहुत से विद्रोहियों के साथ दया उदारता दिखलाई, यद्यपि विद्रोह फैलाने वाले मुल्लों के साथ नहीं। जौनपुर के काजी मुल्ला अहमद यज्दी तथा बंगाल के काजी को नाव द्वारा जमुना में डुबाकर बहिश्त भेज दिया गया।

६. मालगुजारी बंदोबस्त

अकबर के आरम्भिक शासन मे हर साल मालगुजारी बंदोबस्त हुआ करता था, जो तरद्दुद का काम था। १५वें सनजलूस (१५७०-७१ ई०) मे मुजफ्फर खॉ तुर्बती—जो उस वक्त दीवान (वित्त-मंत्री) था—ने टोडरमल की सहायता से प्रादेशिक कानूनगोओं की जमाबंदी को दस मुख्य कानूनगोओं को दिखला कर नई जमाबन्दी तैयार कराई। २५ वें सनजलूस (१५७९-८० ई०) में शाह मंसूर ने वार्षिक जमाबन्दी की जगह दशाब्दिक जमाबन्दी आरम्भ की। इसके लिए १५वें से २४वें सनजलूस के दस वर्षों की मालगुजारी के औसत को आधार माना गया। टोडरमल इसमें सहायता कर रहे थे, लेकिन बंगाल के विद्रोह के कारण जब उन्हे उधर जाना पड़ा, तो सारा भार शाह मंसूर के ऊपर पड़ा।

जमाबन्दी और मालगुजारी के बंदोबस्त की व्यवस्था में परिवर्तन करने ही से संतोष नहीं किया गया, बल्कि इसी समय (१५८० ई० में) राज्य को पहले-पहल १२ सूबों में बाँटा गया जो थे— (१) आगरा, (२) अजमेर, (३) अहमदाबाद (गुजरात), (४) लाहौर (पंजाब), (५) मुल्तान, (६) काबुल (७) दिल्ली, (८) मालवा, (९) इलाहाबाद, (१०) अवध, (११) बिहार और (१२) बंगाल। पीछे कश्मीर पर विजय करने के बाद उसे लाहौर में, सिन्ध को मुल्तान में और उड़ीसा को बंगाल में शामिल कर दिया गया। अकबर के शासन के अन्त में दक्षिण के विजय के बाद तीन और सूबे — (१३) खानदेश, (१४) बरार और (१५) अहमद नगर—मिलाकर सारी सल्तनत १५ सूबों में बँट गई। सूबों के क्षत्रप को अभी सूबेदार नहीं, सिपहसालार कहा जाता था, जिसके नीचे भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष (सचिव) होते थे— (१) दीवान (वित्त), (२) बख्शी (सैनिक वेतन-विभाग), (३) मीर-अदल (न्यायाध्यक्ष, विशेषकर प्राणदण्ड वाले न्यायाध्यक्ष), (४) सदर (धर्मादाध्यक्ष), (५) कोतवाल (पुलिस), (६) मीर-बहर (सामुद्रिक बन्दर, घाट आदि का अध्यक्ष) और (७) वाकया-नवीस (अभिलेख-रक्षक)।

७. मानसिंह राज्यपाल (१५८७-१६०५ ई०)

यद्यपि बंगाल-बिहार में विद्रोह दबा दिया गया, पर समस्या तब तक पूरी तौर से हल नहीं हुई जब तक कि १५८७ ई० में मानसिंह को वहाँ का सिपहसालार

नियुक्त नहीं किया गया । इसके बाद प्रायः अकबर के शासन के अन्त (हिजरी १०१३—सन् १६०५ ई०) तक मानसिंह ही इस पद पर रहे । हाजीपुर-सोनपुर के पास अब भी मानसिंह की बनवाई इमारतों और बागों के अवशेष मिलते हैं, यह हम मानसिंह के प्रकरण मे बतला आये हैं । उन्हें पूर्व की आबोहवा पसन्द नहीं थी, इसीलिए प्रायः अजमेर में रहते और उनके सहायक बंगाल-बिहार का काम देखते । इससे पहले मानसिंह काबुल के सिपहसालार रहे थे । राजा भगवानदास के मरने पर १५८६ ई० मे उन्हें राजा की उपाधि मिली । पाँचहजारी से ऊपर के मन्सब पहले केवल शाहजादो के लिए ही सुरक्षित थे, अकबर ने उसकी अवहेलना करके मानसिंह को सातहजारी मन्सब दिया । मानसिंह ने प्रादेशिक राजधानी आकमबल को रखा, जिसका नाम अकबर नगर बदल दिया गया, लेकिन लोगों ने राजमहल नाम को स्वीकार किया, राजमहल मानसिंह के शासन में एक समृद्ध नगर बन गया था । १६४० ई० में राजमहल बंगाल की राजधानी था । उस समय साधु मेनरिक ने सूबेदार के अभिलेख-संग्रहालय को देखा, जिसमें १६०५ ई० (अकबर के समय) के भी कागजात मौजूद थे । उसके पीछे भी कितने ही समय तक राजमहल राजधानी रहा । फिर उसके महल जंगलों में ध्वंसावशेष के रूप में परिणत हो गये । मानसिंह के शासनकाल में हिन्दुओं को कोई शिकायत नहीं हो सकती थी । मानसिंह का नाम अब भी मानभूमि जिले के साथ जुड़ा हुआ है । शायद सिपहसालार मुजफ्फर खाँ तुर्बती ने ही बिहार के मुजफ्फरपुर कस्बे को आबाद किया, पर उस समय गंगा के पार मुजफ्फर नहीं, बल्कि हाजीपुर प्रधान नगर था, जिसे बंगाल के एक पुराने शासक हाजी इलियास ने बसाया था ।

धर्म के सम्बन्ध में अकबर के जीवन को तीन भागो में बॉटा जा सकता है-

१	पक्का सुन्नी मुसलमान	१५५६-७४ ई०
२	धर्मों का जिज्ञासु	१५७४-८२ ई०
३	अ-मुस्लिम धर्माचार्य	१५८२-१६०५ ई०

१. अकबर सुन्नी मुसलमान (१५५६-७४ ई०)

तैमूरी वंश मध्य-एशिया में भी इस्लामिक कट्टरता का पक्षपाती नहीं था। यद्यपि देशो को लूटने में तैमूर ने महमूद गजनवी और दूसरे मुस्लिम विजेताओं का अनुकरण किया था; तथापि राजकाज में तैमूर शरीयत नहीं, चिंगीज के तूरा (यास्सा)[1] को सर्वोपरि मानता था। बाबर, हुमायूँ भी इस बात में तैमूर के अनुयायी थे। अकबर बचपन से ही इस बात को शायद सुनता आया था, इसलिए उसके दिल में मजहबी कट्टरता को जगह नही मिल सकती थी। शायद उसने शाह तहमास्प और अपने पिता के उस वार्तालाप को भी सुना था, जिसमे तहमास्प ने हुमायूँ को बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा से अपनायत स्थापित करने के लिए कहा था। इस्लाम के भीतर भी शिया-सुन्नी का विवाद कम कड़वा नहीं था। दोनों एक दूसरे को काफिर समझते थे। बैरम खाँ शिया था और इसी तरह कितने ही और भी बड़े-बड़े जेनरल भीतर से शिया रहते, बाहर से सुन्नी होने का दिखावा करते थे। अकबर की शिक्षा उतनी संकीर्णता के साथ नहीं हुई थी। यह बतला चुके है कि निरक्षर रहते भी अकबर अत्यन्त सुशिक्षित था। फारसी और तुर्की भाषा और साहित्य का उसने श्रवण द्वारा अच्छी तरह अध्ययन किया। वह जन्मजात सैनिक था। वह सैनिक परम्परा की भी परवाह नहीं करता था, यह इसी से मालूम है कि उसने बहुत सी लड़ाइयाँ बरसात के वर्जित मौसम में जीतीं। परम्परा नहीं, बल्कि प्रयोग-तजुर्बे को वह प्रमाण मानता था। आदमी की स्वाभाविक भाषा क्या है, इसके बारे मे उसने बहुत सुना था। मुल्ला कहते थे—असली या अल्ला की भाषा अरबी है। उसने तजुर्बे के लिए आगरा के पास एकान्त में 'गंगामहल' बनवा उसमें कुछ शिशुओं को रख दिया। खाने-पीने का अच्छा

---

१. देखें मध्येशिया का इतिहास, खंड १, पृष्ठ ४६५-६७

प्रबन्ध था, पर सख्त मनाही थी कि कोई उनसे बातचीत न करे । कुछ वर्ष बाद देखा गया, तो मालूम हुआ कि वह किसी भाषा को नहीं बोल सकते अर्थात् भाषा समाज की देन है ।

खतरनाक खेलो का उसको बहुत शौक था । अनेक बार मस्त हाथियों को सर करने के लिए उसने किस तरह अपने को खतरे मे डाला, इसके बारे मे हम बतला आये है । संगीत से उसका अत्यधिक प्रेम था । तानसेन को इसीलिए उसने अपने दरबार के नवरत्नों मे शामिल किया । वह स्वयं अच्छा पखावजी (तबला बजाने वाला) था । राजकाज के गम्भीर कामों में लगा हुआ भी वह मदारियों और नटों के खेलो को बहुत शौक से देखता था । अपनी मनोरंजक कहानियों और विनोद की बातों के लिए बीरबल और मुल्ला दोपियाजा उसके दरबार में मान्य हुए । अकबर रात को मुश्किल से तीन घण्टे सोता था, पर, उसका शरीर फौलादी था । ऐसे चुस्त बादशाह के पास-पडोस में सुस्त आदमियो का गुजारा नहीं हो सकता था । उसके स्वभाव में क्रोध भी था, यद्यपि उस पर नियन्त्रण करने में वह असाधारण रूप से सफल था, तथापि जब वह नियन्त्रण टूट जाता, तो फिर थोड़े समय के लिए वह सब-कुछ भूल जाता । अपने दूध-भाई अदहम खाँ को किस तरह कोठे से नीचे गिरा कर मरवाया, वह इसका एक उदाहरण था । चिराग जलाने वाले ने तख्त के पास सोने की गुस्ताखी की थी, जिसके लिए उसे नीचे गिरवा कर मरवा दिया । यूरोपियन यात्री जेस्वित साधु पेरुश्ची ने अकबर के स्वभाव के बारे में लिखा है—

"बादशाह बहुत कम ही क्रोध में आता है, लेकिन जब क्रुद्ध हो जाता है, तो यह कहना मुश्किल है कि वह कहाँ तक जायगा । अच्छी बात यह है कि वह जल्दी ही शान्त हो जाता है । उसका क्रोध क्षणिक होता है, जल्दी ही दूर हो जाता है, वस्तुतः वह सज्जन, कोमल और कृपालु स्वभाव का है ।' "

सैनिक के साथ-साथ कूटनीतिज्ञ के गुण भी उसमें कूट-कूट कर भरे थे । साधु बरतोली[१] के अनुसार —"वह कभी किसी को मौका नहीं देता कि कोई जान ले कि उसके हृदय के अन्तस्तल में क्या है या कौन से धर्म या विश्वास को मानता है । वह वही करता, जिससे उसका अपना अर्थ पूरा होता । वह अपनी ओर करने के लिए कभी एक पक्ष को और कभी दूसरे पक्ष को सहारा देता । दोनों पक्षों को अच्छी-अच्छी बातों से प्रोत्साहित करता और अपने संदेहों को बतलाता, "मैं तुम्हारे बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरों को अपने पथ-प्रदर्शन के लिए चाहता

---

१. साधु देनियल बरतोली ने अकबर के दरबार में पहुँचे जेस्विट साधुओं के कागजपत्रों का सुसम्पादित संस्करण १६६३ ई० में प्रकाशित किया था ।

हूँ, जिसमें कि छिपे सत्य को जान सकूँ ।" चाहे जो उत्तर मिलता, वह कभी उसे संतुष्ट नही करता । विवाद का भी अन्त नहीं होता, क्योंकि प्रतिदिन फिर उसी से आरम्भ होता । सभी बातों में बादशाह अकबर का यही ढंग था । वह किसी तरह की रहस्यवादिता और धोखे मे नहीं आता था । वह ऐसा सच्चा और दृढ़ था, जिसकी कल्पना नही की जा सकती । पर, वस्तुतः वह इतना आत्म-निर्भर और पक्के विचारों वाला, अपनी बातों और कामों में से एक दूसरे के विरोधी तथा घूम-घुमौवा प्रकृति का था कि बहुत कोशिश करने पर भी उसके मन की थाह लगाना मुश्किल था । अक्सर ऐसा होता था कि एक आदमी उसे जैसा आज देखता था, अगले दिन वह उससे बिल्कुल उल्टा मालूम होता था । बहुत ध्यान से देखने तथा काफी दिनों तक घनिष्ठ परिचय रखने के बाद भी कोई उसे आखिर मे उससे अधिक नहीं जान सकता, जितना कि पहले दिन ।"

अकबर के स्वभाव के बारे में उन साधुओं का कथन वास्तविकता से दूर नहीं हो सकता, लेकिन अकबर के बारे मे यह उस समय की बात है जब कि वह प्रौढ़ हो चुका था । धर्मभीरु सुन्नी मुसलमान का उसका जीवन ३२ वर्ष की उमर में पहुँचते-पहुँचते खतम हो गया, इसलिए आरम्भिक काल के अकबर को जानने के लिए हमें पादरियों के कथन से अधिक सहायता नहीं मिल सकती । मानसिक स्वच्छन्दता पहले भी उसमे थी । ख्वाजा मुजफ्फर अली बैरम खाँ का दीवान था । खानखाना के जब बुरे दिन आये तो भी ख्वाजा ने साथ नहीं छोड़ा । खानखाना का कसूर माफ हुआ तो ख्वाजा के भी दिन लौटे । फिर तरक्की करते-करते हिजरी ६७१ (१५६३-६४ ई०) में वह वकील-मुतलक (सर्वाधिकारी) के पद पर पहुँच कर मुजफ्फर खाँ और उमदतुल्मुल्क की पदवी से अलंकृत हो सल्तनत के अमीरुलउमरा बने । इन्हीं की सिफारिश पर १५६५-६६ ई० में (सनजलूस १०) में अकबर ने शेख अब्दुन्नबी को सदरे-सदूर (धर्मादा का सर्वोपरि अध्यक्ष) नियुक्त किया । शेख अब्दुन्नबी के प्रकरण में हम बतला आये है कि कैसे उन्होंने रेशमी कपड़ा पहने देखकर २२ वर्ष के अकबर को डण्डा लगा दिया था । अकबर ने शेख की जूतियाँ सीधी करने में आनाकानी नहीं की थी, लेकिन अन्त में (नवम्बर १५८१) हानिकारक समझकर इस पद को उठा दिया और शेख अब्दुन्नबी का सितारा डूब गया । काजी यज्दी ने फतवा देकर अकबर को काफिर बना उसे राज्य से वंचित करना चाहा, यह भी हम देख चुके है । अकबर अपने विचारों में स्वतन्त्र होता जा रहा था फिर भी अभी समय अनुकूल नहीं समझता था, इसलिए वह देखे को अनदेखा कर देता था ।

आरम्भिक जीवन में इस्लाम और पीरों-फकीरों का वह कितना भक्त था, यह इसी से मालूम होता है कि वह वर्षों हर साल अजमेर शरीफ की जियारत

करने जाता रहा और १५७६ ई० के सितम्बर में आखिरी बार उसने यह यात्रा की, लेकिन अगले साल (१५८० ई०) मे भी शाहजादा दानियाल को उसने अपनी तरफ से भेजा। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय तक उसके विचारों में भारी परिवर्तन नहीं आया था, तथापि तो भी एक समय अपने विरुद्ध प्रचार को देखकर वह नियमपूर्वक दिन में पाँच बार नमाज पढ़ने लगा था। अजमेर से लौटते वक्त तम्बुओं की एक विशाल मस्जिद उसके साथ थी। १५८० ई० में मीर अबू तुराब मक्का से पैगम्बर की पत्थर की चरणपादुका लेकर आया। अकबर अच्छी तरह जान सकता था कि यह बनावटी चीज है, लेकिन उसने स्वागत करने के लिए बड़ी धूमधाम से तैयारी की और स्वयं कुछ दूर जा अपने कन्धे पर उस भारी पत्थर को ढोया। अकबर को कितनी ही बार ऐसे ढोंग जबर्दस्ती रचने पड़ते। एक बार अकबर अजमेरी दरगाह में पाँच कोस पैदल चल कर गया, उसके बारे में बदायूँनी ने चुपके-चुपके अपने इतिहास में लिखा—"समझदार आदमी इस पर हँसते और कहते : कैसी विचित्र बात है, बादशाह सलामत को ख्वाजा के ऊपर इतनी भक्ति है, जबकि हरेक चीज की असली बुनियाद हमारे उस पैगम्बर को इन्कार कर दिया जिसके दामन से ख्वाजा जैसे लाखों पीर पैदा हुए।

अकबर बड़ी भक्ति से पीरो-फकीरों की कब्रों की जियारत करता था। १५७५ से ८० ई० तक उसने हुकुम दे रखा था कि जो कोई हज करना चाहे, उसे खर्च के लिए शाही खजाने से पैसा दिया जाय। पीछे के बारे में बदायूँनी लिखता है—"लेकिन, अब बात उल्टी हो गई है। वह उसका नाम भी सुनना नहीं चाहता। हज के लिए छुट्टी माँगना मौत की सजा वाले गुनाह-सा हो गया है।" १५७६ अक्टूबर के आस-पास अकबर ने सुल्तान ख्वाजा को मीर-हाज बनाकर हाजियों के काफिले के साथ राजपूताने के रास्ते भेजा और स्वयं अहराम (हज की पोशाक) पहन कर मीर हाज के पीछे-पीछे कई कदम तक चला। १५७६ ई० में उसका यह कार्य ढोंग नहीं कहा जा सकता।

सलीम चिश्ती की भक्ति से अकबर आगरा छोड़ कर सीकरी में आ बसा, लेकिन उसके ऊपर शाह साहब की छाया एक साल से अधिक नहीं रही। ३७ वर्ष का होते-होते अकबर दुनिया को काफी देख चुका था। इसमें सीकरी के इबादतखाने में होने वाले शास्त्रार्थों सत्संगों ने भी बहुत सहायता की। इबादतखाना बनवाने का हुकुम १५७५ ई० के आरम्भ में दिया गया था। पहले इसमें मुसलमान मुल्ला ही आते थे चिंगीज खाँ के पोते कुबले खान ने भी धर्मों की जिज्ञासा के लिए यही काम किया था जिसे उससे तीन शताब्दियों बाद अकबर दोहरा रहा था। धार्मिक शास्त्रार्थ-मुबाहिसे अकबर को बहुत पसन्द थे। उसके शब्दों को उद्धृत करते हुए अबुलफजल लिखते हैं—"दर्शन सम्बन्धी शास्त्रार्थ

इतना आकर्षक था कि वह मुझे सभी चीजों से खीच लेता था। राज के आवश्यक कामों मे गफलत न हो, इसके लिए मुझे जबर्दस्ती अपने को रोकना पडता।" जिस जगह अकबर ने इबादतखाना बनवाया था, वहीं पर किसी समय मियाँ अब्दुल्ला नियाजी सरहिन्दी भी रह चुके थे और जहाँ पीछे शेख सलीम (जो नियाजी के गुरु भी कहे जाते हैं) ने डेरा डाला था। आज इबादतखाने का कहीं पता नहीं है। शायद वह १५७१ ई० में बनी शेख सलीम की महान् मस्जिद के पश्चिमोत्तर में था। गुरुवार के दिन सूर्यास्त के बाद अकबर इबादतखाने में जाता और शास्त्रार्थ मे स्वयं मध्यस्थ बनता था। दो-तीन वर्ष तक इबादतखाना मुसलमान आलिमों के ही सत्संग का स्थान रहा, लेकिन १५७८ ई० या उसके पहले ही हिन्दू, पारसी आदि धर्मों के विद्वानों के लिए छूट हो गई। मख्दूमुल्मुल्क मुल्ला सुल्तानपुरी और शेख अब्दुन् नबी इस्लाम के नाम पर अपनी विद्वता के जोर से एक दूसरे को नीचा दिखाते थे। अब अबुलफजल और मुल्ला बदायूँनी जैसे नौजवान भी पहुँच गये। जो बूढ़ों की पगड़ी उछालने में किसी तरह की दयामाया नहीं दिखलाते थे। ये नौजवान वह सारी पुस्तक पढ़े हुए थे, जिन्हें पढ़ कर लोग आलिम-फाजिल होते थे। अकबर इस तमाशे को बड़े शौक से देखता था। उसकी सहानुभूति बूढ़े मुलंटों के खिलाफ थी। तरुण बदायूँनी को देखकर उसने कहा था—"हाजी इब्राहीम किसी को साँस नहीं लेने देता, यह उसका कल्ला तोडेगा। विद्या का बल था, दिल निडर, जवानी की उमंग, बादशाह खुद पीठ ठोंकने के लिए तैयार था। बुड्ढों का बल बुड्ढा हो चुका था। वह हाजी से भी बढ़ कर शेख अब्दुन नबी पर प्रहार करने लगा।" आजाद लिखते हैं —"इन्हीं दिनों शेख अबुलफजल भी आन पहुँचा। उसकी विद्वत्ता की झोली में तर्कों की क्या कमी थी ? उसकी भगवान की दी बुद्धि के सामने किसी की मजाल क्या थी ? जिस तर्क को चाहा, चुटकी में उड़ा दिया। बड़ी बात यह थी कि शेख और शेख के बाप ने मख्दूम और सदर अब्दुन् नबी आदि के हाथ से वर्षों तक ऐसी चोटें सही थीं, जो कभी भरने वाली नहीं थीं। आलिमों में परस्पर विरोध और मतभेद के रास्ते खुल ही गये थे। चन्द दिनों में यह हालत हुई कि गौण प्रश्नों की बात तो अलग, स्वयं इस्लाम के असली सिद्धान्तों पर भी आक्षेप होने लगे, हर बात में पूछा जाता : कारण बताओ, "क्यों ऐसा हो।" अन्त में बहस-मुबाहिसे इस्लामिक विद्वानों के भीतर ही तक सीमित नहीं रह गए बल्कि दूसरे धर्म वाले विद्वान भी इसमें भाग लेने लगे। अकबर मजहब में "बाबा-वाक्यं प्रमाणम्" को छोड़ कर हर बात की खुद खूब छानबीन करने लगा।"

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अकबर इस्लाम या धर्म से बिल्कुल फिर गया था। हिजरी ६८७ (१५७८-७६ ई०) तक भी बदायूँनी के अनुसार, "बादशाह

रात को प्रायः इबादतखाने में आलिमों और शेखों (संतों) के सत्संग मे गुजारता। खासकर शुक्र की रात को तो रात भर जागता और धार्मिक सिद्धान्तों की छानबीन में लगा रहता।" आजाद के शब्दो मे, "मुल्ला एक दूसरे के ऊपर जबानों की तलवारें खींच कर पिल पड़ते, कटे-मरते थे। आपस में कुफ्र और बेइज्जती की बातें लाकर एक दूसरे को बरबाद किये डालते थे। शेख सदर और मख्दूमुल्मुल्क का यह हाल था कि एक का हाथ और दूसरे की गर्दन। दोनो तरफ के रोटी तोड़े और शोर बेचट् करने वाले मुल्लों ने दोतरफा घड़े बाँधे हुए थे।.....एक आलिम एक काम को हलाल कहता, दूसरा उसी को हराम साबित कर देता।. .अबुलफजल और फैजी भी आ गए थे। उनके भी पक्षपाती दरबार में पैदा हो गए थे। हर वक्त उकसाते रहते थे।....आखिर इस्लाम के विद्वानों के ही हाथों यह बरबादी हुई कि इस्लाम और दूसरे मजहब एक जैसे हो गये। आलिम और शेख सबसे बढ़ कर बदनाम हुए।. .अकबर हरेक मजहब के विद्वानों को इकट्ठा करता और सब बातें जानना चाहता।.....समझ वाला आदमी था। किसी मजहब का दावेदार उसे अपनी तरफ खीच भी नहीं सकता था। वह भी सबकी सुनता और अपना मन समझौता कर लेता था। मुल्ला आखिर लड़ते-लड़ते आप ही बेइतबार हो गए।" आजाद और भी लिखते हैं—"बंगाल की मुहिम कई वर्ष तक जारी रही। मालूम हुआ, अधिकांश आलिमों और शेखों के बाल-बच्चे फाके और गरीबी से तबाह हैं। दयालु बादशाह को रहम आया। हुकुम दिया, सब शुक्रवार को इकट्ठा हों, नमाज के बाद हम स्वयं रुपये बाँटेंगे। चौगान के मैदन में एक लाख औरत-मर्द जमा हो गए। उनमें धीरज नहीं रहा। बेचारों की हालत बुरी थी। भीड़ में ८० आदमी पैरों से कुचल कर मर गए।...उनकी कमर से अशर्फियों की नेवलियाँ निकलीं। बादशाह ने देख लिया कि अशर्फियाँ रखने वाले भी खैरात लेने आये हैं, शेख सदर को बर्खास्त कर दिया। धर्मादे की सम्पत्ति को बरबादी की खबर लगी, तो अकबर ने उसकी जाँच करवाई। मालूम हुआ, मस्जिदें और मदरसे खंडहर पड़े हुए हैं और मुल्ले धर्मादे के पैसे को हजम कर रहे हैं। इस तरह इस्लाम की धाक और श्रद्धा जो बचपन से अकबर के दिल में थी, वह उठ गई। जौनपुरी मुल्ला अहम्मद यज्दी और मुअज्जिजमुल्क आदि ने अकबर के खिलाफ फतवा दिया। अकबर आगरे से दस कोस पर अवस्थित वजीराबाद में था, जब मुल्कों के लिए हुकुम भेजा कि दोनों मुल्लों को अलग-अलग यमुना के रास्ते ग्वालियर पहुँचा दो। थोड़े ही समय बाद दूसरा हुकुम आया कि इनका किस्सा खतम कर दो। दोनों को एक टूटी नाव में डाला और थोड़ी दूर आगे जाकर पानी की चादर का कफन दे भँवर की कब्र में दफन कर दिया।"

अकबर के विश्वास को डिगाने के लिए ये बातें हो रही थीं। फैजी और अबुलफजल के पिता शेख मुबारक-जैसा दिग्गज आलिम बादशाह के इन विचारों का समर्थक था। किस तरह सन् १५७६ के सितम्बर के आरम्भ मे उन्होंने मजहर (आवेदन) तैयार करके बादशाह के फैसले को आलिमों के फैसले से भी ऊपर साबित करते हुए रखा और कैसे डर के मारे मुल्लाओं ने उस पर अपनी मुहरें लगा दीं, इसे हम बतला चुके है।

सनजलूस ३० (१५८६ ई०) के बाद बदायूँनी के अनुसार जमाने का रंग बिल्कुल बदल गया, क्योंकि दीन बेचने वाले मुल्ला भी उसकी हाँ मे हाँ मिलाने लगे। पैगम्बरी पर सन्देह, कुरान के भगवत् वाक्य होने पर चुप्पी, दिव्य चमत्कार और करामात, अदृश्य जिनपरी फरिश्तों के मानने से इन्कार हो गया। कुरान की प्रामाणिकता और उसके अल्ला के वचन होने के सबूत माँगे जाने लगे। पुनर्जन्म पर पुस्तकें लिखी गईं। निश्चय किया गया कि अगर मरने के बाद पाप-पुण्य फल है, तो वह पुनर्जन्म से ही हो सकता है। दूसरा रास्ता नही है। बादशाह का दूध भाई खाने आजम जो इस्लाम के विरोधी भावों को देखकर नाराज हो हिन्दुस्तान छोड़ काबा चला गया था। उसी खाने आजम ने काबा से लौटकर तोबा की और अकबर के दरबार में अपनी दाढ़ी चढ़ाई। हिजरी ९९० (१५८२ ई०) में मुहिम को जीत कर लौटा, तो बादशाह ने उससे कहा : हमने पुनर्जन्म के पक्के प्रमाण पैदा कर लिए है। शेख अबुलफजल इसे तुम्हें समझायेंगे, तुम स्वीकार करोगे ना? स्वीकार करने के सिवाय और उत्तर क्या हो सकता था ?

बदायूँनी लिखते हैं—"बीरबल ने यह साबित किया कि सूर्य भगवान के रूप का प्रकाश है, क्योंकि वनस्पति का उगना, अनाज का पकना, फूलों का खिलना, फलों का फूलना, दुनिया का प्रकाशित होना, सारे संसार का जीवन उसी से बँधा हुआ है। इसलिए उसकी उपासना करनी चाहिए। उदय की दिशा की ओर मुँह करना चाहिए, अस्त की ओर नहीं। इसी तरह आग, पानी, पत्थर और पीपल के साथ सारे वृक्ष ईश्वर की महिमा को प्रकट करते हैं। गाय और गोबर भी ईश्वर की महिमा है। साथ ही तिलक और जनेऊ की भी प्रशंसा की। तारीफ यह कि आलिमों-फाजिलों और खाक दरबारियों ने भी इसकी पुष्टि की और कहा कि वस्तुतः सूर्य महान प्रकाश है, वह सारी दुनिया का हितू, बादशाहों का संरक्षक है। जितने अकबालमन्द बादशाह हुए, सबने उसकी महिमा गाई। हुमायूँ के जमाने में भी यह प्रथा जारी थी, क्योंकि वह चिंगीज तुर्कों का तुरा था। पुराने समय से नौरोज (नववर्ष) का उत्सव मनाते थे। अकबर जिस दिन तख्त पर बैठा, उस दिन से ही नववर्षोत्सव मनाया जाने लगा। अब उसमें हिन्दुस्तान के रीति-रिवाजों को भी शामिल कर लिया गया। अकबर ने स्वयं ब्राह्मणों से पूजा-पाठ और मंत्र

सीखे । 'सिंहासन बत्तीसी' के अनुवाद लिखाने वाले पुरुषोत्तम ब्राह्मण उसे एकान्त में हिन्दुओं की पूजा-विधि बतलाते थे । 'महाभारत' का तर्जुमा करने वाले देवी ब्राह्मण को एकान्त में चारपाई पर बैठाकर रस्सियाँ डाल अधर में खींच लेते । वहाँ से वह अग्नि, सूर्य तथा दूसरे देवी-देवताओं की पूजा की विधि बतलाते । सूर्य के मंत्र को बादशाह आधी रात को जपा करता था । राजा दीपचन्द ने एक मर्तबा कहा , हुजूर अगर गाय खुदा के लिए पवित्र वस्तु न होती, तो कुरान का सबसे पहला सूरा (अध्याय) गाय (वकर) क्यों होता ? इस पर बादशाह ने गाय के मांस को हराम कर दिया और हुकुम निकाल दिया कि जो गाय को मारेगा । वह मारा जायगा। हकीमों और तबीबों ने समर्थन करते हुए कहा : गाय के गोश्त से तरह-तरह के रोग पैदा होते है, वह रद्दी और दुष्पच है । पर, इसका मलतब यह नहीं था कि अकबर अब इस्लाम को धत्ता बतला चुका था । हीजरी ६८७ (सन् १५७६-८६ ई०) मे ही मीर-हाज अबूतुराब मक्का से पैगम्बर के चरणचिह्न का पत्थर ले आया चाहे लोकसग्राम के लिए ही सही—अकबर ने खुद उसका सम्मान किया था, यह हम बतला आये है । बदायूँनी के अनुसार इसी साल सलाह हुई कि "ला इलाहा इल्लिल्लाह" के साथ "अकबर खलीफतुल्लाह" (अकबर अल्लाह का नायब) कहा जाय । बाहर कहने पर हल्ला-गुल्ला होता, महल मे कहने का निश्चय किया गया। कितने ही लोग सलाम-अलैक की जगह "अल्लाहु अकबर" और उत्तर में "जल्ले जलालहु" कहने लगे । अकबर के बहुत से सिक्के मिले है जिनके ऊपर यह वाक्य अंकित है ।

१५७६ के जून के अन्त में अकबर ने एक नई खुराफात पैदा की । सीकरी की मुख्य मस्जिद के इमाम को हटा कर महीने के पहले शुक्रवार को स्वयं मेम्बर पर खड़ा होकर उसने खुतबा पढ़ा । कविराज फैजी ने उसे पद्यबद्ध तैयार किया था । इसकी कुछ पंक्तियाँ थीं—

जिसने हमे बादशाहत दी,
जिसने हमें ज्ञानी हृदय और मजबूत बाँह दी,
जो हमें न्याय और समदर्शिता की ओर ले जाता है,
जो हमारे हृदय से विषमता को हटाता है,
उसकी प्रशंसा हमारे मनों और विचारों से परे हैं ।
अल्लाहु अकबर (भगवान महान) है ।

यद्यपि १५८२ ई० तक अकबर ने इस्लाम का चेहरा उतार नहीं फेंका था, लेकिन इससे तीन वर्ष पहले ही से उसका विश्वास डिग गया था । पर, उसका सदा एक अल्लाह (तौहीद इलाही अल्ला की एकता, ब्रह्म-अद्वैत) पर विश्वास था।

१५८० ई० के आरम्भ में मुल्ला सुल्तानपुरी और शेख अब्दुन् नबी को मक्का में निर्वासित करना इस बात की सूचना थी कि अकबर अब इस्लाम से विमुख हो चुका है ।

२. पारसी धर्म का प्रभाव

अकबर की माँ की भाषा फारसी थी । महलो मे तुर्की से भी ज्यादा फारसी बोली जाती थी । फारसी का साहित्य अधिक विशाल था जिसे अक्सर पढ़वाकर सुनता रहता था । फारसी साहित्य मे इस्लाम के विरोधी भाव बीज-रूप में मौजूद थे । ईरानियों ने इस्लाम की तलवार के सामने सिर झुकाया, अपने जर्थुस्ती मजहब को भी कुर्बान कर दिया, पर अपनी उच्च संस्कृति के प्रेम को वह कभी छोड़ नहीं सके । इसी को प्रकट करते फिरदौसी ने 'शाहनामा' में प्राचीन ईरान की महिमा बढ़ा-चढ़ा कर गाई और उजड्ड असभ्य अरबों को दिल खोलकर कोसा । अकबर ने इसे अपने मन की बात समझी । वह फिरदौसी के निम्न शेर को बार-बार पढ़वाकर सुनते मजा लेता था—

ज-शीरे-शुतुर खुर्दन् व सूसमार ।
अरबरा बजागे रसीद'स्त कार ।
कि तख्ते-कियाँ रा कुनद् आरजू ।
तफ़ू बरतु ऐ चर्खे-गर्दा तफ़ू ।

(ऊँट के दूध और सुसमार खाने वाले अरबों को तूने प्रभु बना दिया कि वह ईरान के शाहों के तख्त की कामना करे । ओ घूमने वाले आसमान, तेरे ऊपर थू है, थू है ।)

अकबर को कोई फिरदौसी नहीं मिला कि वह प्राचीन भारत के 'शाहनामे' को लिखवाता । शाहनामा सुनने के बाद पूछने पर उसे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान का शाहनामा 'महाभारत' संस्कृत में मौजूद है । उसने उसे फारसी में अनुवाद करने का हुकुम ही नहीं दिया, बल्कि देवी पंडित के मुँह से अर्थ सुन कर स्वयं फारसी में नकीब खाँ से लिखवाना शुरू कर दिया । पर, इतनी फुरसत कहाँ थी? बादशाह ने दो रात ही 'महाभारत' लिखवाया । तीसरी रात बदायूँनी को बुला कर कहा : तुम नकीब खाँ के साथ मिल कर तर्जुमा करो । तीन-चार महीने में १८ पर्वों में से २ पर्व अनुवादित किये गये । मुल्ला बदायूँनी के अनुवाद में कतर-ब्योंत देख कर उन्हें बादशाह के मुँह से हरामखोर और शल्गमखोर की पदवी मिली । मुल्ला शीरी, नकीब खाँ और हाजी सुल्तान थानेसरी ने थोड़े-थोड़े अंश का अनुवाद किया । फिर फैजी को हुकुम हुआ कि इसको गद्य-पद्य में करो वह भी दो पर्वत से आगे नहीं बढ़ सके । हुकुम था, कोई बिन्दी-विशेष छोड़ी न

जाय । अनुवाद का नाम शाहनामा के ढंग पर 'रजमनामा' रखा गया । दुबारा सुन्दर अक्षरो मे लिखवाकर चित्रो से सुसज्जित करवा अमीरो को हुकुम दिया कि पुण्यार्थ इसे लिखवा कर बाँटे । मुल्ला बदायूँनी को इसके लिए १५० अशर्फियाँ *(दस हजार तंका) मिलीं ।*

फारसी संस्कृति और धर्म के प्रति बचपन से जो सम्मान अकबर और उसके दरबार मे था, उसने अकबर को हिन्दू धर्म की ओर खींचने में विशेष काम किया और अन्त मे हिन्दू-फारसी मिश्रित संस्कृति ने उसें अनुयायी बना दिया । आग और सूर्य की पूजा फारसी भी करते है, जो हिन्दुओं में भी पाई जाती है । अकबर को क्या मालूम था कि फारसी धर्म, संस्कृति और भाषा उसी मूल्य से निकली है, जिससे कि हिन्दुओं की संस्कृति, धर्म और संस्कृत भाषा ।

१५७८ ई० के अन्त मे पारसी मोबिद (पुरोहित) दरबार में बुलाये गये जिनसे उसने पारसी धर्म के बारे में बहुत-सी बातें जानी । पारसियों की तरह उसने कमर में गुश्ती बाँधी । लोग समझने लगे, अकबर ने जर्थुस्त्री धर्म स्वीकार कर लिया, लेकिन उसके कुछ समय ही बाद वह तिलक-जनेऊ पहन कर दरबार में उपस्थित हुआ । इन दोनों धर्मों की ओर अब उसका बहुत झुकाव था । नौसारी के पारसी पुरोहितो के मुखिया दस्तूर मेहरजी राणा को अकबर को अपने धर्म में बतलाने का विशेष मौका मिला । १५७३ ई० में सूरत के मुहासिरे के समय अकबर का डेरा कंकडखाडा में पड़ा हुआ था । उसी समय पहले-पहले पारसी पुरोहितों से मिलने का उसे मौका मिला था । उस समय भी उसने मोबिदों से बहुत सी बातें जानी थीं और राणा को अपने दरबार में आने के लिए आग्रह किया । किस समय राणा दरबार में आये, यह कहना मुश्किल है,पर १५७८-७६ ई० के शास्त्रार्थों में वह अवश्य शामिल होते थे । दस्तूर मेहरजी राणा अपनी मृत्यु के समय (१५६१ ई०) तक अकबर के बडे सम्मानभाजन रहे । अकबर ने दस्तूर को दो सौ बीघे की खानदानी माफी प्रदान की थी जिसे उनके लड़के के लिए ड्योढ़ी कर दिया। राणा के आने पर पारसी विधि के अनुसार महल में अग्नि की स्थापना हुई जिसकी पूजा आदि का काम अबुलफजल को सौंपा गया । मार्च १५८० ई० से अकबर खुले तौर से सूर्य और अग्नि के सामने दण्डवत करने लगा । रात को जब दीपक जलाये जाते, तो वह और सारे दरबारी खड़े होकर हाथ जोड़ते । अकबर ने कहा था—"दीप जलाना सूर्य को याद करना है ।" पारसी धर्म के स्वागत में बीरबल की पूरी सहायता प्राप्त थी । बीरबल की परम्परा में सूर्योपस्थान था । अन्त:पुर में हिन्दू महिलाएँ होम करती थीं, इसलिए पारसियों की अग्नि-पूजा कोई नई बात नही । कुछ दिनों बाद (१५८६ ई०) अकबर ने महीनों और दिनों के लिए पारसी नाम स्वीकार किये और पारसियों के चौदह उत्सवों को भी मनाने लगा । अकबर पारसी

धर्म की तरह ही हिन्दू, जैन और ईसाई धर्म के प्रति भी सम्मान प्रकट करता था, इसीलिए सभी उसे अपने-अपने धर्म का मानते थे ।

३. हिन्दू-धर्म का प्रभाव

पोर्तुगीज पादरियो के अनुसार अकबर हिन्दू पूजा-पाठ और रीति-रिवाजो की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया । इबादतखाने के शास्त्रार्थ १५७५ से १५८२ ई० के अन्त तक चलते रहे । काबुल की मुहिम पर रवाना होने के समय से पहले ही, जान पडता है, इबादतखाने की इमारत को तोड दिया गया । किस तरह पुरुषोत्तम पंडित और देवी पंडित ने अकबर को हिन्दू-धर्म की बाते बतलाई, यह बतला चुके है । बीरबल तो हर वक्त उसके साथ रहने वाले नर्म-सचिव थे । वह भी हिन्दू-धर्म की बारीकियों को समझाते थे । अकबर यह भी जानता था कि उसकी प्रजा मे सबसे अधिक संख्या हिन्दुओं की है । मानसिंह, राजा भगवानदास, बीरबल जैसे विश्वासपात्र दूसरे नहीं मिल सकते थे; इसलिए भी हिन्दू धर्म की ओर उसका आकृष्ट होना स्वाभाविक था । हिन्दुओं की कुछ बाते उसने पारसियों मे ही नहीं, अपने पूर्वज तुर्कों में भी देखी थीं । तुर्क भी अपने संबंधी के मरने पर भद्र करते थे, इसलिए अकबर ने भी हिन्दुओं के इस रिवाज को अपनाया । अपनी माँ मरियम मकानी के मरने पर अकबर ने भद्र कराया था । खाने-आजम मिर्जा अजीज कोकलताश की माँ (अकबर की दूधमाँ) अनगा जब मरी, उस वक्त भी अकबर ने भद्र कराया, खानेआजम ने भी बादशाह का अनुसरण किया । पता लगा, दरबारी लोग भी बड़े जोर-शोर से भद्र हो रहे हैं । जब तक उनको रोकने के लिए सन्देश जाये, तब तक चार सौ सिर और मुँह सफाचट हो गये थे । विचारों मे हिन्दू हमेशा से उदार रहे, इसलिए देवी पंडित ने अकबर को यह समझा दिया: इस्लाम, हिन्दू धर्म, सूफी मत ही नहीं, दुनिया के सभी धर्मों में सचाई है, सभी एक भगवान को मानते हैं, सूफी "हमाँ ओऽस्त" (सभी वह है) कहते है, हम "सर्व खलु इदं ब्रह्मं" (यह सब ब्रह्म ही है) मानते है ।

इस परिवर्तन के साथ अकबर को भारत की हरेक बात भाने लगी । मुल्ला बदायूँनी लिखते है : वह अरबी के अपने विशेष अक्षरो—(ह अ स ज आदि) के फर्क को नहीं पसन्द करता था । 'अब्दुल्ला' को वह अब्दुल्ला, 'अहदी' को 'अहदी' कहना पसन्द करता था । मुंशी लोग इलाहाबाद को इलाहाबास लिखते थे । अभी तक बादशाह और दरबारी तुर्कों की पोशाक —लम्बा चोगा, कमर मे कमरबन्द—पहनते थे, अब उसने हिन्दुस्तान की चौबन्दी स्वीकार की, चोगे और अमामे को उतार कर जामा और खिड़कीदार पगड़ी अपनाई । दाढी को धत्ता बताया और तख्त की जगह सिंहासन पर बैठने लगा । दरबार की सारी सजावट

हिन्दू ढंग से होने लगे। बादशाह की देखादेखी अमीरों ने भी तूरानी छोड़कर हिन्दुस्तानी लिबास स्वीकार किया।

नववर्ष (नौरोज) का उत्सव पहले से चला आया था। उसे भी अकबर ने हिन्दू रूप दिया। उस दिन सोने की तराजू पर बादशाह बारह चीजों (सोना, चाँदी, रेशम, सुगन्ध, लोहा, ताँबा, जस्ता, तूतिया, घी, दूध, चावल और सतंजा) से तुलता, ब्राह्मण हवन करा दक्षिणा से आशीष दे घर जाते। जन्मदिन (चाँद मास रजब ५) पर भी चाँदी, ताँबा, कपड़ा, बारह मेवा, मिठाई, तिल के तेल आदि से तुलता और सभी चीजे ब्राह्मणों और गरीबो में बाँट दी जातीं। दशहरे का भी उत्सव बड़ी शान-शौकत से मनाता, ब्राह्मणों से पूजा करवाता, माथे पर टीका लगाता, मोती-जवाहर से जड़ी राखी हाथ में बाँधता, अपने हाथ पर बाज बैठाता, किले के बुर्जों पर शराब रखी जाती। सारा दरबार इसी रंग में रंग जाता।

अकबर सुबह से जमुना के किनारे की ओर पूर्व रूखवाली खिड़कियों पर बैठता और सूर्य के उदय होते ही दर्शन करता। जो लोग सवेरे जमुना स्नान करने आते, वह भी झरोखे पर बादशाह का दर्शन करते, महाबली बादशाह की जयजयकार बोलते। आजाद कहते हैं—"अकबर ने सब कुछ किया। राजपूतों ने भी जान की कुर्बानी हद से गुजार दी" जहाँगीर ने अपने तुजुक में लिखा है: "अकबर ने हिन्दुस्तान के रीति-रिवाज को आरम्भ में सिर्फ ऐसे ही स्वीकार कर लिया, जैसे दूसरे देश का ताजा मेवा, या नये मुल्क का नया सिंगार या यह कि अपने प्यारों और प्यार करने वालों की हर बात प्यारी लगती है।" अकबर इस्लाम का विरोधी न होता यदि उसके सांस्कृतिक समन्वय को स्वीकार किया गया होता। पर, मुल्ले टूट जाने के लिए तैयार थे, झुकने के लिए नहीं। अकबर अशोक की तरह सभीपाखण्डों (धर्मों) का एक समान आदर करता था। लेकिन, मुल्के उसे धर्म से पतित कहकर बदनाम करते थे।

हिन्दुओं ने अकबर की महिमा गाने मे कसर नहीं उठा रखी। एक पुरानी पोथी पेश की गई जिसमें लिखा था कि प्रयाग (इलाहाबाद) में मुकुन्द ब्रह्मचारी ने अपना सारा शरीर काट-काट कर हवन कर दिया। मरने से पहले उन्होंने अपने शिष्यों के पास लिखकर रख दिया था कि हम जल्दी ही एक प्रतापी बादशाह होकर पैदा होंगे। शिष्यों ने यह कहना शुरू किया कि मुकुन्द ब्रह्मचारी ही अकबर के रूप में पैदा हुए है। कहीं हिन्दू बाजी मार न ले जायें, इसलिए हाजी इब्राहीम ने कीड़ा खाई एक गली-सड़ी किताब निकाली जिसमे शेष इब्नअरबी का वचन उद्धृत करते कहा गया था कि अंतिम पैगम्बर मेंहदी की बहुत-सी बीवियाँ होंगी, उसकी दाढी मुँड़ी होगी। अकबर वहीं मेंहदी है।

अकबर, हिन्दुओं के बुरे रीति-रिवाजों को हटाने में भी आनाकानी नहीं करता था। उसने सती होने की मनाही कर दी। हिन्दुओं के आग्रह करने पर अकबर ने कहा—"अच्छी बात है, लेकिन जैसे विधवा सती होती है, वैसे ही स्त्री के मरने पर पुरुष को भी सतता होना चाहिए।" और कहने पर कहा—"विधुर सतता न हो, लेकिन यह जरूर इकरार करे, वह फिर ब्याह नहीं करेगा।" एक-दो वर्ष बाद उसने सती प्रथा रोकने के कानून को कड़ाई के साथ इस्तेमाल किया और कहा जो औरत सती नहीं होना चाहती, उसे पकड़ कर जलाना जुर्म है। मुसलमानों को भी हुकुम दिया : बारह वर्ष की उमर तक लडके का खतना न किया जाय, उसके बाद लड़के के ऊपर छोड दिया जाय, चाहे करे या न करे। राजा भगवानदास का भतीजा जयमल किसी जरूरी हुकुम को लिए दौड़ा-दौड़ करता आ रहा था, चौसा के पास लू से उसकी मृत्यु हो गई। उसकी बीवी जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह की लड़की थी। उसने सती होने से इन्कार कर दिया। उसका पुत्र (जिसका भी नाम उदयसिंह था) और सम्बन्धी कुल की नाक कटती देखकर उसे जलाने के लिए उतारू थे। अंतःपुर में अकबर के पास बहुत तड़के यह खबर पहुँची। वह तुरन्त एक घोड़े पर चढ़ा और किसी को साथ चलने के लिए न कह दौड़ा। ऐन वक्त पर पहुँच गया और राजपूतानी सती होने से बच गई। पहले तो जबर्दस्ती करने वालों को उसने मौत की सजा देना चाही, लेकिन पीछे कैद की सजा कर दी।

गुरु नानक (जन्म १४६८ ई०) की मृत्यु अकबर के पैदा होने से चार वर्ष पहले १५३८ ई० में हुई थी। अभी सिख धर्म आरम्भिक अवस्था में था। नये पंथ के प्रति अकबर के दिल को कोई आकर्षण नहीं हुआ। गुरु अर्जुनदेव उसके समय में मौजूद थे, लेकिन उसने उनके प्रति सम्मान नहीं दिखाया। मौजिजों और करामातों की परीक्षा करके उसने देखा लिया था कि यह सब धोखे-धड़ी की बातें हैं, इसलिए पीरों और गुरुओं के प्रति अन्त में उनका विश्वास नहीं रह गया। बीरबल जरूर सिख धर्म को अच्छी दृष्टि से देखते थे।

४. जैन धर्म का प्रभाव

जैन धर्म ने अकबर के ऊपर विशेष प्रभाव डाला था। जैन मुनि हीरविजय सूरि, विजयसेन सूरि और भानुचन्द्र उपाध्याय अकबर के दरबार में पहुँचे थे। भानुचन्द्र ने कादम्बरी की टीका में जलालुद्दीन अकबर का नाम बड़े आदर के साथ लिया है। हीरविजय का प्रभाव अकबर के ऊपर सबसे अधिक पड़ा। जैन-परम्परा बतलाती है कि उन्होनें अबुलफजल, शेख मुबारक आदि बीस अमीरों के साथ अकबर को जैन धर्म में दीक्षित किया। १५८२ ई० में

काबुल से लौटने के बाद अकबर ने गुजरात के सिपहसालार को मुनि हीरविजय को दरबार मे भेजने के लिए लिखा । मुनि अहमदाबाद में पहुँचे । रिापहसालार के कहने पर उन्होने दरबार मे जाना स्वीकार किया । जैन मुनियो के नियम के अनुसार पैदल ही अहमदाबाद रो चलकर वह सीकरी पहुँचे थे । सीकरी मे धूमधाम से स्वागत हुआ । अबुलफजल को मेहमानदारी का काम सुपुर्द किया गया । कुछ दिनो धर्म और दर्शन पर बातचीत हुई । इराके बाद हीरविजय आगरा गये । वर्षा के अन्त में फिर वह रीकरी आये । उन्होंने बादशाह से कहा, वर्षा के कुछ दिनो मे प्राणिवध बन्द किया जाय, चिड़ियों को पिंजड़े और बन्दियो को जेल रो मुक्त कर दिया जाय । अगले साल (१५८३ ई०) अकबर ने उरी के अनुरार फरमान जारी किया और आज्ञा उल्लंघन करने वाले को मृत्यु-दण्ड निश्चित किया । मुनि के प्रभाव से ही अकबर ने अपने शिकार-प्रेम को छोड़ा । मछली मारना भी बन्द कर दिया । अकबर ने हीरविजय सूरि को 'जगद्गुरु' की उपाधि दी । अकबर ने बहुत-सी चीजें भेंट देनी चाहीं, लेकिन उन्होंने स्वीकार नही किया । १५८४ ई० में वह आगरा और प्रयाग होते हुए गुजरात लौटे । तीन साल बाद बादशाह ने लिखित फरमान जारी करके जजिया को बन्द किया और करीब-करीब साल के आधे दिनों में जानवरों को मारने की मनाही कर दी । भानुचन्द्र उपाध्याय दरबार में बने रहे । १५६३ ई० में दूसरे मुनि सिद्धिचन्द्र लाहौर में अकबर से मिले । उन्हें भी उपाधि और जैन तीर्थों के प्रबन्ध का काम सौंपा । शत्रुञ्जय के तीर्थयात्रियों का कर बन्द कर दिया । शत्रुञ्जय पर्वत (काठियावाड़ के पालीताना के नजदीक) पर आदीश्वर का मन्दिर हीरविजय सूरि ने बनवाया था, जिसमें १५६० ई० के एक अभिलेख में सूरि और अकबर की प्रशंसा की गई है । १५६२ ई० में हीरविजय सूरि ने निराहार रह कर अपना शरीर छोड़ा ।

५. ईसाई धर्म का प्रभाव

पोर्तुगीजों ने काठियावाड़ में दामन के बन्दरगाह पर १५५८ ई० में अधिकार कर लिया । उसके पन्द्रह साल बाद (१५७३ ई० में) अकबर गुजरात गया । उस समय उसने पोर्तुगीजों के बारे में सुना ही नहीं, बल्कि पोर्तुगीज प्रतिनिधियों से मुलाकात और सुलह की । कुछ साल बाद अकबर ने अपना दूतमण्डल सुलह की शर्तों को तय करने के लिए गोआ भेजा । १५७८ ई० में गोआ के वायसराय मेनेजेस ने अन्तानियों कबरास को अपना दूत बनाकर अकबर के दरबार में भेजा । अन्तानियो ने १५७३ ई० में भी सफलतापूर्वक समझौता की बात की थी । अन्तानियों कुछ समय सीकरी में रहा । अकबर को उसने ईसाई धर्म और उसके रीति-रिवाजों के बारे में कितनी ही बातें बतलाई । पर वह साधु

(पादरी) नहीं था, इसलिए विशेष जानने के लिए अकबर ने किसी विद्वान पादरी को बुलाने की सोची। १५७६ ई० मे बगाल का बड़ा पादरी (विकार जेनरल) साधु जुलियन परेरा सातगॉव मे रहता था। अकबर ने उसे दरबार मे बुलाया और उससे ईसाई धर्म के बारे में बहुत-सी बाते पूछ कर जानी। लेकिन साधु परेरा का ज्ञान कम था, वह अच्छा साधु भर था। एक पोर्तुगीज पियेत्री तवारेस अकबर की नौकरी मे था जो कुछ पीछे हुगली बन्दर का कप्तान हो गया। वह भी अकबर को इससे पहिले अधिक जानकारी नहीं दे सका।

(१) प्रथम जेस्वित मिशन (१५८० ई०)—इबादतखाने मे शास्त्रार्थों का जोर था, इसी समय दिसम्बर १५७८ ई० मे अकबर ने गोआ के पोर्तुगीज अधिकारियो के पास ईसाई धर्म के विद्वान को भेजने के लिए एक पत्र भेजा जिसके कुछ वाक्य थे—

"मैने अपने दूत अब्दुल्ला और दामेनिको पेरेज को इसलिए भेजा है कि तुम अपने दो विद्वान आदमियो को मेरे पास भेजो जो अपने साथ धर्म की पुस्तके, विशेषकर सभी इंजीलो को लायें। मै सच्चे दिल से उनकी विशेषता को जानना चाहता हूँ। मै अधिक जोर देकर कहता हूँ कि वह अपनी पुस्तको को लिए हमारे राजदूत के साथ आयें। उनके आने से मुझे अत्यन्त सतोष होगा। वह मेरे प्रिय होगे और मै सभी सम्भव तरीको से उनका सम्मान करूँगा। अगर वह चाहेंगे, तो मै उन्हें बडे सम्मान के साथ और उचित इनाम देकर लौटा दूँगा। उन्हे मुझसे डरना नहीं चाहिए।"

अब्दुल्ला सितम्बर १५७६ में गोआ पहुँचा। पोर्तुगीज उपराज ने उसका बड़ा स्वागत किया। गोआ के पादरी को सालों से जिस बात की आकांक्षा थी, उसे अनायास ही अकबर ने उनके लिए सुलभ कर दिया। उन्होंने नवम्बर में बादशाह के निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। इसके लिए साधु रिदालको अकविवा की अधीनता मे अन्तानियो मोनसेरेत और फ्रांसिस्को एनरिकेज दो साधुओं को भेजना तय किया गया। एनरिकेज पेरेज ईरानी मुसलमान से ईसाई हुआ था और दुभाषिये का काम अच्छी तरह कर सकता था, क्योंकि वह फारसी-भाषी था। साधु रिदालफो (जन्म १५५०ई०) नेपल्स राज्य के एक अत्यन्त प्रभावशाली ड्यूक का लड़का था और पिता के विरोध करने पर भी जेस्वित सम्प्रदाय के साधुओं में दीक्षित हुआ। २८ वर्ष की उमर में सितम्बर १५७८ में काफिरों को ईसाई बनाने के ख्याल से वह गोआ में उतरा। आने से एक महीने बाद ही बीजापुर के सुल्तान के बीस नौकरों को ईसाई बनाने में सफल हुआ। वह गोआ में दर्शन का प्रोफेसर था। उसने स्थानीय भाषा (कोंकणी) को बहुत तत्परता से सीखकर फारसी पढ़ी।

साधु अन्तानियो मोनसेरेत स्पेन का निवासी था। अकबर के दरबार में एक बार शास्त्रार्थ के समय उसने पैगम्बर के धर्म के कडे शब्दों में जबर्दस्त प्रहार किये जिसके लिए अकबर को रोकने की जरूरत पड़ी। १५८२ ई० में वह गोआ लौटा। मोनसेरेत को दूतमण्डल का इतिहास-लेखक नियुक्त किया गया था। उसने हर रोज की घटनाओं को उसी रात लिख डालने का नियम बना लिया था। (पादरियों के तीसरे मिशन से यह सुनकर अकबर को बड़ा खेद हुआ कि उसे अरबो ने बन्दी बना लिया है।) मोनसेरेत का विवरण वास्को द-गामा के बाद उत्तर भारत के बारे मे सबसे पुराना यूरोपीय अभिलेख है। इसमें अकबर के १५८१ ई० के काबुल-अभियान का बहुत अच्छा वर्णन है। मोनसेरेत शाहजादा मुराद के अध्यापक के तौर पर अकबर के साथ जलालाबाद (अफगानिस्तान) तक गया था।

अकविवा और उसके दोनों साथी गोआ से समुद्र के रास्ते १७ नवम्बर, १५७९को दामन पहुंचे। वहाँ से बलसार और नौसारी होते दिसम्बर मे सूरत में सल्तनत के भीतर दाखिल हुए। १५ जनवरी १५८० को उन्होंने एक कारवाँ के साथ ही फिर यात्रा शुरु की। मार्ग में डाकुओं का डर था। इसलिए किसी सशस्त्र बड़े कारवाँ के साथ ही यात्रा की जा सकती थी। मुकरमुंडा, तलोदा (खानदेश), फिर सुल्तानपुर होते नर्मदा पार हो मांडू और उज्जैन पहुँचे। ६ फरवरी को सारंगपुर (जिला देवास) पहुँचे, छह दिन चलकर सिरोज जाने पर अकबर के भेजे सैनिकों ने उसका स्वागत किया। नरवर, ग्वालियर और धौलपुर होते २८ फरवरी को पादरी सीकरी पहुँचे। अकबर उनसे मिलने के लिए इतना उत्सुक था कि नगर में पहुँचते की उन्हें अपने पास बुलाया और रात को दो बजे तक बातें करता रहा। उसने बहुत-सा धन देना चाहा, लेकिन भोजन आदि की आवश्यक चीजों को छोड़कर साधुओं ने कोई चीज स्वीकार नहीं की। पेरेज ने दुभाषिया का काम किया। उसे हिदायत कर दी गई कि साधुओं को कोई कष्ट न होने पाये।

अगले दिन दीवानखास में अकबर ने उनसे मुलाकात की। ३ मार्च को स्पेन के राजा फिलिप (१५६६-७२ ई०) के लिए छपी सुन्दर जिल्द बँधी बाइबिल अकबर को भेंट की गई। (पीछे १५६५ ई० में यह और दूसरी यूरोपीय पुस्तकें अकबर ने ईसाई साधुओं को दे दीं।) बाइबिल को अपनी पगड़ी हटा कर उसने बड़े सम्मान के साथ सिर पर रखा और भक्तिभाव से चूमा। साधु अपने साथ ईसा और कुमारी मरियम के चित्र लाये थे। अकबर ने अपने चित्रकारों को उन्हें उतारने के लिए कहा। महल के एक भाग में साधुओं को एक छोटा-सा मन्दिर बनाने की इजाजत दी। अकबर एक दिन स्वयं वहाँ दर्शन करने के लिए गया। उसने अपने दस वर्ष के पुत्र मुराद को ईसाई धर्म और पोर्तुगीज भाषा सीखने के लिए मोनसेरेत के सुपुर्द किया। साधुओं को राजधानी में धर्म-उपदेश करने की

पूरी छूट थी। इसी समय एक पोर्तुगीज मर गया। उसकी शवयात्रा शहर में सलीब और मोमबत्तियों के साथ निकाली गई। जेस्वित पादरी धर्मान्ध मुल्लों से किसी प्रकार कम नहीं थे। अकबर के समन्वयवाद को वह पसन्द नहीं कर सकते थे। अकविवा ने १० दिसम्बर, १५८० के अपने पत्र में इस असहिष्णुता का परिचय दिया है—

"हमारे कानों मे विद्रूप और घृणित मुहम्मद के नाम के सिवा और कुछ नहीं पडता।....... संक्षेप में यहाँ मुहम्मद ही सब कुछ है। इस नारकीय राक्षस के सम्मान मे वह अपने घुटने मोड़ते, सिजदा करते, हाथो को ऊपर उठाते तथा लोगों को दान देते है। हम सचाई को जरा भी खोल कर कह नही सकते। अगर हम अधिक दूर तक जायें, तो बादशाह के जीवन को खतरे में डाल देगे।"

अकविवा और सोनसेरेत ने अकबर को ईसाई धर्म के बारे में बहुत-सी बातें बतलाईं। यह भी बतला चुके हैं कि इबादतखाने के शास्त्रार्थ में मोनसेरेत ने जबान पर संयम से काम नहीं लिया था। अकबर को कुछ मौलवियों ने सलाह दी कि इस्लाम और ईसाई धर्म की सच्चाई के लिए अग्नि-परीक्षा ली जाये। इस्लाम का दावेदार हाथ में कुरान लेकर और ईसाई साधु इंजील लेकर आग मे घुसें। जो अक्षत-शरीर बाहर निकल जाये, उसके धर्म को सच्चा माना जाये। अकबर को यह बात पसन्द आई। उसने एक तीन-पाँच करने वाले मुल्ला को तजबीज कर लिया : इस तरह उससे छुट्टी मिल जाती, लेकिन ईसाई साधुओं ने उसे अपने धर्म के खिलाफ समझ कर मानने से इन्कार कर दिया। ईसाई साधुओं ने लिखा है कि अकबर ने मक्का की यात्रा के बहाने गोआ जाते समय बप्तिस्मा लेने की बात कही थी।

काबुल के अभियान के समय मोनसेरेत शाहजादा मुराद का शिक्षक होकर साथ था, लेकिन साधु अकविवा ने सीकरी में ही रह ध्यान और तपस्या में अति करके अपने शरीर को कमजोर कर लिया। काबुल-विजय के बाद अकबर ने अकविवा को बुलाया। वह सरहिन्द में पहुँचते-पहुँचते बुरी तौर से बीमार हो गया। लेकिन जान बच गई और लाहौर में बादशाह से मुलाकात की। उसने कहा कि शाही अफसरों और दामन के पोर्तुगीजों में बिगाड़ चल रही है। अकबर ने बहुत आश्चर्य प्रकट कर बाहर से असंतोष भी प्रकट किया। पर, वस्तुतः अकबर पोर्तुगीजों को भारत की भूमि पर देखना नहीं चाहता था, इसलिए उसके अफसरों ने अपने मन से बिगाड़ नहीं पैदा किया था। फरवरी १५८० में ही (जब कि ईसाई साधु सीकरी की ओर जा रहे थे) अकबर ने फिरंगियों के बन्दरगाहों पर अधिकार करने के लिए अपने दूधभाई जेनरल कुतुबुद्दीन की अधीनता में एक सेना तैयार कराई थी और

गुजरात तथा मालवा के अफसरो को सहयोग देने के लिए हुकुम दिया था। कहते है, निजी मामूली झगडो ने बढ़ कर पोर्तुगीजों और मुगलों के बीच संघर्ष का रूप लिया था। पोर्तुगीज सारे समुद्र पर अपना शासन मानते थे, बिना पार-पत्र के वह मक्का या दूसरी जगह जाने वाले जहाजों को पकडे बिना नहीं रहते थे। अकबर इस मनमानी को कैसे मान सकता था ? लेकिन, उसके पास मजबूत सामुद्रिक बेड़ा नहीं था। आगे हम देखेगे कि इसकी तरफ उसका ध्यान गया था, किन्तु समुद्र में कूदकर ही वह सागर-विजय कर सकता था। रावी या हुगली नदियों के लिए तैयार किये गये बजड़े पोर्तुगीजों का मुकाबला नहीं कर सकते थे।

१५७५ ई० मे गुलबदन बेगम के हज करने के लिए अकबर ने दामन के पास बूतसर गॉव को पोर्तुगीजों को देकर पार-पत्र प्राप्त किया था। गुलबदन बेगम के खैरियत के साथ लौटने पर उसने उक्त गॉव को छीन लेने का हुकुम दिया। पर पोर्तुगीजों ने मुगल सेना को सफल होने नही दिया और साथ ही एक मुगल जहाज को भी पकड़ लिया। इसी समय दि्वोगो लोपेस कूतिन्हो के अधीन पोर्तुगीज नौसैनिक बेड़ा सूरत के पास ताप्ती में पड़ा हुआ था। उसके कुछ सैनिक शिकार के लिए मुगल सीमा के भीतर यह समझकर उतर गये कि वह मित्रदेश है। मुगल सैनिकों ने उन पर आक्रमण करके नौ को पकड़ लिया और सूरत में लाकर उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा। इन्कार करने पर कतल कर दिया। उनके सरदार ला सेरदा के सिर को काटकर राजधानी में भेजा गया। अकबर ने अनजान होने का बहाना करके इस झगड़े के लिए अफसोस प्रकट किया।

१५८० ई० में राजादेश के अनुसार कुतुबुद्दीन ने १५ हजार सवार एकत्र किये और दामन के इलाके में लूट-मार की। १५ अप्रैल, १५८२ को उसने दामन बन्दरगाह पर आक्रमण किया। लेकिन पोर्तुगीज नौसेना ने उसे हटने के लिए मजबूर किया। पोर्तुगीज साधुओं के कहने पर अकबर इस बात से अपनी अज्ञता प्रकट करते कहा : कुतुबुद्दीन सिपहसालार है, उसने स्थिति को देखकर अपनी जिम्मेवारी पर यह काम किया होगा। चूँकि उसकी नीयत खराब नहीं थी। इसलिए उसको कुछ कहा नहीं जा सकता। पीछे अकबर का हुकुम जाने पर कुतुबुद्दीन ने अपनी सेना तुरन्त हटा ली। इसी समय पोर्तुगीजों ने दिव (सौराष्ट्र) पर आक्रमण को भी विफल कर दिया। इसमें तो शक नहीं कि पोर्तुगीज साधु केवल धर्म-प्रचार के लिए वहाँ नहीं पहुँचे, बल्कि वह अपने प्रभु— स्पेन-पोर्तुगाल के राजा—की सेवा भी बजा लाना चाहते थे। इसी समय अकबर ने यूरोप के राजाओं—विशेषकर पोर्तुगाल के राजा के दरबार में दूतमण्डल भेजने की बात सोची। तुर्की के तुर्को

से उसकी पटती नहीं थी, चाहता पोर्तगाल से मिलकर तुर्कों को दबाया जाय। जब यह मालूम हुआ कि केथलिकों के पोप या यूरोप के राजाओं पर जबर्दस्त प्रभाव है, तो उसके पास भी अकबर ने धार्मिक जिज्ञासा प्रकट करते लिखा मैं मुसलमान नहीं हूँ। मेरे पुत्र अपनी इच्छानुसार चाहे जिस धर्म को स्वीकार कर सकते है।

मिश्नरी गोआ के आदेश पर लौटने के लिए तैयार थे, लेकिन अन्त मे अकविवा को शाहजादा मुराद के शिक्षक के तौर पर रहने दिया गया।

काबुल के अभियान के कारण इबादतखाने का शास्त्रार्थ बन्द हो गया। अब उसका फिर प्रबन्ध किया गया। एक रात दीवानखास में मुसलमान, हिन्दू, ईसाई विद्वान जमा हुए। कुरान और बाइबिल के महत्व पर बहस छिड गई। अकबर ने कहा, निश्चित दिनो मे शास्त्रार्थ चलता रहे जिसमे मुझे मालूम हो कि कौन धर्म अधिक सच्चा है। अगली शाम की सभा में दोनों बड़े शाहजादे और कितने ही अमीर तथा अधीन राजा भी मौजूद थे। फिर सभा में उपस्थिति कम होने लगी और नौबत यहाँ तक पहुँची कि सिर्फ ईसाई साधु ही वहाँ जाने के लिए रह गये। अकबर की जिज्ञासा पूरी हो गई थी, पुराने धर्मों से उसे आशा नहीं रह गई। उसने सोचा, यदि इस्लाम, ईसाई या हिन्दू किसी एक धर्म को स्वीकार करे, तो दूसरों के सम्मिलित विरोध का सामना करना पडेगा। व्यवहार में वह अधिकाधिक हिन्दू विधि-विधानो और रीति-रिवाजों की तरफ खिंचता जा रहा था और वैसा ही आचरण भी करता था। उसने सोचा, सभी धर्मों की अच्छी-अच्छी बातो को लेकर एक नये धर्म दीन-इलाही की स्थापना की जाय। इस प्रकार पाँच वर्ष के बाद १५८२ ई० में धार्मिक शास्त्रार्थ बन्द हो गये।

यूरोप मे दूतमण्डल भेजने मे यद्यपि सफलता नहीं हुई, तथापि अकबर ने उसके लिए कोशिश जरूर की। दूतमण्डल का मुखिया सैयद मुजफ्फर और सहायक साधु मोनसेरेत बनने वाले थे। साधुओं को गोआ से लाने वाले ईरानी (शिया) अब्दुल्ला खाँ को गोआ से आगे नहीं जाना था। कितने ही समय तक तैयारी के बाद १५८२ ई० की गर्मियों मे दूतमण्डल रवाना हुआ। ५ अगस्त को सूरत पहुँचकर उन्हें यह जानकर बहुत अफसोस हुआ कि एक दिन पहले वहाँ दो ईसाई तरुणों को कतल कर दिया गया। जैन व्यापारियों ने एक हजार मुहर देकर उनके प्राण बचाने की कोशिश की, लेकिन शाही अफसरों ने नहीं माना। पोर्तुगीजो के साथ सम्बन्ध बहुत खराब हो चुका था। और उन्हीं की सहायता से दूतमण्डल यूरोप जा सकता था। सैयद मुजफ्फर जबर्दस्ती भेजा गया था, वह भाग कर दक्खिन चला गया। अब्दुल्ला खाँ मोनसेरेत के साथ दामन और फिर गोआ गया। उस समय कोई अनुकूल जहाज भी नहीं जा रहा

था, इसलिए गोआ के अधिकारियो ने दूतमण्डल की यात्रा अगले साल के लिए मुल्तवी कर दी । अन्त मे अब्दुल्ला को राजधानी लौट जाना पडा ।

अकविवा इस सारे समय सीकरी मे था । अब अकबर के विचारो मे भारी परिवर्तन देखकर उसने सीकरी मे रहना बेकार समझा । बडी मुश्किल से उसे इजाजत मिली और मई १५८३ में वह गोआ लौट सका । जेस्वित पादरी अपने इलाको मे लोगो को ईसाई बनाने मे नग्न पशु-बल का प्रयोग करते थे । हिन्दू मन्दिरो को तोडना, हिन्दुओं के भावो को हर तरह से ठेस पहुँचाना, छल-कपट जैसे भी हो, हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित करना, यह बाते उनके लिए आम थी—निष्ठुर सेण्ट जेवियर उनके लिए आदर्श था । ऐसे ही किसी व्यवहार से हिन्दू आपे से बाहर हो गये और गोआ पहुँचने के दो महीने बाद अपने चार साथियों के साथ अकविवा मारा गया । पोप ने अपने धर्म-प्रेम का परिचय देते हुए १८६३ ई० में उसे संत शहीद घोषित किया । अकविवा सीकरी छोड़ते वक्त अपने साथ एक रूसी गुलाम-परिवार को भी ले गया । 'जिसमे माँ-बाप' दो बेटे तथा कुछ और आदमी थे । बहुत दिनों से मुसलमानो में रहते वह रंग और नाम मे ईसाई थे । अकबर की माँ इसका विरोध करती रही, लेकिन अकबर ने उन्हें जाने की इजाजत दे दी ।

पादरी बडी लालसा से दरबार में आये थे । वह समझते थे, अकबर ईसाई हो जायगा, फिर हिन्दुस्तान का कान्स्तन्तिन बनकर अपनी सारी प्रजा को ईसाई बनवा देगा । सफल न होने पर उन्होने अंगूर खट्टे की कहावत चरितार्थ की और कहा कि अकबर सिर्फ तमाशा के लिए साधुओं से पूछताछ करना चाहता था ।

पोर्तुगीजो से भिन्न अँग्रेज जेस्वित टामस स्टिफन अक्तूबर, १५७६ में गोआ पहुँचा । शायद भारत मे रहने वाला वह पहला अँग्रेज था जिसने चालीस वर्ष तक गोआ और आसपास में कैथलिक धर्म का प्रचार किया । कोकणी भाषा पर उसका पूरा अधिकार था । इस भाषा का उसने पहिला व्याकरण बनाया जो उसके मरने के बाद १६४० ई० में गोआ में छपा । कोकणी ईसाइयो के लिए उसने एक बहुत लम्बी कविता रची । १० नवम्बर को अपने बाप के नाम हिन्दुस्तान के बारे मे लिखा उसका लम्बा पत्र हकल्विट द्वारा १५८६ ई० मे प्रकाशित हुआ । इसे ही पढकर अँग्रेजों को पहले-पहल हिन्दुस्तान के प्रति दिलचस्पी हुई जिसका अन्तिम परिणाम भारत में अँग्रेजो के राज्य का कायम होना था ।

१५८१ई० में इंगलैण्ड की रानी एलिजाबेथ ने लेवान व्यापारी कम्पनी को पूर्वी भू-मध्यसागर में व्यापार करने का अधिकार-पत्र दिया । इसी कम्पनी ने १५८३

ई० मे लन्दन के एक व्यापारी जान् न्यूबरी को हिन्दुस्तान भेजा, । वह हिन्दुस्तान मे आने वाला पहला अँग्रेज बनिया था । उसके साथ एक सोनार विलियम लीड्स और एक चित्रकार जेम्स स्टोरी भी हिन्दुस्तान आये । इन्हे भारत के बारे मे जो ज्ञान था, वह स्टिफन के पत्रो से ही था । लन्दन का दूसरा बनिया राल्फ फिच भी दुनिया की सैर करने के लिए इनमे शामिल हो गया था । त्रिपोली (सीरिया) से स्थलमार्ग द्वारा हलब, बगदाद होते हुए होरमुज (ईरान) पहुँच जहाज पकडना चाहा । पोर्तुगीज किसी दूसरे का पूर्व में आना सहन नही कर सकते थे । होरमुज मे उन्होंने इन अँग्रेजो को पकड़ कर जेल मे डाल दिया, फिर कुछ दिनो बाद गोआ भेज दिया । गोआ मे भी वह जेल मे बन्द रहे और साधु स्टिफन की अमानत पर छोड़े गये । जेम्स स्टोरी चित्रकार होने से जेस्वितो का कृपापात्र बन गया । वहीं उसने एक अधगोरी लडकी से ब्याह कर अपनी दूकान खोल दी और देश लौटने का ख्याल छोड़ दिया । उसके तीन साथी प्रोटेस्टेन्ट होने से कैथलिको की दृष्टि में नस्तिक थे । उन्हें खतरा मालूम हुआ, इसलिए जमानत के जब्त होने की परवाह न कर चुपके से निकल भागे और बेलगाँव, बीजापुर, गोलकुण्डा, मुसलीपटम, बुरहानपुर होते हुए मांडू पहुँचे । यात्रा में थोड़ा-बहुत व्यापार करके वह अपना खर्च चला लेते थे । मांडू में उन्हें अब अकबरी दरगाह देखने की इच्छा हुई और उज्जैन, सिरोंज होते बरसात मे बढ़ी हुई बहुत-सी नदियो को कितने ही बार तैर कर पार कर वह आगरा पहुँचे । इनमें फिच ही लौटकर इंगलैण्ड जा सका । १५८५ ई० के जुलाई या अगस्त के आरम्भ मे वह अकबर की उपस्थिति मे सीकरी पहुँचे । २२ अगस्त को अकबर ने काबुल अभियान के लिए प्रयाण किया । लीड्स अकबर का नौकर हो गया । वह सुनार-जौहरी थी । न्यूबरी और फिच २८ सितम्बर तक सीकरी में रहे । न्यूबरी ने हलब या कन्सतन्तिनोपोल जाने का निश्चय किया और फिच को बंगाल और पेगू (बर्मा) जाने के लिए कहा । फिच बंगाल और बर्मा की यात्रा करके १५६१ ई० में इंगलैण्ड लौटा । न्यूबरी का फिर पता नही लगा । फिच ने सोनार गाँव (ढाका जिला) के बन्दरगाह से हिन्दुस्तान छोड़ा । न्यूबरी की मण्डली को १५८३ ई० के आरम्भ में इंगलैण्ड छोड़ते समय रानी एलिजाबेथ ने हिन्दुस्तान और चीन के बादशाहों के लिए सिफारिशी पत्र लिखे थे । रानी ने जेलाबदिन एखेबर का नाम सुन लिया था और उसके नाम खम्भात (कम्बात) के राजा के तौर पर पत्र लिखा था ।

(२) द्वितीय जेस्वित मिशन (१५६० ई०)—१५८३ ई० में अकविवा के चले जाने के बाद सात वर्ष तक किसी ईसाई मिशनरी के अकबर के दरबार में पहुँचने का पता नहीं लगता । १५६० ई० में एक ग्रीक (यूनानी) पादरी लेउ ग्रिमोन घूमता-घामता पंजाब पहुँचा और अकबर के दरबार में पूछताछ

होने पर उसने गोआ से पादरियों को बुलाने की सलाह दी। अकबर ने गोवा को एक जोरदार पत्र लिखा। ग्रिमोन के बारे में अपने अफसरों के पास उनसे एक अच्छा सिफारिश पत्र दिया। गोआ में ग्रिमोन ने खूब-चढ़ा कर अकबर की श्रद्धाभक्ति को बतलाया। पोर्तुगीज साधु एदवर्द लेवतान और क्रिस्तोफर दीबेगा एक सहायक के साथ गोआ से भेजे गये जो १५६१ ई० मे अकबर के पास लाहौर पहुँचे। अकबर ने उनका अच्छा स्वागत किया। हर तरह सुभीता दे महल में ही उनको एक घर रहने के लिए दिया। अमीरों और शाहजादों के पढ़ने के लिए पादरियों ने एक स्कूल भी खोल दिया। उनको यह जानते देर नहीं लगी कि अकबर ईसाई बनने वाला नहीं है। अब उन्हें वहाँ रहना पसन्द नहीं आया। लेकिन उनके ऊपर वालों ने साधु लेवतान को वहीं रहने के लिए आज्ञा दी। बेगा लौट गया। शायद अभी भी आशा थी, लेकिन वह कभी पूरी होने वाली नहीं थी, इसलिए १५६२ ई० में दूसरा साधु भी गोआ लौट गया। शायद इसमें उन्होंने उतावलापन दिखलाया जिसके लिए पोप के दरबार में उनकी भर्त्सना हुई। अकबर की धार्मिक जिज्ञासा हर समय तीव्र नहीं रह सकती थी। इसी वक्त राजकीय कार्य उसे सिन्ध के झगड़ों की ओर आकृष्ट कर रहे थे, ऐसे समय वह एकान्त मन से मादरियों के सरमन को सुनने के लिए कैसे तैयार हो सकता था ? उसकी जिज्ञासा का मतलब भी पादरी गलत लगा रहे थे। वह सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता था, इसलिए शास्त्रार्थ, सत्संग द्वारा पारसी-जैन धर्माचार्यों के ज्ञान से लाभ उठाना चाहता था। वह सभी धर्मों के प्रति सम्मान दिखलाना चाहता था, इसलिए सबको खुश नहीं कर सका।

हिजरी १००० (१५६१-६२ ई०) में पैगम्बर मुहम्मद के मदीना-प्रवास के हजार साल हो रहे थे। इसके उपलक्ष्य में अकबर ने एक 'सहस्रवर्षी इतिहास' (तारीख अलफी) लिखवाया। ११ मार्च, १५६२ में अकबर का ३७वाँ सनजलूस शुरु हुआ। इसी साल सहस्राब्दी के उपलक्ष्य में नये सिक्के ढाले गये। हिजरी १००२ (१५६३-६४ ई०) में अकबर ने कई आज्ञाएं जारी की जिनमें मालूम होगा कि धार्मिक सहिष्णुता का वह कितना ख्याल रखता था—

"बचपन में या और तरह से जो हिन्दू अपनी इच्छा के विरुद्ध मुसलमान बना लिया गया हो, यदि वह अपने बाप-दादों के धर्म में लौटना चाहता हो, तो उसे इसकी आज्ञा है।"

"किसी आदमी को उसके धर्म के कारण बाधा नहीं दी जा सकती। हरेक आदमी अपनी इच्छानुसार जिस धर्म में चाहे, उसमें जा सकता है।"

"यदि कोई हिन्दू औरत मुसलमान से प्रेम करके मुसलमान हो जाये, तो उसे उसके पति से जबर्दस्ती छीन कर उसके परिवार को दे देना चाहिए ।"

"यदि कोई गैर-मुस्लिम अपना गिरजा, यहूदी धर्म-मन्दिर, देवालय या पारसी समाधि बनना चाहे, तो उसमें कोई बाधा नहीं देना चाहिए । "

यूरोपियन इतिहासकार अकबर की सदिच्छाओं में भी दुरिच्छा और उदारता में भी दोष निकालने से नहीं चूकते । उपर्युक्त बात को उद्‌धृत करके विन्सेण्ट स्मिथ ने यह बतलाना चाहा है कि अकबर की उदारता और सहिष्णुता का स्रोत इस्लाम के पास पहुँचते-पहुँचते सूख जाता था । वस्तुत: इसमें अकबर का दोष नही था । इस्लाम के दावेदार फूटी आँखों भी दूसरे धर्म को समृद्ध रहते नहीं देखना चाहते थे । वह एकतरफा फैसला चाहते थे जिसके लिए अकबर तैयार नहीं था ।

(३) **तृतीय जेस्वित मिशन** (१५६४ ई०)—अकबर ने गोआ के पोर्तुगीज उपराज को विद्वान पादरी भेजने के लिए तीसरी बार (१५६४ ई०) में पत्र लिखा । पादरियों में इसके लिए उत्साह नहीं था, लेकिन पोर्तुगीज उपराज उसके राजनीतिक महत्व को भी समझता था । इस बार अपनी धर्मान्धता के लिए प्रसिद्ध संत फ्रांसिस जेवियर के भतीजे के बेटे साधु जेरोम जेवियर, एक पोर्तुगीज इमानुयेल पिनहेरो तथा साधु बेनेदित्त गोयेज को भेजने का निश्चय किया गया । प्रथम मिशन का आर्मेनियम दुभाषिया इन साधुओं के साथ भी भेजा गया । जेरोम कई सालों से हिन्दुस्तान में ईसाई धर्म का प्रचार कर रहा था । उसने बड़ी लगन के साथ इस काम को उठाया और वह लगातार २० वर्षों तक (अकबर के मरने के बहुत पीछे तक) मुगल-दरबार में रहा । साधु पिनहेरो अधिकतर लाहौर में पड़ा रहा, अकबर के साथ घनिष्ठता स्थापित करने का उसे मौका नहीं मिला । इसने कितने ही पत्र लिखे थे जिनसे उस समय की स्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ता है । गोयेज दरबार से प्राय: अलग-अलग हिन्दुस्तान में आठ वर्ष रहा । जेस्वित नेताओं ने जनवरी १६०३ में उसे तिब्बत भेजा । वह तिब्बत होते चीन पहुँचकर वहीं १६०७ ई० में मरा । अकबर के आखिरी वर्षों और जहाँगीर के शासन-काल तक के इतिहास की बहुमूल्य सामग्री इन जेस्वित पादरियों के पत्रों और लेखों से मिलती है ।

तीनों साधु दुभाषिये के साथ ३ दिसम्बर १५६४ में गोआ से दामन, अहमदाबाद, पाटन, राजस्थान हो पाँच महीने बाद ५ मई, १५६५ में लाहौर पहुँचे । उनकी यात्रा एक बड़े कारवाँ के साथ धीरे-धीरे हुई थी, नहीं तो दो महीने से अधिक समय नहीं लगता । खम्भात और लाहौर के बीच के अधिकांश

भूभाग को उन्होंने निर्जन और रेगिस्तानी कहते लाहौर के नजदीक के कुछ मंजिलों तक की ही जमीन को उर्वर बतलाया है । रास्ते में गर्मी और धूल से उनकी बुरी हालत थी । कॉंरवॉं में ४०० ऊँट, १०० गाड़ियॉं, सैकड़ों घोड़े और बहुसंख्यक पैदल यात्री थे, जल दुर्लभ था जहॉं मिलता भी, खारा-सा होता। लाहौर में पहुँचने पर अकबर ने उनकी बहुत खातिर की और पहुँचते ही उनसे मुलाकात की । सम्मान दिखाने मे अकबर ने इतनी उदारता दिखलाई थी जिसकी वह आशा नहीं कर सकते थे । उसने उन्हें अपने आसन के एक भाग में या युवराज के बैठने के स्थान में बैठाया । उन्हें सिजदा (दंडवत्) नहीं करने दिया जो कि राजाओं के लिए भी अनिवार्य था । साधु अपने साथ मसीह और कुमारी मरियम की भारी मूर्ति ले आये थे । अकबर ने उनके सामने बड़े अदब से सिर झुकाया और भारीपन का ख्याल न कर देर तक अपने हाथ में लिये रहा । एक दिन वह उनकी प्रार्थना में भी गया और ईसाइयों की तरह घुटने टेक हाथ उठा कर प्रार्थना की । १५ अगस्त के मरियम के महोत्सव में उसने अपनी सुन्दर मूर्तियो के साथ प्रार्थना-भवन को सजाने के लिए कीमती जरी के पर्दे भेजे । अकबर और शाहजादा सलीम कुमारी मरियम के प्रति विशेष भक्ति दिखलाते थे । साधुओं के साथ एक पोर्तुगीज चित्रकार आया था जिससे अकबर ने कई चित्र बनवाये । शाहजादा ने गिरजा बनाने के लिए बाप से एक अच्छी जगह प्राप्त की और अपने खर्च से वहॉं इमारत बनवा देने के लिए कहा । ग्रिमोन की तरह जेवियर और पिनहोर ने भी लाहौर से १५६५ के अगस्त-सितम्बर के अपने पत्रों में उल्लेख किया है कि अकबर इस्लाम के खिलाफ है । जेवियर कहता है—

"बादशाह ने अपने दिमाग से मुहम्मद के धर्म को बिल्कुल निकाल दिया है । उसका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर है । भगवान और सूर्य की पूजा करता हैं । .. इस वक्त हिन्दू उसके कृपापात्र हैं । मैं नहीं जानता, मुसलमान इसे कैसा सोचते हैं, बादशाह मुहम्मद भी मजाक उड़ाता हैं ।"

महल के पास एक सुन्दर स्थान को गिरजे के लिए मिलने का उल्लेख करते पिनहेरो कहता है —

"इस बादशाह ने मुहम्मद के झूठे धर्म को नष्ट कर दिया, उसे बिल्कुल बदनाम कर दिया । इस शहर में न कोई मस्जिद है, न कुरान ।....जो मस्जिदें पहले थीं, उन्हें घोड़ों का अस्तबल या गोदाम बना दिया गया है । मुसलमानों को अत्यन्त लज्जित करने के लिए प्रत्येक शुक्रवार को ४७ या ५० सूअर लाकर बादशाह के सामने लड़ाये जाते हैं । वह उनके खॉंगों (दंस्ट्रा) को लेकर सोने से मढ़ा कर रखता है । बादशाह ने अपना एक धर्म बनाया है जिसका वह खुद

पैगम्बर है । उसके बहुत से अनुयायी हैं, लेकिन पैसे के लिए ही । वह भगवान और सूर्य की पूजा करता है । वह हिन्दू है और जैन सम्प्रदाय का अनुगमन करता है । हमारे स्कूल में बहुत ऊँचे मन्सब के अमीरो के लड़के तथा बादशाह के तीन बेटे पढ़ते हैं, दो शाहजादे ईसाई होना चाहते है ।..."

इसमें शक नहीं, ईसाई साधुओं ने यहाँ कितनी ही बातों में अतिशयोक्ति से काम लिया है और बादशाह के इस्लाम के सख्त विरोधी होने की बातों को बढा-चढा कर कहा है । शायद वह इस्लाम के साथ अपने हृदय की घृणा को अकबर के नाम से प्रकट करना चाहते थे । हम अकबर के फरमान को उद्धृत कर चुके हैं जिसमें उसने हरेक आदमी को अपनी इच्छानुसार बिना किसी बाधा के धर्म स्वीकार करने के लिए कहा है । १६०१ ई० में पिनहेरो का स्थान लेने के लिए साधु कोर्सी लाहौर पहुँचा । उसने अकबर को मरियम का चित्र प्रदान किया, जिसे उसने बड़े सम्मान के साथ स्वीकार किया । उसने पोप के बारे में भी कितनी बातें पूछीं । अप्रैल १६०१ में जब वह आगरे की तरफ चला,तो जेवियर और पिनहेरो उसके साथ थे । २० मार्च, १६०१ में लिखे एक पत्र को देखकर अकबर ने एक दूतमण्डल गोआ भेजा । साधु गोयेज इस दूतमण्डल के साथ था । मई के अन्त में वह गोआ पहुँचा । भेंट में एक कीमती घोड़ा, शिकारी चीता और दूसरी बहुत-सी चीजें थीं । बुरहानपुर और असीरगढ़ में पकड़े गए कितने ही पोर्तुगीज बन्दी स्त्री-पुरुषों को भी अकबर ने गोयेज के साथ जाने दिया । अकबर ने अपने इस पत्र में धर्म-जिज्ञासा की कोई बात नहीं की थी, दोनों देशों में व्यापार और दूसरी तरह के अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी । उसने कुछ चतुर शिल्पियों को माँगा था ।

गोआ में रहते समय साधु को तिब्बत जाने का हुकुम मिला । केथलिकों को आशा थी कि तिब्बत में धर्म-प्रचार में बड़ी सफलता होगी । साधु मचादो आगरा में गोयेज का स्थान लेने के लिए उसके साथ भेजा गया । अकबर बुरहानपुर से अप्रैल १६०१ में चलकर मई में आगरा पहुँच चुका था । वहीं गोयेज और मजादो दरबार में हाजिर हुए । अकबर ने पिनहेरो को लाहौर जाने की सम्मति दी । वहाँ का नया सिपहसालार कुलिच खान ईसाइयों का विरोधी था । पिनहेरो ने बादशाह से एक आज्ञापत्र देने के लिए प्रार्थना की जिसमें बिना किसी बाधा के इच्छुकों को वह ईसाई बना सके । अब तक ऐसी आज्ञा सिर्फ मौखिक थी, लेकिन अब अकबर ने अपना मुहर किया हुआ पत्र पिनहेरो को प्रदान किया ।

जिस समय जेस्वित केथलिक अपना प्रभाव बढ़ाने में लगे हुए थे, उसी समय उनका विरोधी एक अंग्रेज बनिया जान मिल्डेनहाल भी वहाँ पहुँचा । मिल्डेनहाल

१६०० ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का नौकर हुआ। उसे व्यापार की सुविधा प्राप्त करने के लिए रानी एलिजाबेथ ने अकबर के पास पत्र देकर भेजा। मिल्डेनहाल लन्दन से जहाज में चलकर १२ फरवरी, १५६६ को सिरिया (शाम) के तट पर उतरा। फिर स्थल-मार्ग से चल २४ मई को हबल पहुँच वहाँ एक साल से अधिक रहकर ७ जुलाई, १६०० को कारवाँ के साथ प्रस्थान किया। ईराक, ईरान होते कन्दहार में वह अकबर के राज्य की सीमा में दाखिल हुआ। कन्दहार से १६०० ई० के आरम्भ में लाहौर पहुँचकर अपने आने की सूचना बादशाह को दी जिसने उसे आगरा चलने के लिए कहा। २१ दिन की यात्रा करने के बाद उसे दरबार में उपस्थित होने का मौका मिला। भेंट में उसने २६ कीमती घोड़े भी प्रदान किये जिनमें एक-एक का दाम ५० से ६० गिन्नी तक था। पूछने पर मिल्डेनहाल ने बतलाया कि इंगलैण्ड की रानी बादशाह से मैत्री करना चाहती है और यदि अंग्रेज पोर्तुगीज जहाजों या उनके बन्दरगाहों पर अधिकार करें, तो इसे बुरा नहीं मानना चाहिए। अकबर की तो यह मन की बात थी, क्योंकि पोर्तुगीजों को दबाने के लिए उसके पास जंगी बेड़ा नहीं था और यहाँ फिरंगी ही आपस में लड़ने के लिए तैयार थे। कुछ दिनों बाद अकबर ने मिल्डेनहाल को ५०० गिन्नी की कीमत की भेंटे दे उसकी बड़ी तारीफ की। जब अकबर ने अपने जेस्वित मित्रों से इसके बारे में सलाह ली, तो उन्होंने अंग्रेजों को चोर और भेदिया बतलाकर बदनाम किया। मिल्डेनहाल को भनक लग गई। वह अलग-अलग रहने लगा। अकबर ने उसे बुलाकर कीमती खलअत दे मीठी-मीठी बातें कीं। जेस्वित काम बिगड़ता देख पाँच-पाँच सौ गिन्नी रिश्वत दे प्रभावशाली दरबारियों को अपनी तरफ करने में सफल हुए और मिल्डेनहाल के साथ आये आर्मेनियन दुभाषिये को भी उन्होंने उड़ा दिया। भाषा से अपरिचित बेचारा अंग्रेज अब अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकता था। फारसी पढ़ने में छह महीने लगा। वह फिर दरबार में जाने लगा। जेस्वित साधुओं की चाल के मारे उसकी पेशी नहीं की जा रही थी। उसने बादशाह से सारी बातें कहने के लिए इजाजत माँगी। १६०५ ई० के किसी बुध के दिन मिलने की इजाजत मिली। फिर अगले रविवार को यह बतलाने के लिए उसे कहा गया कि इंगलैण्ड के साथ दोस्ती करने से हमें क्या लाभ है। सलीम (पीछे जहाँगीर) मिल्डेनहाल का समर्थक था। उसने कहा : पिछले दस-बारह सालों से जेस्वितों के साथ हमारा सम्बन्ध है, लेकिन न किसी फिरंगी बादशाह का दूतमण्डल हमारे यहाँ आया, न कीमती भेंटें ही। मिल्डेनहाल ने वचन दिया कि इंगलैण्ड से दूतमण्डल भी आयेगा और भेंट भी। अकबर ने मुहर के साथ फरमान देते हुए उसकी प्रार्थना स्वीकार की। अकबर के मरने के साल भर बाद मिल्डेनहाल कजवीन (ईरान) में था जहाँ से उसने ३ अक्तूबर, १६०६ ई० को एक पत्र लिखा

था । इस समय अकबर का फरमान उसके साथ था । उस समय किसको मालूम था कि अँग्रेजो ने अँगुली पकडने में जो सफलता पाई है, उससे एक समय वह पहुँचा पकड़ने में सफल होगे । अँग्रेज दूत का उद्देश्य धार्मिक बिल्कुल नही था, जब कि पोर्तुगीज धर्म की आड़ मे दरबार में पहुँचे थे । लेकिन अकबर को उस समय यह तो मालूम ही हो गया कि ईसाइयों में भी शिया-सुन्नी की तरह दो सम्प्रदाय—प्रोटेस्टेस्ट और केथलिक—एक दूसरे के कलेजे मे छूरा भोकने के लिए तैयार है ।

६. दीन-इलाही (१६८२ ई०)

अकबर धर्म में अशोक की तरह की ही उदारता रखना चाहता था । वह लामजहब या धर्म-विरोधी नहीं था, यद्यपि मुस्लिम लेखकों ने वैसा दिखलाने की बडी कोशिश की है । फैजी और अबुलफजल को वह गुमराह करने वाले बतलाते है । पर जहाँ तक धार्मिक उदारता का सम्बन्ध है, उसे इन दोनो भाइयों के दरबार मे आने से वर्षों पहले जजिया और तीर्थ कर उठाकर अकबर ने दिखला दिया था । अबुलफजल लामजहब हो सकते थे और उन्होंने बदायूँनी के पूछने पर कहा भी —"अब तो लामजहबियत के कूचे में सैर करने की इच्छा है ।" पर अकबर परमेश्वर का मानने की इन्कारी नही था । उसका परमेश्वर बहुत कुछ सूफियों और वेदान्तियों का ब्रह्म था । अकबर की धर्मिक भावना एक और तरह से भी सिद्ध है । अजमेर से पंजाब के पीरो की जियारतगाहो की यात्रा करते समय पाकपट्टन से चलकर वह नन्दना के इलाके में पहुँचा और वहाँ पहाड की तरह तराई में जानवरो को घेर कर कमरगाशिकार खेलने लगा । सिमट कर इकट्ठा हुए बहुत से जानवरों को उसने मारा । इसी समय कलिंग-विजय के नर-संहार के समय अशोक की तरह की घटना उसके मन पर घटी । उसने एकाएक शिकार बन्द किया । एक पेड़ के नीचे एक विचित्र समाधि-सी लग गई । उसे एक विचित्र आनन्द आया । गरीबों में उसने बहुत-सा धन बँटवाया । जिस वृक्ष के नीचे यह अवस्था पैदा हुई थी, वहाँ स्मारक के तौर पर एक विशाल इमारत और बाग लगाने का हुकुम दिया । उसी वृक्ष के नीचे बैठकर उसने सिर के बाल मुंड़ाये । बिना कहे ही कितने ही दरबारियों ने भी सिर मुंड़ा लिये । अकबर शिकार का इतना प्रेमी था, पर उसी दिन से उसने शिकार खेलना छोड़ दिया । इस घटना से भी मालूम होगा कि एक ऐसा व्यक्ति धर्म से विमुख नहीं हो सकता ।

पुराने धर्मों में हरेक के साथ उसने सहानुभूति दिखलाई और चाहा कि सभी इस ढंग को अपनायें । उसमें सफलता न देख उसने सारे धर्मों के सार को लेकर एक नये धर्म—दीनइलाही (भगवान का धर्म) का आरम्भ किया । अकबर

से पहले भी भारत के धार्मिक झगड़ों को मिटाने के लिए ऐसा ख्याल अलाउद्दीन खिजली को आया था। अलाउद्दीन खिलजी की विजयपताका सुदूर दक्षिण तक फहराई थी। जहाँ तक अलाउद्दीन की सेना पहुँची, वहाँ तक अकबर और औरंगजेब की भी नहीं पहुँच सकी। यदि उसके सिपहसालारों और अफसरों ने मन्दिरों को तोड़ने और दूसरी तरह से अपनी धर्मान्धता का परिचय दिया, तो उसका सारा दोष उसी तरह अलाउद्दीन पर नहीं लगाया जा सकता जिस तरह हुसेन खाँ टुकड़िया की पशुता का दोष अकबर पर। अलाउद्दीन ने नये धर्म की स्थापना शान्ति और समन्वय के विचार से ही करना चाहा होगा, पर मुस्लिम इतिहासकार उसको दूसरा ही रूप देते हैं—

"सर्वशक्तिमान् अल्ला ने पवित्र पैगम्बर को चार मित्र दिये जिनकी शक्ति और साहस के बल से शरीयत और धर्म स्थापित हुआ... और जिसके द्वारा कयामत तक पैगम्बर का नाम रहेगा।.....अल्लाह ने मुझे भी उलुग खान, जफर खान, नुसरत खान, हलब खान जैसे चार मित्र दिये हैं जिन्होंने मेरी बदौलत राजसी वैभव और सम्मान प्राप्त किया है। मैं समझता हूँ, इन चारों मित्रों की सहायता से मैं एक नये धर्म की स्थापना कर सकता हूँ और मेरी तथा मेरे मित्रो की तलवारें सभी आदमियों को इस धर्म में ला सकती है।"... पानगोष्ठी में ऐसी बाते करते अपने अमीरों से उसने सलाह ली।

दिल्ली कोतवाल अलाउल्मुल्क ने सुल्तान का विरोध करते अपनी राय देते हुए कहा—

"हुजूर को मजहब, शरीयत को बहस का विषय नहीं बनाना चहिए, क्योंकि यह पैगम्बर की चीज है, बादशाहों की नहीं। मजहब और शरीयत दिव्य प्रेरणा से पैदा होते हैं। वह आदमी की योजनाओं और उपायों द्वारा स्थापित नहीं होते। आदम के समय से आज तक यह उसी तरह पैगम्बरों और भगवान के दूतों का काम रहा है, जैसे बादशाहों का काम शासन करना। कभी किसी राजा ने पैगम्बर का पद नही पाया और न आगे—जब तक कि यह दुनिया है—पायेगा। हाँ, कुछ पैगम्बरों ने राजा के कर्त्तव्य का जरूर पालन किया। हुजूर को मेरी यही सलाह है कि इस विषय में कभी बात न करें। ...हुजूर जानते है, चिंगीज खान ने मुस्लिम नगरों में कितनी खून की नदियाँ बहाई, मुसलमानों के बीच वह कभी भी मुगल धर्म या प्रतिष्ठान नहीं स्थापित कर सका। बहुतेरे मुगल मुसलमान हो गये। लेकिन कभी कोई मुसलमान मुगल नहीं बना।"

अलाउद्दीन को अपने मुसलमान अमीरों के खिलाफ जाने की हिम्मत नहीं हुई। उसने वचन दिया कि अब इस तरह की बातें मेरे मुँह से कभी नहीं निकलेंगी।

अकबर यद्यपि दीन-इलाही को चलाने में सफल नहीं हुआ, पर उसका शासन सिर्फ मुसलमानों के भुजबल पर अवलम्बित नहीं था। उसकी शक्ति के जबर्दस्त स्रोत राजपूत थे, इसलिए किसी अलाउल्मुल्क को न ऐसी सलाह देने की जरूरत थी और न अकबर को मानने की।

(१) **दीन-इलाही की घोषणा**—जेस्वित साधुओं के अनुसार दीन-इलाही की स्थापना का आयोजन निम्न प्रकार हुआ—

"काबुल से लौटने के बाद अकबर अपने अमीरों तथा गुजरात के विद्रोहियों के खतरे से मुक्त था। अब तक गुप-चुप पकती योजना को उसने खुले तौर से सामने रखते अपने को एक नये धर्म का संस्थापक और मुखिया बनाना चाहा। इस धर्म को कुछ मुहम्मद के कुरान से, कुछ ब्राह्मणों की पुस्तकों से और कुछ हद तक अपने अनुकूल इंजील की बातों को लेकर बनाया गया।"

"ऐसा करने के लिए उसने एक बड़ी परिषद् बुलाई जिसमें आसपास के शहरों के बड़े-बड़े विद्वान और सेनपों को निमंत्रित किया। साधु रिदल्फो को उसने नहीं बुलाया, क्योंकि उससे विरोध के सिवाय और किसी प्रकार की आशा नहीं थी। ..जब सब इकट्ठा हो गये, तो उसने कहना शुरु किया : 'एक प्रधान व्यक्ति द्वारा शासित साम्राज्य के लिए यह बुरी बात है कि उसके लोग आपस में बँटें और एक दूसरे के खिलाफ हों।' उसने मुगल राज्यों में नाना धर्मों का उल्लेख किया जो कि केवल आपस में मतभेद ही नही रखते, बल्कि एक दूसरे के शत्रु हैं। ..'इसलिए इन सबको हमें एक करना है। लेकिन इस ढंग से कि वह एक हो और सब भी हो, हरेक धर्म में जो अच्छाइयाँ है, उन्हें छोड़ना नहीं होगा। इस प्रकार भगवान का सम्मान होगा, लोगों में शान्ति फैलेगी और राज्य की सुरक्षा रहेगी।...' यहाँ उपस्थित लोग अपनी-अपनी राय दें। जब तक वह कह नहीं लेंगे, मैं कुछ नहीं करूँगा।"

"ऐसा कहने पर जिन (खुशामदी) अमीरों के लिए बादशाह को छोड़ दूसरा कोई ईश्वर नहीं, उसकी इच्छा के सिवाय कोई धर्म नहीं था, वह एक स्वर से बोले—हाँ, अपने पद और महान प्रतिभा के कारण भगवान के अधिक नजदीक होने से बादशाह ही सारे राज्य के लिए देवता, पूजा-पद्धति, बलि, रहस्य, नियम और दूसरी पूर्ण तथा विश्व-धर्म की बातों को निश्चित करें।"

"इस कार्रवाई के समाप्त होने के बाद बादशाह ने एक बहुत ही प्रसिद्ध तथा अत्यन्त विद्वान शेख (मुबारक) को बुलाकर चारों ओर यह घोषित करने के लिए कहा कि जल्दी ही सारे मुगल साम्राज्य के लिए मान्य धर्म दरबार से भेजा जायगा, सभी लोग सम्मान के साथ उसे स्वीकार करने के लिए तैयार हों।"

जेस्वित पादरियो के लिखे अनुसार अकबर के विचार को सभी ने एक एकराय से अनुमोदन किया, पर बदायूँनी—जो सम्भवतः इस सभा में स्वयं उपस्थित था—के अनुसार सभी एकराय नहीं थे—

"साम्राज्य में नये धर्म की स्थापना के लिए जो परिषद् बुलाई गई थी, उसमे राजा भगवानदास ने कहा : मै खुशी से विश्वास कर सकता हूँ कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के पास खराब धर्म है । लेकिन यह भी बतलाना चाहिए कि नया धर्म कैसा है और उसके बारे में क्या राय है जिसमें कि हम उस पर विश्वास करें । हजरत ने थोड़ी देर इस पर विचारा, फिर राजा पर जोर देना छोड दिया । लेकिन... (अन्त मे) इस्लाम-विरोधी पंथ-स्थापित हुआ ही ।"

मानसिंह ने भी अपने धर्मपिता राजा भगवानदास जैसे ही भाव कुछ साल बाद प्रकट किये । १ दिसम्बर, १५८७ को मानसिंह को बंगाल-बिहार का सिपहसालार नियुक्त किया गया । खानखाना अब्दुर्रहीम और मानसिंह शाही पान-गोष्ठी में बैठे थे । अकबर ने, बदायूँनी के अनुसार, नये धर्म के अनुयायी बनाने की बात चलाई और मानसिंह ने बादशाह के लिए जान देने की बात कहते हुए मानने से इन्कार कर दिया । अकबर ने फिर इसके बारे में अपने सर्वोच्च अमीर से कोई बात नहीं की ।

दीन-इलाही (तौहीद-इलाही ब्रह्मअद्वैत) धर्म में शामिल हुए अमीरों में से कुछ के नाम है—

१ अबुलफजल (खलीफा)
२ फैजी (कविराज)
३ शेख मुबारक (नागौरी)
४. जाफरबेग आसफखाँ (कवि)
५. कासिम काबुली (कवि)
६. अब्दुस्समद (चित्रकार, कवि)
७ आजमखाँ कोका (मक्का से आने पर)
८. शाह मुहम्मद शाहाबादी (इतिहासकार)
९. सूफी अहमद
१०. सदरजहाँ (महामुफ्ती)
११., १२. सदरजहाँ के दोनों पुत्र
१३. मीरशरीफ अमली
१४. सुल्तान ख्वाजा सदर
१५. मिर्जा जानी (हाकिम ठट्ठा)
१६. नकी शुस्तरी (कवि)
१७. शेखजादा गोसाला (बनारसी)
१८. राजा बीरबल

(२) **दीक्षा**—दीन-इलाही में प्रवेश करने के लिए एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखना पड़ता था जिसके कुछ वाक्य होते थे—"मन्कि फलाँ, इब्न फलाँ बाशम्, ब-तूय व रगवत, व शौके-कलबी अज़-दीने इस्लाम मजाजी, व तकलीबी, कि अज़-पिदरान दीदऽव शुनीदऽबूदम, अबरा-व तबर्रा नमूदम् । व दर-दीने-इलाही अकबरशाही दर

आमदम् । व मरातिब-चहारगाना इखलास, कि तर्के-माल-व-जान-व-नामूस-व-दीन-बाशद्, कबूल नमूदम् ।"

(मै अमुक का पुत्र अमुक हूँ, अपनी खुशी और हार्दिक इच्छा से इस्लाम के ब्रह्म और गतानुगतिक धर्म—जिसे कि बाप-दादो से मैने देखा-सुना है- । से इन्कार करता हूँ और दीन-इलाही अकबरशाही मे दाखिल होता हूँ तथा चार प्रकार की आचार-सम्बन्धी बातों--माल-जान-सम्मान-दीन के--- त्याग को स्वीकार करता हूँ ।)

बदायूँनी द्वारा उद्धृत वाक्यावलि को मुस्लिम प्रवेशार्थियो के लिए समझना चाहिए, हिन्दुओं के प्रतिज्ञापत्र मे कुछ भेद रहा होगा, "आईने अकबरी" (अबुलफजल) के अनुसार सभी धर्म की बहुत-सी बाते एकसमान दीन-इलाही मे स्वीकार की गई है, खुदा और इंसान एक है । "बादशाह राष्ट्र का धार्मिक नेता है । अपने कर्तव्यपालन को वह भगवान को प्रसन्न करने का एक साधन मानता है । उसने अब उस द्वार को खोल दिया है, जो सच्चे रास्ते की ओर ले जाता है और सभी सत्य के खोजियों की प्यास को बुझाता है ।"

"जिज्ञासु को जानने के लिए अधिकाधिक मौका दिया जाता था । जब उसे सन्तोष हो जाता, तो उसे रविवार के दिन—जबकि विश्व-प्रकाश सूर्य अपने उच्चतम प्रताप में अवस्थित होता है —दीक्षा दी जाती है । नये आदमियों को दाखिल करने में कड़ाई और हिचकिचाहट रखते भी सभी वर्ग के हजारों आदमी विश्वासी हो नये धर्म की दीक्षा को सब तरह से आनन्द-प्राप्ति के साधन मानते हैं ।"

"(दीक्षा के) समय जिज्ञासु अपनी पगड़ी हाथ में ले सिर को हजरत के चरणों मे रखता है । फिर हजरत अपना हाथ फैला कर शिष्य को ऊपर उठा उसके सिर पर पगडी रख देते है । ..इसके बाद हजरत शिष्य को शस्त देते है जिस पर महानाम और 'अल्लाहु अकबर' खुदा रहता है ।"

शस्त शायद ताबीज या माला थी । दीक्षा के समय बादशाह की तस्वीर भी दी जाती थी जिसे दीन-इलाही के मानने वाले अपनी पगड़ी में लगाते थे । शस्त महानाम हिन्दुओं के कंठी मंत्र की तरह की बात थी । अबुलफजल के अनुसार दीन-इलाही मानने वाले एक दूसरे को देखने पर 'अल्लाहु अकबर' और उत्तर 'जल्ले जलालहू' (उसका प्रताप) कह कर देते थे । मृतक श्राद्ध की जगह दीन-इलाही में जीते जी अपना श्राद्ध कर डालने को कहा गया था जिससे अपनी अन्तिम यात्रा में उसे दूसरों के ऊपर अवलम्बित न रहना पड़े । हरेक भगत अपने जन्म-दिवस पर भोज देता था । अपने शिष्यों को गुरु अकबर ने मांस-भोजन न करने का आदेश दिया था । हाँ, वह दूसरे को मांस खाने दे

सकते थे; पर, जिस महीने मे आदमी का जन्म हुआ है, उसमें मांस से कोई सम्पर्क नहीं रखने की हिदायत थी। भगत को अपने मारे हुए पशु के पास भी नहीं फटकना चाहिए और न शिकार को खाना चाहिए। कसाई, मछुए और चिड़ीमार के बर्तन से पानी नही पीना चाहिए। दरसानिया (दर्शनीय, दीन-इलाही के अनुयायी) को गर्भिणी, वृद्धा, बाँझ और मासिकधर्म की अवस्था तक न पहुँची लड़की से प्रसंग नहीं करना चाहिए।

दरसनियों की अन्त्येष्टि-क्रिया के बारे में कहा गया था : मृत स्त्री या पुरुष की गर्दन मे कच्चा चावल और एक पकी ईंट बाँधकर नदी में नहलाकर ऐसी जगह जला देना चाहिए जहाँ पानी न हो। मुर्दे को पूर्व की ओर सिर और पश्चिम की ओर पैर करके दफना भी सकते थे। गुरु (अकबर) ने अपने शिष्यों को इसी तरह सोने के लिए भी कहा था जिसका अर्थ मुल्लों ने लगाया था कि इस काफिर ने पश्चिम दिशा में अवस्थित काबा का अपमान करने के लिए यह ढंग निकाला है।

(३) **विधि-विधान**—दीन-इलाही के विधि-विधान १५८२ ई० की परिषद् में नियुक्त कार्यालय ने १५८३ और १५८४ ई० में प्रचलित किये। १५८८ से १५९४ ई० तक और भी बहुत से आदेश निकले जो पीछे सुरक्षित नहीं रह सके, क्योंकि दीन-इलाही अकबर के साथ ही प्रायः नामशेष हो गया। धर्म का संस्थापक होने से अकबर का स्थान बहुत ऊँचा था। सूर्य की पूजा की प्रधानता थी। साथ ही अग्नि की पूजा और दीपक को हाथ जोड़ने की बात भी हम बतला चुके हैं। किसी लड़के को मुहम्मद का नाम नहीं दिया जाता था और जिनके नाम के साथ मुहम्मद हो, उसे दीक्षा के समय बदल दिया जाता था। कहा जाता है, नई मस्जिदों का बनाना रोक दिया गया था और पुरानी की मरम्मत करने की इजाजत नहीं थी।

अकबर ने गो-हत्या बिल्कुल बन्द कर दी थी और इस अपराध की सजा मृत्यु नियत की थी। १५८३ ई० मे हुक्म के अनुसार साल में सौ से अधिक दिन मांस भोजन वर्जित था। यह हुकुम केवल राजधानी ही नहीं, बल्कि सारे राज्य पर लागू था। दीन-इलाही के अनुयायी के लिए दाढ़ी मुड़ाना आवश्यक था। उसके लिए गोमांस ही नहीं, लहसुन-प्याज खाना भी वर्जित था। बादशाह के सामने सिजदा (दण्डवत) करना आवश्यक था। इसे दीन के बाहर के लोग भी मानने के लिए मजबूर थे। इस्लाम सोना और जरी के वस्त्रों के पहनने की मनाही करता है, लेकिन दीन-इलाही में सार्वजनिक प्रार्थना और दूसरे समयों में इनका धारण करना आवश्यक था। दरसनियों के लिए रमजान का रोजा और हज को भी मना कर दिया गया था। अरबी, इस्लामिक शरीयत, कुरान की व्याख्याओं को पढ़ना मना था। केवल अरबी में आने वाले अक्षरों का इस्तेमाल भी बन्द कर दिया गया

था। हिजरी ६८६ (१५८१-१५८२ ई०) मे कितने ही कट्टर शेखों और फकीरो को कन्दहार की ओर निर्वासित कर दिया गया था—पहले से मौजूद इलाही नामक सम्प्रदाय के शेखों और चेलों को सिन्ध-कन्दहार भेज दिया गया था। खतना करना भी बन्द था।

प्रात: सांय, मध्याह्न और मध्य-रात्रि चार बार पूर्व दिशा मे मुँह करके पूजा की जाती थी। सूर्य के सहस्त्रनाम का जप किया जाता था। गुरुदेव स्वयं दोनो कान पकड़ कर परिक्रमा करते थे। सूर्योदय और आधी रात की प्रार्थना के लिए नगाड़े बजाते थे। यह भी गुरु ने नियम बनाया था। कि स्त्री के बाँझ होने की अवस्था को छोड़कर कोई एक से अधिक ब्याह न करे। सती की मनाही थी, यह हम बतला आये है।

अकबर ने हिजरी ६६६ (१५६०-६१ ई०) में आगरे मे दो आलीशान महल बनवाये जिनमें एक का नाम था खैरपुरा और दूसरे का धर्मपुरा। खैरपुरा में मुसलमान फकीरों के लिए ठहरने और खाने का इन्तजाम था, धर्मपुरा में हिन्दू साधु ठहरते थे। साधुओं की संख्या बढ़ जाने पर जोगीपुरा नाम से एक और महल बनवाया गया। अकबर कुछ खिदमतगारों के साथ रात को स्वयं वहाँ सत्संग करने जाता और योग की बाते सीखता। आगरे में शिवरात्रि को बड़े मेले के समय कितनी ही बार सतों के साथ ही बादशाह भी भोजन करता। किसी ने बतलाया, योग और मुक्ति के लिए ब्रह्मरंध्र खुला रहना चाहिए, इस पर चाँद से बाल छिलवा दिये। साधु अपने शिष्यो को चेला कहते थे। अकबर के शिष्य और सेवक भी चेले कहलाते थे। अकबर ने हिजरी ६६१ (सन् १५८३ ई०) में हुकुम दिया : सभी इंसान खुदा के बन्दे है, उन्हें लौडी-गुलाम बना कर बेचना महापाप है। और उसने सबको आजाद कर दिया। लेकिन वह स्वामी की सेवा छोड़ना नहीं चाहते थे। अब इनका नाम 'चेला' पड गया। प्रात: सूर्य की पूजा और नाम जप कर अकबर के झरोखे पर आने से पहले हजारों हिन्दू-मुसलमान स्त्री-पुरुष तथा कितने ही रोगी-अपाहिज भी सामने जमा हो जाते थे। महाबली को झरोखे पर देखते ही सभी दण्डवत् करते। सुल्तान ख्वाजा अमीन (मीरहाज) खास चेलों में था। मरने पर उसकी कब्र नये ढंग से बनवाई गई : चेहरे के सामने एक जारी रखी गई जिसमें कि सारे पापों को हरने वाली सूर्य-किरनें रोज सवेरे उसके मुँह पर पड़े।

दीन-इलाही अकबरशाही के सम्बन्ध में बहुत-सी पुस्तिकाएँ, पूजा-पद्धतियाँ, धर्मशास्त्र तैयार किये गए थे। अनुयायियों की संख्या हजारों नहीं, लाखों तक पहुँच गई थी। पर, १६०५ ई० के बाद सभी चेले अपने-अपने धर्म में लौट गए। उन्हें नफा की जगह नुकसान होने की नौबत आ सकती थी जिसके लिए वह तैयार नहीं थे। अनुयायियों के बिना पुस्तकें कैसे बच पातीं ? कुछ ही समय बाद दीन-इलाही पानी की लकीर की तरह मिट गया।

पश्चिमोत्तर का संघर्ष (१५७६-६१ ई०)

१. काँगड़ा-विजय (हिजरी ६८०, १५७२-७३ ई०)

काँगड़ा (नगरकोट) के राजा जयचन्द ने अकबर की अधीनता स्वीकार की थी, वह दरबार में भी हाजिर होता था। एक बार किसी कसूर पर उसे कैद कर लिया गया। उसके बेटे विधिचन्द ने समझा कि बाप को मार दिया गया। वह बागी हो गया। बादशाह ने कवि राज महेशदास को राजा बीरबल[1] की पदवी देकर काँगड़ा की जागीर प्रदान की। सोचा, काँगड़ा में नगरकोट (भवन), ज्वालामुखी आदि के पवित्र तीर्थ हैं, निवासी सारे हिन्दू हैं, ब्राह्मण को जागीर दे देने पर पुराने राजवंश के हटने का रंज मिट जायगा। हुसेन कुल्ली खाँ (खानेजहाँ) को हुकुम हुआ कि काँगड़ा पर राजा बीरबल का दखल करा दो। खानेजहाँ फौज लेकर धमेरी पहुँचा। धमेरी (धर्मगिरि) का दुर्ग अत्यन्त प्राचीन था जो काँगड़ा जाने के रास्ते को रोककर एक पहाड़ी के ऊपर बना था। जहाँगीर के समय यहाँ के राजा ने अपने बादशाह के प्रति सम्मान दिखाने के लिए इसका नाम नूरपुर रख दिया जिस नाम से धमेरी अब भी प्रसिद्ध है। धमेरी के शासक ने किला छोड़कर सन्देश भेजा कि काँगड़ा के राजा से मेरी रिश्तेदारी है, इसलिए सेवा में हाजिर नहीं हो सकता, लेकिन मै पथ-प्रदर्शन करूँगा। धमेरी पर अधिकार करके खानेजहाँ आगे बढ़ा। कोटला के शासक ने सामना किया। काँगड़ा में गुलेर का एक पुराना राजवंश था। कोटला उसी का था। राजा रामचन्द्र के दामाद ने गुलेर से इस किले को छीन लिया था। गुलेर राजा उत्तमचन्द शत्रु के शत्रु को अपना मित्र समझे, तो क्या आश्चर्य ? खानेजहाँ ने किले को चारों ओर से घेर कर तोपें लगा दीं, दिन भर गोलाबारी की। शाम को वह लौटकर डेरे में आया। देखा, रात को किले वाले भाग गये। सवेरे कोटला पर अधिकार हो गया। खानेजहाँ ने उसे राजा गुलेर को दे दिया। घोर जंगल में ही सेना आगे चली। खानेजहाँ ऐसे रास्ते से आगे बढ़ा, जिन पर न साँप का पेट, न चींटी के पैर ठहर सकते है। कितनी ऊँचाई-निचाई फाँद कर घोड़े, हाथी, ऊँट, लाव-लश्कर समेत तोपखाने पहुँचाये गए। कुल्हाड़ियों से रास्ते की झाड़ियों और पेड़ों को साफ किये बिना वह आगे नहीं बढ़ सकते थे। काँगड़े का अजेय किला पहाड़ के ऊपर था, नीचे बाग और

---

१ बीरबल का जन्म १५२८ में कालपी में हुआ था। वह अकबर से १४ वर्ष बड़े थे।

घुड़दौड़ का मैदान था । मुगल सेना ने वहीं डेरे डाल दिये । नगर के एक छोर पर भवानी के प्रसिद्ध मन्दिर के चारों ओर भवन का उपनगर था । हजारों हिन्दुओं ने उसके लिए अपनी जानें दीं, लेकिन वह भवन को बचा नहीं सके ।

बदायूँनी के अनुसार, देवी के मन्दिर का सोने का छत्र गोली से टूट-फूट गया और बहुत समय तक वैसा ही बना रहा । वहाँ दो सौ के करीब श्यामा गाये थीं जिनकी बहुत पूजा की जाती थी । उन्हें मुगल सेना ने मार डाला । भला जिस बीरबल के नाम पर यह काम हुए, उसे काँगड़ा वाले कैसे क्षमा कर सकते थे ?

किला काँगड़ा मे राजा के महल पर तोप दागी गई । राजा भोजन कर रहा था । मकान गिरा और ८० आदमी दबकर मर गए । राजा की जान बड़ी मुश्किल से बची । वह सुलह करने के लिए तैयार हो गया । किला लेने में अब कोई दिक्कत नहीं थी; पर इसी समय खबर लगी कि इब्राहीम मिर्जा गुजरात की ओर से हार खाकर दिल्ली-आगरे को लूटता-मारता लाहौर की ओर बढ़ रहा है । लाहौर को बचाना जरूरी था । खानजहाँ ने युद्ध-परिषद बुला कर सलाह ली । अमीरों ने कहा : पहले लाहौर को बचाना चाहिए । लेकिन काँगड़ा किला सर हो चुका था, उसे बीच में छोडना अच्छा नही था । सेनापतियो ने उसे नहीं माना, इस पर उसने सबको यह बात लिख कर मुहर कर देने को कहा जिससे उनसे जवाब देही ली जाये । उन्होने कागज लिख कर दे दिया । काँगड़ा के राजा से अब कड़ी शर्तें मनवाने की जरूरत नहीं थी । शर्तों में एक थी : चूँकि काँगड़ा राजा बीरबल को जागीर के रूप में दिया गया है, इसलिए उसके वास्ते पाँच मन (अकबरी) सोना तौलकर देना चाहिए । राजा सस्ते छूट गया । किले के सामने एक बड़ी इमारत तैयार की गई जहाँ मुल्ला मुहम्मद बाकर ने खड़े होकर अकबर के नाम का खुतबा पढ़ा । जब बादशाह का नाम बोला गया, तो लोगों ने अशर्फियाँ बरसाईं, जयजयकार किये । काँगड़ा की कोई जीत नहीं रह गई और चालीस साल बाद १६२० ई० में जहाँगीर ने ही उस पर अधिकार किया ।[१]

१. काबुल पर अधिकार (१५८१ ई०)

अकबर की इस्लाम के प्रति उपेक्षा ने मुल्लाओं को खिलाफ कर दिया था । १५८० ई० मे जौनपुर के काजी मुल्ला मुहम्मद यज्दी ने अकबर के काफिर हो जाने का फतवा दिया, बंगाल के काजी ने भी भाई का समर्थन किया । पूर्वी सूबों में किस तरह विद्रोह हुआ, उसे हम बतला चुके है । अकबर की बातों को बढा-चढ़ा कर सारे इस्लामिक जगत् में फैलाया गया । तूरान के उज्बेक खान अब्दुल्ला ने अकबर के साथ चिट्ठी-पत्री बन्द कर दी । बहुत समय बाद पत्र

१. देखें 'हिमाचल-प्रदेश'

लिखा, तो साफ कह दिया : तुमने इस्लाम छोड़ा और हमने तुम्हे छोड़ा । तूरान से ही बाबर आया था, तूरान से ही गुलाम, खिलजी और तुलगक वंश के स्थापक आये थे । अकबर की सेना में भी तूरानी अमीरों और सैनिकों की काफी संख्या थी, इसलिए यह खतरे की बात थी । इन बातों का प्रभाव काबुल और उसके शासक मिर्जा मुहम्मद हकीम पर पड़ना जरूरी था । इस्लाम के सभी समर्थको की नजर अकबर के इस सौतेले भाई के ऊपर थी । यद्यपि बंगाल-बिहार की हालत बुरी थी, तथापि अकबर ने उसके लिए मुजफ्फर खाँ, टोडरमल आदि को नियुक्त किया और पश्चिमोत्तर के खतरे को सबसे ज्यादा समझ कर अपना ध्यान इसी ओर लगाया, यह हम बतला आये है । पूर्व और पश्चिमोत्तर के विद्रोह एक दूसरे से बहुत दूर थे । जौनपुर से पेशावर का सम्बन्ध जोडना बहुत मुश्किल था । मासूम खाँ काबुली ने पटना की जागीर से अपने वतन के साथ सम्बन्ध जोड़ने की बहुत कोशिश की, पर वह लिखा-पढ़ी छोड़कर अधिक क्या कर सकता था ? बीच के इलाके के मुल्ले भी यद्यपि बिगड़े हुए थे, तथापि उनका अधिक प्रभाव नही था । हुमायूँ के पुत्र मुहम्मद हकीम में कोई भी ऐसी योग्यता नहीं थी कि लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता । वह सिर्फ षड्यन्त्रकारियों के हाथ में खेल सकता था । अकबर की हजार आँखों से ये षड्यंत्र छिपे नहीं थे । उसे मालूम हो गया था कि उसमें कौन-कौन शामिल है ।

दिसम्बर १५८० में काबुल के अफसर नूरुद्दीन ने पंजाब पर आक्रमण किया । इसके बाद दूसरे अफसर शादमान ने भी, जो लड़ाई मे मारा गया । उसके सामान की तलाशी लेते समय शाह मंसूर और दूसरे कितने ही बड़े-बड़े अमीरों के पत्र पकड़े गये । दो अफसरों के असफल हो जाने पर १५ हजार की सेना लेकर मिर्जा हकीम स्वयं पंजाब पर चढ़ा । बिहारी रोहतास के नाम पर एक दूसरा भी रोहतास जेहलम जिले में शेरशाह ने बनवाया था । अकबरी किलेदार यूसुफ के पास लोभ देकर किला समर्पण करने के लिए प्रस्ताव आया, लेकिन उसने इन्कार कर दिया । रोहतास को बिना लिये ही मुहम्मद हकीम आगे बढ़ा । लाहौर के दरवाजे बन्द मिले, मिर्जा बाहर बाग में ठहरा । अकबर के आने की खबर सुन मिर्जा को काबुल की ओर भागना पड़ा, इसे हम पहले बतला चुके हैं । उसके मामा फरीद ने विश्वास दिलाया था कि तुम्हारे कदम रखने की देर है, सारे लोग काफिर अकबर के खिलाफ होकर तुमसे मिल जायँगे । लेकिन वह बात नहीं हुई । इस सलाह का एक फायदा जरूर हुआ कि मिर्जा ने लोगों को नाराज न करने के लिए लूट-मार नहीं की । भगदड़ में चेनाब को पार करते समय उसके चार सौ आदमी डूबकर मर गए ।

मिर्जा हकीम के पास भेजे पत्रो के पकडे जाने पर उसके स्थान पर शाहकुल्ली को रख कर ख्वाजा मंसूर को अकबर ने कैद कर दिया था। ख्वाजा के पकडे हुए पत्रों में एक उसके आमिल अशरफबेग थाका भी था जिसमे लिखा था : मै मिर्जा के मामा फरीदूखॉ से मिला, वह मुझे मिर्जा के पास ले गया। यद्यपि पंजाब के सभी परगनो पर अपने आमिल (हकीम) तैनात कर दिये है, तथापि हमारे (ख्वाजा मंसूर के) परगने को छोड़ दिया। कुछ दिन बाद फिर मंसूर को उसके पद पर बहाल कर दिया। मिर्जा हकीम का पुराना नौकर और दीवान मलिकसानी वजीर खॉ अभियान के आरम्भ में मिर्जा से नाराज होकर अकबर की ओर चला आया। सोनीपत के मुकाम में अकबर ने उसे नौकरी में रख लिया। पहले के परिचय के कारण वजीरखॅा ख्वाजा मंसूर के पास उतरा। इस प्रकार ख्वाजा का पलटता भाग्य फिर उलट गया। लोगो ने कहना शुरू किया, वजीर खॉं जासूसी करने आया है। उधर राजा मानसिह ने अटक शादमान के सामान में मिले ख्वाजा के तीन पत्रों को भेजा। ख्वाजा मंसूर पर सन्देह बढ़ गया। कैद से छुड़ाने के लिए कोई जमानत देने के लिए तैयार नहीं हुआ। मुल्ला बदायूँनी ने इसका जिक्र करते हुए लिखा है—"तुम सुलतानों की खिदमत से बचो। यह ऐसे है कि सलाम करो, तो जवाब देना भी बड़ी बात समझते है और खफा हो, तो गर्दन मारना कोई बात नहीं।"

अकबर चाहता था, मेरे सेनापति मुहम्मद हकीम से लड़कर उसे भागने के लिए मजबूर न करें। वह स्वयं आकर उसे पकड़ना चाहता था। इसी कारण मानसिंह और खानजहाँ लाहौर में किलाबन्द हो गए थे। अकबर ५० हजार सवार, ५ सौ लड़ाकू हाथी और बहुत बड़ी संख्या में पैदल सेना लिये चला। अपनी सेना को आठ महीने की तनख्वाह अग्रिम देकर ८ फरवरी, १५८१ को सीकरी से रवाना हुआ। सलीम और मुराद दोनों शाहजादे उसके साथ चल रहे थे। १२ वर्ष का सलीम सेना के किस काम आ सकता था ? मुराद का अध्यापक साधु मोनसेरेत भी साथ था जिसने इस अभियान के बारे में बहुत-सी बातें लिखी हैं। उनसे मालूम होता है कि अकबर ने राजधानी का प्रबन्ध अच्छी तरह से किया था, सूबों और मुख्य नगरों के लिए भी इन्तजाम कर दिया था। उसके साथ थोड़ी-सी बेगमें थी। जहाँ पड़ाव पड़ता, वहाँ बाजार लग जाता। मोनसेरेत को आश्चर्य होता था कि इतनी बड़ी सेना के लिए चीजों की भारी आवश्यकता होने पर भी वह बहुत सस्ती थीं।

मथुरा, दिल्ली होते सोनीपत पहुँचने पर मालिकसानी वजीरखाँ अपने मालिक मिर्जा हकीम से बिगाड़ करके पहुँचा, जिसके बारे में हम बतला चुके हैं। २७ फरवरी, १५८१ में पानीपत छोड़ अकबर थानेसर, शाहाबाद होते अम्बाला की

ओर बढ़ा जहाँ कछवाहाकोट के पास पेड़ से शाह मंसूर को लटका दिया गया, इसे हम बतला चुके हैं। बदायूँनी की तरह मोनसेरेत ने भी लिखा है —

"सेना शाहाबाद में आई जहाँ बादशाह की आज्ञा से शाह मंसूर को एक पेड़ से लटका दिया गया।....बादशाह ने जल्लाद, रक्षियों तथा कुछ अमीरों को हुकुम दिया कि उक्त स्थान पर शाह मंसूर के साथ ठहरें। फिर बादशाह ने उसके सामने अबुलफजल को लड़कपन से इस आदमी के साथ जो मेहरबानी की थी, उसे कहने के लिए कहा। कहे मुताबिक अबुलफजल नें मंसूर की कृतध्नता के लिए भर्त्सना की, उसके विश्वासघात को बतलाकर साबित किया कि उसके अपने हाथ से मुहम्मद हकीम के नाम लिखे गए पत्रों की गवाही पर शाह मंसूर को दण्ड दिया जा रहा है और बादशाह ने फाँसी की सजा उचित दी है। शाह को यह भी कहा गया कि अपराध के उचित दण्ड को दृढ़ता के साथ सहन करने के लिये तैयार हो जाओ। यह भी लोगों को समझाया कि बादशाह शाह मंसूर के प्रति कोई अन्याय नहीं करना चाहता।....अपराधी के मर जाने पर लोग अपने-अपने डेरों में चले आये जो वहाँ से बहुत दूर नहीं थे। अकबर ने अपने उदास चेहरे द्वारा साबित किया कि इस आदमी के दुर्भाग्य पर उसे बहुत अफसोस है।....(लेकिन) सारे छावनी में इस दण्ड के लिए लोग बहुत खुश थे। मुहम्मद हकीम को जब इस घटना का पता लगा, तो उसने सुलह करने के ख्याल से पश्चाताप करना चाहा।"

साधु मोनसेरेत और अबुलफजल दोनों में से कोई यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि शाह मंसूर की हत्या भारी अन्याय था और इसमें राजा टोडरमल की चालें शामिल थीं। 'तबकात अकबरी' (तारीख निजामी) में समसामयिक इतिहासकार ख्वाजा नजीमुद्दीन अहमद (मृत्यु अक्टूबर १५६४) ने जरूर लिखा है—

"जब अकबर काबुल में था, तो उसने मिर्जा मुहम्मद हकीम के विश्वासपात्र नौकरों से शाह मंसूर के मामले में जाँच-पड़ताल की। पता लगा कि शाहबाज के भाई करमुल्ला ने उन पत्रों को जाली बनाया था जिनके सबूत पर ख्वाजा मंसूर को मौत की सजा दी गई। यह पता लगने पर कि ख्वाजा के मारे जाने का बादशाह को अक्सर अफसोस होता था।" तबकात के अनुसार सोनीपत में फरवरी १५८१ के अन्त में मिले पत्र जाली थे जिनके आधार पर अकबर ने शाह मंसूर को मृत्यु-दण्ड दिया था। बदायूँनी ने अपने इतिहास में तबकात से बहुत सहायता ली है। वह लिखते हैं—

"शाहबाज खाँ के भाई करमुल्ला और दूसरे अमीर इस जाल और धोखा-धड़ी में शामिल थे। जिन पत्रों के कारण उसे मृत्युदण्ड मिला, वह भी

अमीरों के जाल थे । इसलिए बादशाह शाह मंसूर की हत्या से अत्यन्त दुःखी था ।"

विन्सेंण्ट स्मिथ पहले के पत्रों को सच्चा मानते है और जो पत्र तीसरी बार (१५८१ ई० में) पकड़े गए, उन्हीं को जाली बतलाते हैं : "मै मानता हूँ कि १५८० में मुहम्मद हकीम को बुलाने के लिए पत्रों को लिखकर शाह मंसूर सचमुच अपराधी था और जैसा कि मोनसेरेत ने लिखा है वह वस्तुतः षड्यंत्र का मुखिया था ।

अकबर गुणों को देखता था । गुणी के सात खून माफ करने का पक्षपाती था । शाह मंसूर अत्यन्त योग्य वित्तमंत्री था । पीछे उसका अभाव उसे खटका । क़ासिम खाँ बहुत ऊंचे दर्जे का इंजीनियर था जिसने आगरे के किले को बनवाया । उसने भी मिर्जा को आने के लिए पत्र भेजा था, लेकिन ऐसे आदमी से हाथ धोना अकबर ने पसन्द नहीं किया ।

अम्बाला से सरहिन्द और अगली मंजिल पायल में पहुँचने पर खबर मिली कि हकीम पंजाब से चला गया । अकबर के दिल के ऊपर का भारी पत्थर हट गया । लेकिन वह काबुल पहुँचने का निश्चय कर चुका था । नावों के पुलों से सतलुज और ब्यास को पार कर पहाड़ के नजदीक-नजदीक आगे बढ़ते अपनी राजगद्दी के उपलक्ष्य में बनवाये कलानूर के बाग में उसने डेरा डाला । रावी को भी नावों के पुल से ही पार किया, लेकिन चेनाब में इन्तजाम नहीं हो सका । नावें भी थोड़ी थीं । सेना के उतरने में तीन दिन लगे । रोहतास में किलेदार यूसुफ ने बादशाह का दिल खोलकर स्वागत किया । रोहतास से अकबर सिन्ध नदी की तरफ चला । इस अभियान के समय भी शास्त्रार्थ और धर्मचर्चा होती रही । साधु मोनसेरेत ने फारसी में लिखी अपनी पुस्तक भेंट की जिस पर खूब वाद-विवाद हुआ । सिन्ध वैसे भी महानद है और बरसात के कारण तो वह पूरा समुद्र बन गया था । इस समय नावों का पुल संभव नहीं था, इसलिए सारी सेना नावों से पार उतरी । अकबर को सिन्ध के किनारे ५० दिन तक रुकना पड़ा, इस बीच मिर्जा हकीम अपनी सेना के साथ पार उतर भाग जाने में सफल हुआ ।

सतलुज के किनारे वाली सिकन्दर के सेनापतियों की बात अकबर के सेनपों ने भी सिन्ध के बायें किनारे दोहराई । कई परिषदें हुई । सबमें उनका वही रुख रहा । अकबर इस समय शिकार खेलता फिरता था । साधु मोनसेरेत ने भी अकबर को यही सलाह दी कि भाई के साथ झगड़े को चरम सीमा तक नहीं पहुँचना चाहिए । लेकिन बादशाह का संकल्प तो वज्र जैसा दृढ़ था । उसने शाहजादा मुराद के साथ कई हजार सवारों और पाँच सौ हाथियों को दे मानसिंह तथा दूसरे अनुभवी अफसर नदी पार भेजे । इसके दो दिन बाद अकबर मोनसेरेत

से भूगोल और धर्म-सम्बन्धी बातें करता रहा जिसका वर्णन जेस्वित साधु ने कई पृष्ठों में लिखा है ।

१२ जुलाई के करीब अकबर भी सिन्ध पार हुआ । सिन्ध के तट पर इंजीनियर जेनरल कासिम खाँ की अधीनता मे उसने भारी साज-सामान के साथ एक सेना रख दी जिससे रास्ते पर खतरा न हो और पास-पड़ोस के सरकशो को दबाया जा सके । मानसिंह के प्रकरण में हम बतला चुके है कि अफगानों के रसद लूटने की बात को कैसे भयंकर पराजय का रूप दिया गया था । यह खबर अकबर के पास भी पहुँची, लेकिन उनकी अप्रामाणिकता जल्दी ही सिद्ध हो गई । मुराद की उमर इस समय ११ वर्ष की थी, उसे भी एक सेना का फील्ड-मार्शल बनाया गया था । कहा जाता है, १ अगस्त की लड़ाई मे वह घोडे से कूद पड़ा और भाला हाथ में लिए बोला : चाहे कुछ भी हो, मैं यहाँ से एक इंच भी पीछे नहीं हटूँगा ।

पार उतर काबुल नदी और सिन्धु के संगम पर अकबर ने डेरा डाला, इस समय वह मिस्त्रीखाने में जाकर स्वयं काम करता था । प्रथम पीतर की तरह अकबर को भी हाथ से काम—विशेषकर कलपुर्जे का काम बहुत पसंद था । बारूदी हथियारो और गोला-बारूद तैयार करने पर वह बारीकी से ध्यान देता । बचे समय में साधु मोनसेरेत के शास्त्रार्थ को सुनता था । मिर्जा हकीम ने काबुल लौटते वक्त पेशावर को जला दिया : घरफूँक नीति सभी युद्धों में कुछ न कुछ बरती जाती हैं । कोई नहीं चाहता, पीछा करने वाले शत्रु को खाने-पीने और दूसरी चीजों की सुविधा हो । पेशावर में रहते समय गोर जोगी (गोर खत्री) देखने गया । यही इमारत पीछे पेशावर की तहसीलदारी बनी । सलीम अपने बाप से पहले खैबर दर्रे में घुसा और अली मस्जिद में ठहरता सुरक्षित जलालाबाद पहुँच गया । उसका छोटा भाई मुराद मानसिंह के साथ ३ अगस्त को काबुल में दाखिल हुआ । मिर्जा हकीम काबुल छोड़कर पहाड़ों में भाग गया । अकबर ने ६ अगस्त, १५८१ (शुक्रवार १० रज्जब) को दादा की राजधानी काबुल में प्रवेश करते लोगों को सान्त्वना देते घोषणा निकाली । वह सिर्फ सात दिन रहा, क्योंकि काम हो गया था और लौटते वक्त वह कश्मीर को भी लेना चाहता था, पर सेना थकी हुई थी, इसलिए इस संकल्प को स्थगित करना पड़ा ।

मोनसेरेत के अनुसार अकबर ने अपने बहनोई बदख्शाँ के शासक ख्वाजा हसन को काबुल का इन्तजाम सुपुर्द किया और अपनी बहिन को कह दिया "मैं मुहम्मद हकीम का नाम भी नहीं सुनना चाहता । तुम्हें यह सूबा दे रहा हूँ, जब चाहूँगा, तब ले लूँगा । मुहम्मद हकीम काबुल में रहे, या न रहे, इसकी मुझे परवाह

नहीं, पर खबरदार कर देना कि अगर उसने फिर ऐसी बात दुहराई, तो उसके साथ दया नहीं दिखलाई जायगी।" लेकिन बहिन ने भाई के राजकाज सँभालने में कोई बाधा नही डाली।

अली मस्जिद में लौट कर अकबर ने तीन हजार गरीबों को खैरात देकर काबुल-विजय मनाई। अकबर के साथ सदा सफेद तम्बू की मस्जिद चला करती थी, लेकिन अली मस्जिद में उसे गाडने नहीं दिया। आखिर मुल्लों ने कुफ्र का फतवा देकर उसके साथ जितना अनिष्ट हो सकता था, उतना कर ही डाला था; फिर पक्का मुसलमान साबित करने के लिए मस्जिद खड़ा करने से फायदा क्या ? अटक के पास कासिम खाँ के बनवाये नावों के पुल से उसने सिन्ध पार किया। आगे की पंजाब की नदियाँ इसी तरह पार की गई; सिर्फ रावी में थाह पा लोग बिना पुल के उतर गए। सिन्ध के किनारे के सूबे के सिपहसालार (राज्यपाल) कुँवर मानसिंह बनाये गए।

१ दिसम्बर, १५८१ को अकबर ने राजधानी में पहुँचकर काबुल-विजय को बड़े धूमधाम से मनाया। सारा अभियान केवल दस महीने में समाप्त हुआ, लड़ाई नाममात्र हुई, पर उससे महालाभ हुआ, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। अभियान के आरम्भ में चारों ओर खतरा ही खतरा दिखाई देता था। पूर्व बिगड़ा हुआ था। मिर्जा हकीम पंजाब की ओर बढ़ता चला आ रहा था, मुसलमान अमीरों में से बहुत कम पर विश्वास किया जा सकता था, मुल्लों ने मुसलमान जनता को भड़का दिया था। अकबर केवल हिन्दू सैनिको-सेनापतियों पर ही विश्वास कर सकता था और इसमें शक नहीं, वे अपने बादशाह पर अपना सब कुछ निछावर करने के लिए तैयार थे। वर्ष के अन्त में उसके सारे दुश्मन सूखे पत्ते की तरह तितर-बितर कर दिये गये थे, गुप्त शत्रुओं की हिम्मत टूट गई थी। कुफ्र का फतवा कुछ नहीं कर सका। अब उसे धर्मान्ध मुल्लों और उनके अनुयायियों से डरने की जरूरत नहीं थी।

काबुल में मिर्जा मुहम्मद हकीम फिर शासन करने लगा। अकबर किसी का अहित नहीं चाहता था, इसलिए मिर्जा को उसने नहीं छेड़ा। मुगल शाहजादों में शराब की बुरी लत थी। हकीम भी उसमें पड़ा और उसी के कारण ३१ साल की उमर में १५८३ ई० के अन्त में मर गया। अकबर काबुल के सीमान्ती सूबे को अब अपने ही हाथों में रखना चाहता था, इसलिए उसने उसका सिपहसालार मानसिंह को बनाया। मानसिंह, काबुल के ख्याल से ही, सिन्ध के पास वाले प्रदेश के सिपहसालार (सूबेदार) बनाये गये थे। मिर्जा के मरने से पहले ही तूरानी अब्दुल्ला खाँ उज्बेक ने अकबर के बहनोई से बदख्शाँ को छीन लिया था और इस प्रकार काबुल के नजदीक पहुँच गया था। अब्दुल्ला

खाँ उज्बेक खानों में अत्यन्त शक्तिशाली था । ऐसे शत्रु के सीमान्त के पास पहुँचने पर अकबर निश्चिंत कैसे रह सकता था ? उसने २२ अगस्त को फिर राजधानी सीकर छोड़ी और १३ साल तक फिर आगरा नहीं देख सका । नवम्बर में राजमाता भी आ गई । दिसम्बर के आरम्भ में अकबर का डेरा रावलपिण्डी मे था । यहीं मानसिंह ने फरीदून के साथ मिर्जा हकीम के लड़कों के आने की खबर दी । उनके साथ पीछे अकबरी दरबार का प्रसिद्ध चित्रकार फर्रुखबेग भी था । फरीदून पर विश्वास नहीं किया जा सकता था । कुछ दिनों तक नजरबन्द रखकर अकबर ने उसे मक्का में निर्वासित कर दिया । अगले तेरह सालों के लिए राजधानी लाहौर हो गई । कश्मीर के सुलतान यूसुफ खाँ ने कई बुलौवा भेजने पर भी दरबार में आने से बचना चाहा । अकबर को नाराज करने के लिए यह काफी था । अब नजदीक आ जाने पर उसको डर लगा, इसलिए १५८१ ई० के अन्त में उसने अपने तीसरे पुत्र हैदर को दरबार में भेजा । अकबर चाहता था, सुलतान स्वयं आकर अधीनता स्वीकार करे । खतरे को और बढ़ता देखकर उसने अपने सबसे बडे लड़के याकूब को भेजा । सुलतान की इन चालों ने अकबर को बहाने का मौका दे दिया ।

३. कश्मीर-विजय

स्वात के यूसुफजई पठानों ने काबुल की विजय के बाद भी सिर झुकाना पसन्द नहीं किया जिसके लिए अकबर को उधर ध्यान देना पड़ा । इसी लड़ाई में बीरबल[१] मारे गये । स्वात की मुहिम के साथ-साथ ही कासिम खाँ और राजा भगवानदास की अधीनता में कश्मीर पर भी एक सेना भेजी गई । सुलतान यूसुफ खाँ ने १५८६ ई० के आरम्भ में प्रतिरोध करना व्यर्थ समझकर सुलह करनी चाही, लेकिन अकबर नहीं माना । यूसुफ ने बारामूला जाने वाले रास्ते के बूलियास दर्रे को बन्द कर दिया । इसी से राजधानी (श्रीनगर) में पश्चिम की ओर से पहुँचा जा सकता था । वर्षा और बर्फ ने बाधा डाली, साथ ही रसद की कमी हो गई । स्वात में जैन खाँ और राजा बीरबल के मरने की खबर से भी मुगल सेनापतियों ने सुलह करके पीछे लौटना ही अच्छा समझा । तय हुआ : खुतबा में बादशाह का नाम पढ़ा जाये, अकबरी सिक्के चलाये जायँ; टकसाल, केसर की खेती, दुशाले का शिल्प तथा शिकार के नियमों का नियंत्रण शाही अफसरों के हाथ में रहे । लेकिन अकबर को सुलह की कार्रवाई पसन्द नही आई ।

सुल्तान और उसके पुत्र याकूब ने दरबार आकर आत्म-समर्पण किया । सुल्तान को अकबर माफ नहीं करना चाहता था । यदि राजा भगवानदास ने वचन

१. वही पृष्ठ ३२

दिया होता, तो शायद उसे जान से भी हाथ धोना पड़ता। भगवानदास ने सुलतान को जेल में डालना भी वचन-भंग समझा और उन्होंने अपने पेट में कटारी मार ली। घाव खतरनाक था, लेकिन शाही जर्राहों के अच्छी तरह चिकित्सा की और वह बच गये। राजा भगवानदास ने क्षणिक पागलपन में आकर आत्महत्या करने की कोशिश की थी। बदायूँनी का कहना है कि राजा ने वचन-भंग की बात के कारण ही राजपूती आन की रक्षा के लिए ऐसा किया था।

याकूब खाँ को तीस-चालीस रुपये मासिक पेंशन मिलती थी। उसने देख लिया, अकबर सुलहनामे को मानने के लिए तैयार नहीं है। एक दिन वह भागकर कश्मीर चला गया और संघर्ष की तैयारी करने लगा। इंजीनियर मुहम्मद कासिम खाँ को सेना देकर दक्षिण मे भिंभर से हो पीर-पंजाल के रास्ते आक्रमण करने का हुकुम हुआ। याकूब की सहायता के लिए लोग तैयार नहीं थे, इसलिए अधिक प्रतिरोध के बिना ही शाही सेना राजधानी श्रीनगर में दाखिल हुई। याकूब को अन्त में आत्म-समर्पण करना पड़ा। कश्मीर को अब एक सरकार (जिला) बना कर काबुल के सूबे में मिला दिया गया। तब से १८वीं सदी के मध्य तक—जब कि मुगल सल्तनत छिन्न-भिन्न हुई— कश्मीर मुगल शासन के अधीन रहा। यूसुफ खाँ और उसका बेटा बिहार में निर्वासित कर दिये गये जहाँ पीछे राजा मानसिंह को उनकी देखभाल का काम सुपुर्द किया गया। प्राय: साल भर नजरबंद रहने के बाद यूसुफ खाँ को पंजसदी मन्सब मिला। जिसके लिए उसे २१०० से २५०० रुपये मासिक वेतन मिलता था। मानसिंह के अधीन वह कितने ही सालों तक काम करता रहा। उसका लड़का अकबर की एक कश्मीर-यात्रा में दरबार में हाजिर हुआ।

अकबर भू-स्वर्ग कश्मीर-उपत्यका की तारीफ बहुत सुन चुका था और उसे देखने की बड़ी इच्छा थी। २२ अप्रैल, १५८६ को लाहौर से चलकर मई के अन्त में वह श्रीनगर पहुँचा। उसने भिंभर से पीर-पंजाल पार किया जिसे आजकल सुरंग द्वारा हम मोटर से पार करते है। जाड़ों में भी रास्ता खुला रहने के लिए वहीं और नीचे आज दूसरी सुरंग तैयार की जा रही है। अकबर के मुख्य-इंजीनियर कासिम खाँ ने रास्ते को ठीक करवाया था। पहाड़ की जड़ में भिंभर में शाहजादा मुराद और बेगमों को छोड़ कर उन्हें रोहतास (जेहलम शहर के पास) मे मिलने के लिए कह दिया गया था। अकबर कश्मीर की मनोरम उपत्यका की सैर कर बारामूला, पखली (हजारा जिला) होते अटक पहुँचा। रोहतास की जगह परिवार यहीं आकर मिल गया। अटक से काबुल पहुँच कर उसने वहाँ दो महीने बिताये वहीं उसे राजा भगवानदास और राजा टोडरमल के मरने की खबर मिली। इंजीनियर मुहम्मद कासिम के हाथ में काबुल को सौंप कर ७ नवम्बर को वह काबुल से भारत की ओर रवाना हुआ।

४. सिन्ध-बिलोचिस्तान-विजय (१५६१ ई०)

(१) **सिन्ध-विजय**—कश्मीर और काबुल अकबर के हाथ में थे, लेकिन सिन्धनद का निचला भाग अब भी स्वतन्त्र था। उसके बिना सारे उत्तरी भारत पर अकबर का शासन नहीं कहा जा सकता था। मुलतान यद्यपि अरब-विजय के समय से सिन्ध के साथ रहा और भाषा तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से भी वह सिन्ध से घनिष्ठ संबंध रखता था, तथापि सिंन्ध से अलग मुलतान बाबर के समय से ही मुगल सल्तनत मे था। पुराने मुलतान सूबे में तीन सरकारें (जिले) थीं—मुलतान, दीपालपुर और भक्कर। भक्कर के मजबूत दुर्ग पर १५७४ ई० में अकबर के सेनप केशू खान ने अधिकार किया था। अब बादशाह ने मुलतान से दक्खिन सिन्ध-उपत्यका—विशेषकर ठट्ठा—को समुद्र के किनारे तक अपने हाथ में करने का निश्चय किया। कन्दहार निकल गया था। सिंन्ध से बिलोचिस्तान कन्दहार पर भी अधिकार किया जा सकता था। इस मुहिम का महत्व अकबर की दृष्टि से बहुत था, तो भी इसकी विजय में स्वयं भाग लेने की उसने जरूरत नही समझी। इस काम के लिए उसने अब्दुर्रहमान खानखाना को नियुक्त किया जिन्होंने गुजरात की अन्तिम विजय में अपनी योग्यता का परिचय दिया था। १५६० ई० में रहीम को मुलतान का सिपहसालार नियुक्त करके ठट्ठा पर अधिकार करने का हुकुम हुआ। ठट्ठा का स्वामी तरखन मिर्जा जानी का रवैया कश्मीर के सुल्तान की तरह ही था। वह दरबार में हाजिर होकर अधीनता स्वीकार करने से बचना चाहता था। जानी ने दो बार मुकाबला किया, लेकिन अन्त में आत्म-समर्पण करना पड़ा। ठट्ठा के बाद १५६१ ई० में सिहवान का दुर्ग[१] शाही सेना के हाथ में गया। दरबार में आने पर बादशाह ने जानी के साथ अच्छा बर्ताव किया और उसे ठट्ठा को जागीर में दे तीनहजारी मन्सब प्रदान किया। जानी ने इस्लाम छोड़कर दीन-इलाही स्वीकार किया और अकबर का बहुत भक्त हो गया। दक्षिण की मुहिम में भी वह बादशाह के साथ रहा और जनवरी १६०१ में असीरगढ़ की विजय के बाद मरा। तरखन तुर्की भाषा में राजकुमार को कहते है। वह तूरान के किसी प्रभावशाली खानदान की सन्तान था।

अगस्त १५६२ में चनाब के किनारे शिकार करते अकबर ने दूसरी बार कश्मीर के लिए प्रयाण किया। इसके थोड़े ही समय बाद खबर आई थी। कि खानखाना ने सिन्ध को जीत लिया। उसे पता लगा, कश्मीर के राज्यपाल के भतीजे ने विद्रोह करके अपने को सुलतान घोषित किया है। भिंभर में पहाड़ के

---

१. सिहवान लरकाना जिले में एक शहर और प्राचीन दुर्ग था। फारसी में इसे सिबिस्तान भी कहते थे, पर वह आधुनिक सीवी नहीं है।

भीतर घुसते ही विद्रोही सरदार का सिर काट कर उसके सामने हाजिर किया गया। इस यात्रा में वह सिर्फ साठ दिन कश्मीर-उपत्यका मे रहा और बारामूला-दर्रे को पार कर पखली, रोहतास होते लाहौर पहुँचा। यहीं उसको खबर मिली कि उड़ीसा के अफगान सरदारों को राजा मानसिंह ने हरा दिया। उड़ीसा को बंगाल-सूबे मे मिला दिया गया। वह १७५१ ई० तक बंगाल का ही अंग रहा, जबकि अलीवर्दी खाँ (मुर्शिदाबाद के नवाब) उसे मराठो को दबाने के लिए मजबूर हुआ। इस प्रकार पश्चिम मे सिन्ध और पूर्व में उड़ीसा हाथ में आने से समुद्रतट के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण भूभाग अकबर के हाथ में आ गये।

(२) **बिलोचिस्तान-विजय** (१५९५ ई०)—खानखाना सिन्ध-मुलतान में बैठे अब बिलोचिस्तान और कन्दहार की विजय की तैयारी कर रहे थे। फरवरी १५९५ मे इतिहासकार मीर मासूम के अधीन एक सेना ने जाकर क्वेटा से दक्षिण-पूर्व सीबी के किले पर अधिकार कर लिया जिस पर कि परनी अफगानों का अधिकार था। पठानों ने जबर्दस्त प्रतिरोध किया, पर शाही नेता के सामने उसकी क्या चलती ? इस किले के जीतने के बाद सीमा सूबा कन्दहार के पास पहुँच गई। समुद्र के किनारे तक मकरान का इलाका भी अब अकबर की सल्तनत मे था। कन्दहार कितने दिनों तक खैर मनाता ? दो महीने बाद अप्रैल में बिना लड़ाई के उस पर अधिकार हो गया। कन्दहार पर ईरान का कब्जा था और उसका ईरानी सूबेदार मुजफ्फर हुसेन मिर्जा का अपने सम्बन्धियों से झगड़ा था और उधर उज्बेक अब्दुल्ला खाँ के आक्रमण का हर वक्त डर रहता था, इसलिए उसने स्वयं अकबर के पास दूत भेजकर कहा : कन्दहार को आप स्वीकार करें। अकबर ने शाहबेग को नियुक्त किया जिसने कन्दहार ले लिया। १५९५ से १६२२ ई० तक कन्दहार मुगल सल्तनत में शामिल रहा। जहाँगीर ने इसे खो दिया, फिर उसके पुत्र शाहजहाँ ने १६४८ से १६४९ ई० तक उस पर अधिकार रखा। इसके बाद वह सदा के लिए मुगल सल्तनत से अलग हो गया।

तूरानी उज्बेक खान अब्दुला का उल्लेख पहले हो चुका है। वह १५५६ ई० से 'बुखारा का कर्ता-धर्ता हो गया', अर्थात उसी साल जिस साल कि अकबर गद्दी पर बैठा। उसने अपने राज्य को बढ़ाते हुए बदख्शाँ, हिरासत और मशहद तक पहुँचा दिया। बुखारा की गद्दी पर १५८३ ई० में बैठा था, पर अपने बाप इस्कन्दर तथा चचा पीर मुहम्मद के सामने भी वही सर्वेसर्वा था। १५६१ ई० में उसने अपने पिता को 'खाकानेजहाँ' (पृथ्वीराज) घोषित किया। अब्दुल्ला असाधारण आदमी था, इसमें सन्देह नहीं। जीजक से समरकन्द की ओर जाने वाले रास्ते से जीलानउति डाँड़े पर एक चट्टान के ऊपर उसने निम्न अभिलेख खुदवाया है—"रेगिस्तान को पार करने वालों और जल-थल के यात्रियों को मालूम होना

चाहिए कि ६७६ हिजरी (२६ मई, १५७१—१४ मई, १५७२ ई०) मे खलाफत के सहायक, महाखाकान सर्वशक्तिमान् महाखान इस्कन्दरखान-पुत्र अब्दुल्ला के तीस हजार सैनिको और बोरका खान के पुत्रो दरवेशखान-बाबाखान आदि की सेनाओं के बीच में युद्ध हुआ। उसकी सेना मे सुल्तान के पचास सम्बन्धी और तुर्किस्तान-ताशकन्द-फरगाना-दश्तेकिपचक के चालीस हजार योद्धा थे। तारो के सौभाग्य-सूचक समायोग से शाह की सेना को विजय प्राप्त हुई। उपर्युक्त सुल्तानो में बहुत से मारे गए और बहुत से बन्दी हुए। इस एक महीने के भीतर इतना खून बहा कि जीजक नदी के पानी के ऊपर खून तैरता रहा।[1]"

अब्दुल्ला शैबानियों (उज्बेकों) का सबसे बड़ा खान था। शाहतहमास्प के मरने पर अब्दुल्ला की शक्ति और बढ़ गई। अकबर को ऐसे जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी से चिन्तित होना ही चाहिए था। ६ फरवरी, १५६७ को अब्दुल्ला (२) के मरने के बाद वह खतरा दूर हो गया। उसके उठते ही सल्तनत में अराजकता फैल गई। अब अकबर पश्चिमोत्तर से निश्चिंत था, इसीलिए उसका ध्यान दक्खिन की दिग्विजय की ओर गया।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

---

१. मध्य-एशिया का इतिहास (२), पृ० ८०१

दक्खिन के संघर्ष (१५६३-१६०१ ई०)

१. अहमदनगर-विजय (१५६३-६७)

दक्खिन की बहमनी सल्तनत को अपने राज्य में मिलाने की अकबर की बड़ी इच्छा थी। यह इच्छा उसके बेटे, पोते, परपोते मे तब तक रही जब तक कि ये सल्तनतें मुगल-साम्राज्य में मिला नही ली गई। अकबर को उनसे नाराज होना ही चाहिए था, तैमूरी मिर्जाओं को उनसे सहायता मिली थी, यह हम देख चुके है। काबुल-कन्दहार, कश्मीर-सिन्ध तक अपनी सीमा को पहुँचा कर अब अकबर ने दक्खिन की ओर मुँह किया। पश्चिमोत्तर में अपने बाप-दादाओं की भूमि फरगाना के लौटाने की आशा नहीं रह गई थी अथवा तूरानियों से मुकाबला बड़े तरद्दुद का काम था। उसकी जगह दक्खिन का लेना आसान था। अकबर ने पहले साम से काम लेना चाहा और समझाने-बुझाने के लिए दूत भेजे। अगस्त १५६१ में उसके चार दूत-मण्डल खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा भेजे गए। दक्खिन की ओर बढ़ने पर सबसे पहले खाना देश आता था जहाँ पर फारुकी वंश का राजा अली खाँ शासन करता था। वह बड़ा ही समझदार, भलामानुस, बहादुर और प्रतिभाशाली आदमी था। उसके शासन में ताप्ती-उपत्यका बड़ी समृद्ध थी। उसने अकबर जैसे महाबली का मुकाबला करना नहीं चाहा। उसकी राजधानी बुरहानपुर में थी जो दक्खिन के व्यापार मार्ग पर होने से बड़ी धनी नगरी थी। वहाँ तारकशी और रेशम की बुनाई का बहुत अच्छा काम होता था। राजा अली के राज्य में असीरगढ़ का प्रसिद्ध किला था जो दक्खिन की कुंजी माना जाता था। इसे अपने हाथों में किये बिना कोई विजयी आगे बढ़ नहीं सकता था। समकालीन इतिहासकार इसे यूरोप और एशिया का सबसे मजबूत और हथियारबन्द किला मानते थे। अली को अपनी ओर करने के लिए कविराज फैजी को भेजा गया था, इसी से खानदेश का महत्त्व मालूम होगा। फैजी को यह भी हुकुम हुआ था कि वहाँ से वह अहमदाबाद के सुल्तान बुरहानशाह (बुरहानुल्मुल्क) के पास भी जायें जहाँ के लिए अलग दूत-मण्डल भेजा गया था। खानदेश के बाद अहमदनगर पहुँचना सबसे आसान था।

फैजी ने राजा अली को किस तरह अपनी ओर करने मे सफलता पाई, इसे हम बतला चुके हैं।[१] १५६३ ई० के अन्त में दक्खिन के सुल्तानों के पास भेजे गए दूत-मण्डल लौट आये। वह अपने काम में सफल नहीं हुए। बुरहानुल्मुल्क

१. वही, पृष्ठ ८१-८२

ने अच्छी भेट नहीं भेजी। उसके भेजे १५ हाथी, कुछ कपड़े और थोडे से जवाहिर पर्याप्त नही समझे गये। बुरहानुल्मुल्क को गद्दी पाने में अकबर ने सहायता की थी और उससे अधिक आशा रखी जाती थी। अब मालूम हुआ, वह झुकना नहीं चाहता। इसके लिए अकबर को क्रोध आना वाजिब था। युद्ध होना अनिवार्य हो गया। पहले ७० हजार सवारों की बड़ी सेना का प्रधान सेनापति (फील्ड-मार्शल) शाहजादा दानियाल को नियुक्त किया गया। युद्ध परिषद् ने नियुक्ति उचित नहीं समझी, इसलिए अकबर ने इसकी जगह खानखाना अब्दुर्रहीम को मुहिम का प्रधान-सेनापति बनाया।[1]

जिस समय अकबर दक्खिन के ऊपर लालच-भरी नजर डाल रहा था, उसी समय वहाँ के सुल्तान आपस में लड़ रहे थे—- वस्तुतः आपसी लड़ाई उनमें सदा से चली आती थी। बुरहानुल्मुल्क के मर जाने पर उसका लड़का इब्राहीम गद्दी पर बैठा जिसे बीजापुर की सेना ने १५६५ ई० में हरा दिया। अहमद नगर पर प्रहार करने वाले भी फूट से बचे नहीं थे। खानखाना को प्रधान-सेनापति बनाकर शाहजादा मुराद को भी अकबर ने साथ कर दिया था। मुराद गुजरात का उपराज था। वह चाहता था, चढ़ाई गुजरात से की जाय। पर, रहीम मालवा से आक्रमण करना चाहते थे। इस प्रकार इन दोनों में एकता नहीं थी, तो भी विशाल अकबरी सेना के सामने ठहरना आसान नहीं था। मुहासिरा शुरू हो गया। सौभाग्य से चाँद बीबी जैसी वीरँगना अहमदनगर को मिली थी। वह बुरहानुल्मुल्क की बहिन तथा अपने भतीजे की संरक्षिका थी। अकबर को दो वीर स्त्रियों से मुकाबला करना पड़ा----रानी दुर्गावती और चाँद बीबी सुल्ताना। दोनों ने बतला दिया कि स्त्री-जाति युद्ध कौशल और बहादुरी में पुरुष से कम नहीं है। चाँद बीबी का मुकाबला इतना सख्त था कि अकबर के सेनापतियों ने नरम शर्तो पर उससे सुलह करना चाहा जिसे अबुलफजल ने अनुचित कहा। निश्चय हुआ, बुरहानुल्मुल्क के पोते बहादुर को सुल्तान बनाया जाय। वह अकबर को अपना अधिराज माने, हाथी, मोती जवाहर और दूसरी

---

१. अकबर के शासन के इतिहास को कई समसामयिक इतिहासकारों ने लिखा जिसमें अबुलफजल की 'आईने अकबरी' और 'अकबरनामा' का भारी महत्व है। बदायूँनी ने अपने गुपचुप लिखे इतिहास में बहुत कुछ साम्राज्य के बख्शी निजामुद्दीन अहमद के ग्रन्थ 'तबकात-अकबरी' से लिया। निजामुद्दीन अक्टूबर, १५६४ में ४५ वर्ष की उमर में मर गया। उसके साथ ही 'तबकात' समाप्त हो गई। वह कलम की तरह तलवार का भी धनी था, यह गुजरात के प्रकरण में हम देख चुके हैं। दक्खिन-विजय के लिए निजामुद्दीन की तलवार नहीं रह गई थी और न उसकी कलम।

मूल्यवान चीजे भेंट भेजी जाये और बरार का सूबा मुगल-साम्राज्य को दे दिया जाय। यद्यपि राजधानी के प्राकार कितनी ही जगह बुरी तौर से ध्वस्त हो गये थे, तथापि अहमद नगर लोहे का चना था, इसलिए १५९६ ई० के आरम्भ (इस्फन्दयाररमुज १७) में सुलहनामे पर दस्तखत हो गए। दक्खिन के अभियान का पहला अध्याय खतम हुआ।

हिजरी १००४ (सन् १५९५-९६) से चार वर्ष तक उत्तरी भारत में भयंकर अकाल पड़ा था। समसामयिक इतिहासकार नूरुलहक ने लिखा है--

''उसके साथ एक प्रकार का प्लेग भी आया जिसने गाँवों और नगरों की तो बात ही क्या, शहरों और उनके सभी घरों को निर्जन बना दिया। अनाज और दूसरे सहारे के आभाव में आदमी-आदमी को खाते थे। सड़कें और रास्ते मुर्दों से पट गए थे, उन्हें हटाने की शक्ति किसी में नहीं रह गई थी।''

शेख फरीद बुखारी (मुर्तजा खान) के नियन्त्रण में सहायता पहुँचाने की कोशिश की गई, लेकिन उससे विशेष लाभ नहीं हुआ। इस भयंकर अकाल ने उत्तरी भारत में कैसी प्रलय मचाई, इसका उल्लेख तक करने की समसामयिक इतिहासकारों ने आवश्यकता नहीं समझी। जेस्वित पादरियों के कथनानुसार १५९७ ई० में लाहौर में भी बड़ी महामारी फैली। लोगों ने अपने बच्चों को भी छोड़ दिया और पादरियों को ईसाई बनाने का बड़ा मौका मिला। अकालों और महामारियों का ईसाई मिश्नरी खूब लाभ उठाते रहे, यह हाल में भी हमने देखा है।

१५९७ ई० के ईसाई त्योहार ईस्टर-दिवस को अकबर लाहौर के अपने महल में सूर्य-महोत्सव मना रहा था। इसी समय महल में आग लग गई। महल अधिकतर लकड़ी का बना था। महल के साथ कीमती कालीन, थाल, हीरा-मोती, बहुत-सी दूसरी मूल्यवान चीजें नष्ट हो गई। सोने चाँदी की पिघली धारें पानी की तरह सड़कों में बहीं। अकबर महल को पुनर्निर्माण के लिए लाहौर छोड़ गर्मियां बिताने कश्मीर चला गया। यह कश्मीर का तीसरा प्रवास था। साधु पिनहेरो को मिर्जा बनाने की देखभाल के लिए छोड़कर वह जेवियर और गोवेज को अपने साथ ले गया था। छह महीने बाद नवम्बर में अकबर लाहौर लौटा। जेवियर के पत्र से मालूम होता है कि अकाल कि छाया से कश्मीर भी नहीं बच पाया था। कितनी ही माताओं ने अपने बच्चों को छोड़ दिया जिन्हें उठाकर पादरियों ने बपतिस्मा दिया। जेवियर दो महीने बीमार रहा जिसमें अकबर ने उसके साथ बहुत स्नेह और दया दिखलाई। जब जेवियर अच्छा हुआ, तो अकबर बीमार पड़ गया और उसने भी उसी तत्परता से देखभाल की। पादरी को अकबर के शयनकक्ष में भी जाने की

इजाजत थी जो बड़े से बड़े अमीरों को भी नसीब नहीं था । यद्यपि कासिम खाँ ने रास्ते को ठीक करने की कोशिश की थी, तथापि तब भी कश्मीर के पहाड़ों से लौटते समय बहुत से हाथी, घोड़े और आदमी भी मर गए । अपने बाप की तरह ही सलीम भी नहीं जानता था, भय किस चीज का नाम है । शाहजादा सलीम को एक बाघिन ने करीब-करीब मार-सा डाला था । जेस्वित साधुओं ने कुमारी मरियम की कृपा को रक्षा का कारण बतलाया । सलीम हर वक्त मरियम की ताबीज गले में रखता था । अकबर के कश्मीर ही में रहते समय ७ सितम्बर को लाहौर में बने नये गिरजों की प्रतिष्ठा हुई ।

चाँद बीबी की वीरता के कारण अहमदनगर को अच्छी शर्तों के साथ सुलह करने का मौका मिला था, लेकिन वह अधिक समय तक लाभ नहीं उठा सका । बरार को दे डालने का बहाना करके कितने ही दरबारी चाँद बीबी के शत्रु हो गए और उन्होंने उसके प्रभाव को हटाकर सन्धि की शर्तों को तोड़ते बरार को दखल करना चाहा । मुगल फिर लड़ाई छेड़ने के लिए मजबूर हुए । दक्खिन पर पूरा अधिकार करने का इससे अच्छा अवसर नहीं मिलता, लेकिन अयोग्य शाहजादा मुराद रहीम की टाँग खींचने के लिए तैयार था । फिर भी फरवरी १५६७ में गोदावरी के तट पर सूपा के पास अस्टी में एक जबर्दस्त लड़ाई हुई । अहमदनगर का सेनापति सुहेलखान बीजापुर की सेना की सहायता पाकर बहादुरी से लड़ा । खानखाना को विजय बड़े महंगें मोल मिली । वस्तुतः उसे विजय इसलिए कहना चाहिए कि युद्धक्षेत्र पर मुगलों का अधिकार था । इतनी क्षति उठानी पड़ी की शत्रु का पीछा नहीं किया जा सका । राजा अली खाँ अकबर की ओर से बड़ी बहादुरी के साथ लड़ता मारा गया और उसकी जगह पर लायक पिता का नालायक पुत्र मीराँ बहादुर खानदेश का शासक बना ।

दक्खिन में रहीम और मुराद की अनबन देखकर अकबर ने दोनों को हटा मिर्जा शाहरुख को सेनापति बनाया । मिर्जा शाहरुख बदख्शाँ का शासक था जिसे उज्बेकों ने वहाँ से भगा दिया था । अबुलफजल भी इस समय दक्खिन में थे । उन्हें अकबर ने हुकुम भेजा कि शाहजादा मुराद को दरबार में भेज दें । यही वह समय था जबकि तूरानी अब्दुल्ला खान की मृत्यु हुई । इस खबर को सुनकर १५६८ ई० में अकबर पश्चिमोत्तर से निश्चिन्त हो गया और उसी साल के अन्त में लाहौर से प्रस्थान कर वह आगरा पहुँचा । अब से आगरा ही अकबर की राजधानी बना । अकबर को लायक पुत्र नहीं मिले थे, सभी अयोग्य और सभी एक-दूसरे को अपने रास्ते का काँटा समझ लड़ने वाले थे । इसके कारण अकबर को कई महीने आगरे में रुक जाना पड़ा । हिजरी १००८ के आरम्भ (जुलाई १५६६ ई०) में वह दक्खिन जाने के लिए स्वतन्त्र हुआ । उसने राजधानी और

अजमेर के सूबे का शासन शाहजादा सलीम को देकर हिदायत की कि मेवाड़ के राणा को पूरी तौर से अधीनता स्वीकार करने के लिए मजबूर करे ।

भारी पियक्कड़ी के कारण मई १५९९ में शाहजादा मुराद दक्खिन मे मर गया । मुराद समझता था, मैं सलीम से अधिक योग्य हूँ और मुझे ही गद्दी मिलनी चाहिए । अकबर की मृत्यु के समय यदि वह जिन्दा रहता, तो सलीम को उतनी आसानी से तख्त पर बैठने का मौका नहीं मिलता ।

२. अकबर दक्खिन में (१५९९ ई०)

इसी साल के मध्य में अकबर दक्खिन की ओर चला । १६०० ई० के आरम्भ में बिना विरोध के उसने बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया । अकबर के तीसरे पुत्र दानियाल और खानखाना को अहमदनगर पर अधिकार करने का काम सौंपा । चाँद बीबी ही अहमदनगर को बचा सकती थी, लेकिन उसे दूसरे राजदरबारियों ने मार डाला, या जहर खाकर आत्महत्या करने के लिए मजबूर किया था । फरिश्ता के अनुसार हमीद खाँ ने एक भीड को लेकर चाँद बीबी को मार डाला । दूसरे कहते है, चीता खान हिजड़े ने चाँद बीबी की हत्या कर दी । अगस्त १६०० में बिना कठिनाई के अहमदनगर के किले पर अधिकार कर अकबरी सेना ने १५०० दुर्गरक्षकों को तलवार के घाट उतारा । तरुण सुल्तान बहादुर को उसके परिवार के साथ जन्म भर के लिए ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया । लेकिन सारे राज्य को मुगल सेना नहीं ले सकी । उसके बड़े भाग पर मुर्तजा खाँ का अधिकार रहा ।

३. असीरगढ़-विजय (१६०१ ई०)

खानदेश के स्वामी राजा अली के पुत्र मीराँ बहादुर खाँ ने बाप का अनुसरण करना पसन्द नहीं किया । उसने समझा, असीरगढ़-जैसा अजेय दुर्ग हाथ में रहने पर मुगल मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते । अकबर ने अब असीरगढ़ लेने का निश्चय कर लिया । बुरहानपुर की ओर जाते समय वह इस किले के कुछ मील के फासले से गुजरा था । असीरगढ़ सतपुरा पर्वतमाला के समुद्र तल से २३०० फुट और आसपास के मैदान से ९०० फुट ऊँची एक पहाड़ी पर अवस्थित है । उत्तरी भारत से सुदूर दक्खिन को जाने वाला मार्ग (दक्षिणपथ) यहीं से गुजरता था, इसलिए इस किले का महत्व स्पष्ट है । सभी समकालीन यात्रियों ने इस किले की दृढ़ता की तारीफ की है------ तोपों, युद्ध-सामग्री और रसद से इससे अधिक मजबूत भरे-पूरे दुर्ग की कल्पना नहीं की जा सकती । पहाड़ी की पीठ पर ६० एकड़ जमीन पर कितने ही जलाशय पानी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए तैयार थे । दो जगहों को छोड़कर सीधी खड़ी पहाड़ी के ऊपर पहुँचने का कोई

रास्ता नही था । किले पर अधिकार करने पर वहाँ १३०० छोटी-बड़ी तोपें, बहुत-सी विशाल मार्तोले, भारी बारूद की राशि और बहुत तरह की रसद मिली ।

किले का बाकायदा मुहासिरा अप्रैल १६०० के आरम्भ मे शेख फरीद बुखारी (मुर्तजाखान) और अबुलफजल के नेतृत्व में शुरू हुआ । सारी विशाल तोपो के रहते भी पता लग गया कि किले को तोडना शक्ति से बाहर है । सुरंग लगाने का यहाँ मौका नहीं था । अब घिरावा डालकर बैठने के सिवाय और कोई काम नहीं था । किले के भीतर इतना रसद पानी मौजूद था कि प्रतिरक्षी अनिश्चित काल तक डटे रह सकते थे ।

असीरगढ़ पर अकबर ने कैसे अधिकार किया, इसके बारे मे समसामयिक लेखक परस्पर-विरोधी बाते करते हैं । मुगल इतिहासकारों का कहना है कि भयंकर महामारी के कारण दुर्गरक्षकों को आत्म-समर्पण करना पड़ा । साधु जेरोम जेवियर उस समय अकबर के साथ था । वह लिखता है कि अकबर ने धोखे से सफलता पाई । मीराँ बहादुर को अकबर के डेरे में बुला वचन-भंग करके कैद कर लिया गया । जेस्वित-वर्णन के अनुसार मार्च या अप्रैल १६०० में अपने शत्रु की बात पर विश्वास कर बहादुर शाह शेख फरीद से मिलने किले से बाहर चला आया । फरीद ने बहुत समझाया कि बादशाह के सामने अधीनता स्वीकार करो । बहादुर मानने से इन्कार कर किले में लौट गया । इस समय बहादुर के साथ बहुत से सैनिक थे, फरीद उसे गिरफ्तार करने की हिम्मत नहीं कर सकता था ।

बिना विरोध के बुरहानपुर पर अधिकार करके अकबर ३१ मार्च से ही वहाँ के महल में डेरा डाले पड़ा था । ६ अप्रैल को किले के पास पहुँचकर उसने भिन्न-भिन्न सेनपों में स्थान और काम बांटे । रात और दिन किले पर गोलाबारी होने लगी । मई में बहादुर खान ने अपनी माँ और पुत्र को ६० हाथियों के साथ अकबर के पास सुलह की शर्तों को पूछने के लिए भेजा । अकबर बिना शर्त आत्म-समर्पण चाहता था । बहादुर इसके लिए तैयार नहीं था । जून में धावा बोलकर मुगल सेना ने पास की पहाड़ी पर अधिकार कर लिया जिससे मुख्य किले की ओर बढ़ना आसान हो गया । यहाँ तक कि अबुलफजल और जेस्वित दोनों का वर्णन एकसमान है । इसके आगे उनमें मतभेद है । साधु जेवियर के पत्रों से मालूम होता है कि १६ अगस्त को अहमदनगर के पतन की खबर तीन दिन बाद २२ अगस्त को असीरगढ़ पहुँची जिसका बहादुरशाह के ऊपर असर पड़ा । अहमदनगर से अच्छी खबर आई, पर अगस्त में आगरे से सलीम के खुले विद्रोह का बुरा समाचार भी मिला । अब अकबर असीरगढ़ से जल्दी छुट्टी लेना चाहता था । २२ अगस्त के बाद सुलह की बातचीत शुरू हो गई । खानदेश के रिवाज के मुताबिक गद्दी के सबसे नजदीक के उत्तराधिकारी सातशाहजादे बराबर असीरगढ़

मे रहते थे, रिक्त सिंहासन पर सबसे ज्येष्ठ को जाने का मौका मिलता था। सातो में से बहादुर शाह सिंहासन पर बैठने के लिए गया था, दूसरे शाहजादे भी किले के भीतर थे। किलादार एक अबीसीनियन था। सात पोर्तुगीज तोपची अफसर किले की रक्षा का काम कर रहे थे। अकबर दो लाख आदमियों को लेकर किले को घेरे हुए था। सब तरफ से कोई आशा न देखकर अकबर ने शपथपूर्वक मीराँ (बहादुर) शाह को बात करने के लिए बुलाते कहा कि उसे आजादी से लौटने की छुट्टी दे दी जायगी। पोर्तुगीज अफसरों ने मना किया, लेकिन बहादुरशाह निमन्त्रण स्वीकार कर अधीनता स्वीकार करने के चिह्न के तौर पर गले मे चद्दर डाल कर बाहर निकला। अकबर ने दरबार में उसका स्वागत किया। बहादुर ने सम्मान दिखलाते हुए तीन बार सिजदा किया। इसी समय मुगल अफसरो ने ठीक तौर से सिजदा (दंडवत) करने के बहाने उसका सिर पकड़ कर जमीन पर गिरा दिया। अकबर ने इसे नापसन्द किया। इसके बाद बहादुर से कहा गया कि लिखकर किले के आदमियों के पास समर्पण करने का हुकुम भेजो। बहादुरशाह ने ऐसा करने से इन्कार कर लौट जाना चाहा। इस पर वचन-भंग करते उसे गिरफ्तार कर लिया गया। अबीसीनियन दुर्गपाल ने जब खबर सुनी, तो उसने अपने पुत्र मुकर्रब खान को इस नीचतापूर्ण वचन-भंग का विरोध करने के लिए भेजा। अकबर ने उससे पूछा- क्या तुम्हारा बाप किले को समर्पित करने के लिए तैयार है ? मुकर्रब ने कहा- मेरे बाप समर्पण करना तो दूर, उसकी बात करना भी पसन्द नहीं करेगे। उसने यह भी कहा कि यदि मेरी माँ को नहीं लौटाया गया, तो उसका स्थान उसके उत्तराधिकारी को देंगे और चाहे जो भी हो, किले को समर्पित नहीं करेगे।

जेस्वित साधु के कहने के अनुसार इस मुँहफट जबाब को सुनकर अकबर ने उसे तुरन्त मारने का हुकुम दे दिया। दुर्गपाल ने इसके बाद अकबर के पास सन्देश भेजा: मैं ऐसे झूठे बादशाह का मुँह भी नहीं देख सकता। फिर उसने अपने दुर्गरक्षकों से कहा-

"साथियों, जाड़ा आ रहा है। मुगल मुहासिरा उठा कर घर लौटने के लिए मजबूर होंगे, क्योंकि उनकी सेना के नष्ट होने का डर पैदा हो जायेगा। किले पर कोई जबर्दस्ती अधिकार नहीं कर सकता। भगवान या दुर्गरक्षको का विश्वासघात ही वैसा कराने में सफल हो सकता है। जो ईमानदारी के रास्ते पर चलते है, वह अधिक सम्मान के भाजन हैं। इसलिए तुम दिलोजान से अपने स्थान की रक्षा करो। मैं अपने जीवन का काम पूरा कर चुका, इसलिए मैं ऐसे नीच बादशाह का चेहरा देखना बर्दाश्त नहीं कर सकता।" यह कहकर उसने गले की चादर को कस कर के अपने को खतम कर दिया।

दुर्गपाल के मरने पर दुर्गरक्षको ने कितने ही समय तक किले की रक्षा करते मुगलो को बड़ी परेशानी मे डाला । अकबर ने साधु जेवियर से काम लेना चाहा । पर, पोर्तुगीजों की खानदेश के साथ सन्धि थी, इसलिए साधु अकबर की बात मानने के लिए तैयार नहीं था और मुँहलगा होने से उसने दो टूक जवाब भी दे दिया । अकबर ने नाराज होकर हुकुम दिया कि जेस्वित साधुओं को शाही निवास-स्थान से हटाकर तुरन्त गोआ भेज दिया जाये । साधु जाने के लिए तैयार थे, लेकिन उनके किसी मित्र अमीर ने सलाह दी कि यहाँ से न जायें, नही तो रास्ते में मारे जायेगे । वह कुछ दूर जा चुके थे । उन्हें इदोम में तब तक रहने के लिए सलाह दी गई जब तक कि बादशाह का गुस्सा हट न जाय । सचमुच थोड़े ही समय बाद उन्होंने फिर अकबर को पहले ही जैसा देखा ।

बहादुरशाह के गिरफ्तार करने से कोई काम नहीं बना । अकबर का गुनाह बेलज्जत हुआ । घिरावा दुर्गरक्षको को हतोत्साह नहीं कर सकता था । इलाहाबाद में सलीम की कार्रवाइयो को सुनकर अकबर का दिमाग परेशान था, इसलिए वह अनिश्चित काल तक वहाँ बैठा नहीं रह सकता था । उसने सीसे की जगह सोने-चाँदी के गोलों को इस्तेमाल किया । दुर्गरक्षकों के मुखिया एक-एक करके खरीद लिए गये । सातों उत्तराधिकारी शाहजादों के लिए कोई रास्ता नहीं रह गया और साढ़े दस महीने के मुहासिरे के बाद १७ जनवरी, १६०१ को असीरगढ़ ने आत्म-समर्पण किया ।

किले के फाटक खुलने पर भीतर एक शहर बसा मालूम हुआ । कुछ को लकवा या आँख की बीमारी जरूर थी, लेकिन वह ऐसी नहीं थी जिससे किले को खतरा हो सकता था । अबुलफजल ने लिखा है: २५ हजार आदमी महामारी से असीरगढ़ के भीतर मर गये । फरिश्ता के अनुसार समर्पण करने के समय भी दुर्गरक्षा के लिए काफी आदमी मौजूद थे ।

अकबर ने दुर्गरक्षकों की जानें बख्श दीं । बहादुरशाह और उसके परिवार को ग्वालियर के किले में क़ैद कर दिया गया । उनके खर्चे के लिए चार हजार मुहर सलाना पेंशन निश्चित हुई । सात शाहजादों को भिन्न-भिन्न दूसरे किलों में रख दो-दो हजार अशर्फी सालाना पेंशन कर दी गई । सातों पोर्तुगीज तोपचियों की भी जान-बख्शी गई, यद्यपि उन्हें बुरा-भला जरूर कहा गया--- तुमने ईसाई धर्म को छोड़कर झूठे इस्लाम को कबूल किया । वहाँ जितने पोर्तुगीज या दूसरे ईसाई स्त्री-पुरुष मिले, जेवियर के सुपुर्द कर दिये गए । उन्होंने ७० से अधिक----- कुछ मरणासन्न बच्चों--- को भी बपतिस्मा दिया ।

अकबर दक्खिन का काम कर चुका । नये विजित भूखण्ड के अहमदनगर, बरार और खानदेश के तीन सूबे बनाये गए जिन्हें मालवा और गुजरात के साथ

मिलाकर शाहजादा दानियाल के अधीन कर दिया गया। २० अप्रैल, १६०१ को लिखा एक विजय-अभिलेख असीरगढ़ में लगा दिया गया। खानदेश का नाम उपराज के नाम पर दानदेश रखा गया, यह सीकरी के बुलन्द दरवाजे के अभिलेख से पता लगता है, लेकिन लोगो ने दानदेश को नहीं स्वीकार किया और आज भी महाराष्ट्र के इस भाग को लोग खानदेश ही कहते है। अकबर का मझला पुत्र मुराद मर चुका था, जेठा सलीम बागी होकर इलाहाबाद में बैठा था। अकबर ने शायद उसकी अक्ल ठीक करने के लिए ही दक्खिन के पाँच सूबों को कनिष्ठ पुत्र को प्रदान किया।

अकबर दक्खिन से लौटकर मई १६०१ के आरम्भ में आगरा पहुँचा। अब अकबर के कर्मठ जीवन का अन्त हो गया। उसके बाद उसने न तो कोई नई विजय की, न अपने बड़े लडके के विद्रोह को छोड़कर किसी और कठिनाई का उसे सामना करना पड़ा।

अन्तिम जीवन (१६०१--५ ई०)

२४

१. सलीम का विद्रोह (१६०० ई०)

अकबर अपने बेटे से बहुत प्रेम करता था। उसने सलीम को युवराज और बारहहजारी, मुराद को दसहजारी और दानियाल को सातहजारी मन्सब दिया था। मुराद पहले ही मर चुका था, दानियाल दक्खिन में था। यह भी बतला चुके है, कि सलीम को आगरा और अजमेर के सूबो को देकर मेवाड़ पर आक्रमण करने का हुकुम हुआ था। राजा मानसिंह भी उसके साथ थे। अकबर ने सलीम को तमन, तोग (तुर्की झण्डा), अलम, नगारा, फर्राशखाना आदि सभी बादशाही सामान, एक लाख अशर्फी नकद तथा सवारी के लिए अमारी-सहित हाथी प्रदान किया था। मानसिंह बंगाल-बिहार के सिपहसालार थे, लेकिन बादशाह के हुकुम के अनुसार युवराज के साथ थे। दानियाल सलीम का प्रतिद्वन्द्वी था। उसका प्रभाव भी कम नहीं था। साम्राज्य के सबसे बड़े फील्ड-मार्शल रहीम खानखाना उसके ससुर थे। बीजापुर-सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी बेटी बेगम सुल्तान की शादी शाहजादा दानियाल से करने की प्रार्थना की। अकबर को खुश होना ही चाहिए था, क्योंकि अहमदनगर के बाद अब बीजापुर भी उसके कदमों पर सिर झुकाने के लिए तैयार था।

सलीम को राणा से लड़ने में कोई दिलचस्पी नहीं थी, वह कोई खेल-तमाशा भी नहीं था। उसकी जगह उसे अजमेर के इलाके में शिकार खेलना अधिक पसन्द था। उसने अपने आदमियों को राणा से लड़ने के लिए भेजा था। १५६७ में प्रताप के मरने पर मेवाड़पति राणा अमरसिंह पिता की तरह ही योग्य वीर था। उसने मुगल सेना के छक्के छुड़ाये।

सलीम बहुत असंतुष्ट था कि बाप जीता जा रहा है, न जाने कितने सालों तक मुझे गद्दी के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। क्या जाने तब तक मैं खुद न रहूँ और मुराद की तरह अपनी सारी मुरादें साथ लिए जाना पड़े। वह जानता था, अबुलफजल और रहीम उसे पसन्द नहीं करते। चापलूसी मुसाहिब भी आग में घी डालते थे। इसी बीच (१६०० ई० में) खबर आई, बंगाल में विद्रोह हो गया, उसमान खाँ ने मानसिंह की सेना को हरा दिया। मानसिंह उधर जाने के लिए मजबूर हुए। मानसिंह यद्यपि सलीम के साले थे, पर वह अकबर को अपना सब कुछ समझते थे। उनके रहते समय सलीम के ऊपर कुछ अंकुश था। जब वह बंगाल की ओर चले, तो सलीम को खुलकर खेलने का मौका मिला। मेवाड़ की

मुहिम को छोडकर आगरा जा उसने शहर के बाहर डेरा डाल दिया । अकबर की माँ हमीदाबानू (मरियम मकानी) लाल किले में थीं । दुर्गपाल किलिच खॉ अकबर का नामी सिपहसालार था । उसने किले से निकलकर सलीम का खूब स्वागत किया, नजर भेट की, खैरखाही की बहुत-सी बाते कही, ऐसे उपाय सुझाये कि सलीम समझने लगा, इससे बढ़कर हमारा कोई खैरखाह नही होगा । मुसाहिबो ने बहुत समझाया कि इस पुराने पापी को गिरफ्तार कर लेना चाहिए, लेकिन शाहजादा ने उनकी बात नहीं मानी ।

सलीम शिकार खेलने के बहाने जमुना पार गया । दादी (मरियम मकानी) को असली बात का पता लग गया । उसको बेटे से भी ज्यादा स्नेह था । उसने बुला भेजा, लेकिन सलीम नही आया । फिर वह स्वय चली । खबर पाते ही सलीम नाव में बैठकर इलाहाबाद की ओर भागा । दादी बेचारी निराश लौट गई । इलाहाबाद में पहुँचकर सलीम ने पुराने अमीरो की सारी जागीरें जब्त कर ली । इलाहाबाद आसफ खाँ मीरजाफर के हाथ में था जिसे सलीम ने छीन लिया । बिहार, अवध और दूसरे पास के सूबों पर भी कब्जा कर सब पर उसने अपने हाकिम नियुक्त किये । बिहार के तीस लाख से अधिक खजाने को ले सूबे को अपने कोका (दूधभाई) शेखजीवन—सलीम चिश्ती के पुत्र—को प्रदान कर उसे कुतुबुद्दीन खान की पदवी दी ।

मानसिंह ने बंगाल जा शेरपुर-अताई (जिला मुर्शिदाबाद) मे उसमान खाँ पठान को पूरी तौर से हरा दिया । उसके बाद हिजरी १०१३ (१६०४-५) तक मानसिंह बंगाल में ही रहे ।

अकबर की सारी आशाएँ सलीम पर केन्द्रित थीं । दानियाल और भी ज्यादा पियक्कड़ और नालायक था । सलीम के पुत्र तथा मानसिंह के भांजे खुसरो को वह बहुत प्यार करता था, पर इसका यह अर्थ नहीं कि दादा बेटे की जगह पोते को गद्दी देना चाहता था । सलीम के विद्रोह की खबर मिल गई । आगरा पहुँचकर अकबर ने बेटे को बुलाने के लिए कई सन्देश भेजे । एक बार खबर मिली, सलीम तीस हजार सवारों के साथ आ रहा है और राजधानी से ७३ मील पर अवस्थित इटावा पहुँच भी गया है । सलीम ने इलाहाबाद में अपने को बादशाह घोषित करके अपने नाम के रुपये और अशर्फियाँ ढलवाई और उन्हें दिल जलाने के लिए अकबर के पास भिजवाया । मशहूर चित्रकार ख्वाजा अब्दुस्समद के पुत्र मुहम्मद शरीफ़ को सलीम का लँगोटिया यार और सहपाठी समझकर अकबर ने उसे समझाने-बुझाने के लिए भेजा और यह भी कहलवाया कि बंगाल और उड़ीसा की जागीर तुम्हें दी जाती है । जहाँगीर के मुसाहिब उसे कब चुप बैठने देने वाले थे ? उन्हीं की सलाह पर तीस हजार सवार लेकर वह इटावा गया था । अकबर

ने समझ लिया, दाल मे कुछ काला है । उसने फरमान भेजा . यद्यपि पुत्र को देखने की इच्छा अत्यधिक है, बूढ़ा बाप दीदार का प्यासा है, तथापि इस धूमधाम से प्यारे बेटे का मिलने आना बहुत बुरा मालूम होता है । मिलना चाहते हो, तो तुम्हारा मुजरा कबूल हो गया । आदमियों को जागीरों पर भेज दो और साधारण तौर से अकेले चले आओ, बाप की दुखती आँखों को रोशनी और निराश दिल को खुश करो । अगर लोगों के फुसलाने से तुम्हारे दिल में कुछ सन्देह है—जिसका हमे कोई ख्याल भी नहीं—तो कोई बात नहीं; इलाहाबाद लौट जाओ, दिल के सन्देह को हटा दो । जब तुम्हारे हृदय में कोई शंका न रह जाये, तब सेवा में उपस्थित होना ।

फरमान इतना प्रेम-भरा था कि जहाँगीर भी लज्जित हुआ और वहीं ठहर कर उसने प्रार्थना की कि दास सिवाय सेवा और दर्शन के और कोई ख्याल में नहीं रखता । इसके उत्तर में अकबर का जो पत्र मिला, उससे वह इलाहाबाद लौट गया । बादशाह ने बेटे को सारे बंगाल की जागीर दे दी और यह भी लिख दिया कि उसके प्रबन्ध के लिए तुम अपने आदमी नियुक्त करो । इस समय शासन-शक्ति के दो केन्द्र बन गए । अकबर जीवन के अन्त पर था, सलीम भावी बादशाह था, इसलिए विश्वासपात्र आदमियों की हालत भी डावॉडोल हो गई थी । अबुलफजल अब भी दक्खिन में थे । इस समय अकबर को उनका अभाव खटकने लगा और जल्दी आने के लिए फरमान भेजा । सलीम को सारी बातों का पता लगता रहता था । उसने सोचा, यदि बूढ़ा वजीर बादशाह के पास पहुँच गया, तो न जाने क्या करा दे, इसलिए कैसे धोखे से रास्ते में अबुलफजल को मरवा दिया, इसे हम बतला चुके हैं । अकबर को अपने ऐसे मित्र के मारे जाने का भारी अफसोस हुआ ।

लेकिन अब तो बीती नहीं, आगे की सुध लेनी थी । सलीम का दिल साफ करना चाहता था । उसको समझा-बुझाकर लाने के लिए चारों ओर नजर दौड़ाई, तो सलीमा सुल्तान बेगम (खदीजा जमानी) पर उसकी नजर गई । सलीमा बैरम खाँ की सात वर्ष की विधवा अकबर की फुफेरी बहिन थी, जिसे बादशाह ने बैरम के परिवार के साथ घनिष्ठता स्थापित कर कड़वाहटों को भुलाने के लिए ब्याहा था । अकबर की बीवियों में सलीमा बहुत प्रभावशाली, चतुर और मिठबोली थी । अपने सौतेले बेटे सलीम के साथ उसका बहुत अच्छा सम्बन्ध था, इसलिए अकबर ने सलीमा को ही अपना सन्देशवाहक बनाया । बेटे के लिए जो सौगातें भेजीं, उनमें 'फतह-लश्कर' नामक प्रसिद्ध हाथी, कीमती खलअत, बहुमूल्य वस्तुएँ, मेवे-मिठाइयाँ, पोशाक और जेवर थे । सलीमा १६०२ ई० के अन्त या १६०३ ई० के आरम्भ में इलाहाबाद गई । सभी बातें बतलाईं, नीचा-ऊँचा दिखलाया ।

सलीम यदि दूसरों की बातों पर चलता, तो बाप का विद्रोही न होता । सलीमा का जादू चल गया । वह उसे ले आगरे के लिए रवाना हुई । अप्रैल १६०३ के आसपास अकबर को खबर मिली कि सलीमा इटावा से आगे आ गया है ! सलीमा बेगम ने अकबर की माँ मरियम मकानी को लिखा कि आप सलीमा को अपनी रक्षा में लें । मरियम मकानी एक दिन की मंजिल आगे बढ़कर पोते को अपने महल मे ले गईं । उन्होंने बाप-बेटे की मुलाकात का प्रबन्ध किया । एक तरफ मरियम मकानी और दूसरी तरफ सलीमा ने सलीम को पकडा । बाप के सामने जा उसने कदमों पर सिर रख दिया । अकबर ने उठाकर देर तक उसे छाती से लगाये ऑसू बहाया और अपनी सिरपेच उतार कर बेटे के सिर पर रख दी । पुन: युवराज की उपाधि दी, बाजे बजवाये, उत्सव मनाया । सलीमा ने उस दिन १२ हजार अशर्फियाँ और ७७० हाथी बाप को भेंट किये । हाथियों में ३६४ इतने अच्छे थे कि उन्हें बादशाह ने अपने फीलखानों में दाखिल किया, बाकी को लौटा दिया । अकबर को हाथियों से बड़ा प्रेम था, यह सलीम जानता था । बाप ने कहा, तुम्हें जो हाथी पसंद हो, माँगो । सलीम के माँगने पर उसे दे दिया ।

प्रताप के उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह ने बादशाही इलाके में भी आक्रमण शुरु कर दिये थे । अकबर ने सलीम को मेवाड़ की मुहिम पर भेजा । वह रवाना हो सीकरी पहुँचा । खजाना और कुछ सामान के पहुँचने में देर देख वह फिर बिगड़ गया । बाप के पास शिकायत करते कहा : सारी सेना और सामान जुटा लें, फिर मै मुहिम पर आऊँगा, इस वक्त मैं अपनी जागीर पर जाना चाहता हूँ । अकबर ने देखा, काम बिगड़ रहा है, इसलिए उसने अपनी बहिन को समझाने के लिए भेजा । उसने नहीं माना । बाप को इजाजत देनी पड़ी । कुछ अमीरो ने अकबर से कहा, उसे हाथ से जाने नहीं देना चाहिए, लेकिन अकबर तैयार नहीं हुआ । जाड़े की सर्दी थी । दूसरे दिन सलीम के पास यह कह कर एक बहुमूल्य सफेद समूरी पोशाक भेजी—यह मुझे बहुत पसन्द आई, चाहता हूँ, तुम इसे पहनो । उसके साथ कुछ और भी सौगातें भेजीं । १० नवम्बर, १६०३ को मथुरा के पास जमुना पार हो सलीम इलाहाबाद पहुँचा और बाप के साथ मेल को बड़े धूमधाम से मनाया । कान भरने के लिए अब भी उसके मुसाहिब मौजूद थे । इसी समय सलीम की मुख्य बेगम—राजा मानसिंह के चचेरी बहिन तथा सलीम के बड़े लड़के खुसरो की माँ शाह बेगम—मर गई । सलीम शाह बेगम को बहुत प्यार करता था । शाह बेगम को पति का ससुर के साथ बर्ताव और अपने बेटे खुसरो की बाप का स्थान लेने की आशंका ने बहुत परेशान कर दिया, जीवन भार मालूम होने लगा और अफीम खाकर उसने जान दे दी । जहाँगीर ने तुजुक में लिखा है—"जो प्रेम मेरा उसके साथ था, उसके कारण उसकी

मृत्यु के बाद कई दिन दु:ख-भरे रहे । मुझे जीवन दूभर मालूम हो रहा था । चार दिन तक मैने मुँह में न अन्न डाला, न पानी ।" अकबर ने बेटे को धीरज बँधाते पत्र लिखा और साथ मे खिलअत के साथ अपने सिर की पगडी भी भेजी ।

१६०४ ई० के आरम्भ में बीजापुर सुल्तान ने दानियाल से ब्याहने के लिए मीर जलालुद्दीन हुसेन और इतिहासकार फरिश्ता के साथ अपनी लड़की को भेजा । गोदावरी के किनारे पैठन में शाहजादे ने ब्याह किया । इसी साल अप्रैल के आरम्भ मे अत्यधिक शराब के पीने के कारण दानियाल बुरहानपुर मे मर गया ।

शराब से मरे अपने दोनो बेटों के लिए अकबर को बहुत अफसोस था । अब उसके लिए एक शेखूजी बच रहा था—अकबर सलीम को प्यार से शेखूजी कहा करता था । उसकी भी शराब और अफीम की बुरी आदत पड़ गई थी । अप्रैल १६०४ मे अपने किसी वाकयानवीस (घटना-लेखक) की बदमाशी से सलीम इतना नाराज हुआ कि उसकी जिन्दा खाल उतरवा ली । अकबर को जब यह खबर मिली, तो उसके दिल को बहुत धक्का लगा । उसने कहा—" शेखूजी, हम तो बकरी की खाल भी उतारते नहीं देख सकते, तुमने यह संगदिली कहाँ से सीखी ?" अकबर ने देखा, बड़ा बेटा भी अपने दोनों भाइयो के कदमो पर चल रहा है । उसकी इच्छा हुई, अबकी खुद जा बेटे को समझा कर अपने साथ लाये । तदनुसार १६०४ ई० की गर्मियों में इलाहाबाद जाने का निश्चय कर लिया । उसने अगस्त में जमुना पार आगरे से छह मील पर सेना जमा करवाई । वह खुद नाव पर चला, लेकिन नाव फँस गई । वर्षा भी इतनी हुई कि बादशाही शामियाने को छोड़कर सभी तम्बू बाढ़ की लपेट में आ गए । दादी को भय लगने लगा, अबकी बाप-बेटे मे मेल नहीं, बल्कि खूनी लड़ाई होगी । उसने बेटे को बहुत रोकने की क़ोशिश की, पर सफल नहीं हुई । इससे बुढ़िया की हालत बहुत बुरी हो गई । खबर सुनते ही अकबर लौट कर माँ की चारपाई के पास बैठा । माँ बोलने की शक्ति खो चुकी थी । चार दिन बाद २६ अगस्त को बानू ने शरीर छोड़ दिया । अकबर अपनी माँ से अत्यन्त प्यार करता था । शोक में भद्र करवाया, दूसरे १४०० आदमियों ने भी उसका साथ दिया । बेटे ने माँ की अर्थी को कुछ दूर तक अपने कन्धे पर उठाया । अमीरों ने भी कन्धे लगाये । फिर उसे पति (हुमायूँ) के साथ दफन होने के लिए दिल्ली भेज दिया । हमीदा बानू ने अपने घर के खजाने के लिए कहा था कि उसे मेरे सभी पुरुष-सन्तानों में बाँट दिया जाये । कहते हैं, अकबर ने माँ की इच्छा की कोई परवाह न करके सबको अपने खजाने में डलवा दिया । सलीम को अकल आई । वह अक्तूबर में इलाहाबाद से रवाना हो ६ नवम्बर को अपने

आदमियों को शहर से दूर रख कर राजधानी मे पहुँचा । उसके साथ उसका द्वितीय पुत्र परवेज (१४ वर्ष) भी था । सलीम अपने बाप की भेंट के लिए दो सौ अशर्फियों के साथ एक लाख रुपये का हार और चार सौ हाथी लाया था । अकबर के सामने उसने सिजदा किया । बाप उसे पकड़ कर भीतर खींच ले गया । और बेटे के मुँह पर कई चपत लगाये, बहुत बुरा-भला कहा । फिर उसकी शराब-अफीम की आदत से डर कर उसे पास के स्नानागार मे बन्द रखने का हुकुम दिया । चिकित्सक राजा सालिवाहन, दो नौकर रूप खवास तथा अर्जुन हजाम को उसके ऊपर नियुक्त किया । चिकित्सक शराब-अफीम की आदत छुडाने के लिए प्रयत्न करने लगा । सलीम को बुरी सलाह देने वालों को पकडकर जेल में डलवा दिया गया । कांगड़ा के पास मऊ (नूरपुर) के राजा वसु को समय पर पता लग गया और वह वहाँ से भाग निकला । सलीम को चौबीस घंटे तक अफीम नहीं दी गई । बुरी हालत देखकर बाप स्वयं अपने हाथ से बेटे के पास अफीम ले गया । बेगमों ने बहुत समझाया-बुझाया । इस पर उसने उसे नौकर-चाकर के साथ एक उपयुक्त महल में रखवा दिया । सलीम अब पूरी तौर से बाप की बात मानने के लिए तैयार था । अकबर ने दानियाल के सूबे उसे दिये और वह आगरे मे रहने लगा ।

इसी बीच सलीम और उसके बेटे खुसरो के मनमुटाव को बढ़ाने वाली एक घटना घटी । एक दिन हाथियों की लड़ाई का इन्तजाम किया गया । अकबर को बचपन से ही इसका बहुत शौक था । सलीम का एक बहुत विशाल हाथी था जिसका नाम गिराँबार (बहुमूल्य) था । लड़ाई में दूसरा हाथी उससे टक्कर नहीं ले सकता था । सलीम के बेटे खुसरो के पास भी एक जबर्दस्त हाथी था जिसका नाम आपरूप था । दोनों को लड़ाने का निश्चय हुआ । बादशाही हाथी रनथमन भी उनकी जोड़ी का था । निश्चय हुआ था कि दोनों में जो दबे, उसकी मदद के लिए रनथमन पहुँच जाये । बादशाह और शाहजादे झरोखे मे बैठे तमाशा देख रहे थे । इजाजत लेकर जहाँगीर और खुसरो घोड़े पर चढ़ कर मैदान में गये । गिराँबार और आपरूप पहाड़ की तरफ एक दूसरे से टकराने लगे । खुसरो का हाथी भागा, जहाँगीर के हाथी ने उसका पीछा किया । पूर्व निर्णय के अनुसार हाथीवान रनथमन को लेकर आपरूप की मदद के लिए बढ़ा । जहाँगीर के नौकर नहीं चाहते थे कि गिराँबार हारे । उन्होंने रनथमन को रोकना चाहा । हाथीवान नहीं रुका । जहाँगीर के नौकर ने बर्छे और पत्थरों से आक्रमण किया । बादशाही हाथीवान के सिर पर एक पत्थर लगा, खून बहने लगा । खुसरो ने दादा के पास आकर बाप के नौकरों की ज्यादती तथा शाही हाथीवान के घायल होने की बात सुनाई । अकबर को बहुत गुस्सा आया, लेकिन उसने अपने को दबाया । जहाँगीर

का लड़का खुर्रम—पीछे बादशाह शाहजहाँ—दादा के पास रहता था। अकबर ने उससे कहा —"जाओ, अपने शाहभाई से कहो कि शाह बाबा कहते है : दोनों हाथी तुम्हारे है, दोनों हाथीवान तुम्हारे हैं, जानवर का पक्ष ले हमारा अदब भूल जाना यह कैसी बात है ?"

खुर्रम के लिए उस समय आशा थी कि जहाँगीर के बाद उसे ही गद्दी पर बैठना है। उसने बाप से जाकर कहा। लौट कर दादा को बतलाया कि शाहभाई कहते है—"हजरत के मुबारक सिर की कसम है। सेवक को इस बेहूदा बात की बिल्कुल खबर नही, गुलाम कभी ऐसी गुस्ताखी गवारा नहीं कर सकता।" अकबर को और क्या चाहिए था ? खुसरो (जन्म १५८७) को कभी-कभी अकबर ने जरूर कहा था कि तू बाप से ज्यादा होशियार है, पर वह अपने बेटे को सिंहासन से वंचित करके पोते को सिंहासन नहीं देना चाहता था। खुसरो में कोई असाधारण गुण भी नहीं था। उसको यह अभिमान जरूर था कि मैं शाह का सबसे बड़ा पोता हूँ, मेरा मामा दरबार का सबसे बड़ा अमीर, सल्तनत का फील्ड मार्शल राजा मानसिंह है। भाग्य हँस रहा था, क्योंकि उसका हाथ खुसरो के छोटे भाई खुर्रम के ऊपर था। खुर्रम भी जोधपुर के राजा मालदेव की पोती का पुत्र था।

२. मृत्यु (१६०५ ई०)

अकबर ६३ वर्ष का था। उसकी माँ एक ही साल पहले मरी थी। यह नहीं कहा जा सकता था कि वह बिल्कुल पका टपकने वाला फल था। सारा जीवन वह अत्यन्त कर्मठ पुरुष रहा। अन्तिम जीवन में पुत्र के विद्रोह को बर्दाश्त करने को छोड़ उसके लिए कोई काम नहीं था, गोया जीवन का उद्देश्य ही खतम हो गया था। अकबर के सबसे प्रभावशाली अमीर और सेनापति राजा मानसिंह और दूधभाई अजीज कोका सलीम की हरकतों को देख कर चाहते थे कि उसे वंचित कर खुसरो को गद्दी पर बैठाया जाये। आखिर अकबर को फौलादी शरीर ने भी जवाब दे दिया। २० सितम्बर १६०५, रविवार को अकबर ने सूर्य की पूजापाठ अच्छी तरह से की। अगले दिन पेचिश हो गई शाही चिकित्सक हकीम अली ने आठ दिन तक कोई दवा न दी, सोचा स्वाभाविक तौर से शरीर को उसका मुकाबला करने देना चाहिए। इससे कोई लाभ न देख कर पूरी मात्रा में दवाइयाँ देने लगे। इसी बीच सलीम और खुसरो के हाथियों की लड़ाई में उनके नौकरों में जो झगड़ा हुआ था, उसके कारण अकबर को और धक्का लगा जिससे हालत बिगड़ गई। भारत के भाग्य का अस्त होने वाला सूर्य रोग-शय्या पर पड़ा था। बादशाहों के मरने के समय जो बातें हुआ करती है, वह इस समय हुए बिना कैसे रह सकती थीं ?

अमीर अपना-अपना दॉव-पेच लगा रहे थे । दरबार के सबसे बड़े अमीर राजा मानसिंह और खाने आजम मिर्जा कोका अपने भांजे और दामाद की पीठ पर थे । खुसरो की एक ही बीवी थी और वह थी खाने आजम की बेटी । दोनों ने सोचा, सलीम रास्ते का कॉटा है, यदि इसे हटा दिया जाये, तो काम बन जायगा । सलीम के समर्थकों की भी कमी नही थी । बख्शी शेख फरीद 'मुर्तजा खाँ' सारी सल्तनत का बख्शी (सैनिक वित्तमत्री) था । वह बराबर सलीम को सजग किया करता था । खुसरो कई सालो से हजार रुपया रोज अपने खैरख्वाहो में इसी दिन के लिए बाँटता आ रहा था । एक बार सलीम बाप को देखने के लिए नाव पर चढ़ जमुना के किनारे पहुँच उतरना ही चाहता था कि उसे सजग कर दिया गया । वह अपने महल में लौट गया । खाने आजम और मानसिंह ने अमीरों और सेनापतियों की बैठक में प्रस्ताव पेश किया कि बादशाह को इतना कष्ट देने वाले बेटे को वंचित कर दिया जाये । लेकिन अधिकांश ने इसका सख्त विरोध किया और कहा : यह चगताई-वंश के नियम के विरुद्ध है । बैठक में कोई निश्चय नहीं हो सका । सलीम-समर्थक राजा रामदास कछवाहा इस गड़बड को खूब देख रहा था । खजाना उस समय बड़ी चीज थी जिसकी रक्षा के लिए उसने उस पर अपने विश्वासपात्र राजपूतों को नियुक्त कर दिया । शेख फरीद ने प्रभावशाली सेनापति बारहा के सैयदों को सलीम की ओर किया । उन्होने सलीम के पक्ष में अपने को घोषित किया । वह समझने लगे, हमारी योजना तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि बादशाह की अन्तिम घड़ियों मे मानसिंह को खुसरो के साथ बंगाल नहीं भेज दिया जाता ।

खाने आजम और मानसिंह के हथियारबन्द आदमी चारों ओर लगे हुए थे । सलीम यदि इस समय घर से बाहर निकलता, तो कैद कर लिया जाता । इसलिए सलीम खतरनाक बीमारियों में भी बाप से मिलने नहीं जा सका । बीमारी के समय खुर्रम बराबर दादा के पास रहता और वह सारी बातें समझा कर बाप के न आने का कारण बतलाता था । बाप ने खुर्रम से बहुत कहा, चारों ओर दुश्मन है, मेरे पास चले आओ; लेकिन, वह राजी नहीं हुआ । माँ भी दौड़ी-दौड़ी लेने के लिए आई, बहुत समझाया, लेकिन, खुर्रम नहीं हटा । इसमें शक नहीं, दादा की मृत्यु-शय्या के पास खुर्रम का बना रहना सलीम के बड़े लाभ की बात सिद्ध हुई ।

सलीम बाप से मिलने के लिए छटपटा रहा था, लेकिन उसके हितैषी खतरे से आगाह करते उसे जाने से रोकते थे । अन्त में सलीम बाप के पास पहुँचा । उसने गले से लगाकर बेटे को बहुत प्यार किया । दरबार के अमीरों को

बुलवाया, फिर बेटे से कहा—"पुत्र, मैं नहीं चाहता कि मुझमे और मेरे खैरख्वाहों मे बिगाड़ हो । इन्होंने वर्षों मेरे साथ युद्ध और शिकारो में तकलीफें उठाई, तेग और तुफंग के मुँह पर अपनी जान जोखिम में रखी, मेरे यश और प्रताप, राज्य और धन की तरक्की में ये प्राण न्यौछावर करते रहे ।" इसी समय अमीर भी आ गये । फिर उनकी तरफ मुँह करके शाह ने कहा . "गोरे वफादारों, मेरे प्यारों, अगर भूल से भी मैने तुम्हारा कोई अपराध किया हो, तो माफ करना ।" यह बात सुनकर जहाँगीर बाप के पैरों पर सिर रख फूट-फूट कर रोने लगा । फिर अकबर ने कहा—"खानदान की औरतों और अन्त:पुर की बेगमो की खोज-खबर लेने से गफलत न करना । मेरे पुराने सेवकों और खैरख्वाह साथियों को न भूलना ।" उसने खुसरो के समर्थकों को भी हानि न पहुँचाने की शपथ लेने को कहा । सलीम ने शपथ ली और उसका पालन किया ।

२२ अक्तूबर के सनीचर को साधु जेवियर का अपने साथियों के साथ महल में बुलावा आया । उसे बीमार के पास ले जाया गया । पादरी समझता था, बादशाह मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ है, अन्त काल में उसको मुक्ति के बारे में कुछ शिक्षा देंगे, लेकिन उसे दरबारियों से घिरा बहुत खुश देखा, इसलिए मुजरा करके लौट आया । सोमवार के दिन पता लगा—हालत बहुत खराब हो गई है । साधु ने फिर पास जाना चाहा, लेकिन इजाजत नहीं मिली । अन्तिम समय तक अकबर का होश-हवास दुरुस्त रहा, यद्यपि मरने से कुछ पहले बोलने की शक्ति जाती रही । सलीम ने जब अन्तिम बार सिजदा किया, तो अकबर ने इशारे से शाही सरपेंच और पैरों के पास पड़ी तलवार को बाँधने के लिए कहा । फिर उसने कमरे से जाने के लिए संकेत किया । बाहर लोगों ने बड़ी हर्षध्वनि के साथ भावी बादशाह का स्वागत किया । अकबर ने भगवान का नाम लेने के लिए प्रयत्न किया । अन्त काल में उसे किसी पादरी या मुल्ला की दुआ की आवश्यकता नहीं पडी । मुस्लिम इतिहासकार बतलाना चाहते हैं कि अकबर ने अन्त में इस्लाम को स्वीकार किया, पर यह बिल्कुल गलत है । २७ अक्तूबर, १६०५ गुरुवार (हि० १०१४, १२ जमादी बुधवार) की मध्य रात्रि के थोडे समय बाद भारत का भाग्यतारा अस्त हो गया ।

अकबर की मृत्यु के बारे में तरह-तरह की खबरें उड़नी स्वाभाविक हैं । कुछ लोग कहते हैं, सलीम ने जहर दिलवा दिया था । बदायूँनी ने शाहजादा मुराद और दानियाल लोगों के जिन्दा रहते समय इससे तेरह-चौदह वर्ष पहले के बारे में लिखा है—"एक दिन बादशाह के पेट में दर्द हुआ और इतना सख्त कि धीरज धरना मुश्किल हो गया । उस वक्त छटपटाते हुए वह ऐसी बातें करता था जिससे सन्देह होता था, उसे सलीम ने जहर दे दिया है । बार-बार कहता था : शेखूबाबा,

सारी सल्तनत तुम्हारी थी, हमारी जान क्यों ली ?" इससे अधिक सन्देह की और क्या पुष्टि हो सकती है ? तब सलीम के दोनो भाई मौजूद थे, इसलिए ऐसे सन्देह की गुंजाइश थी। पर, इस वक्त उसकी कोई जरूरत नहीं थी, विशेषकर जब कि उसके प्रतिद्वन्द्वी खुसरो और उसके समर्थक राजा मानसिह भी दूर भेज दिये गए थे और चारों ओर सलीम का ही प्रभाव था। टॉड ने बूँदी के इतिहास का उदाहरण देते हुए लिखा है कि अकबर ने राजा मान को जहर देकर पिण्ड छुड़ाना चाहा। इसके लिए एक-सी दो गोलियाँ बनवाईं जिनमे एक बिना जहर की अपने लिए रखी थी। जल्दी में जहर वाली गोली स्वयं खा ली।

हालेंडी फ़ान डेन ब्रोयेक ने अकबर की मृत्यु के २३ वर्ष बाद (१६२८ ई०) एक और परम्परा सुनी थी—"बादशाह रिन्ध ठट्टा के शासक जानी-पुत्र मिर्जा गाजी से किसी गुस्ताखी के लिए नाराज हो गया। उसने उसे जहर देना चाहा। इसके लिए उसने अपने हकीमों से एक तरह की दो गोलियाँ बना एक मे जहर रखने के लिए कहा। उसने विषयुक्त गोली को गाजी को देना और निर्विष को अपने खाना चाहा; लेकिन गलती से बात उलटी हो गई। वह गोली अपने हाथ में हिला रहा था और भ्रम से निर्विष गोली गाजी को देकर विषैली को खुद खा गया। जब भूल मालूम हुई, तो विष सारे शरीर में व्याप्त हो चुका था, इसलिए परिहार करने में सफलता नहीं हुई।"

सारी सामग्री को देखकर विन्सेण्ट स्मिथ की राय है कि अकबर स्वाभाविक मृत्यु से मरा।

अकबर की मृत्यु पर जितना शोक लोगों ने मनाया, उतना उसके कृपापात्र अमीरों ने नहीं मनाया होगा, इसमें शक नहीं। उन्हें अब मरे नहीं, जिन्दा बादशाह जहाँगीर की कृपा की आवश्यकता थी। लेकिन शिष्टाचार का पालन करना तो आवश्यक था। प्रथा के अनुसार अकबर के शव को किले के दरवाजे से नहीं, बल्कि दीवार तोड़कर निकाला गया। जहाँगीर और अकबर के पोते ने कन्धा दिया। अकबर ने अपने जीवन-काल में ही सिकन्दरा में अपने लिए मकबरा बनवाना शुरु किया था। किले से तीन मील चलकर अर्थी वहाँ पहुँचाई गई। उसके साथ में पुत्र तथा थोड़े से आदमी शोक प्रकट कर रहे थे। जेस्वित इतिहासकार ने ठीक ही लिखा है—"दुनिया इसी तरह उनके साथ व्यवहार करती है जिनसे उसे भलाई, भय या हानि की आशा नहीं रहती।"

जहाँगीर (सलीम) ने भले ही जीवन में अपने बाप को तंग किया हो, लेकिन अब वह अपने पिता का परम भक्त था। 'तुजुक-जहाँगीर' में बाप का उल्लेख करते वह सदा अत्यन्त सम्मान प्रकट करता है। जहाँगीर को अपने पिता का बनवाया मकबरा पसन्द नहीं आया, इसलिए कई नये नक्शों को देखने के बाद

उसने फिर से बनवाया और १५ लाख रुपये उस पर खर्च किया, आज के मोल से ३-४ करोड़ रुपया। औरंगजेब को दक्खिन की लड़ाइयों में पड़े रहते समय १६६१ ई० में खबर मिली : "जाट मकबरे के पीतल के बड़े-बड़े फाटकों को तोड़ ले गये। सोने-चाँदी, हीरा-मोती के अलंकारों को लूट ले गये। जिसे काम का नहीं समझा, उसे उन्होंने नष्ट कर दिया। उन्होंने अकबर की हड्डियों को भी जला दिया।" सिकन्दरा को देखने वाले शायद यह नहीं जानते कि हम खोखली कब्र को देख रहे है। अकबर से यदि पूछा जा सकता, तो वह यही कहता : मुझसे ३२५ वर्ष बाद महाप्रयाण करने वाले भारत के राष्ट्रपिता (गाँधी जी) की तरह मेरे शरीर की राख को भी बिना कोई निशान रखे बहा-उड़ा देना। भारत के दोनों बड़े सपूतों अकबर और गाँधी की खोखली समाधियों पर यदि श्रद्धा के फूल चढ़ाये जायें, तो इसमें आश्चर्य और दु:ख करने की आवश्यकता नहीं। दु:ख तो यह है कि अकबर के मूल्य को अभी हमारे देश ने अच्छी तरह नहीं समझा।

३. आकृति पोशाक आदि—

(१) आकृति—प्रौढ़ावस्था में उसे देखने वालों ने लिखा है : अकबर का शरीर मझोले कद का (शायद ५ फुट ७ इंच) का था। उसका ढाँचा बहुत मजबूत, न पतला-दुबला, न मोटा था। छाती चौड़ी, कम्मर पतली और बाँहें लम्बी (दीर्घबाहु) थीं। बचपन ही से अधिक घुड़सवारी करने के कारण उसके पैर पीछे की ओर मुड़े हुए थे। चलते वक्त बायें पैर को जरा-सा घसीट कर चलता मालूम होता जिससे लंगड़ाने का सन्देह होता था, पर पैर बिलकुल ठीक थे। उसका सिर दाहिनी ओर जरा-सा झुका रहता था। अकबर की पेशानी खुली और चौड़ी थी। नाक कुछ छोटी थी। नथुने, क्रोध-सा प्रकट करते हुए कुछ फूले हुए थे। नाक के बीच में हड्डी कुछ उठी हुई थी। बायें नथुने और ओठ के बीच में मटर भर का एक मस्सा था। उसकी भौंह पतली काली थी। छोटी चमकीली आँखों की आकृति मंगोल रक्त का परिचय देती थी। उसका रंग गेहुँआ था। कटी हुई मूछों को छोड़कर उसका चेहरा सफाचट रहता था। बढ़े हुए बालों को वह काट-छाँटकर रखने की कोशिश नहीं करता था। उसका स्वभाव गम्भीर था जिसमें एक विचित्र मधुरता थी। जहाँगीर ने लिखा है, "मेरे बाप का चाल-व्यवहार दुनिया के साधारण लोगों जैसा नहीं था, उसके चेहरे से प्रताप झलकता था। कोई भी उसे देखते ही समझ सकता था कि यह कोई अत्यन्त प्रतापी पुरुष है।" हम देख चुके हैं, एक बार भेष बदल कर भीड़ में घूमते समय उसे पहचान लिया गया। रणथम्भौर में राव सुर्जन ने मानसिंह के साधारण परिचारक के रूप में देख कर भी उसे चीन्ह लिया।

(२) **पोशाक**—अकबर पहले तूरानियो (मुगलों) की पोशाक पहनता था: लम्बा कबा, कमरबन्द । पीछे उसने भारतीय लिबास को अपनाया । कबा की जगह लम्बी चौबन्दी उसके देह पर रहती जिसके ऊपर कमरबन्द होता । राजपूतों की पगड़ी—सरपेंच—लगता । यही उसके उत्तराधिकारियों की भी राष्ट्रीय पोशाक बन गई । पोशाक के लिए फूल-पत्तेदार जरी और रेशमी कपड़े इस्तेमाल होते । सरपेंच में हीरा और मोती लगे रहते । पायजामा बढ़िया कपड़े का घुटने तक होता जिसके छोर पर मोती की झालर लगी रहती । जूतों को वह अपने पसन्द के एक विशेष ढंग से बनवाता था जिसको दूसरों ने भी स्वीकार किया । वह कुछ-कुछ स्लीपर की तरह का होता था—एँड़ी ढँकी नहीं रहती थी । घर में कभी-कभी फिरंगियों की पोशाक भी उसने पहनी । उसकी कमर में सदा कटार बँधी रहती । यदि तलवार शरीर से नहीं लटकती, तो वह सदा उसके पास रहती थी । लोगों के सामने आने पर नौकर कई तरह के हथियार लिए उसके पास खड़े रहते थे । उसकी गद्दी चार खम्भों वाले चँदवे के नीचे ऊँची चौकी पर होती थी जिस पर मसनद के सहारे वह अक्सर दोनों घुटनों को मोड़ कर बैठता था ।

(३) **स्वभाव**—अकबर का स्वभाव मधुर और आकर्षक था । साधु जेवियर के अनुसार "वह खुशमिजाज, स्नेही और दयालु होते भी गम्भीर और दृढ़ था ।" जेवियर ने कई सालों तक अकबर को बहुत नजदीक से देखा था । वह कहता है : "सचमुच ही वह बड़ों में बड़ा और छोटों में छोटा था ।" एक दूसरा यूरोपियन प्रत्यक्षदर्शी कहता है : "अपने परिवार के लिए वह अत्यन्त प्रिय, बड़े के लिए वह भयंकर और छोटे के लिए दयालु तथा स्नेही था"। साधारण जनों के साथ उसकी सहानुभूति थी कि उनके लिए सदा समय निकाल लेता था और उनकी प्रार्थनाओं को बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करता था । उनकी छोटी-छोटी भेंटों को भी वह बड़ी खुशी के साथ स्वीकार करता, उन्हे अपनी गोद मे डाल लेता था, वह अमीरों के अत्यन्त मूल्यवान भेंटों के लिए भी ऐसा नहीं करता था । कितनी ही बार तो उनकी ओर नजर भी नहीं डाला था ।"

(४) **भोजन**—भोजन उसका अत्यन्त साधारण था । दिन में सिर्फ एक ही बार पूरा भोजन करता था । उसके लिए भी कोई समय नहीं था । जब इच्छा होती, उसी वक्त मँगा कर खाता । उसके सामने बहुत तरह के भोजन अच्छे ढंग से चुने जाते । कोई विष न दे दे, इसका भी पूरा ध्यान दिया जाता । पर, वह सभी व्यंजनों का रस लेना पसन्द नहीं करता था । मांस में उसकी रुचि नहीं थी । अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में तो उसने बिल्कुल ही छोड़ दिया था । वह स्वयं कहता था—"बचपन से ही जब कभी मेरे लिए मांस पकता, मैं नीरस

पाता, उसे पसन्द नहीं करता। मैने अपने इस भाव को प्राणि-रक्षा की आवश्यकता की ओर प्रेरणा समझा और मांस-भोजन से परहेज करने लगा।" वह कहा करता था—"आदमी के लिए ठीक नहीं है कि वह अपने पेट को प्राणियो की कब्र बनावे।" उसने मांस को बिल्कुल ही क्यों नहीं त्याग दिया, इसके लिए कहता था—"मै अपने लिए इसे बिल्कुल त्याज्य इसीलिए नहीं करता कि दूसरे भी बहुत से इसका अनुसरण करके झंझट में पड़ेंगे।"

अकबर को फल बहुत पसन्द थे। अंगूर, तरबूज उसके अत्यन्त प्रिय फल थे और उन्हे किसी समय भी खाता रहता था। उसके खाने के लिए देश-विदेश से तरह-तरह के फल आते थे।

(५) **मद्यपान**—अकबर के वंश में पियक्कड़ी स्वाभाविक बात थी। कभी-कभी वह खतरनाक रूप भी ले लेती, यह सूरत की घटना से मालूम है जबकि वह स्वयं अपनी निर्भयता दिखाने के लिए तलवार की नोंक पर छाती मारने के लिए तैयार हो गया और बचाने का प्रयत्न करने के लिए बेचारे मानसिंह को गला घोंट कर मार देना चाहता था। लेकिन, प्रौढ़ावस्था में उसने इस तरह की पियक्कड़ी छोड़ दी। वह विदेशी नहीं, देशी शराब को ज्यादा पसन्द करता था। १५८० ई० में उसे ताड़ी पसन्द आई और वह उसे पीने लगा। फिर अफीम का माजून भी सेवन करने लगा। कभी-कभी जब लोग शास्त्रार्थ में लगे रहते, तो वह पिनक मे सो जाता। मोनसेरेत ने यह भी लिखा है—"अकबर शायद ही कभी शराब पीता, उसे अफीम ज्यादा पसन्द है।"

शायद भारत में अकबर पहला राजा था जिसने तम्बाकू पिया। पोर्तुगीज अपने साथ तम्बाकू गोआ लाये थे। असदबेग ने लिखा है—

"बीजापुर में मुझे तम्बाकू मिला। हिन्दुस्तान में ऐसी चीज कभी नहीं देखी थी, इसलिए मैंने उसे ले लिया और एक जड़ाऊ सुन्दर हुक्का तैयार किया। तीन हाथ लम्बा आचीन का सबसे बढ़िया नैचा था। सुखा कर उसे रँगवाया, फिर उसके दोनों छोरों पर नग जड़वाये। एक अण्डाकार येमनी सुन्दर मूँगे को मैंने मुँहाली बना नैचा में लगा दिया। देखने में बहुत सुन्दर था। आग के लिए एक सुनहली चिलम भी तैयार की। बीजापुर के सुल्तान आदिल खाँ ने मुझे एक बड़ा ही सुन्दर पनबट्टा दिया था। उसे मैंने बढ़िया तम्बाकू से भर लिया। तम्बाकू ऐसा था कि जरा-सी आग लग जाये, तो बराबर जलता रहता। सबको मैंने एक चाँदी कि तश्तरी में अच्छी तरह सजाया। ...हुजूर (अकबर) मेरी भेंट को स्वीकार कर बड़े खुश हुए। उन्होंने पूछा, इतने थोड़े समय में मैंने कैसे इतनी विचित्र चीजों को जमा कर लिया ? हुक्के वाली तश्तरी पर नजर पड़ने पर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। तम्बाकू को गौर से देखा...उसके बारे में पूछा और यह भी कि

यह कहाँ से मिला । नवाब खाने आजम ने जवाब दिया : 'तम्बाकू है, मक्का और मदीना में प्रसिद्ध है । यह हकीम इसे हजरत के लिए दवाई के तौर पर लाया ।

''उसे तैयार करने के लिए मुझे हुकुम हुआ । उसे पीना चाहा । उनके हकीम ने वैसा करने से मना किया, लेकिन हजरत ने प्रसन्न होकर फरमाया : इसकी प्रसन्नता के लिए पीना चाहिए । फिर नैचे को मुँह मे डालकर दो-तीन कश खींचा । शाही हकीम को बड़ी परेशानी हुई । उसने और कश खींचने नहीं दिया । नैचे को मुँह से निकाल कर खाने आजम को वैसा करने के लिए कहा जिसने भी दो-तीन फूँक ली । इसके बाद बादशाह ने अपने ओषधि-निर्माता को बुला कर उसके विशेष गुणो के बारे में पूछा । उसने जवाब दिया—'हमारी किताबों में इसका कोई उल्लेख नहीं है । यह नया आविष्कार है । यूरोपियन चिकित्सकों ने इसकी तारीफ में बहुत लिखा है ।'....शाही हकीम ने उसकी बात नापसन्द करते हुये कहा—'हम यूरोपियन का अनुसरण नही करना चाहते, न उनके रीति-रिवाज को अपनाना चाहते हैं । हमारे बुद्धिमान पुरुषों ने बिना परीक्षा किये ऐसी कोई चीज स्वीकार करने के लिए नहीं कहा है ।' मै (असदबेग) ने कहा—'यह विचित्र बात है । आखिर दुनिया में हरेक रिवाज किसी समय नया था । आदम के समय से आज तक लगातार आविष्कार किये जाते रहे । जब एक नई चीज लोगों में लाई जाती है और दुनिया में प्रसिद्ध हो जाती है, तो हरेक आदमी उसे स्वीकार करता है ।'. बादशाह ने बातचीत को सुनकर मुझे साधुवाद दिया और खाने आजम से कहा : 'तुमने सुना, असद ने कितनी बुद्धिमानी की बात कही ? सचमुच, हमें किसी ऐसी चीज को—जिसे दूसरे देशों के चतुर पुरुषों नें स्वीकार किया है—केवल इसलिए नहीं त्याग देना चाहिए कि उसका उल्लेख हमारी पुस्तकों में नहीं है । नहीं तो हम प्रगति नहीं कर सकेंगे ?''

''मैं अपने साथ काफी तम्बाकू और हुक्का ले आया था । मैंने थोड़ा-थोड़ा कितने ही अमीरों के पास भेजा । सचमुच बिना अपवाद के सभी ने कुछ भेजने के लिए कहा और उसका रिवाज चल पड़ा । इसके बाद बनिये बेचने लगे और तम्बाकू पीने का रिवाज तेजी से फैलने लगा । तो भी आला-हजरत (अकबर) ने उसे (पीना) स्वीकार नहीं किया ।''

(६) **शिकार**—शिकार का अकबर को बचपन ही से बहुत शौक था । कमरगह (शिकारजिर्गा) का आयोजन कर जानवरों को इकट्ठा कर दिया गया । अकबर ने चार-पाँच दिन तक खूब शिकार खेला । इसके बाद उसका दिल एकदम उखड़ गया और पीछे उसने शिकार खेलने से हाथ ही हटा लिया । सिकन्दरशाह सूरी की पराजय के समय उसके यहाँ से मिली धन-सम्पत्ति में एक शिकारी चीता भी था । बैरम खाँ के बहनोई हुसेन कुल्ली खाँ खानेजहाँ का बाप

वलीबेग जुलकदर चीते को अकबर के पास ले गया। चीते का नाम था फतहबाज और चीताबान का दुंदू। दुंदू ने चीते की चालाकी को इतनी अच्छी तरह दिखलाया कि अकबर मुग्ध हो गया। उसी दिन से उसको चीतो का शौक हो गया। उसके चीताखाने में सैकड़ो चीते रहते थे जो ऐसे सधे हुए थे कि जरा-से इशारे पर काम करते थे। उसके बदन पर कमखाब और मखमल की झूलें पड़ी रहती। गले में सोने की जंजीरें और आँखो पर जरदोजी के चश्मे लगे रहते। वह बहलों की सवारी पर चलते जिनमें जुतने वाले बैल भी सजाये रहते—सींगों पर सुनहली-रुपहली सिंगोटियाँ चढ़ी होतीं, सिर पर जरदोजी का ताज और बदन पर जरी की झूले रहती।

हाथियों पर काबू पाने के लिए अकबर ने अनेक बार जान खतरे में डाली, इसका उल्लेख हम कर चुके है, जंगली हाथियों को बझाने में भी उसे बड़ा आनन्द आता था।

(७) **विनोद**—संगीत और वाद्य का उसको अत्यधिक प्रेम था। पहली ही उमर में पहुंच कर तानसेन ने अकबर के इस शौक को और बढ़ा दिया। उसके पास भारत के एक से एक बढ़ कर कलावन्त रहते थे। उत्तरी भारत का संगीत अकबर की गुण-ग्राहकता का कृतज्ञ है। यह बतला चुके है कि उसे तबले या पखावज बजाने का अच्छा अभ्यास था।

(८) **दिनचर्या**—रात में अकबर शायद ही कभी तीन घंटे से अधिक सोता। अपराह्ण में थोड़ी देर आराम करके वह विद्वानों की सभा में जाता। जब शास्त्रार्थों का दौर था, तो वह सब धर्मों के सिद्धान्तों और विशेषताओं को जानने की कोशिश करता। घंटे-डेढ़ घंटे बिताने के बाद हाकिमों द्वारा भेजी अर्जियाँ पढ़वा कर सुनता और उचित हुकुम लिखवाता। आधी रात को वह अपने पूजा-पाठ में लग जाता। तीन घंटे सोने के बाद भिनसारे ही उठ जाता और शौच-स्नान से निवृत्त होकर दो घंटे फिर पूजा-पाठ में लग जाता। सूर्योदय के साथ दरबार में पहुँचता। उससे पहले ही दरबारी और दूसरे वहां उपस्थित रहते। उनकी बातें सुनता। गरीब और साधारण आदमियों के पास खुद उठ कर जाता और उनकी बातें अर्जियाँ गौर से सुनता। फिर अस्तबलों, हथियारों, ऊँटखानों, हरिनखानों के जानवरों के पास जाकर उनकी हालत देखता। इसके बाद कारखानों और मिस्त्रीखानों को देखने जाता। उसे बन्दूक, तोप और दूसरे नये-नये हथियारों को देखने का नहीं, उन्हें बनाने के ढंग को भी सीखने का बहुत शौक था। कितनी ही बार वह मिस्त्रियों की तरह खुद भी काम में लग जाता।

उसमें इतनी सादगी थी कि कभी-कभी तख्त के आगे फर्श पर सब के साथ बैठ जाता और बेतकल्लुफी के साथ बातें करता।

(६) **अकबर की सन्तानें**—हम पहले बतला चुके है कि अकबर के तीन पुत्र सलीम, मुराद (पहाड़ी) और दानियाल थे । तीन बेटियो में खानम सुल्तान सलीम से छोटी और मुराद से बड़ी थी, बाकी शुकरुन्निसा और आराम बानू दानियाल के बाद पैदा हुई थीं । आराम बानू जीवन भर अविवाहित रही, यह भी बतला आये हैं ।

पोतों में खुसरो सबसे बड़ा और तख्त का उत्तराधिकारी समझा जाता था । इसकी माँ शाह बेगम जहाँगीर की चहेती बीवी, राजा भगवानदास की लड़की तथा मानसिंह की चचेरी बहिन थी । अपने पुत्र और पति के आचरणों से तंग आकर किस तरह उसने जहर खा आत्महत्या कर ली, इसे हम बतला चुके हैं । महत्त्वाकांक्षी खुसरो ने दादा के समय ही बाप से बिगाड़ पैदा कर लिया था, इसका नतीजा अन्त में उसके लिए बहुत बुरा हुआ और बाप बेटे के खून का प्यासा हो गया । खुसरो का सौतेला भाई शाहजहाँ के नाम से गद्दी पर बैठा ।

१. प्रशासनिक क्षेत्र

शासन-व्यवस्था की बहुत-सी बातें अकबर ने अपने पहले के बादशाहों, विशेषकर शेरशाह से ली थीं। मुसलमान बादशाहों में अलाउद्दीन खिलजी कितनी ही बातों में अकबर का समकक्ष था, यद्यपि धार्मिक उदारता दिखला कर अपने तख्त को खतरे में डालना नहीं चाहा। अकबर को पहले ही से कुछ बातें मिल गई थीं जिन्हें उसने आगे बढ़ाया। उसका राज्य पहले बारह और अन्त में पन्द्रह सूबों में बँटा था, जो थे-

१. आगरा
२. दिल्ली
३. अजमेर
४. अहमदाबाद (गुजरात)
५. लाहौर (पंजाब)
६. काबुल
७. मुल्तान
८. मालवा
९. अवध
१०. इलाहाबाद
११. बिहार
१२. बंगाल
१३. बरार
१४. खानदेश
१५. अहमदनगर

जौनपुर शर्की राज्य की राजधानी था। अकबर के समय जौनपुर की जगह इलाहाबाद सूबा और राजधानी बना।

हरेक सूबे में कई सरकारें होती थीं, यही पीछे जिला कही जाने लगीं। एक सरकार में कई परगने होते थे। सूबा आगरे में १३ सरकारें और २०३ परगने थे- आगरा सरकार में ३१ परगने थे और क्षेत्रफल १८६४ वर्गमील। परगने आज भी प्रायः वही हैं; हाँ, कहीं-कहीं सरकारों की संख्या बढ़ा दी गई। उदाहरणार्थ सूबा बिहार की सारन सरकार को अँग्रेजों के समय तोड़ कर चम्पारन और सारन के दो जिलों में विभक्त कर दिया गया। सरकारों और परगनों के बारे में हर जिले के गजेटियर में सूचना मिलती है। परगनो में एक या अधिक महाल होते थे। मालगुजारी करोड़ दाम (ढाई लाख रुपया) होने से उन्हें करोड़ी-महाल भी कहते थे और इन अफसरों को करोड़ी या आमिल कहा जाता था। आमिलों के नाम और उनके अत्याचारों की कहावतें वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में भी बूढ़ों के मुँह पर थीं। हम यह भी बतला चुके हैं कि करोड़ियों के अत्याचारों को दबाने के लिए टोडरमल को कड़ाई से काम लेना पड़ा।

२. सरकारी अफसर

अफसरों और मन्सबो के बारे में पहले भी जहाँ-तहाँ कुछ उल्लेख हो चुका है, यहाँ भी उन्हें इकट्ठा कर दिया जाता है-

१. सिपहसालार – अकबर की शासन व्यवस्था सैनिक थी। जिसका सारा जीवन लड़ाइयो में बीता हो, उसके लिए यह स्वाभाविक ही था। हरेक सूबे के शासक या राज्यपाल को सिपहसालार (जेनरल या फील्ड-मार्शल) कहा जाता था। उसकी सहायता के लिए १ दीवान (वित्त- सचिव), २ बख्शी (सैनिक वित्त-सचिव), ३. मीरअदल(सेशन-जज), ४ सद्र(धर्मादा सचिव), ५. कोतवाल (पुलिस इन्सपेक्टर जेनरल), ६. मीरबहर (जल-विभाग सचिव), और ७. वाकयानवीस (अभिलेख-रक्षक) बादशाह की ओर से नियुक्त होते थे। सिपहसालार उन्हें कैसे पसन्द कर सकते थे ? वे तो बादशाह के आदमी थे।

२. फौजदार—सरकार (जिला) के सर्वोच्च अधिकारी (जिला मजिस्ट्रेट) को उस समय फौजदार कहा जाता था। यह सिपहसालार के आदमी और उसी के अधीन थे। सरकार में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना फौजदार का काम था। विद्रोहियों को हराने के बाद जो लूट कि सम्पत्ति मिलती उसका पंचमांश शाही खजाने में भेजना पड़ता था।

बड़े-बड़े शहरों मे कोतवाल होते थे जिनके हाथ पुलिस रहती थी। वह मालगुजारी भी वसूल करते थे। कोतवाल के हाथ में अपने क्षेत्र का गुप्तचर-विभाग होता था। उसके और काम थे—घरों और आदमियों के नाम का रजिस्टर रखना, विद्रोहियों की गति-विधि पर नजर रखना, चीजों की कीमतों और नाप-तौल को ठीक रखने की ओर ध्यान देना, निस्संतान या उत्तराधिकारी विहीन मृत पुरुषों की सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेना; गाय, भैंस, घोड़े, ऊँट के मारने की निषेधाज्ञा की अवहेलना न होने देना, इच्छा के विरुद्ध सती न होने देना, १२ वर्ष से कम उमर में खतना को रोकना, निषिद्ध दिनों में किसी जानवर को न मारने देना, आदि।

३. केन्द्रीय अधिकारी—शासन सैनिक ढंग पर होने से अधिकारियों के मन्सब (दर्जे पद) भी उसी के अनुसार थे। असैनिक और सैनिक मंत्रियों, सचिवों का भी उतना भेद नहीं था। उदाहरणार्थ टोडरमल कभी वित्त मंत्री, कभी वकीलकुल (प्रधान-मंत्री) रह कर काम करते, कभी वह फील्ड-मार्शल होकर लड़ाई के मैदान में जा अपना जौहर दिखलाते। प्रदेशपति (सिपहसालार) केवल नाम से नहीं, बल्कि काम से भी जेनरल होते थे। केन्द्रीय मंत्रियों की संख्या और काम की स्पष्ट रेखा खींचना बहुत मुश्किल है। उनके कुछ पद थे-

१. **वकील**—प्रधान-मंत्री को वकील कहते थे और भी स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी वकीलकुल (सर्वमंत्री) भी कहा जाता था। टोडरमल को भी वकीलकुल कहा गया है। अबुलफजल भी इस पद से सम्मानित थे और कितने ही दूसरे भी।

२. **वजीर**—आजकल वजीर मंत्री को और वजीरे आजम प्रधान-मंत्री को कहा जाता है, लेकिन उस समय वित्त-मंत्री को वजीर कहा जाता था जिसे अक्सर दीवान पुकारा जाता था। दीवान सूबे के भी और सारी सल्तनत के भी होते थे, इसलिए उनमें भेद करने के लिए दीवान-सल्तनत और दीवान सूबा का शब्द इस्तेमाल किया जाता था।

३. **बख्शी**—बख्शी असल में भिक्षु का ही मंगोल रूप है। आज भी मंगोलिया में भिक्षु को इसी नाम से पुकारा जाता है। चिंगीज के राजकाल में लिखा-पढ़ी का काम पठित होने के कारण बौद्ध भिक्षुओं ने सम्भाला था। उसी समय से बख्शी के पद का आरम्भ हुआ। भारत मे इसके मूल इतिहास का पता नही रह गया। शायद बाबर के साथ ही यह पद भारत में आया। बाबर और उसके पूर्व तैमूर चिंगीज राजनीतिक व्यवस्था के जबर्दस्त पक्षपाती थे, यह हमें मालूम ही है। अकबर के समय बख्शी सैनिक वित्त-मंत्री को कहते थे। सूबों के बख्शी हुआ करते थे और सल्तनत के भी। यह दर्जा बहुत ऊँचा तथा मंत्रियों के बराबर का था। सलीम का पल्ला भारी करने वाला बख्शी शेख फरीद (मुर्तजाखान) सल्तनत का बख्शी था। बख्शी सेना के लिए रँगरूट भर्ती करता, उसका रजिस्टर रखता। सभी मन्सबदारों के नाम उसके पास लिखे रहते। महल के गारद की नामावली भी उसी के हाथ में रहती। वेतन का बाँटना, हिसाब-किताब रखना उसी के जिम्मे था। वह सेनपों और सेना-पंक्तियों के स्थान निश्चित करता और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं सेनापति का काम करता।

४. **सद्र**—सारी सल्तनत के धर्माध्यक्ष को सद्र या सदरूस्सुदूर (सदरों का सदर) कहा जाता था। वह धर्म और धर्मादा-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। १५८२ ई० में अकबर ने इस पद के महत्व को खत्म कर दिया। सदर पहले इस्लाम के नाम पर सल्तनत में सफेद को स्याह, स्याह को सफेद, जो भी चाहता कर डालता था।

३. मन्सब

मन्सब(पद) चिंगीज के समय या उससे पहले से चले आते थे। चिंगीज की सेना दशिक,शतिक,सहस्रिक और दससाहस्रिक (तुमान) में बँटी हुई थी। अकबर के समय शाहजादों को छोड़कर किसी को पंचहजारी से ऊपर का मन्सब नहीं दिया जाता था, अपवाद सिर्फ राजा मानसिंह के लिए किया गया जिन्हें अकबर

ने हफ्त(सात) हजारी का मन्सब प्रदान किया था। हम पहले बतला चुके है कि अकबर ने सलीम को द्वाजदह (बारह) हजारी, मुराद को दह-हजारी और दानियाल को हफ्त हजारी का मन्सब दिया था। मन्सब (पद) सैनिक थे, इसलिए हरेक मन्सबदार को निश्चित संख्या मे घोडे,हाथी,ढोने वाले जानवर, सिपाही रखने पड़ते थे। मन्सब की पहली, दूसरी,तीसरी श्रेणी के अनुसार उन्हे वेतन मिलता था। 'आइने अकबरी' मे उसे निम्न प्रकार लिखा है-

मन्सब	घोडे	हाथी	भारवाहन	मासिक वेतन (रुपया)		
				प्रथम	द्वितीय	तृतीय
दहबाशी दशिक	४	०	०	१००	८०	७५
बीसती (२०)	५	१	२	१३५	१२५	११५
दो बीसती (४०)	७	१	३	२२३	२००	१८५
पंजाही (५०)	८	२	४	२५०	२४०	२३०
सेहबीसती (६०)	८	२	४	३०१	२८५	२७०
चहारबीसती (८०)	६	३	५	४१०	३८०	३५०
बूजबाशी (शतिक)	१०	३	७	७००	६००	५००
पंजसदी	३०	१२	२७	२५००	२३००	२१००
हजारी	६४	३१	६७	८२००	८१००	८०००
पंचहजारी	३४०	१००	२६०	३००००	२६०००	२८०००

घोड़ों और हाथियो की अलग-अलग श्रेणियाँ थी। घोड़े ईराकी, मजनिसी, तुर्की, याबू, ताजी और जंगली छह श्रेणियो में विभक्त थे। सवारों की तनख्वाह घोड़ों की श्रेणी के अनुसार होती थी। ईराकी को ३० रुपया, मजनिसी को २५ रुपया, तुर्की को २० रुपया, याबू को १८ रुपया, ताजी को १५ रुपया, जंगल वाले सवार को ११ रुपया मासिक मिलता था। हाथियों की भी पांच श्रेणियाँ थी। भारवाहन तीन प्रकार के होते थे, ऊँट-खच्चर और बैलगाड़ी। प्यादे सैनिकों की तनखाहें साढ़े ११,१० और ८ रुपये महीने थीं। सवारों में ईरानी, तूरानी जवानों को २५ रुपये मिलते थे, जबकि हिन्दी सिपाही २० रुपया पाते थे, खालसा सैनिक का वेतन १५ रुपया था। मन्सबदारों के कुल भेद ६६ थे। बाकायदा सेना के अतिरिक्त सहायक सैनिक होते थे। दागदार कहे जाने वाले दागी घोडे वाले मन्सबदारों की इज्जत ज्यादा थी। सभी मन्सबदारों को बादशाह को मुजरा करते समय नजर भेंट करनी पड़ती थी जो निम्न प्रकार थी-

१. साधारण लोग	१ दाम (ढाई नया पैसा)
२. मध्यम श्रेणी के	१ रुपया

३. तर्कशबन्द से दहबाशी तक	४ रुपया
४. दो बीसी से दो सदी तक	१ अशर्फी (६-रुपया)
५. दो सदी से पांच सदी तक	२ अशर्फी
६. पाँच सदी से हजारी तक	४ अशर्फी
७. हजारी से पंचहजारी तक	१० अशर्फी

४. भू-कर

राज्य की आय के लिए और भी कर थे, पर सबसे अधिक आमदनी भू-कर से हुआ करती थी। जजिया और तीर्थकर अकबर ने उठा दिये थे, इसे हम बतला चुके है। अकबर की मृत्यु और जहाँगीर के गद्दी पर बैठने वाले साल (१६०५ ई०) में सल्तनत की आमदनी १७ करोड ४५ लाख दाम अर्थात् ४ करोड़ सवा ३६ लाख रुपया थी।

अकबरी रुपये का सामग्री के रुप मे मूल्य निम्न तालिका से मालूम होगा। (अकबरी मन साढ़े ५५ पौंड=२६ सेर का होता था, आजकल का मन ८२ पौंड का है। अकबरी सेर आज के सेर का दो-तिहाई अथवा १० ॥ छटाँक का था।)

खाद्य	मूल्य प्रति अकबरी मन		आज के प्रति मन से मूल्य
	दाम	रुपया	रुपया
गेहूँ	१२ दाम	४.८आना	७.५ आना
जौ	८ दाम	३.२ आना	४.८ आना
चावल (बढ़िया)	११० दाम	२रु० १२ आना	४ रु० २आना
चावल (घटिया)	२० दाम	४ आना	१२ आना
मूँग	१८ दाम	७.२ आना	११.४ आना
उड़द	१६ दाम	६.४ आना	६.६ आना
मोठ	१२ दाम	४.४ आना	६.६ आना
चना	१६ ॥ दाम	६.६ आना	६.६ आना
ज्वार	१० दाम	४ आना	६ आना
चीनी	१२८ दाम	३ रु० ३.२ आना	४ रु०. १२.८ आना
खाँड़	५६ दाम	१रु० ६.४ आना	१ रु०. १५.६ आना
घी	१०५ दाम	२ रु०. १० आना	३रु० १५.५ आना
तिल-तेल	८० दाम	२ रु०	३ रु०
नमक	१६ दाम	६.४ रु०	६.६ रु०

हमारा मन अकबरी का प्रायः ड्योढ़ा १ ५६/१६४, या १.४७ मन अथवा ५६ १८ सेर है, इसे आजकल (अगस्त १६५६ ई.) के भावो से प्रति मन मिलाइये-

खाद्य वस्तु	अकबर के समय	अगस्त १६५६	वृद्धि गुना (प्रायः)
गेहूँ	०७.५ आना	१६ रु० ८ आना	४० गुना
चावल (बढ़िया)	४ रु० २ आना	५० रु०	१२ गुना
चावल (घटिया)	०१२ रु०	३० रु०	४० गुना
मूँग	०११.४ रु०	२५ रु०	३६ गुना
उड़द	०६ ६ आना	३२ रु०	५५ गुना
मोठ	०६.६ आना	२५ रु०	६६ गुना
चना	०६.६ आना	१५ रु०	२५ गुना
चीनी	४ रु० १२.८ आना	३५ रु०	७ गुना
घी	३ रु०१५ ५ आना	२०० रु०	२१५ गुना
तिल-तेल	३ रु०	१२० रु०	४० गुना
नमक	०६.६ आना	१० रु०	१७ गुना

इससे मालूम होगा कि अकबर के जमाने से आज चीजों का भाव कितना बढ़ गया है, अर्थात रुपयों की खरीदने की ताकत कितनी कम हो गई है। दूसरी खाद्य वस्तुओं मे भेड़ बकरी का मांस आज के सेर से पौने चार पैसा प्रति सेर बिकता था, जबकि आजकल वह डेढ़ से ढाई रुपया तक बिकता है। दूध प्रायः डेढ़ पैसा सेर मिलता था, जबकि आज वह आठ आना से १ रुपया प्रति सेर है।

मामूली मजूरी प्रतिदिन २ दाम (प्रायः सवा ३ पैसा) थी और कारीगर की ७ दाम (प्रायः १० पैसा)। इस हिसाब से सिपाहियों और सैनिक अफसरों का वेतन काफी था। उसके मुकाबले में मजूर और कारीगर कम मजूरी पाते थे। तो भी मजूर अपनी रोज की मजूरी से ५ सेर गेहूँ खरीद सकता था। एक दिन की मजूरी से ज्वार ८ सेर मिल सकती थी। जौ तो वह ७ सेर पा सकता था। कारीगर एक दिन की मजूरी से २५ सेर जौ खरीद सकता था।

५. सिक्के

अकबर के सिक्के ताँबे, चाँदी, सोने तीन प्रकार के थे। चाँदी के सिक्कों को किसी जमाने में तंका कहते थे, लेकिन शेरशाह ने ही दो तंको को मिलाकर रुपया बना दिया, वही रुपया अकबर के समय में भी चलता था। इसमें १७२.५ ग्रेन चाँदी होती थी। हमारे यहाँ अभी हाल में जो रुपया चलता था, उसमें १८०

ग्रेन चाँदी होती थी, अर्थात् दोनों रुपये करीब-करीब बराबर थे। रुपये में ४० दाम होते थे। शेरशाह का एक दाम ३२३ ५ ग्रेन का होता था, वही अकबर के दाम का भी वजन था। एक रुपये में ४० दाम या २० डबल दाम होते थे। दाम को काल्पनिक तौर से २५ जीतलो मे बाँटा गया था, लेकिन उसका कोई सिक्का नही था। इस प्रकार सिक्के निम्न प्रकार के थे-

२५ जीतल	= १ दाम
४० दाम या २० डबल दाम	= १ रुपया
६ रुपया	= १ मुहर (अशर्फी)

अकबरी मुहर शुद्ध सोने की होती थी जिसका वजन १७० ग्रेन या १ तोले से कुछ कम (११.३ माशा) होता था। साढ़े ६ रुपया तोला सोना होना बतलाता है कि चाँदी का मूल्य उस वक्त अधिक था। अकबर के सिक्कों की उसके पहले के सिक्कों से तुलना निम्न प्रकार की जा सकती है—

राजा या राजवंश (काल)	लिपि	लांछन	सोना (ग्रेन)	चाँदी (ग्रेन)	ताँबा (ग्रेन)
१. मौर्य (ई० पू० ४-३ सदी)	०	चिह्न	०	५४,५६, ५७,	१४४ १४६
२. कुषाण (१-२ सदी ई०)	ब्राह्मी, ग्रीक	रूप	१२४	३२,६४	
३. गुप्त (४-५ सदी ई०)	ब्राह्मी	रूप	११६, १२४,१४६	३२	
४. मुस्लिम (१३-१५ई०)	अरबी		०	५६	५६
५. शेरशाह (१५४०-४५ई०)	अरबी	०	०	१७८	३३०
६. अकबर (१५५६-१६०५ ई०)	अरबी, नस्तालीक	०	१७०	१७८	३३०

टकसालें—हमारे यहाँ पुराने चाँदी के सिक्के को टंका कहते थे, इसी कारण टंका बनाने वाले स्थान का नाम टंकशाल या टकशाल पड़ा। शेरशाह के समय से टंका का नाम हमारे देश से उठ गया, लेकिन बंगाल और उड़ीसा में आज भी रुपये को टका कहते हैं। हिन्दी भाषी पूर्व क्षेत्र में टका दो पैसे को कहते थे। तिब्बत और मध्य एशिया में हाल तक चाँदी के सिक्कों को टंका कहा जाता रहा है। अकबर ने १५७७ ई. के अन्त में पहले से चली आती टकसाल व्यवस्था को नये तौर से संगठित किया। सिक्कों पर अंकित करने के लिये ख्वाजा अब्दुस्समद जैसे मशहूर सुलेखक से अक्षर बनवाये। अब्दुस्समद को अपने सुन्दर अक्षरों के कारण 'शीरींकलम' (मधुलेखनी) की उपाधि दी गई थी। नये संगठन

के अनुसार टकसालों की जिम्मेवारी चौधरियों से लेकर प्रादेशिक सिपहसालारों (राज्यपालों) को दे दी गई, जैसे —

१ टाँडा या गौड़ (बंगाल)	टोडरमल
२ लाहौर	मुजफ्फर खाँ
३. जौनपुर	ख्वाजा शाहमंसूर
४. अहमदाबाद (गुजरात)	ख्वाजा इमादुद्दीन हुसेन
५. पटना	आसफ खाँ

चौकोर सिक्के ग्रीक-बाख्तरी प्रभुत्व और प्रभाव के कारण कुषाणों के पहले ही उठ गये, इसके बाद सिक्के गोल बनने लगे। अकबर ने कुछ चौकोर और छकोर वाले सिक्के भी चलाये। पहले हिन्दुस्तान में सभी सिक्कों पर टेढ़ी-मेढ़ी अरबी लिपि हुआ करती थी। शेरशाह के सिक्कों में भी अरबी लिपि को ही रखा गया था। तैमूर के शासन काल में अरबी लिपि में सुधार होकर अत्यन्त सुन्दर नस्तालीक लिपि का अविष्कार हुआ, जो बाबर के साथ भारत आई। सिक्कों पर इसका उपयोग पहले-पहल अकबर ने ही किया। वैसे अरबी लिपि वाले सिक्के भी अकबर के मिलते हैं। अकबर के हरेक सिक्के पर टकसाल का संकेत रहता है। अबुल फजल ने अकबर के २६ प्रकार के सिक्कों का उल्लेख किया है। जिन सिक्कों पर 'अल्लाहु अकबर' और 'जल्ल जलालहु' अंकित रहता, उसे जलाली कहते थे। यह बतला चुके है, कि मालगुजारी की गिनती रुपये में नहीं बल्कि दाम में होती थी, जिसका अभिप्राय शायद यही था कि संख्या ४० गुना बढ़ा दी जाये और लाख के स्थान पर करोड़ कहा जा सके।

गुप्तों के बाद अकबर के समय ही कला और साहित्य अर्थात हमारा सांस्कृतिक जीवन उच्चतम स्तर पर पहुँचा; जो बतलाता है कि अकबर के काल मे राष्ट्र की चेतना खूब जागी ।

१. वास्तुकला

अकबर के समय की इमारतें सीकरी मे आज भी देखी जा सकती है । इन इमारतों के बारे में हम पहले बतला चुके है ।[१] आगरे और इलाहाबाद के किले भी अकबर की कृतियाँ है । अकबर की वास्तु शैली में हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य का सम्मिश्रण है । पहले पहल अकबर ने ही हिन्दू शैली को दिल खोलकर अपनाने की कोशिश की । सीकरी की मस्जिद का 'बुलन्द दरवाजा' अकबरी इमारतों का एक बहुत सुन्दर नमूना हैं । वहाँ के दीवानखास, बीरबल का महल, जोधाबाई का महल भी अत्यन्त दर्शनीय है । ये इमारतें १५७१-८५ ई० के बीच में बनी थीं । नगर चैन इससे पहले ही बन चुका था, लेकिन उसका अवशेष एकाध मस्जिदों के सिवाय और कुछ नहीं रह गया हैं । दिल्ली में हुमायूँ का मकबरा अकबरी इमारत का एक बहुत सुन्दर नमूना हैं, जो १५६६ ई० के करीब बन कर समाप्त हुआ । इसके निर्माण पर समरकन्द में तैमूर की कब्र और उसके बनवाये बीबीखानम् (निर्माण १४०३ ई०) का प्रभाव हैं । सीकरी में शेख सलीम चिश्ती की समाधि को यद्यपि अकबर ने बनवाया, तथापि उसमें बहुत सा परिवर्तन जहाँगीर ने किया था । हुमायूँ के मकबरे के नमूने पर ही अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा उससे थोड़ी ही दूर हट कर बना, जो जहाँगीर के समय की इमारत हैं । मानसिंह ने वृन्दावन में गोविन्दराज का मन्दिर बनवाया जो कभी पूरा नहीं हो सका । इसे अकबरी काल की शुद्ध हिन्दू कला कहना चाहिए ।

अजमेर में भी अकबर ने कई इमारतें बनवाई, और वहाँ के तारागढ़ के किले में बहुत से परिवर्तन कराये । अटक में अकबर ने किले की बुनियाद अपने हाथों हि० ६६०(१५८२ ई०) में रखी । इनके अतिरिक्त अकबर ने बहुत से तालाब और सरायें बनवाई । अकबर के डेरे और शामियाने भी चलती फिरती वास्तुकला के बहुत सुन्दर नमूने होते थे । जिन तम्बुओं में वह खुद ठहरता था, उसे बारगाह कहते थे । इसमें ४८ हाथ लम्बे, २८ हाथ चौड़े ५४ कमरे होते थे, जिनमें दस हजार आदमी बैठ सकते थे । सारा सामान पहले ही से तैयार रहता था और

---

१. अध्याय ५ ।

हजार फर्राश एक हफ्ते के भीतर उसे खड़ा कर देते थे । दूसरे अमीरों और जेनरलों के भी अपने-अपने भव्य खेमे होते थे । बेगमों की अलग चलती-फिरती हरमसरा (अन्तःपुर) रहती थी, जिसे राजाने में बहुमूल्य कपड़े और कालीन इस्तेमाल किये जाते थे । आशियाना मंजिल, जमीनदोज (भुइधरा) अजायबी, मंडल, अठखम्भा, खरगाह, सरापर्दागलीमी, दौलतखाना खास कलन्दरी, दीवानखाना आम, नक्कार खाना आदि कितनी ही चलती-फिरती इमारते होती थी । बीच में एक आकाशदीया भी खड़ा किया जाता था । पाखाने को सेहतखाना कहते थे । यह अरथायी या चलती-फिरती इमारतें अत्यन्त सुन्दर होती थीं ।

२. चित्रकला

अब्दुरसमद, दसवन्त, फर्रुखबेग जैसे कुछ ही चित्रकारो के नाम हमारे पास तक पहुँचे है । अकबर चित्रकला का बहुत प्रेमी था । उसे अक्षर पढाने की बहुत कोशिश की गई, लेकिन उसमें सफलता नही हुई; पर रेखा खीचने में उसे कुछ विशेष आनन्द आता था, जिसे उसने अपने सुलेखक उस्ताद ख्वाजा अब्दुस्समद से सीखा था । पर, इसका यह अर्थ नहीं कि वह चित्रकार था । चित्र के साथ उसका बहुत प्रेम था, जिसे बाप की विरासत में जहाँगीर ने भी पाया था । दसवन्त पालकी ढोने वाले एक कहार का पुत्र था । खाली समय में वह दीवार या जहाँ कहीं भी चित्र बनाता रहता था । संयोग से एक दिन इन चित्रों पर अकबर की नजर पड़ गई । प्रतिभा का पारखी और कदरदान तो था ही, उसने ख्वाजा अब्दुस्समद के पास उसे चित्र विद्या सीखने के लिए बैठा दिया । थोड़े ही दिनों में वह अकबर का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार बन कर चीनी और ईरानी चित्रकारों का मुकाबला करने लगा । अफसोस ! यह चित्रकार बहुत दिनों तक अपने जौहर को नहीं दिखा सका । वह पागल हो गया और एक दिन कटार मार कर मर गया । अबुलफजल ने ' आईने अकबरी ' में दसवन्त का उल्लेख किया हैं । फर्रुखबेग दूसरा महान चित्रकार था, जो काबुल से १५८५ ई० में दरबार में आया था । अकबर के समय के बनाये हुए चित्र दुनिया में जगह-जगह बिखरे हुए हैं, उनके देखने से शायद कुछ और चित्रकारों का पता लग जाये ।

चित्रकारों के अतिरिक्त बहुत से सुलेखक अकबर के दरबार में रहते थे । अरबी लिपि का स्थान अब नस्तालीक ने ले लिया था । सुलेखक इसी लिपि में पुस्तकें लिखा करते थे । कश्मीरी सुलेखक मुहम्मद हुसेन को 'जर्री कलम' (सुवर्ण-लेखनी) कहा जाता था । ख्वाजा अब्दुस्समद 'शीरी कलम' (मधुर-लेखनी) थे, यह पहले कह चुके हैं ।

३. संगीत

संगीत का अकबर को बहुत शौक था और आरम्भिक काल में ही तानसेन की कीर्ति सुनकर उसने बघेला राजा रामचन्द्र के दरबार से इस महान कलाकार

को अपने पास बुलवा लिया और यह अन्तिम जीवन तक अकबर के दरबार मे रहा। तानसेन के अतिरिक्त और भी कितने ही मशहूर कलावन्त अकबर के पास रहते थे। मंझू कौवाल सूफियो की वाणी को बड़े सुन्दर ढंग से गाता था। मंझू के गाने से एक बार अकबर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने तानसेन और दूसरे कलावन्तो को बुला कर उसके गीत सुनवाये। फिर उसने अनूप तालाब को दिखलाकर कहा: जा इसे तू उठा ले जा। मंझू बेचारे से वह रुपया कहाँ उठने वाले थे। उसने प्रार्थना की कि दास से जितना उठ सके, उतना ही उठाने की आज्ञा मिले। मंझू एक हजार रुपये उठाकर ले गया। अनूप तालाब में १६ लाख से ऊपर रुपये अकबर ने भरवा दिये थे, यह हम बतला चुके है।

४. साहित्य

सूर और तुलसी अकबर के काल में पैदा हुए, यद्यपि इन दोनों महाकवियों ने दरबार का कभी आश्रय नहीं लिया। रहीम तुलसीदास के परिचित और मित्र थे, पर अकबर तक तुलसीदास की कीर्ति क्यों नहीं पहुँची, यह समझ में नहीं आता। गोस्वामी जी अकबर के समवयस्क से थे और अकबर के मरने के चौथाई शताब्दी बाद तक जीते रहे। उनके लिए अकबरी दरबार को श्रेय नहीं दिया जा सकता, लेकिन अकबरी युग के भारत की वह महान उपज थे, इसे स्वीकार करने से कोई इन्कार नहीं कर सकता। कहा जाता है, अकबर का पुत्र दानियाल हिन्दी में कविता करता था, लेकिन उसकी कविता का कोई नमूना हमारे पास नहीं है। अकबरी दरबार के रहीम ही ऐसे रत्न हैं, जो हिन्दी के महान कवि माने जाते हैं। उनकी कविता के कुछ नमूने हम पहले दे चुके हैं। अकबर भी कभी हिन्दी दोहरे बोलता था, लेकिन प्रामाणिक तौर से उसका कोई संग्रह नहीं हैं। अकबर की सरपरस्ती में जो साहित्य मौलिक या अनुवाद के रूप में निर्मित हुआ, उसके बारे में कहने से पहले हम एक और बात बतला देना चाहते हैं। पुस्तकें टाइप वाले प्रेस में छापी जा सकती हैं यह अकबर को मालूम था। पोर्तुगीज पादरियों ने बाइबिल की सुन्दर छपी हुई पुस्तक अकबर को भेंट दी थी। गोवा में टाइप वाला प्रेस कायम हो गया था और उसमें पुस्तकें छपा करती थीं। इन टाइपों को देखकर अरबी या हिन्दी टाइपों का ढालना मुश्किल नहीं था, लेकिन उस समय मुद्रण कला की हमारे यहाँ कदर नहीं थी। सुलेखों की लिखी पुस्तकों को ज्यादा सम्मान दिया जाता था। प्रेस के न अपनाने का कारण यह नहीं था कि मुद्रणकला के अपनाने से वह बेकार हो जायंगे। शिक्षा सार्वजनीन होती, तो प्रेस का महत्व जरूर मालूम होता, पर अभी उस समय के आने में बहुत देर थी।

अकबर की सरपरस्ती मे लिखी गई फैजी, अबुलफजल की कृतियॉ मौलिक और बहुत महत्व की हैं । इनके अतिरिक्त बहुत सी संस्कृत पुस्तको का अनुवाद अकबर ने करवाया था । भारत की सांस्कृतिक और साहित्यिक निधियो को तत्कालीन राजभाषा फारसी मे अनुवादित करके शिक्षितों के लिए सुलभ करना अकबर ही का काम था । अनुवाद करने मे बहुत अच्छा ढंग स्वीकार किया गया था । संस्कृत के किसी विद्वान को मूल पुस्तक का शब्दार्थ और भावार्थ बतलाने के लिए नियुक्त किया जाता, जिसे फारसी का कोई सुपण्डित फारसी भाषा मे लिख डालता । अकबर ने 'महाभारत' का अनुवाद स्वयं करना चाहा था, इसका उल्लेख पहले हो चुका है । अकबर सिर्फ शोभा और नाम के लिए किताबो को लिखवाता या अनुवाद नहीं कराता था, स्वयं वह बहुत अध्ययनशील था । बड़े से बड़े मुश्किल के समय में भी वह इसके लिए समय निकाल लेता था । अक्षर न पढ़ने की उसने कसम-सी ले रखी थी, उसकी इसे जरूरत भी नहीं थी । उसके पास कई पढ़ने वाले रहते थे । फारसी, तुर्की साहित्य के समझने में उसे कोई दिक्कत नहीं थी । अरबी और संस्कृत जैसी दूसरी भाषाओं की पुस्तको का अनुवाद सुनाया जाता था । निम्नलिखित पुस्तकों को उसने अवश्य सुना था और किसी-किसी को एक से अधिक बार । उसके हुकुम और जिज्ञासा को पूरा करने के लिए दो तरह की पुस्तकें तैयार की गई, एक जो फारसी में मौलिक लिखी गई और दूसरी संस्कृत, अरबी या तुर्की से अनुवाद । तुर्की से अनुवाद सिर्फ 'तुजुक बाबरी' (बाबर-नामा) का ही हुआ था।

५. मौलिक ग्रन्थ

१. अकबरनामा[1]—'आईने अकबरी' का ही यह उत्तरार्ध है, जो अबुलफजल की कृति हैं । अबुलफजल महान गद्य लेखक थे । 'आईने अकबरी' और 'अकबरनामा' में तत्कालीन इतिहास और समाज की इतनी विशाल सामग्री इकट्ठा कर दी गई हैं, जिसे देखकर आश्चर्य होता है और मन नहीं करता कि इसे साढ़े तीन सौ वर्ष पहले का ग्रन्थ समझा जाये । इसके दो भाग हैं । पहले भाग में बाबर, हुमायूँ आदि के बारे में लिखते हुए इतिहास को अकबर के १७वें सन जलूस (१५७३ई०) तक लाया गया हैं । दूसरे भाग में १८वें सनजलूस से ४६वें सनजलूस (सन् १६०१ ई०) तक की बातें हैं । भूमिका में अबुलफजल ने लिखा हैं- "मै हिन्दी (भारतवासी) हूँ, फारसी में लिखना मेरा काम नहीं है । बड़े भाई के भरोसे पर यह काम शुरू किया, अफसोस थोड़ा ही लिखा गया था कि उनका देहान्त हो गया, दस वर्ष का हाल उनकी नजर से गुजरा ।

---

१. अबुलफजल, पूर्वार्ध अध्याय १० (पृष्ठ १०२-३)

२. आईने अकबरी—अबुलफजल की यह महान कृति भारत के परिचय के लिए लासानी हैं । इसे लेखक ने हि० १००६ (१५६७-६८ ई०) में समाप्त किया । इसके बारे में आजाद कहते है- "इसकी तारीफ वर्णनातीत है । हरेक कारखाने, हरेक मामले का हाल, उसके जमा खर्च का हाल, हरेक काम के कायदा कानून, साम्राज्य के हरेक सूबे का हाल, उसकी सीमा, क्षेत्रफल इसमे लिखे है । पहले हर जगह के ऐतिहासिक हाल, फिर वहाँ का आय-व्यय, प्राकृतिक और शैल्पिक उपज आदि-आदि, वहाँ के प्रसिद्ध स्थान, प्रसिद्ध नदियाँ, नहरे, नाले; उनके उद्दगम-स्त्रोत, कहाँ से निकले, कहाँ से गये, क्या लाभ देते, कहाँ-कहाँ खतरा है, और कब उनसे नुकसान पहुँचा आदि-आदि, सेना और सेना प्रबन्ध, अमीरों की सूची, उनके दर्जे, नौकरों के भेद, दरबारी, विद्वानों की सूची, आलिम और गुनी, संगीतकार, पेशेवर, महात्मा-साधु, तपस्या करने वाले एवं मजारों और मन्दिरों का विवरण, उनकी सूची, हिन्दुस्तान की अपनी विशेष चीजों, हिन्दियो के धर्म, विद्या और कितनी ही और बातें इस पुस्तक में दी हुई हैं । 'आईने अकबरी' की भाषा अलंकारिक और बहुत कृत्रिम है । लेकिन, इसका दोष अबुलफजल को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसी भाषा को तत्कालीन विद्वान पसन्द करते थे ।

३. कश्कोल—साधुओं-फकीरों के भिक्षापात्र, या दरियाई नारियल के खप्पर को कश्कोल कहते है । रोटी, दाल, सूखा-बासी, मीठा-नमकीन जो भी खाने की चीज भिक्षा में मिलती है, उसे वह अपने कश्कोल में डाल लेते हैं । अबुलफजल की यह कृति कश्कोल की तरह ही है । इसमें उन्होने किताबों को पढ़ते वक्त जो-जो बातें पसन्द आईं, उन्हें जमा कर लिया । फारसी में इस तरह के कश्कोल पहले भी लिखे जा चुके थे, उन्हीं की तरह अबुलफजल ने अपने कश्कोल को तैयार किया ।

४. किताबुल-अहादीस— हदीस पैगम्बर मुहम्मद की सूक्ति को कहते हैं । यह पैगम्बर सूक्तियों की पुस्तक हैं, जिसे लिखकर मुल्ला बदायूँनी ने हिजरी ६८६ (१५७८-७६ ई०) में अकबर को भेंट किया । शायद इसे उन्होनें नौकरी शुरू करने (६७६ हिजरी) से पहले लिखा था ।

५. खैरुल्बयान—इसका अर्थ सुकथा हैं । इसे कवि पीर रोशनाई ने लिखा, जिन्हें पीर तारीकी (अन्धकार गुरु) भी कहते हैं । मुल्ला बदायूँनी के अनुसार "इन्होंने अफगानों में जाकर बहुत से बेवकूफों को चेला मूँड़ा एवं अपनी बेदीनी और बदमजहबी को रौनक दी ।"

६. जामेअ-रशीदी—इतिहास का यह एक बड़ा ग्रन्थ था; जिसे संक्षिप्त करके लिखने के लिए अकबर ने मुल्ला बदायूँनी को कहा । इसमें हजरत आदम से उमैया, अब्बासी, मिस्री खलीफों तक की बातें लिखी हुई हैं ।

७. जोतिष—इस फलित जोतिष पुस्तक को अब्दुर्रहीम खानखाना ने मसनवी (कथा) के रूप मे पद्यबद्ध लिखा था । हरेक पद्य में एक चरण फारसी का और एक चरण संस्कृत का है ।

८. तबकात-अकबरशाही—इसे 'तबकात अकबरी' और 'तारीख निजामी' भी कहते है । ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद (मृत्यु लाहौर अक्टूबर १५६४) ने इस महत्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ मे अकबर के ३६वें सनजलूरा (१५६३-६४ ई०) तक का हाल लिखा है । बदायूँनी ने अपने इतिहास को चुपचाप लिखते समय इससे बहुत लाभ उठाया ।

६. तारीख-अलफी—अलिफ अरबी में हजार को कहते है । हिजरी सन् का हजारवाँ साल १६ अक्टूबर, १५६१ से ८ सितम्बर में पूरा हुआ था । इसी सहस्राब्दी के उपलक्ष्य में अकबर ने हिजरी सन् के आरम्भ से लेकर हजार सालों का इतिहास लिखवाया । निजामुद्दीन अहमद तथा दूसरे विद्वानों ने इसके अलग-अलग भाग को लिखा । तीन भागों में दो को अहमद ने और तीसरे को आसिफ खाँ ने लिखा । दुहराने का काम मुल्ला बदायूँनी को दिया गया ।

१०. नजातुर्-रशीद—इसे हिजरी ६६६(१५६०-६१ई०) में इतिहासकार ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद की फरमाइश पर मुल्ला बदायूँनी ने लिखा । अहमद खुद बड़ा इतिहासकार और सल्तनत बख्शी (सेना वित्त-मन्त्री) भी था । वह दूसरों को भी ऐसे कामों के लिए प्रोत्साहित करता था ।

११. नलदमन—कविराज फैजी का यह मौलिक तथा श्रेष्ठ काव्य है, जिसे उन्होंने अकबर के हुक्म पर नल-दमयन्ती के उपाख्यान को लेकर हिजरी १००३ (१५६४-६५ ई०) में चार महीने में लिखकर समाप्त किया था । अकबर, फैजी, अबुलफजल अपनी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर मानते थे; उसकी मिट्टी को चूमते थे । भारत की हरेक चीज उन्हें प्रिय थी । निजामी, जामी आदि फारसी कवियों ने अपने यहाँ के कथानकों को लेकर महाकाव्य रचे । अकबर चाहता था कि हमारे देश के कथानक पर भी काव्य लिखे जायँ । इसी के लिए फैजी ने यह काव्य रचा ।[1]

१२. मर्कज-अदबार—यह फैजी की अपूर्ण काव्य कृति हैं । निजामी, जामी खुसरो की तरह वह पंज-गज (पंच-रत्न) लिखना चाहते थे, जिसे पूरा नहीं कर सके । छोटे-छोटे पद्यों में उन्होंने इस मनोहर काव्य को गूथना शुरू किया था । एक जगह वह लिखते हैं-

मन् खमे-दरिया दिले गरदाब जोश ।
बादये मन् लंगरों तूफान होश ।

---

१. देखें यहीं पृष्ठ ७४-६०

(मै नदी का टेढ़ापन हूँ, दिल जोश वाला भँवर हैं। मेरा प्याला-लंगर है और होश तूफान हैं।)

फैजी की और कृतियो के बारे में पहले बतलाया जा चुका है।

१३. मवारिदुल्-कलम—यह फैजी कृति है, जिसमे उन्होने अपने तफसीर 'सवातिउल्-अलहाम' की तरह पर छोटे-छोटे सरल वाक्यों मे शिक्षाप्रद बातें लिखी है।

१४. समरतुल्-फिलासफा — दर्शनफल या दर्शनसार नामक यह पुस्तक कासिम-पुत्र अब्दुरसत्तार द्वारा किसी पोर्तुगीजी ग्रंथ का स्वतन्त्र अनुवाद है।

१५. सवातउल्-अलहाम्—इस कुरान-भाष्य को फैजी ने हिजरी १००२ (१५६३-६४ ई०) में समाप्त किया। इस किताब से बड़े-बडे मुल्लाओं में उनकी धाक जम गई। पुस्तक लिखते वक्त फैजी ने प्रतिज्ञा की कि इसमें मैं किसी बिन्दु वाले अक्षर को नहीं इस्तेमाल करूँगा और अरबी लिपि में आधे के करीब अक्षर बिन्दु वाले होते हैं। यह कोई छोटी-मोटी नहीं, बल्कि विशाल पुस्तक है। पुस्तक में अकबर की तारीफ के साथ अपनी शिक्षा और बाप-भाइयों का भी हाल लिखा हैं। इसे पढ़कर एक बहुत बड़े जबरदस्त अरबी के आलिम मियॉ अमाबुल्ला सरहिन्दी ने फैजी को 'अहरारुस्सानी' (द्वितीय अहरार) कहा। ख्वाजा अहरार समरकन्द-बुखारा के एक अद्वितीय विद्वान थे।

(२) संस्कृत से अनुवाद

१६. अथर्बन वेद—जैसा कि नाम से मालूम हैं, इसे अर्थवेद समझ कर फारसी में अनुवाद किया गया। दक्खिन के किसी बहावन ब्राम्हण ने मुसलमान बनने के बाद इसका उलथा बदायूँनी को बताया, जिन्होंने उसे फारसी में लिखा हैं। पहले फैजी से कहा गया था। अथर्बनवेद को 'अथर्व संहिता' नहीं समझना चाहिए। अल्लोपनिषद् जैसी मुसलमान प्रभुओं को खुश करने के लिए बनाई गई कुछ जाली कृतियों का यह अनुवाद था, जिसे हिजरी ६८३ (१५७५-७६ ई०) में समाप्त किया गया, अर्थात उस समय जबकि अकबर ने इस्लाम को छोड़ा नहीं था।

१७. ऐयारदानिश—पंचतंत्र का फारसी (पहलवी) अनुवाद, पहिले पहल नौशेरवां के समय 'अनवार सुहेली' के नाम से हुआ था। पहलवी से अरबी में होकर उसका नाम 'कलेलादमना' पड़ा, जो कि पंचतंत्र के करटक दमनक का रूपान्तर हैं। अरबी से इसके फांरसी में कई अनुवाद हुए। अकबर ने उसको सुना था। जब उसे मालूम हुआ कि यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में मौजूद हैं, तो अबुलफजल को हुकुम दिया कि इसे मूल से फारसी में अनुवाद करें। अबुलफजल

ने हि० ९९६(१५८७-८८ ई०) में अनुवाद कर समाप्त किया । मुल्ला बदायूँनी इस पर व्यंग्य करते अकबर के लिए कहते हैः "इस्लाम की हर बात से नफरत है, विद्या से बेजार है, भाषा भी पसन्द नही । अक्षर (अरबी) भी बुरे है । मुल्ला हुसेन वायज ने 'कलेलादमना' का तर्जुमा अनवार सुहेली कितना अच्छा किया था । अब अबुलफजल को हुक्म हुआ कि उसे सरल, साफ, नंगी फारसी में लिखे, जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि न हों, अरबी शब्द भी न हो ।" अगर अकबर को अपने देश की भाषा और हरेक चीज प्यारी थी, तो मुल्ला बदायूँनी को उनसे उतनी ही चिढ़ थी ।

१८. ताजिक—यह किसी ज्योतिष की किताब का अकबर के हुकुम से मुकम्मल खां गुजराती द्वारा किया गया फारसी अनुवाद है । ताजिक मध्य-एशिया की फारसी भाषी एक जाति का नाम है । अरबी के लिए भी ताजी शब्द इस्तेमाल होता था । संस्कृत में फलित ज्योतिष की एक ऊँचे दर्जे की पुस्तक 'ताजिकनीलकंठी' हैं, जिसके कारण बहुत से लोग ताजिक को फलित-ज्योतिष का पर्याय समझते है । शायद वही भाव इस नाम में भी काम कर रहा हो ।

१९. खिरदअफजा—'सिंहासन बत्तीसी' के इस फारसी अनुवाद को मुल्ला बदायूँनी ने हि० ९८२ (१५७४-७५ ई०) में समाप्त किया जिसका अर्थ है बुद्धिवर्द्धन ।

२०. तारीख-कश्मीर—इसे हि० ९९६ (१५८८-८९ ई०) में मुल्ला बदायूँनी ने दो महीने में लिखकर समाप्त किया । पहले शाह मुहम्मद शाहाबादी (कश्मीरी) से कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' को फारसी में अनुवाद करने को कहा गया था, लेकिन अकबर को भाषा नहीं पसन्द आई और उसने मुल्ला बदायूँनी को उसे फिर से ठीक करने के लिये कहा ।

२१. बहरुल-असमाअ—इस कथा-पुस्तक की समाप्ति हि० १००४ (१५९५-९६ ई०) में मुल्ला बदायूँनी ने की । बहरुल असमाअ का अर्थ नाम सागर है । नाम का अर्थ यहाँ कथा हैं । क्या सोमदेव की कृति 'कथा-सरितसागर' का तो यह फारसी अनुवाद नहीं है? काफी बड़ी पुस्तक थी ।

२२. महाभारत—बतला चुके है कि फिरदौसी के 'शाहनामा' को सुन कर अकबर को 'महाभारत' के नाम का पता लगा और उसको अनुवादित देखने के लिए इतना अधीर हो गया कि दो दिन स्वयं फारसी में अनुवाद बोलता रहा । पीछे मुल्ला बदायूँनी और दूसरे विद्वानों को यह काम सौंपा गया । फैजी ने अन्तिम रूप से भाषा का संशोधन किया । अफसोस हैं, इसके दो ही पर्व समाप्त किये जा सके ।

२३. रामायण---मुल्ला बदायूँनी ने हि० ६६३-६७ (१५८५-८६ ई०) मे बाल्मीकि रामायण के इस अनुवाद को समाप्त किया । मुल्ला को काफिरो की इस पुस्तक के अनुवाद करने का अफसोस था, लिखा है - 'मै खुदा से माफी माँगता हूँ । कुफ्र का उतारना कुफ्र नहीं है । बादशाह के हुकुम से लिखा हैं, और गला घोंटने के कारण ही । डरता हूँ कि इसका फल फटकार न मिले ।'

२४. लीलावती---भास्कराचार्य ने अंकगणित के इस सर्वप्रिय ग्रन्थ को १२वीं शताब्दी में बहुत सुन्दर पद्यो मे लिखा था, जिसका अनुवाद फैजी ने किया । फैजी, जिनकी कलम की करामात और सुन्दर दिल को देखकर मन पैर चूमने को करता है । आरम्भ में फैजी ने लिखा-

अव्वल ज़-सनाये-बादशाही गोयम् ।
व निगह ज़-सताइशे-इलाही गोयम् ।
ई उकदाये-मानी ब-कलम कुशायम् ।
व्-नीं नुक्तए सरबस्त क-माही गोयम् ।

(पहले बादशाह की तारीफ बखानता हूँ, भगवान की स्तुति को कहता हूँ । इस अर्थ रहस्य को कलम से खोलता हूँ, बँधी हुई बात को खोलकर रखता हूँ ।)

२५. हरिवंश---'महाभारत' के परिशिष्ट के तौर पर 'हरिवंश' को सभी जानते है । अकबर के हुकुम से कवि शीरीं ने फारसी में इसका अनुवाद किया । मुल्ला शीर पंजाब मे व्यास के किनारे एक गाँव के मछुये थे । स्वाभाविक प्रतिभा थी, बढ़ते-बढ़ते अकबर के दरबार में पहुँचे और अन्त में दीन-इलाही में शामिल होकर महाबली के चेले भी बन गये ।

(३) अरबी आदि से अनुवाद

२६. तुजुक बाबरी- बाबर की तुर्की में स्वलिखित जीवनी का यह अनुवाद अकबर के हुकुम पर रहीम ने फारसी में क़िया । अकबर को यह पुस्तक बहुत पसन्द आई । अनुवाद समाप्त कर हि० ६६७ (१५८८-८६ ई०) में रहीम ने इसे बादशाह को भेंट किया ।

२७. मअजमुल-बलदान-- हि० ६६६(१५६०-६१ ई०) में हकीम हम्माम से अरबी की इस पुस्तक की तारीफ सुनकर अकबर ने इस महाग्रन्थ को कई विद्वानों में बाँटकर अनुवाद करवाया । नाना देशों की बहुत-सी विचित्र बातें इसमें लिखी हुई हैं ।

२८. हयातुल-हैवान-- (प्राणि-जीवनी) अरबी में पढ़वा कर इस पुस्तक का अनुवाद अकबर ने सुना था । हि० ६८३ (१५७५-७६ ई०) में उसने दूसरों के

लिए भी सुलभ करने के वास्ते अबुलफजल को इसका फारसी में अनुवाद करने के लिए कहा।

अकबर की सरपरस्ती मे या उसके दरबारियो द्वारा लिखी गई पुस्तको की संख्या इतने मे नहीं पूरी हो जाती। उन पुस्तको मे कुछ ही ने छापे का मुँह देखा है। बाकी हस्तलेखों के रूप में एक या अधिक कापियो मे दुनिया के पुस्तकालयो मे बिखरी हुई हैं। इनका प्रामाणिक पुस्तकालय-संस्करण निकालने की कितनी जरूरत है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। अकबर, अशोक और राष्ट्रपिता गाँधी की श्रेणी का महापुरुष था। उससे सम्बन्ध रखने वाली हरेक कृति को रक्षित और प्रकाशित करना हमारा कर्त्तव्य है।

(४) अकबर की कविता

अकबर काव्य और साहित्य का प्रेमी ही नहीं, बल्कि स्वयं भी कभी-कभी कविता करता था। अबुलफजल ने 'आईने अकबरी' में अकबर की बहुत-सी सूक्तियों का संग्रह किया है। उसके दरबार के नौरत्नों मे तानसेन, टोडरमल, बीरबल हिन्दी के कवि थे। हिन्दी कविता की चर्चा भी अकबर के दरबार में होती थी, पर फारसी बहुतों की मातृभाषा और चिर प्रचलित राजभाषा थी, इसके कारण हिन्दी को दरबार में वह स्थान नहीं मिल सका, जो उसे मिलना चाहिए था। अकबर के मुँह से निकले कुछ पद्यों को उद्धृत किया जाता हैं, पर उनकी प्रामाणिकता के बारे मे क्या कहा जा सकता है? उसकी फारसी कविताएँ अवश्य अधिक प्रामाणिक मालूम होती है। वह चाहता, तो दूसरे महाकवियों से लिखवाकर अपने नाम से प्रकट करवाता, जैसा कि हमारे इतिहास में अनेक राजाओं ने किया हैं; पर उसको यह बातें पसन्द नहीं थी। उसके फारसी पद्यों मे कुछ के नमूने देखिये-

गिरिया कर्दम् ज-गमत मूजिबे-खुशहाली शुद्।
रेखतम् खूने-दिल अज-दीद दिलम् खाली शुद्।

(तेरे गम से मैं रोया, यह खुशी का कारण हुआ। आँख से दिल से खून को बहाया मेरा दिल खाली हुआ।)

दोशीन ब-कय मौं-फरोशां।
पैमाने-मैं ब-जर खरीदम्।
अकनूँ ज-खुमार सरगराम।
जर दादम् व दर्दे-सर खरीदम्।

(रात को शराब बेचने वालों की गली में पैसे से शराब का प्याला खरीदा। अब खुमार से मेरा सिर चकरा रहा हैं। पैसा दिया और मैंने सिर का दर्द खरीदा।)

अकबर और उसके विश्वासपात्र सहायकों की जीवनियों को पढ़ कर मालूम होगा कि अकबर अपने देश और राष्ट्र के लिए बहुत दूर तक सोचता था। वह अपने कामों के परिणाम को अपने काल तक ही सीमित नहीं रखना चाहता था। उसको पक्का विश्वास था कि भारत के एक राष्ट्र और एक जाति बनाने का जो प्रयत्न, खतरा उठा करके भी वह कर रहा है, वह बेकार नहीं जायेगा। बेकार गया, यह हम नहीं कह सकते, यद्यपि हमारा देश उससे उतना लाभ नहीं उठा सका, जितना उठाना चाहिए था। अगर उठाया होता, तो ३४२ वर्षों की कालरात्रि से गुजरना न पड़ता और न देश के दो टुकड़े होते। यही नहीं, बल्कि हमारा देश संसार के महान राष्ट्रों में होता। फिर सारा एशिया यूरोपियनों की गुलामी करने के लिए मजबूर न होता और न एशिया के समुद्र में खाली पड़े या बसे द्वीप यूरोपियनों के हाथ में जाते।

१. रूढ़ि-विरोधी

हमारे देशवासी सदियों से कूपमंडूक या गूलर के फल के कीड़े बने हुए थे। इसमें शक नहीं, भारत के मुसलमान उतने कूपमंडूक नहीं थे, जितने हिन्दू। वह हज करने मक्का जाते थे, ईरान-तूरान आदि की भी सैर कर आते थे। लेकिन, हिन्दू अपवाद रूपेण ही कोई व्यापार या घुमक्कड़ी के लिए बाहर जाता था और उसकी यात्रा से भी दूसरे लाभ नहीं उठाते थे। अकबर ने देख लिया था, भारत और इस्लामिक दुनिया से बाहर भी विशाल जगत् है। चीन ही का नहीं, उसे यूरोप के देशों का भी पता था। कितने ही यूरोपियन दास उस समय भारत के बाजारों में बिकते थे। यह बतला चुके है कि अपनी माँ के विरोध करने पर भी अकबर ने बहुत से रूसी दास-दासियों को मुक्त करके उन्हें पोर्तुगीज पादरियों के साथ भेज दिया। पोर्तुगीज पादरियों और दूसरे यूरोपियन यात्रियों से उनके देश के बारे में वह बहुत-सी बातें पूछता रहता था। उसने यूरोप के दरबारों में दूतमण्डल भेजने का प्रयत्न किया था, इसका भी हम उल्लेख कर चुके हैं। उसने तरक्की के रास्ते के सभी काँटे हटा दिये थे। अब न विचारों के बन्धन रुकावट डाल सकते थे, न रूढ़ियाँ। पर, जब रास्ते पर काफिला के चलने का वक्त आया, तो उसने आँखें मूंद लीं। उसके उत्तराधिकारियों में किसी में वह बुद्धि और दूरदर्शिता नहीं थी, जो अकबर के काम को आगे ले चलता। जहाँगीर शराबी था। उसने बाप के काम पर लीपा-पोती कर दी। शाहजहाँ भी मामूली बादशाह था, उसने दादा का अनुगमन करने की जगह गतानुगतिकता को पसन्द किया। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह को केवल अकबर का हृदय मिला

था, दिमाग नहीं । वह संत और विद्वान हो सकता था, शासक नहीं । यदि उसे औरंगजेब को बिफल करके सिंहासन पर बैठने का मौका मिलता, तो भी वह हिन्दुओं को खुश करने से अधिक कुछ नहीं कर सकता था, क्योंकि संकट के समय वह कभी अकबर की तरह दृढ़ता नहीं दिखा सकता था । औरंगजेब ने तो अकबर की रही-सही परम्परा को भी बर्बाद कर डाला और राष्ट्र निर्माण में अकबर की सफलता के जो भी अवशेष बच रहे थे, उन्हें भी मिटा डाला ।

मीनाबाजार—इसके लिए रूढ़िवादी हिन्दू अकबर की नीयत पर हमला करने से भी बाज नहीं आये । 'आईने-अकबरी' से मालूम होता है कि हर महीने के तीसरे दिन आगरे के किले में एक जनाना-बाजार लगता था, जिसे मीनाबाजार कहते थे । अकबर ने चाहा था कि फिरंगियों की तरह हमारे यहाँ भी एक आदमी की एक ही बीवी हो । कानून बना करके भी बहु-विवाह रोकना उसके लिए मुश्किल हुआ । वह फिरंगी बीबियों की बात सुनकर चाहता था कि हमारी स्त्रियाँ भी आजाद हों । आखिर अपने शासन काल में दुर्गावती और चाँद बीबी जैसी वीरांगनाओं से उसका मुकाबला हुआ था । इसलिए इस छिपी और बेकार होती शक्ति को ऊपर लाने की इच्छा उसे हुई । चाहता था, अन्तःपुरों और हरमसराओं के भीतर घुटती महिलाएँ कम-से-कम महीने में एक बार एक जगह खुल कर मिलें । मीनाबाजार में उसके अपने महल की बेगमें, बेटियाँ, बहुएँ, अमीरों और राजाओं के घरों की महिलाएँ आती थीं । स्त्रियों के उपयोग की हर तरह की अच्छी-अच्छी चीजें बाजार मे बिकती थीं । दूकानों पर केवल औरतें बैठती थीं । उन्हीं का वहाँ पहरा रहता था । फूल बेचने वाले माली नहीं मालिनें होती थीं । जनाना बाजार वाले दिन को 'खुशरोज' (सुदिन) कहा जाता था, वह सचमुच खुशरोज था ।

बादशाह और दूसरे अमीर भी कभी-कभी आकर बाजार की सैर करते थे । इसी के लिए पीछे कहना शुरू किया गया: वह लोगों की बहू-बेटियों को देखने आता था । अकबर ने अत्यन्त तरुणाई को छोड़ कभी असंयम से काम नहीं लिया । तरुणाई में इसके कारण उसे तीर खाना पड़ा था । इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी हरमसरा में सैकड़ों सुन्दरियाँ नहीं थीं । लेकिन ये सुन्दरियाँ तो उस समय हलाल समझी जाती थीं । सोलह हजार रानियों वाले हिन्दू राजा भी परमधर्मात्मा माने जाते थे । अकबर के हरम में सुन्दरियों की संख्या उतनी नहीं थी । 'अकबर को बहुत खुशी होती थी' जबकि उसकी बेगमें, बहनें, बेटियाँ उसके पास बैठतीं । अमीरों की बीवियाँ आकर सलाम करतीं, नजरें भेंट करतीं, अपने बच्चों को सामने उपस्थित करतीं । नई पीढ़ी का ब्याह ठीक करने में भी अकबर दिलचस्पी लेता था और उसमें खर्च करता था । मीनाबाजार में कभी युवक-युवतियों में प्रेम भी हो जाता था । जैन खाँ कूका की बेटी पर यहीं सलीम

आशिक हो गया था। लड़की की शादी नहीं हुई थी। मालूम होने पर अकबर ने खुद शादी कर दी।

अकबर ने जिसका आरम्भ किया था, उसे आज हमारे देश के शिक्षित तरुण-तरुणियाँ हरेक बन्धन को तोड़कर खुल्लमखुल्ला अपने व्यवहार मे ला रहे हैं। मजहब के नाम पर लदा मुस्लिम महिलाओं का पर्दा इस्लामी राज्य पाकिस्तान मे भी टूट रहा है। उस दिन जब पाकिस्तानी पार्लियामेण्ट की मुस्लिम महिलाओं ने पुरुषों से हाथ मिलाया, तो मुल्ले जल-भुन गये। लेकिन इस्लामी पाकिस्तान मुल्लों के राज्य को फिर से कायम नहीं कर सकता, वह दिन लद गया।

अकबर दासता का विरोधी था। उसने अपने दासों को मुक्त कर दिया था, इसे हम बतला चुके है। दाढ़ियों के साथ रुढ़ियाँ चिपकी हुई थीं, इसलिए वह दाढ़ियों का शत्रु था। खुद और उसके शाहजादे दाढ़ी नहीं रखते थे। जहाँगीर ने जन्म भर दाढ़ी नही रखी। हाँ, शाहजहाँ और उसके बाद लम्बी दाढ़ियाँ जरूर आ गई। अकबर की देखा-देखी हजारों लोगों ने दाढ़ियाँ मुँड़ा दीं। प्रिय या सम्बन्धी के मरने में भद्र करवा कर दाढ़ी की सफाई कराना जरूरी था, और हर ऐसे मौके पर हजारों नई दाढ़ियाँ भी साफ हो जाती थीं।

२. मशीन प्रेम

नये आविष्कारों और नई-नई मशीनों का सबसे पहले प्रयोग युद्ध में होता है। युद्ध के कारण ही आदमी ने पत्थरों की जगह धातुओं के हथियार, बारूदी हथियार और अन्त में परमाणु-बम का आविष्कार किया। अकबर का समय बारूदी हथियारों का था। तोपें और पलीतादार बन्दूकों का यह जमाना था। उसके दादा ने पहले-पहल भारत में तोपों का इस्तेमाल किया और इन्हीं तोपों के बल पर शत्रु की कई गुनी सेना को घास-मूली की तरह काट दिया। बाबर ने इन भयंकर हथियारों को ईरान के शाह इस्माईल के सम्पर्क से प्राप्त किया था। शाह इस्माईल ने अपने दुश्मन तुर्कों से इन हथियारों के महत्व को समझा और बनवाया। तुर्कों ने स्वयं तोपों और तुफंगो का आविष्कार नहीं किया, बल्कि यह यूरोपियनों की देन थी। यद्यपि हथियार के तौर पर बारूद का इस्तेमाल पहले-पहल चिंगीज खां और उसके सेनापतियों ने किया। तोपों को पहले किलों पर, फिर लकड़ी के विशाल जहाजों को चलते-फिरते किले का रूप दे उन पर लगाया गया।[१] इन्हीं के कारण अकबरी जहाज पोर्तुगीजों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। पोर्तुगीजों से माँगी तोपों के कारण ही असीरगढ़ में लड़ाई हुई। शेरशाह और हेमू ने फिरंगियों से ही

१. देखें परिशिष्ट ४

अच्छी तोपें और बन्दूकें बनवाई या खरीदीं। अकबर से बढ़कर इन बारूदी हथियारों के महत्व को कौन समझ सकता था ?

उसके पास हथियार के बड़े-बड़े कारखाने थे, जिसमे देश-विदेश के मिस्त्री नये हथियारो को बनाते थे। अकबर वहाँ सिर्फ तमाशा देखने के लिए नहीं जाता था, बल्कि कभी-कभी-जेस्वित साधु पेरुश्ची के अनुसार- "चाहे युद्ध-सम्बन्धी बात हो या शासन-सम्बन्धी बात हो या कोई यांत्रिक कला, कोई चीज ऐसी नहीं हैं, जिसे वह नहीं जानता या नहीं कर सकता था।" अकबर ने अपने महल के हाते के भीतर भी कई बड़े-बड़े मिस्त्री खाने कायम किये थे, जिनमें वह अक्सर स्वयं हाथ से हथौड़ी-छिन्नी उठाने से परहेज नहीं करता था। उसने हंथियारों और यन्त्रों में कई आविष्कार और सुधार किये थे, जिनका उल्लेख 'आईने अकबरी' में अबुलफजल ने किया है। विन्सेण्ट स्मिथ कहता है-"उसके जीवन का यह पहलू पीतर महान जैसा मालूम होता है।" चित्तौड के आक्रमण के समय उसने अपनी देख-रेख में आध-आध मन के गोले ढलवाये। बन्दूक चलाने में वह बड़ा ही सिद्धहस्त था और शायद ही उसका कोई निशाना खाली जाता था।

३. सागर-विजय

अकबर को इसका भान होने लगा था कि दुनिया में वही राष्ट्र शक्तिशाली होगा, जिसने सागर पर विजय प्राप्त की है। पोर्तुगीजों के नौसैनिक बलों का उसे तजुर्बा था। उसके तोपधारी जहाजों के डर से ही सूरत में उसने हज की शर्तों के साथ गोआ के साथ सुलह की थी। अपने सम्बन्धियों को सुरक्षित हज कराने के लिए उसे दामन के पास एक गाँव पोर्तुगीजों को भेंट करना पड़ा। उसका राज्य सिन्ध, गुजरात और उड़ीसा-बंगाल में समुद्र के किनारे तक पहुँच गया था। लेकिन वह समझता था कि स्थल के बाद ही वह खतम हो जाता है। पानी के साथ फिरंगियों का राज्य शुरू हो जाता है। फिरंगियों में कौन ऐसी बात थी ? उनके पास विशाल जहाज थे, जिनके ऊपर उस समय की सबसे अधिक शक्तिशाली तोपें लगी हुई थीं। अकबर के जेनरलों को इन्हीं तोपों और जहाजों के कारण पोर्तुगीजों के सामने कई बार दबना पड़ा था।

वह जानता था, हम इस बात में उनसे बहुत पिछड़े हुए हैं। अपने बन्दरगाहों पर कभी-कभी उसे पोर्तुगीज अफसर नियुक्त करने पड़े, यह हुगली के बारे में हम जानते हैं। वह भली प्रकार समझता था कि पोर्तुगीज चाहे हमसे कितनी ही घनिष्ठता रखना चाहें, पर वह युद्ध के सारे रहस्यों को हमें नहीं बतलायेंगे। इसीलिए वह यूरोप की और शक्तियों से भी सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। दरबार में आये अंग्रेज दूत मिल्डेन हाल से बातचीत करने के बाद उसे मालूम

हो गया था कि यूरोपियनो में आपस में भयंकर फूट है, इसलिए वह जो बात एक से नहीं पा सकता, उसे दूसरा बतला सकता है ।

सागर-विजय एक पूरे जीवन का काम था और अकबर का सारा जीवन पहले सारे देश को एक छत्र के नीचे लाने में और अन्त में नालायक पुत्र के झगड़े मे लग गया । फिर भी उसने अपने इस संकल्प को छोड़ा नहीं । अपनी युद्ध यात्राओं में अनेक बार उसने जमुना, गंगा और दूसरी नदियों में बड़े-बड़े बजड़ों का इस्तेमाल किया था । कश्मीर में ३० हजार नावों का बेड़ा उसके साथ चला था । लेकिन यह तोपों के चलाने या उनका मुकाबला करने वाली नावें नही थीं । समुद्र के किनारे रहने का उसे अवसर नहीं मिला । लाहौर में उसे तेरह साल रहना पड़ा । वहीं उसने एक समुद्री जहाज हि० १००२ (१५६३-६४ ई०) में तैयार करवाया । इस जहाज का मस्तूल १०५ फुट ऊँचा था, २६३६ बड़े-बड़े शहतीर और ४६८ मन २ सेर (अकबरी) लोहा लगा था । उसके बनाने में २४० बढ़ई और लोहार लगाये गये थे । तैयार हो जाने के दिन अकबर खुद रावी के किनारे गया । हजार आदमियों ने जोर लगाकर उसे पानी में उतारा, लेकिन रावी बड़ी नदी नहीं थी, पानी की कमी के कारण जहाज को कई जगह रूक जाना पड़ा । फिर भी जहाज को लाहरी बन्दर तक पहुँचाया गया । अकबर ने हि० १००४ (१५६५-६६ ई०) में एक और जहाज तैयार कराया । पहले जहाज के तजुर्बे ने बतला दिया था कि जहाज को कुछ छोटा बनाना चाहिए, नहीं तो नदी में ले जाने में दिक्कत होगी । छोटा होने पर भी वह दो सौ से अधिक टन बोझा उठा सकता था । उसका मस्तूल १११ फुट ऊँचा था । उसके बनाने मे १६३३८ रुपये लगे थे ।

अकबर सिर्फ शौकीनी के लिए इन जहाजों को नहीं बनवा रहा था । समुद्र के किनारे रहने का यदि उसे मौका मिला होता, तो उसने तोपदार बड़े जहाज बनवाये होते ।

४. अकबर और जार पीतर

विन्सेण्ट स्मिथ की पंक्तियों के पढ़ने से पहले ही मुझे अकबर और रूस के निर्माता पीतर महान में विचित्र समानता मालूम हुई थी । मेरे मित्र डा० के० एम० अशरफ ने इससे मतभेद प्रकट किया और जहाँ तक हूबहू समानता का सवाल हैं, इसे मैं नहीं कहता । पर, बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो इस अद्भुत समानता का समर्थन करती हैं । अकबर १५४२ ई० में पैदा हुआ, १५५६ ई० में गद्दी पर बैठा और १६०५ ई० में मरा । अकबर की मृत्यु के ६७ वर्ष बाद १६७२ ई० में पीतर पैदा हुआ, १६६६ ई० में गद्दी पर बैठा और औरंगजेब के मरने के अठारह साल बाद १७२५ ई० में मरा । पीतर ने भारत से सम्पर्क स्थापित करने

के लिए अपना दूत भारत भेजा था, जिसने सूरत में औरंगजेब से मुलाकात भी की थी ।

पीतर के बारे में कुछ बातें अपनी पुस्तक 'मध्य-एशिया का इतिहास (२)[१] से देता हूँ-

"पीतर रूस को जहाँ एक सुसंगठित शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में बड़ी तेजी से परिणत कर रहा था, वहाँ हिन्दुस्तानी औरंगजेब का काम उससे बिल्कुल उल्टा था । पीतर ज्ञान-विज्ञान और सहिष्णुता द्वारा रूस का एकीकरण कर रहा था और औरंगजेब धर्मान्धता द्वारा मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में राष्ट्र को छिन्न-भिन्न कर रहा था । औरंगजेब की अदूरदर्शिता का फल भारत ने १७०७ से १९४७ ई० तक भोगा, जबकि पीतर की जमाई नींव पर रूस दुनिया का अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र बन गया । यदि बोल्शेविक पीतर की प्रशंसा करते नहीं थकते, तो आश्चर्य करने की बात नहीं है ।"

"माँ राजकाज सँभाले हुई थी, इसलिए देश में पीतर की उतनी आवश्यकता नहीं थी । मुस्लिम तुर्की के विरुद्ध पश्चिमी यूरोप के राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से मास्को ने एक महादूत-मण्डल भेजा जिसमें भेस बदल कर पीतर भी शामिल हो गया । वह वहाँ से अपने साथ विशेषज्ञों, इंजीनियरों, तोपचियों आदि को लाना चाहता था । १६९७ ई० में दूतमण्डल मास्को से चला जिसके साथ पीतर मिखाइलोफ के नाम से एक साधारण जहाजी था । उसकी मंशा यूरोप की सभी बातों को गम्भीरता से सीखने की थी । पीतर ने पीछे अपनी मुहर में खुदवा रखा था- "मैं गुरुओं की खोज में रहने वाला विद्यार्थी हूँ ।" औरंगजेब और पीतर के अन्तर को यहाँ हम साफ देख सकते हैं । दूतमण्डल के पहले ही पीतर ने कोइनिग्सबर्ग नगर में पहुँच तोप चलाने की कला सीखी । वहाँ से फिर वह हालैंड के सारडम नगर में पहुँचा जो कि अपने पोत निर्माण के काम के लिए बहुत प्रसिद्ध था । पीतर एक साधारण लोहार के घर में बस कर मामूली बढ़ई की तरह जहाजी कारखाने में काम करने लगा, लेकिन वह अधिक दिनों तक अपने को छिपा नहीं सका । बहुत से डच व्यापारी रूस गये थे, उनकी आँखें साढ़े छह फुट के तगड़े जवान को देखकर कैसे चूक सकती थी ? लोगों से बचने के लिए पीतर वहाँ से आम्स्टर्डम चला गया और वहाँ एक सबसे बड़े जहाजी कारखाने में काम करने लगा । यह एक दो दिन के दिखावे का काम नहीं था । पीतर चार महीने तक आम्स्टर्डम में काम करता रहा जब तक कि जिस जहाज के निर्माण में वह स्वयं काम कर रहा था, वह पानी में नहीं उतार दिया गया । जहाज में

---

१. पृष्ठ २४७-५२

काम करने के समय के बाद यह दूसरे कारखानों, मिस्त्रीखानों और म्यूजियमों में जाता, डच वैज्ञानिकों और कलाकारों के साथ बातचीत करता। हालैंड से पीतर इंगलैण्ड गया। वहाँ उसने वहाँ की शासन-व्यवस्था का अध्ययन किया। वह एक बार पार्लियामेंट के अधिवेशन को भी देखने गया। दो महीने तक टेम्स तट पर डेप्टफड के कारखाने में पोत-निर्माण की कला को वह व्यावहारिक तौर से सीखता रहा।

पीतर अपने राष्ट्र को सबल और समुन्नत देखना चाहता था, इसलिए रूस पर छाये स्वीडन को निकालने के लिए अपने योद्धाओं को प्रोत्साहित करते हुए उसने कहा था-

"जवानों, वह घड़ी आ रही है जो हमारे देश में भाग्य का फैसला करेगी, इसलिए यह मत सोचो कि तुम पीतर के लिए लड़ रहे हो। तुम लड़ रहे हो उस राज्य के लिए, जो कि पीतर को सौंपा गया है, तुम लड़ रहे हो अपने परिवार के लिए, अपनी जन्मभूमि के लिए। दुश्मन को अजेयता की प्रसिद्धि को तुमने कई बार अपनी विजयों द्वारा झूठा सिद्ध किया है। जहाँ तक पीतर का सम्बन्ध है, तुम यह गाँठ बाँध लो कि अपना प्राण उसे प्रिय नहीं है।"

अकबर ने अपने राज्य को सूबों में बाँटा था और उसकी व्यवस्था में कई सुधार किये थे। पीतर ने भी इसे किया था।

"पीतर के सैनिक सुधारों और उसके कारण मिली सफलताओं के बारे में हम देख चुके है। पीतर ने व्यवस्थित सेना को कायम किया जिसमें बाकायदा रंगरूट भर्ती किये जाते, वर्दी और हथियार दे उनको खूब कवायद-परेड कराई जाती। पश्चिमी यूरोप में तोपों को खींचने के लिए घोड़ा गाड़ियों का इस्तेमाल जब हुआ, उससे पचास वर्ष पहले ही पीतर का तोपखाना घोड़ों द्वारा खींचा जाता था। राज्य प्रबन्ध में भी पीतर ने कई बड़े-बड़े परिवर्तन किये। १७०८ ई० में उसने राज्य को आठ गुबर्नियों (सूबों) में बाँट दिया। गुबर्निया का शासक एक गवर्नर होता था जो कि सीधे केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध रखता था। पहले गुबर्निया बड़ी-बड़ी बनाई गई जिन्हें १६१६ ई० में बाँट कर पचासी प्रदेशों के रूप में परिणत कर दिया गया। प्रदेशों को फिर कितने ही जिलों में विभक्त किया गया। प्रदेशों और जिलों के शासक गवर्नर (राज्यपाल) और वोयवाद होते थे।"

भारत के मुसलमानों की तरह रूस में भी उस वक्त दाढ़ी और रूढ़िवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध था। पीतर समझता था कि दाढ़ी सफा करना रूढ़िवाद को खतम करना है। इसलिए खुद कैंची लेकर बैठ जाता और बड़ी-बड़ी दाढ़ियाँ दम भर में साफ हो जातीं।

१. अकबर-सम्बन्धी तिथियाँ

फारसी इतिहासकार अपनी तिथियाँ हिजरी सन् के अनुसार लिखते है जो कि शुद्ध चन्द्र वर्ष हैं। इसके महीने हैं क्रमशः १. मुहर्रम, २. सफर, ३ रबी I, ४ रबी II, ५. जमादी I, ६. जमादी II, ७. रजब, ८. शाबान, ६. शौवाल, १०. रमजान, ११. जुलकद, १२ जुल-हिज्ञ। अकबर ने सन् इलाही के नाम से फसली सन् जारी किया जो सौर मास था। अकबर के काल की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ ईसवी पंचांग के अनुसार निम्न प्रकार मिलती है। (विन्सेंट स्मिथ की सूची) —

ईसवी	हिजरी	घटनाएँ
१५२६ अप्रैल २१		पानीपत में इब्राहीम लोदी की हार
१५२६ अप्रैल २७		दिल्ली में बाबर बादशाह
१५२७ अप्रैल १६		खनुवाँ में राणा साँगा बाबर से हारे
१५२६ मई		घाघरा युद्ध में अफगानों की हार
१५३० दिसम्बर २६		आगरा में बाबर की मृत्यु, दिल्ली में हुमायूँ बादशाह
१५३६ जून २६	८४६ सफर ६	हुमायूँ चौसा में शेरशाह से हारा
१५४० मई १७	६४६ मुहर्रम १०	हुमायूँ कन्नौज में शेरशाह से हार कर भागा
१५४१		हमीदा बानू से हुमायूँ का ब्याह
१५४२ जनवरी २५	६४८ शौवाल ७	शेरशाह गद्दी पर बैठा

जन्म से अकबर के तख्त पर बैठने तक

१५४२ नवम्बर २३	६४६ शाबान १४ वृहस्पति	अमरकोट में अकबर का जन्म (आयु १)

१५४३ नवम्बर		अकबर चचा असकरी के हाथ में (आयु २)
१५४४-४५ जाड़ा		अकबर और उसकी बहिन काबुल गये
१५४४-४५ मई २४	६५२ रबी १	शेरशाह की मृत्यु
१५४५ मई २६	६५२ रबी १७	इस्लाम (सलीम) शाह सूर गद्दी पर बैठा
१५४५ नवम्बर १५		हुमायूँ ने काबुल में पहुँच अकबर को पाया (आयु ४)
१५४६ मार्च १		अकबर का खतना
१५४६ अन्त		काबुल के मुहासिरे में अकबर को तोप के सामने रखवाना (आयु ५)
१५४७ अप्रैल २७		काबुल से कामरान भागा
१५४७ नवम्बर		अकबर का प्रथम शिक्षक नियुक्त (आयु ६)
१५४८		हुमायूँ और कामरान की सुलह (आयु ७)
१५४६		बलख में हुमायूँ की असफलता
१५५०		कामरान ने काबुल और अकबर को हाथ मे किया
१५५० अन्त		हुमायूँ ने काबूल और अकबर को ले लिया (आयु ८)
१५५१ नवम्बर	६५८ जिल्कद्	शाहज़ादा हिंदाल लड़ाई में मरा (आयु ६)
१५५१ अन्त या १५५२ का आरम्भ		अकबर गजनी का राज्यपाल (आयु १०)
१५५३ अक्टूबर ३०	६६० जिल्कद् २२	इस्लामशाह मरा, आदिलशाह गद्दी पर बैठा

१५५३ दिसम्बर १		कामरान पकड़कर अन्धा बनाया गया (आयु ११)
१५५४ अप्रैल १६	६६१ जमा० I १५	शाहजादा मुहम्मद हकीम का जन्म
१५५४ अक्टूबर	६६१ का अन्त	मुनअम खाँ अकबर का अतालीक बना
१५५४ नवम्बर		हुमायूँ ने भारत पर चढ़ाई की (आयु १२)
१५५५ जून २२		सिकन्दर सूर पर सरहिन्द में हुमायूँ की विजय
१५५५ जुलाई २३		हुमायूँ पुनः भारत का बादशाह
१५५५ नवम्बर		अकबर पंजाब का राज्यपाल (आयु १३)
१५५५-५६-५६	६६२, ६६३	उत्तर भारत में भारी अकाल
१५५६ जनवरी २४		हुमायूँ की मृत्यु
	अकबर का शासन	
१५५६ फरवरी १४	६६३ रबी II२-३	कलानूर में अकबर की गद्दीनशीनी
१५५६ मार्च ११	६६३ रबी II २७-२८	सनजलूस इलाही सम्वत् आरम्भ (आयु १४)
१५५६ नवम्बर ५	६६४ मुहर्रम २	पानीपत में हेमू पराजित
१५५६-५७	६६३ या ६६४	अजमेर (तारागढ़) पर अधिकार
१५५७ मार्च ११	६६४ जमादी I ६	द्वितीय राज्य- संवत् आरम्भ (आयु १५)
१५५७ आरम्भ		काबुल से बेगमें आईं
१५५७ मई २४	६६४ रमजान २७	मानकोट में सिकन्दर सूर का आत्म-समर्पण
१५५७ जुलाई ३१	६६४ शौवाल २	अकबर लाहौर की ओर

१५५८ मार्च १०-११	६६५ जमादी I २०	तृतीय राज्यवर्ष आरम्भ (आयु १६)
१५५८ अक्टूबर २०	६६६ मुहर्रम १७	अकबर आगरा (बादलगढ़) में आया
१५५८ या १५५६		पोर्तुगीजों ने दामन ले लिया
१५५६ जनवरी-फरवरी	६६६ रबी II	ग्वालियर का आत्म-समर्पण
१५५६ मार्च १०-१२	६६६ जमादी II २	चतुर्थ राज्यवर्ष आरम्भ (आयु १७)
१५५६ "		जौनपुर अधिकार
१५६० मार्च १०-१२	६६७ जमादी I १३	पंचम राज्यवर्ष आरम्भ (आयु १८)
१५६० मार्च १६	६६७ जमादी II २०	अकबर आगरा से चला
१५६० मार्च २७	६६७ जमादी II २८	अकबर दिल्ली में आया, बैरम खां का पतन
१५६० अप्रैल ८	६६७ रजब १२	बैरम खां अकबर की ओर गया
१५६० अप्रैल १८	६६७ रजब २२	अकबर ने दिल्ली से कूच किया
१५६० अगस्त २३	६६७ जुलहिया	मुनअम खान वकील और खानेखाना बना
१५६० सितम्बर १७	६६७ जुलहिया २६	अकबर लाहौर में
१५६० अक्टूबर	६६८ मुहर्रम	बैरम ने आत्म-समर्पण किया
१५६० नवम्बर २४	६६८ रबी I ४	अकबर दिल्ली लौटा
१५६० दिसम्बर ३१	६६८ रबी II १२	अकबर आगरा पहुँचा, शाही और अमीरों के मकान बनने लगे
१५६१ जनवरी ३१	६६८ जमादी १४	बैरम खाँ की हत्या, अकबर पर चेचक का प्रकोप (आयु १६)
१५६१ प्रारम्भ		चेचक से मुक्त हो अकबर राजकाज देखने लगा

१५६१ मार्च १०	६६८ जमादी II २४	छठा राज्यवर्ष आरम्भ
१५६१ प्रारम्भ		अदहम खाँ का मालवा में अत्याचार
१५६१ अप्रैल २७	६६८ शाबान ११	अकबर आगरा से मालवा चला
१५६१ मई		गागरौन किले का आत्म-समर्पण
१५६१ मई १३	६६८ शाबान २७	अकबर सारगपुर पहुँचा
१५६१ मई १७	६६८ रमजान २	अकबर आगरा की ओर लौटा
१५६१ जून ४	६६८ रमजान ११	अकबर का आगरा मे भेस बदलकर घूमना
१५६१ जुलाई १७	६६८ जिलकदा ४	अकबर आगरा से पूर्व को चला
१५६१ अगस्त २६	६६८ जिलहिजा १७	खानजमाँ और बहादुर खाँ ने आत्म-समर्पण किया अकबर लौटा, हवाई हाथी का मदमर्दन (आयु १६)
१५६१ नवम्बर	६६६ रबी १	शम्शुद्दीन प्रधानमंत्री नियुक्त
१५६२ जनवरी १४	६६६ जमादी I ८	अकबर अजमेर की प्रथम तीर्थयात्रा पर चला अकबर का बिहारीमल की लड़की से साँभर में ब्याह और मानसिंह का दरबार में आना (आयु १६)
१५६२ फरवरी १३	६६६ जमादी II ८	अकबर आगरा पहुँचा
१५६२ मार्च ११	६६६ रजब ५	सप्तम राज्यवर्ष आरम्भ युद्ध में दास बनाना बन्द
१५६२ मार्च		मेड़ता के किले पर अधिकार परोख में युद्ध

		पीर मुहम्मद की मृत्यु, बाजबहादुर का मालवा पर अस्थायी अधिकार
१५६२ मई १६	९६९ रमजान १२	अदहम खाँ ने शम्शुद्दीन की हत्या की और स्वयं मारा गया
१५६२ नवम्बर		अकबर ने एतमाद खाँ को मालमहकमा सुपुर्द किया तानसेन दरबार मे पहुँचे
१५६३ मार्च १०-११	९७० रजब १५	अष्टम राज्यवर्ष आरम्भ, तीर्थ-कर बन्द (आयु २१) अकबर मथुरा से आगरा तक पैदल गया
१५६४ जनवरी ८	९७१ जमादी I २५	अकबर ने दिल्ली में अवैध ब्याह किये (आयु २२)
१५६४ जनवरी ११	९७१ जमादी I २८	अकबर पर घातक आक्रमण
१५६४ जनवरी २१	९७१ जमादी II ६	अकबर आगरा लौटा
१५६४ मार्च ११	९७१ रजब २७	नवम राज्यवर्ष आरम्भ
१५६४ आरम्भ		जजिया उठाया (आयु २२)
१५६४ मार्च		ख्वाजा मुअज्ज़म को दण्ड
१५६४ अप्रैल	९७१ रमजानईद	शाहमआली को काबुल में फाँसी, रानी दुर्गावती पर विजय
१५६४ जुलाई २	९७१ जिलकदा २१	मालवा शासक अब्दुल्ला खाँ उज्बेक के खिलाफ अकबर चला, सफल हाथी-खेड़ा
१५६४ अगस्त १०	९७२ मुहर्रम २	अकबर माँडू पहुँचा
१५६४ अक्टूबर ६	९७२ रबी I ३	अकबर आगरा लौटा नगरचैन का निर्माण
१५६४		हाजी बेगम हज को चली
१५६४ उत्तरार्ध		अकबर के जुड़वां बच्चों का जन्म और मरण

१५६५ मार्च ११	६७२ शाबान ८	दशम राज्यवर्ष आरम्भ (आयु २३), आगरा किले की नीव रखना।
		अब्दुन्-नबी सदर नियुक्त
१५६५ पूर्वार्ध		खान आजम और बहादुर उज्बेक का विद्रोह
१५६५ पूर्वार्ध		कामरान-पुत्र अबुलकासिम का प्राण-हरण
१५६५ मई २४	६७२ शौवाल २३	अकबर विद्रोहियों के खिलाफ चला
१५६५ जुलाई २	६७२ जिल्हिजा १४	अकबर जौनपुर में
१५६५ सितम्बर १६	६७३ सफर २०	आसफ खाँ का विद्रोह
१५६५ दिसम्बर		खानजमॉ और मुनअम खॉ की मुलाकात
१५६६ जनवरी २४	६७३ रजब ३	अकबर का बनारस की ओर कूच
१५६६ मार्च ६	६७३ शाबान ११	अकबर का आगरा की ओर कूच
१५६६ मार्च १०-११	६७३ शाबान १८	एकादश राज्यवर्ष आरम्भ (आयु २४)
१५६६ मार्च २८	रमजान ७	अकबर आगरा पहुँच नगरचैन गया, मुजफ्फर खॉ तुर्बती द्वारा जमाबन्दी दोहराना, मिर्जा हाकिम का पंजाब पर आक्रमण
१५६६ नवम्बर १७	६६४ जमादी I ३	अकबर का उत्तर की ओर कूच, हुमायूँ के असमाप्त मकबरे को देखना
१५६७ फरवरी	६६४ रजब	अकबर लाहौर पहुँचा
१५६६-६७		मिर्जाओं का विद्रोह
१५६७ मार्च ११	६६४ शाबान २६	द्वादश राज्यवर्ष आरम्भ (आयु २५)
१५६७ मार्च		महाशिकार (कमरगा)

१५६७ मार्च		आसफ खाँ को क्षमादान
१५६७ मार्च २३	६७४ रमजान १२	अकबर का आगरा की ओर कूच
१५६७ अप्रैल		थानेसर में संन्यासियो की लडाई
१५६७ मई ६	६७४ शौवाल २६	उज्बेक सरदारो के खिलाफ अकबर चला
१५६७ जून ६	६७४ जिल्हिजा १	मनकुवार मे खानजमाँ और बहादुर की हार
१५६७ जुलाई १८	६७५ मुहर्रम ११	कड़ा-मानिकपुर, इलाहाबाद, बनारस लुटे । जौनपुर होते हुए अकबर का कूच आगरा की ओर
१५६७ अगस्त ३०	६७५ सफर २५	अकबर मिर्जाओं के खिलाफ धौलपुर की ओर चला
१५६७ सितम्बर		चित्तौड के विरुद्ध युद्ध का निश्चय, फैजी दरबार में आये
१५६७ अक्टूबर २०	६७५ रबी II १६	चित्तौड के मुहासिरे के लिए छावनी बनी
१५६७ दिसम्बर १७	६७५ जमादी II १५	सुरंग उड़ाई गई
१५६८ फरवरी २३	६७५ शाबान २५	चित्तौड़ का पतन
१५६८ फरवरी २८	६७५ शाबान २६	अकबर पैदल अजमेर तीर्थयात्रा पर
१५६८ मार्च ६	६७५ रमजान ७	अकबर अजमेर पहुँचा
१५६८ मार्च १०	६७५ रमजान ११	त्रयोदश राज्यवर्ष आरम्भ (आयु २६)
१५६८ अप्रैल १३	६७५ शौवाल १५	बाघ का शिकार करते अकबर आगरा पहुँचा
१५६८ अप्रैल		मिर्जाओं ने चम्पानेर और सूरत पर अधिकार किया

१५६८ अगस्त	९७६ रबी १	अतकाखैल पर अनुशासन
१५६८		शहाबुद्दीन अहमद खान वित्त-मंत्री नियुक्त
१५६९ फरवरी १०	९७६ शाबान २१	रणथम्भौर का मुहासिरा आरम्भ
१५६९ मार्च ११	९७६ रमजान २२	चतुर्दश वर्ष (आयु २७)
१५६९ मार्च २१	९७६ शौवाल ३	रणथम्भौर का पतन
१५६९ मई ११	९७६ जिलकदा २४	अजमेर दर्शन करते आगरा मे आ अकबर बंगाली महल में उतरा
१५६९ अगस्त ११	९७७ सफर २६	कालंजर में आत्म-समर्पण की सूचना मिली
१५६९ अगस्त ३०	९७७ रबी I १७	शाहजादा सलीम का जन्म
१५६९		सीकरी के निर्माण की आज्ञा
१५६९ नवम्बर २१	९७७ जमादी II ११	अकबर की कन्या शाहजादा सुल्तान खानम का जन्म
१५७० मार्च २	९७७ रमजान	आगरा से अजमेर १६ मंजिल की पैदल यात्रा कर अकबर दिल्ली आया
१५७० मार्च ११	९७७ शौवाल २	पंचदश राज्यवर्ष आरम्भ (आयु २८)
१५७० अप्रैल		अकबर नवनिर्मित हुमायूँ के मकबरे को देखने गया
१५७० जून ७	९७८ मुहर्रम ३	शाहजादा मुराद का जन्म
१५७० सितम्बर	९७८ रबी II	अकबर अजमेर गया, वहाँ और नागौर में इमारतें बनवाई।
१५७० "		बीकानेर और जैसलमेर की राजकुमारियों से अकबर का ब्याह, जंगली गदहों का शिकार, बाजबहादुर (मालवा) का आत्म-समर्पण।

१५७०-७१		मालगुजारी का पुनः कराकन
१५७१ मार्च ११	६७८ शौवाल १४	षोडश राज्यवर्ष आरम्भ (आयु २६)
१५७१ मार्च		अकबर ने सतलुज-तट पर पाकपट्टन की जियारत की
१५७१ मई १७	६७८ जिलहिजा २२	अकबर लाहौर पहुँचा
१५७१ जुलाई २१	६७९ रबी I १	अकबर वर्षा मे यात्रा करते अजमेर पहुँचा
१५७१ अगस्त ७	६७९ रबी I १७	अकबर ने फतेहपुर-सीकरी (फतेहाबाद) के भवन-निर्माण को देखा
१५७२ मार्च ११	६७९ शौवाल २५	सप्तदश राज्यवर्ष आरंभ (आयु ३०), समरकन्द के अब्दुल्ला खाँ उज्बेक का दूतमंडल आया, मुजफ्फर खाँ तुर्बती पदच्युत
१५७२ जुलाई ४	६८० सफर २०	अकबर गुजरात की मुहिम पर चला
१५७२ सितम्बर १	६८० रबी I २२	अकबर ने अजमेर छोड़ा
१५७२ सितम्बर ६	६८० जमादी II २-३	शाहजादा दानियाल का जन्म
१५७२ सितम्बर १७	६८० जमादी II ६	अकबर का पड़ाव नागोर में
१५७२ अक्टूबर ११		बंगाल के सुलेमान करानी की मृत्यु की सूचना
१५७२ नवम्बर ७	६८० रजब १	पाटन (अनहिलवाड़ा) मे अकबर की छावनी
१५७२ नवम्बर	६८० रजब	गुजरात के मुजफ्फर शाह की गिरफ्तारी
१५७२ नवम्बर २०	६८० रजब १४	अकबर का पड़ाव अहमदाबाद के पास
१५७२ दिसम्बर १२	६८० शाबान ६	अकबर खम्भात में, पोत में विहार

१५७२ दिसम्बर २१	६८० शाबान १५-२	सरनाल का युद्ध
१५७३ जनवरी ११	६८० रमजान ७	अकबर सूरत मे, मुहासिरे का आरभ
१५७३	६८० रमजान	पोर्तुगीजो से समझौते की बातचीत
१५७३ फरवरी २६	६८० शौवाल २३	सूरत का आत्म-समर्पण, नासिक (बगलाना) के सरदार का आत्म-समर्पण
१५७३ मार्च १०	६८० जिल्कदा ६	अष्टादश राज्यवर्ष आरम्भ (आयु ३१ वर्ष)
१५७३ अप्रैल १३	६८० जिल्कदा १०	अकबर लौटा
१५७३ जून ३	६८१ सफर २	अकबर सीकरी पहुँचा, शेखमुबारक का मुबारक बादीनामा, मिर्जा बंदियो पर कड़ाई गुजरात मे विद्रोह
१५७३ अगस्त २३	६८१ रबी I २४	अकबर गुजरात के लिए सवार हुआ
१५७३ अगस्त ३१	६८१ जमादी II २	बालिसाना में सेना का निरीक्षण किया
१५७३ सितम्बर २	६८१ जमादी ५	अहमदाबाद का युद्ध
१५७३ सितम्बर १३	६८१ जमादी I १६	अकबर लौटा
१५७३ अक्टूबर ५	६८१ जमादी II ८	अकबर सीकरी पहुँचा गुजरात में टोडरमल द्वारा माल-बन्दोबस्त
१५७३ अक्टूबर २२	६८१ जमादी २५	तीनो शाहजादों का खतना
१५७५ मार्च ११	६८१ जिल्कदा १७	१६ राज्यवर्ष आरम्भ (आयु ३२), अकबर सीकरी पहुँचा, अबुलफजल और बदायूँनी दरबार में प्रविष्ट
३१		
१५७५ जून १५	६८२ सफर २६	अकबर की पूर्व को नौयात्रा

१५७५ अगस्त ३	९८२ रबी II १५	अकबर का पटना के सामने ठहरना
१५७५ सितम्बर	अमरदाद २५	हाजीपुर पर अधिकार, बंगाल के सुल्तान दाऊद का भागना
१५७५ सितम्बर	अमरदाद २६	पटना पर अधिकार
१५७५ सितम्बर		अफसरों को बंगाल-विजय का काम देकर अकबर का जौनपुर लौटना, दाऊद द्वारा मुनअम खाँ की हार की सूचना, गुजरात में अकाल, प्रशासनिक सुधार : (१) दाग, (२) मन्सबदारी दर्जे, (३) जागीरों का खालसा में परिवर्तन
१५७५ जनवरी		अकबर सीकरी में, इबादतखाना-निर्माण का हुकुम
१५७५ मार्च ३	९८२ जिलकदा २०	तुकरोई (बालासोर) का युद्ध
१५७५ मार्च १०-११	९८२ जिलकदा २७	२० राज्यवर्ष आरम्भ (आयु२३)
१५७५ अप्रैल १२	९८३ मुहर्रम १	मुनअम खाँ ने दाऊद से सुलह की;
१५७५ ग्रीष्म		मुजफ्फरखाँ चौसा से तेलियागढ़ी तक के बिहार का शासक नियुक्त
१५७५		दाग आदि कानून का लागू करना
१५७५ शरद		गुलबदन बेगम आदि हज के लिए गईं
१५७५ अक्टूबर २३	९८३ रजब	मुनअम खाँ मरा, महामारी
१५७५ नवम्बर १५		खानजहाँ बंगाल का राज्यपाल नियुक्त
१५७५-७६		करोड़ी प्रबन्ध आदि

१५७६ मार्च ११	९८३ जिल्हिजा २	२१ राज्यवर्ष आरम्भ (आयु ३४)
१५७६ जून		गोगुडा (हल्दीघाटी) युद्ध
१५७६ जुलाई १२		राजमहल युद्ध, दाऊद की मृत्यु
१५७६ सितम्बर		अकबर अजमेर मे
१५७६ अक्टूबर		शाह मसूर दीवान नियुक्त
१५७६		दो जेसुइत मिशनरी बगाल मे
१५७७ मार्च ११	९८४ जिल्हिजा २०	२२ राज्यवर्ष आरम्भ (आयु ३५)
१५७७ सितम्बर		अकबर अजमेर मे
१५७७ नवम्बर		धूमकेतु उगा, टोडरमल वजीर बने, टकसाल का पुन सगठन
१५७८ मार्च ११	९८६ मुहर्रम २	२३ राज्यवर्ष आरम्भ (आयु ३६)
१५७८ अप्रैल		कुम्भलनेर किले पर अधिकार
१५७८ मई		भेरा मे अकबर को दिव्य स्वप्न
१५७८ मई		गुजराती मुजफ्फरशाह कैद से भागा, दरबार मे पिरेत्रो तवारेस और अन्तोनियो कबराल का आना
१५७८ दिसम्बर		गोवा के ईसाई साधुओं के लिए निमत्रण बगाल के सिपहसालार खानजहाँ की मृत्यु
१५७८-७६		धार्मिक शास्त्रार्थ
१५७६ मार्च ११	९८७ मुहर्रम १२	२४ राज्यवर्ष (आयु ३७)

१५७६ मार्च १४		मुजफ्फर खाँ बंगाल-राज्यपाल नियुक्त
१५७६ जून	६८७ रजब	अकबर ने मस्जिद में खुतबा पढ़ा
१५७६ सितम्बर ३	६८७ रजब	"मजहर" स्वीकृति
१५७६ सितम्बर		गोवा मे अकबर के दूतमंडल का स्वागत
१५७६ अक्टूबर	६८७ रजब	अकबर की अंतिम अजमेरी जियारत, साधु टामस स्टिवेंस गोवा में उतरा
१५७६ नवम्बर १७		गोवा में प्रथम जेस्वित मिशन चला
१५८० जनवरी		बंगाल में पठान सरदारों का विद्रोह
१५८०		पोर्तुगाल और स्पेन का एक राजा बना
१५८० फरवरी		पोर्तुगीज बस्तियों के खिलाफ असफल अभियान
१५८० फरवरी २८		सीकरी में प्रथम जेस्वित मिशन पहुँचा
१५७६-८०		शाह मंसूर का दससाला बन्दोबस्त
१५८० मार्च ११	६८८ मुहर्रम २४	२५ राज्यवर्ष (आयु ३८)
१५८०		बारह सूबो का निर्माण
१५८० प्रारम्भ		अब्दुन्-नबी और मुल्ला सुल्तानपुरी का निर्वासन
१५८० अप्रैल		मुजफ्फर खाँ को पकड़ कर विद्रोहियों ने मार डाला
१५८० दिसम्बर		मिर्जा हकिम के अफसरों ने पंजाब पर आक्रमण किया
१५८१ जनवरी		मिर्जा हकीम स्वयं चढ़ आया

१५८१ जनवरी		अयोध्या के पास बगाल के पठानों की हार
१५८१ फरवरी ८		अकबर का उत्तर की ओर कूच
१५८१ फरवरी २७	६८६ मुहर्रम २६	शाह मंसूर को फाँसी
१५८१ मार्च ११	१५८१ सफर ५	२६ राज्यवर्ष (आयु ३६)
१५८१ जुलाई १२(१)		अकबर ने सिन्ध पार किया
१५८१ अगस्त १		शाहजादा मुराद की लड़ाई
१५८१ अगस्त ६-१०	६८६ रजब १०	अकबर काबुल मे दाखिल हुआ
१५८१ नवम्बर		सदर और काजी के विभागो का पुनरीक्षण
१५८१ दिसम्बर १	६८६ जिलकदा ५	अकबर सीकीरी लौटा
१५८२ जनवरी		हाजी बेगम की मृत्यु
१५८२ आरम्भ		दीन-इलाही की घोषणा
१५८२ मार्च ११	६६० सफर १५	२७ राज्यवर्ष (आयु ४०)
१५८२ अप्रैल १५		कुतुबुद्दीन का दामन पर आक्रमण
१५८२ ग्रीष्म		धार्मिक शास्त्रार्थ वन्द, यूरोप दूतमण्डल भेजना असफल
१५८२ अगस्त ५		मोन्सेरेत सूरत आया
१५८२		सीकरी की झील का बाँध टूटा
१५८३ मार्च १५	६६१ सफर २८	२८ राज्यवर्ष (आयु ४१)
१५८३ मई		अकविवा गोवा में आया
१५८३ जुलाई १५		चुंचोलिमन में अकविवा मारा गया
१५८३ सितम्बर		मुजफ्फरशाह गुजरात का शाह बना
१५८३ नवम्बर		इलाहाबाद किले की नींव पड़ी

१५८३		राती होना अकबर ने रोका
१५८४ जनवरी	९९२ मुहर्रम	अहमदाबाद के पास सरखेज का युद्ध
१५८४ फरवरी		अकबर सीकरी पहुँचा, सलीम का ब्याह
१५८४ मार्च ११	९९२ रबी । ८	२९ राज्यवर्ष (आयु ४२)
१५८४		इलाही संवत् की स्थापना बंगाल के विद्रोहियों के विरुद्ध सफल कार्रवाई
१५८४ दिसम्बर २२		अकबर की कन्या आराम बानू का जन्म
१५८४-८५		मेघना डेलटा (बाकला) की बाढ़
१५८५ मार्च १०-११	९९३ रबी । १९	३० राज्यवर्ष (आयु ४३)
१५८५ आरम्भ		फतहुल्ला और टोडरमल ने मालगुजारी का हिसाब जाँचा. सस्ती के कारण नगद मालगुजारी में कमी की गई
१५८५ जुलाई ३०	९९३ शाबान १२	मिर्जा मुहम्मद हकीम मरा
१५८५ अगस्त १०-११		अकबर ने उत्तर की ओर कूच किया
१५८५ सितम्बर २८		न्यूबरी और फिच ने सीकरी छोड़ी
१५८५ दिसम्बर ७		अकबर रावलपिण्डी में
१५८५ अन्त		कश्मीर-विजय की तैयारी
१५८६ फरवरी १४		जैन खाँ और बीरबल को यूसुफजाइयों ने मारा
१५८६ मार्च ११	९९४ रबी । २९	३१ राज्यवर्ष (आयु ४४)
१५८६ मई २७		अकबर लाहौर पहुँचा
	९९४ रबी	कश्मीर पर अधिकार

		सख्ती के कारण मालगुजारी मे छूट की गई
१५८६ अगस्त २३		तूरान के अब्दुल्ला खॉ उजबेक के पास चिट्ठी
१५८७ मार्च ११	९९५ रबी II ११	३२ राज्यवर्ष (आयु ४५)
१५८७ अगस्त	९९५ रमजान	शाहजादा खुसरो का जन्म
१५८८ मार्च ११	९९६ रबी I २२	३३ राज्यवर्ष (आयु ४७)
१५८९ मार्च ११	९९७ जमादी II ४	३४ राज्यवर्ष (आयु ४७)
१५८९ मई-जून		अकबर कश्मीर और काबुल गया
१५८९ नवम्बर ७		अकबर ने काबुल छोड़ा
१५८९ नवम्बर		टोडरमल और भगवानदास की मृत्यु
१५९० मार्च ११	९९८ जमादी I १४	३५ राज्यवर्ष (आयु ४८)
१५९०		रहीम सुलतान के सूबेदार नियुक्त
१५९०-९१		सिन्ध-विजय
१५९१ मार्च ११	९९९ जमादी I २४	३६ राज्यवर्ष (आयु ४९)
१५९१ अगस्त		दक्षिण के सुल्तानो के पास दूतमंडल भेजे
१५९१-९२		द्वितीय जेसुइत मिशन
१५९२ मार्च ११	१००० जमादी II ५	३७ राज्यवर्ष (आयु ५०)
		हिजरी हजारसाला स्मरण मे नये सिक्के
१५९२ अगस्त		चनाब के किनारे अकबर का शिकार खेलना, कश्मीर की दूसरी यात्रा
१५९२ अन्त		उड़ीसा-विजय
१५९३ मार्च ११	१००१ जमादी II १७	३८ राज्यवर्ष (आयु ५१)
१५९३ अगस्त	१००१ जिलकद १७	शेख मुबारक की मृत्यु, निजामुद्दीन के इतिहास काअन्त

१५९३ नव० या दि०	१००१ जिलकद II का आरम्भ	दक्षिण से दूतमंडल का लौटना
१५९४ दि या ९५ फ		सीबी के किले पर अधिकार
१५९४ मार्च ११	१००२ जमादी II २८	३९ राज्यवर्ष (आयु ५२)
१५९५ मार्च ११	१००३ रजब ९	४० राज्यवर्ष (आयु ५३)
१५९५ अप्रैल	१००३ रजब	कन्दहार का आत्मसमर्पण
१५९५ मई ५		जेस्वित मिशन लाहौर पहुँचा
१५९५ अगस्त		बदायूँनी के इतिहास की समाप्ति, जे० जेवियर और पिन्हेरो के पत्र
१५९५-९६	१००४-७	भारी अकाल और महामारी
१५९६ मार्च ११	१००४ रजब २१	४१ राज्यवर्ष (आयु ५४)
१५९६		चाँद बीबी ने बरार दे दिया, गोदावरी पर सूपा के पास लड़ाई
१५९७ मार्च ११	१००५ शाबान २	४२ राज्यवर्ष (आयु ५५)
१५९७ मार्च २७		लाहौर के महल में आग लगी, अकबर की तृतीय कश्मीर यात्रा
१५९७ सितम्बर ७		लाहौर में नये गिर्जे की प्रतिष्ठा, लाहौर में महामारी
१५९८	१००६ रजब २	तूरान के अब्दुल्ला खाँ की मृत्यु
१५९८ मार्च ११	१००६ शाबान १३	४३ राज्यवर्ष (आयु ५६)
१५९८ अन्त		अकबर का लाहौर से दक्षिण की ओर कूच
१५९९ मार्च १२	१००६ शाबान २३	४४ राज्यवर्ष (आयु ५७)
१५९९ मई १	१००७ शौवाल १५	शाहजादा मुराद की मृत्यु
१५९९ जुलाई		अकबर ने आगरा छोड़ा
१६०० फरवरी		असीरगढ़ का मुहासिरा आरम्भ

१६०० मार्च ११	१००८ रमजान ४	४५ राज्यवर्ष (आयु ५८)
१६०० मार्च ३१	१००८ रमजान २५	अकबर ने बुरहानपुर ले लिया।
१६०० मई		बहादुरशाह के साथ समझौते की बातचीत
१६०० जून		असीरगढ़ पर असफल हमला
१६०० जुलाई		सलीम का विद्रोह
१६००		बंगाल में उसमान खाँ का विद्रोह, शेरपुर-अताई का युद्ध
१६०० अगस्त १६	१००६ सफर १८	अहमदनगर का पतन
१६०० अगस्त अन्त		बहादुरशाह का पतन
१६०० दिसम्बर २५		सलदाना गोवा का उपराज
१६०० दिसम्बर ३१		रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अधिकार-पत्र दिया
१६०१ जनवरी १७	१००६ रजब २२	असीरगढ़ का आत्म-समर्पण
	१००६ शाबान ८	अबुलफजल आदि को उपाधि प्रदान
१६०१ मार्च ११	१००६ रमजान १२	४६ राज्यवर्ष (आयु ५६)
१६०१ मार्च २८		गोवा दूतमंडल भेजा गया
१६०१ अप्रैल २१		तीन नये सूबों का निर्माण, शाहजादा दानियाल उपराज नियुक्त
१६०१ अप्रैल-मई		अकबर सीकरी होता हुआ आगरा लौटा
१६०१ मई		दूतमंडल गोवा पहुँचा
१६०१		सलीम ने बादशाह की उपाधि धारण की, "अकबरनामा" का अन्त, सलीम से समझौता की बातचीत
१६०२ मार्च ११	१००६ रमजान २६	४७ राज्यवर्ष (आयु ६०)

१६०२ मार्च २०		डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी संगठित
१६०२ अगस्त १२	१००६ ११ रबी I ४	अबुलफजल की हत्या
१६०३ मार्च ११	१००६ शौवाल	४८ राज्यवर्ष (आयु ६१)
१६०३ आरम्भ		मिल्डेनहाल लाहौर और आगरा पहुँचा
१६०३ मार्च २४		रानी एलिजाबेथ की मृत्यु, जेम्स I राजा, सलीम बेगम ने अकबर और सलीम से सुलह कराई
१६०३ नवम्बर ११		सलीम जमुना पार इलाहाबाद लौटा
१६०४ मार्च ११	१००६ १२ शौवाल १७	४२ राज्यवर्ष (आयु ६२)
१६०४ मार्च		शाहजादा दानियाल का ब्याह बीजापुर की शाहजादी के साथ
१६०४ अप्रैल		शाहजादा दानियाल की मृत्यु
१६०४ मई २०	१००६ १३ मुहर्रम	
१६०४ अगस्त २६		अकबर की माँ का देहान्त
१६०४ नवम्बर ६		सलीम की आगरा में गिरफ्तारी
१६०५ मार्च ११	१००६ शौवाल २८	५० राज्यवर्ष (आयु ६३)
१६०५ ग्रीष्म		मिल्डेनहाल अकबर के सामने हाजिर
१६०५ मई ६		
१६०५ सितम्बर २१	१००६ ११ जमादी I २०	अकबर की बीमारी का आरम्भ
१६०५ अक्टूबर १७	१००६ ११ जमादी II १४	अकबर की मृत्यु

परिशिष्ट २.

संस्कृतियों का समन्वय

हर एक जाति लाखों-करोड़ों व्यक्तियो से मिलकर बनी है । व्यक्ति अलग-अलग रह कर जिस जीवन और मनोवृत्ति का परिचय देता है, समष्टि मे वह उसी का हूबहू अनुकरण नहीं करता । एक व्यक्ति अलग रहकर कितना ही निरकुश हो, लेकिन परिवार में अपने ऊबड़-खाबड़ स्वभाव को हटाकर परिवार के अनुकूल बनाना पड़ता है । इस तरह परिवार के व्यक्ति गाँव के लोगों के सामने अपनी कितनी ही स्वछंदताओं को छोडने के लिए मजबूर हो जाते है । यदि पुराने आर्थिक ढाँचे मे ही हमारा ग्राम-समाज हो, तो वह बहुत स्वच्छंदता प्रकट करता है । भारत की तो यह सबसे बड़ी बीमारी रही है कि वह ग्राम तक अपनी आत्मीयता को अच्छी तरह अनुभव करता रहा, लेकिन उसने आगे " कोउ नृप होहिं हमहिं का हानी " का मंत्र जपने लगता है और हाथ पैर ढीले करके भवितव्यता के सामने सिर झुका देता है । यह मनोवृत्ति संगठित आक्रमणकारियों के लिए बड़ी अनुकूल साबित हुई । आत्म-रक्षा के लिए यदि हम कभी ग्राम से ऊपर भी उठें, तो उसमें हमारी आन्तरिक एकता का गहरापन नहीं था ।

तब भी जब एक गाँव दूसरे गाँव पर, एक परगना दूसरे परगने पर और एक राज्य के सभी व्यक्ति आपस में एक-दूसरे के ऊपर निर्भर रहते हैं, तो कितनी ही बातों में उनमें एकता का भाव जरूर पैदा होता है । इस एकता की जबर्दस्त भावना का तो उस वक्त पता लगता है जब एक बोली बोलने वाले आपस में पचास कोस की दूरी पर रहने वाले भी किसी दूर जगह में मिलते हैं । भाषा ही ने मनुष्य को समाज के रूप में संगठित किया, समाज ने ही भाषा को बनाया । भाषा एकता की जबर्दस्त कड़ी हो, इसमें आश्चर्य क्या ? भाषा की एकता सामाजिक रीति-रिवाजों की एकता को साथ लिए चलती है, उसी के भीतर ही विवाह-सम्बन्ध होते है । भौगोलिक दूरियों के कम हो जाने के कारण अब विवाह का क्षेत्र बढ़ गया है । आधुनिक शिक्षा ने दायरे को और बढ़ा दिया है और अब अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्जातीय ही नहीं, बल्कि अन्तर्धर्मीय विवाह भी होने लगे हैं । एक पीढ़ी वैयक्तिक रूप से ७०-८० वर्ष की भी हो सकती है, पर उसका समय उसी वक्त बीत जाता है जब दूसरी पीढ़ी पैदा होकर बालिग बन जाती है । २०-२५ की उम्र तक दूसरी पीढ़ी आ जाती है और ५० वर्ष बीतते दूसरी पीढ़ी तीसरी पीढ़ी का बाप बन जाती है । इस प्रकार एक पीढ़ी २०-२५ वर्ष की ही समझी जानी चाहिए । बेटे के समय तक स्वस्थ पुरुष आत्मावलम्बी रह सकता है, लेकिन पोते के समय उसकी शारीरिक

मानसिक शक्तियाँ बड़ी तेजी से क्षीण होने लगती है । अपने साथ के खेले-खाये उसे छोड़ने लगते हैं । दिन प्रति दिन उसके सामने अजनबियों की दुनिया आती जाती है जिसमे अगर सुदीर्घजीवी हो, तो वह अधिक एकाकीपन का अनुभव करता है । समाज में अपने अस्तित्व से कोई प्रभाव डालना उसके लिए असम्भव हो जाता है और वह माने न माने, परमुखापेक्षी - सा दीखने लगता है । यदि बुढ़ापे में बचपन लौटा, तो और मुश्किल; क्योंकि बदलती दुनिया को समझने में वह अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है । यदि और बातो में प्रकृतिस्थ हो, तो भी उसकी स्मृति पर तो जरा का जबर्दस्त प्रभाव जरूर पड़ता है । यह अच्छा भी है, नहीं तो अपने पुराने कृतित्व को समझ कर उसका अहं प्रचंड रूप धारण करता ।

हर एक पीढ़ी का एक व्यक्ति बिलकुल दूसरे व्यक्ति जैसा नहीं होता, लेकिन अगली या पिछली पीढ़ी से मुकाबला करने पर उसमें कुछ समान बाते मिलती है । ये बातें भाषा के रूप में भी होती है, वेशभूषा, खान-पान, आमोद-प्रमोद के तरीको में भी । जीविका के साधनों को भी इनमें शामिल कर लीजिए । एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिवर्तन सूक्ष्म होता है । चाहे परिवर्तन आमूल होते हों, पर धरातल पर वे बहुत सूक्ष्म दिखलाई पड़ते हैं । छोटे बच्चे को हम देखते हैं । चार महीने बाद कोई आदमी यदि देखता है तो उसे वह अधिक बड़ा, मोटा और चंचल मालूम होता हैं । पर चौबीस घंटे देखने वाली माता के लिए वह चार महीने पहले ही का बच्चा मालूम होता है । वर्ष बीतने पर तो उसका परिवर्तन साफ दिखाई पड़ता है । भाषा को ले लीजिए । पौने दो सौ पीढी पहले हमारे बाप-दादा बहुत कुछ वही भाषा बोलते थे जो ऋग्वेद में मिलती हैं। पचास पीढ़ी और नीचे उतरिए, आज से सवा सौ पीढ़ी पहले बुद्ध के समय में भाषा बदलकर वैसी हो गई जो अशोक के शिलालेखों में मिलती हैं । २५ पीढ़ी और नीचे आइये । अब ईसवी सन् शुरू हो रहा है । भारत में कुषाणों की जय-दुंदुभि बज रही है । अँग्रेजों की तरह मुँह और बाल वाले, पर संस्कृति में बर्बर समझे जाने वाले ये लोग टोलियाँ बाँधे उत्तरी भारत में जहाँ-तहाँ पड़े है । लोग उनसे भयभीत हैं, मनुष्य नहीं, उन्हें खूँखार प्राणी समझते हैं । इस समय अब पालि नहीं, बल्कि प्राकृत भाषा लोग बोल रहे हैं । पाँच सौ वर्ष बीतते है । कुषाणों और गुप्तों की प्रभुता खतम हो जाती है । कुषाणों को लोग भूलते भी जा रहे हैं।

और लाखों की तादात में वह लोग अपने रंग-रूप में कुछ विशेषता रखते हुए भी भारतीय जन-समुद्र में विलीन हो गये हैं । अब प्राकृत की जगह अपभ्रंश भाषा सर्वत्र बोली जाती है । अपभ्रंश से मतलब सिर्फ एक भाषा से नहीं, बल्कि आजकल की हमारी हिन्दी-यूरोपीय भाषाओं के क्षेत्रों में भी जितनी बोलियाँ बोली जाती हैं, उन सबकी माताओं का यह सामूहिक नाम है । आज अगर हम प्राकृत

और अपभ्रंश की पुस्तको को देखे, समझें, तो अन्तर दीखेगा । यही नही, शब्दो को समझने पर भी हम शब्दरूपो और क्रिया रूपों को समझने मे अपने को असमर्थ पायेगे । एक ही प्रदेश मे बोली जाने वाली ये दोनो ही भाषाएँ काल मे एक-दूसरी के बाद है । प्राकृत सौरसैनी---- मध्यदेशीया, पांचाली-- की पुत्री अपभ्रंश सौरसेनी थी । प्राकृत सौरसेनी समाप्त हुई और एक मिनिट के लिए भी जगह को सूना न रखकर अपभ्रंश सौरसेनी उसकी जगह पर आ गई । अपभ्रंश सौरसेनी का शव अभी घर से उठने भी नही पाया कि आजकल की सौरसेनी--ब्रज-ग्वालेरी-बुन्देली -- तुरन्त अभिषिक्त हो गई । राजाओं को गद्दी देने मे भी ऐसा ही किया जाता है । पूर्व राजा की लाश के श्मशान मे पहुँचने से पहले ही नये राजा के शासन की घोषणा हो जाती है । भाषाओं के बारे में यह निश्चय करना तो दूर, समझना भी मुश्किल हो जाता है कि कौन-सा साल एक के अन्त और दूसरे के आरम्भ का है । प्राकृत बिलकुल हमारे ऐतिहासिक युग की भाषा है । वह ईसवी सन् की पहली पाँच शताब्दियो मे जीवित भाषा थी । बाण छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में पैदा हुए थे और सातवी सदी के पूर्वार्ध मे मौजूद थे । उस समय अपभ्रंश भाषा अस्तित्व मे आ गई थी । छठी सदी का उत्तरार्ध अपभ्रंश का आदिकाल है । उस सदी का पूर्वार्ध प्राकृत का अन्तिम काल हो सकता है । यदि ४०-५० साल के अन्तर का कोई ख्याल न करे, तो बहुत सम्भव है, ५५० ई० दोनो का संधिवर्ष था । लेकिन, इतना निश्चित तौर से कहना बड़े साहस की और साथ ही अविश्वसनीय बात है । किसी भी महान् या लघु परिवर्तन की बिलकुल ठीक सीमारेखा खीचना मुश्किल है ।

परिवर्तन होते हुए, भी हम वैदिक, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं की एकता को मानते है । वह एक वंश की है, एक दूसरी की उत्तराधिकारिणी है, एक ही धारा की भाषाएँ है । परिवर्तन के साथ सादृशता का अटल नियम लागू होता रहा, अर्थात् जिस चीज ने अपना स्थान हमेशा के लिए खाली किया, उसका स्थान लेने वाली चीज उसी के सदृश होगी । यह सदृशता संस्कृति है । दोनों का शारीरिक संबंध नहीं है, एक का सर्वथा विलोप और दूसरी का सर्वथा प्रादुर्भाव एक क्षण में हुआ । लेकिन, सादृश्य का अटल नियम वहाँ कार्यकारी हुआ । उत्पत्ति सदृश क्यो होती है? कार्य-कारण दोनों वस्तुओं का जब शारीरिक सम्पर्क नहीं, तब उनमें यह असाधारण सादृश होता क्यो हैं ? तर्कवाद के लिए यह समझना मुश्किल है, लेकिन वस्तुवाद के लिए मुश्किल नहीं । " यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयं ।" (यदि वस्तुओं को यही पसन्द है, वह इसी रूप में परिवर्तित होती है, तो कुछ और समझने के लिए हम-आप कौन होते हैं ? उत्पति सादृश होती है । कार्य-कारण एक दूसरे से सादृश्य रखते हैं । पुरानी पीढ़ी अगली पीढ़ी से सादृश्य रखती हैं, पुरानी भाषा का स्थान लेने वाली नई भाषा भी माँ के समान

होगी । सारी दुनिया मे यह नियम लागू है । इसी सादृश्य को हम मानव-समाज के भीतर संस्कृति कहते है । पीढियो की आनुवंशिकता, दाय-भाग इसी तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे संक्रमण करता है । संस्कृति उसी तरह हमारे समाज की आनुवंशिकता है, जैसे व्यक्ति अपनी शारीरिक और मानसिक बनावट में बाप-दादाओं की आनुवंशिकता लिए पैदा होता है ।

एक जगह, एक वातावरण मे, एक बोली बोलने वाले, एक तरह के रीति-रिवाजों का पालन करने वाले लोग अपने पूर्वजो से दाय-भाग में प्राप्त संस्कृति के उत्तराधिकारी होते है । वह उनके जीवन के हर एक अंग से व्याप्त रहती है । पर, मनुष्य स्थावर प्राणी नही है । घर भी उसको रोकने मे असमर्थ नहीं हुआ, यद्यपि पांच-छह हजार वर्षों से वह प्रायः गृहवासी है । कभी उसके अपने भीतर की महत्त्वाकांक्षा या साहस जोर मारता है और वह अपने घोसले को छोड़ने के लिए मजबूर होता है । कभी दूसरी भूमिका या ऐश्वर्य उसके सामने प्रलोभन पेश करता और वह झुण्ड बांध कर आक्रमण करने के लिए तैयार हो जाता । कभी उसकी भूमि में दाने-दाने के लाले पड़ जाते और वह प्राण बचाने के लिए दूसरी जगह भागने के लिए मजबूर होता । हर परिवार मे, हर घर मे, हर पीढ़ी ही मे लड़कियाँ अपने पिता का घर छोड़कर दूसरे घरो में चली जाती है और तरुणाई पार करते ही वह अपने घर के लिए पराई हो जाती है । इस प्रकार पारिवारिक संस्कृति में भी परिवर्तन होता है । कभी हमारी जाति-पांत की प्रथा के कारण यदि विवाह का क्षेत्र संकुचित रहता है तो कभी वह अन्त. प्रान्तीय रूप भी धारण करता है । मुर्शिदाबाद मे जाकर बस गए अग्रवाल अब बंगाली है । वे बगाली भाषा बोलते हैं, बंगाली वेश रखते है और उन्होंने वहाँ के रीति-रिवाज भी बहुत-से मान लिए है । वाराणसी की लडकी उनके घर में जाकर कुछ ही वर्षों में बंगालिन हो जाती है । राजपूत सामंत-परिवारों मे तो यह अंतःप्रांतीयता और भी व्यापक रूप मे पाई जाती है । बलरामपुर की लड़की त्रिपुरा में जाकर बंगाली रानी बन जाती है । कूचबिहार की बंगालिन राजकुमारी जयपुर में जाकर मारवाडिन बन जाती है, जोधपुर की राजकुमारी पटियाला में जाकर पंजाबी रानी बन जाती हैं । उसी तरह बड़ौदा की मराठिन जोधपुर की मारवाडी रानी बन जाती है । सामंत पहले भी 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' वाक्य को मानते रहे हैं । ऐतिहासिक काल मे भी सामान्य वंश के राजवंश और निम्न वंश के उच्च वंश मे परिणत हो जाने में लक्ष्मी और प्रभुता कारण होती रही हैं । २०वीं सदी में हमने अपनी आँखों के सामने ही ऐसा होते देखा कि पहले जाट, गोंड़, कुर्मी, गड़ेरिया आदि कहे जाने वाले सामंत शुद्ध राजपूत बन गए ।

इस तरह हम देखते है, मनुष्य पर कितनी ही बंदिशों के रहने पर भी नए प्रभाव पड़ते है और वे नीचे से प्रवेश करते देखे जाते है ।

भारत में बहुसंख्यक विदेशियों का समागम हमेशा से होता आया है । कुछ दिनों तक वे तिल-तंडुल की तरह अलग-अलग से दीखते रहे, फिर नीर-क्षीर की तरह मिलकर एक हो गए, यद्यपि कोशिश बहुत की गई कि तिल-तंडुल के रूप ही को स्थायित्व दिया जाय । आर्य आज से साढ़े तीन हजार वर्ष पहले जब भारत में आए, उस वक्त उनकी अलग अर्ध-घुमंतू पशुपालों की संस्कृति थी । यहाँ मोहनजोदडो और हडप्पा जैसे भव्य नगरों को बसाकर ताम्र युगीन संस्कृति वाले नर-नारी रहते थे । दोनों का खूनी संघर्ष हुआ । आर्य विजयी हुए । प्रभुता ने हाथ बदला । फिर दूसरों की संस्कृत ने उन्हें प्रभावित किया । तिल-तंडुल न्याय का अनुसरण करना आर्यों की ओर से कुछ शताब्दियों तक चला । लेकिन, वे अपनी नौका को जला कर इस पार आए थे । सप्तसिंधु (पंजाब) की भूमि ही उनकी भूमि थी, उसे छोड़कर और किसी स्थान को वे अपनी जन्मभूमि नहीं बना सकते थे । मनुष्य की ओर से उठाई गई रूकावटों को प्रकृति ने छिन्न-भिन्न कर दिया और आर्य तथा प्राग्-आर्य इस भूमि के रहने वाले एक हो गए । यह एकता उनके विचारों में हुई, उनके परिधानों में हुई, उनके रीति-रिवाजों में भी काफी प्रविष्ट हुई । फिर रक्त मिले बिना नहीं रहा । देवमाला तो दोनों की इतनी एक हुई कि आर्यों के उत्तराधिकारी होने का जबर्दस्त दावा होने पर भी आज के हिन्दू धर्म में आर्यों के देवता गौण हो गये । नये शास्त्र रचे गए जो आर्यों के वेदों के साथ जबानी जमा खर्च भर करते हैं, नहीं तो उनकी मान्यताएँ या तो शुद्ध प्राग--आर्यकाल की हैं या दोनों के मिश्रण से विकसित हुई ।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ शीत और ताप की तरह एक स्थान से अलग-अलग नहीं रह सकतीं । उबलते दूध की बोतल को ठंडे पानी के बरतन में रखने पर दूध का पारा नीचे उतरने और पानी का पारा ऊपर चढ़ने लगता हैं । कुछ देर में दोनों का ताप एक हो जाता है । मनुष्यों में तो इस तरह का भी अन्तर नहीं हैं, क्योंकि वहाँ काँच-जैसी व्यवधान करने वाली कोई ठोस चीज नहीं होती । वे इकट्ठे होते ही एक होने लगते हैं । जब पहले-पहल सिन्धु के तट पर दो संस्कृतियों का समागम हुआ, तो दोनों के मिलने में कितनी बाधाएँ थीं? उससे पाँच सौ वर्ष बाद दीवारें कुछ गिरीं, जब पुराने देव इन्द्र, वरूण की जगह पर निराकार ब्रह्म आ उपस्थित हुआ । उसके पाँच सौ वर्ष बाद दीवार धराशायी हुई जब बुद्ध ने मानव के एक होने का नारा लगाया और चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक को अपने संघ में समान स्थान दिया । साथ ही पुराने सर्वशक्तिमान देवताओं और उपनिषद् के आत्मा (ब्रह्म) की महिमा को घटाते अपने अनीश्वरवादी अनात्मवाद का प्रचार

करते हुए संस्कृतियों के बीच के अन्तर को खत्म करते हुए जबर्दस्त कदम उठाने के लिए हमारे देश ,को मजबूर किया । और ढाई सौ वर्ष बीते, हमारे देश का सम्पर्क ग्रीक (यवन) जैसी संस्कृति और वीर जाति से हुआ । दोनों में एक समय संघर्ष हुआ । राजनीतिक संघर्ष ने सांस्कृतिक संघर्ष का भी कुछ रूप लिया । इसी संघर्ष का अवशेष है जो कि 'यवन' शब्द हमारे यहाँ घृणा का वाचक माना जाने लगा । लेकिन यह स्थिति देर तक नहीं रही । हजारो नहीं लाखों की संख्या में यवन अपनी देनों को देते हमारी जाति में विलीन हो गए । उन्होंने ज्योतिष की कितनी बातें हमें दीं । हमारे महान् ज्योतिषी वराहमिहीर (ईसा की छठी शताब्दी) ने खुलकर उनकी प्रशंसा की । केन्द्र उन्हीं की भाषा का शब्द है जिसे वे केन्त्र कहा करते थे । फलित ज्योतिष में होड़ाचक्र की वर्णमाला ग्रीक वर्णमाला से हैं यदि उसे आ इ उ ए ओ से शुरू करें । उनकी और हमारी कला के मिश्रण से भारतीय गांधार कला का विकास हुआ जो हमारे लिए अभिमान की चीज है ।

ग्रीक लोगों के बाद ही शक-कुषाण हमारे यहाँ आए । वे भी अपनी सांस्कृतिक देनों के साथ हममें विलीन हुए । उनके बाद आने वाले हेफ्ताल (श्वेत हूण) भी उसी तरह हममें विलीन हुए । ये दोनों अपने साथ सूर्य देवता को लाये थे । वैसे सूर्य देवता पहले से भी हमारे यहाँ थे, पर वह मध्यएसिया के बूट पहनने वाले नहीं थे । बूटधारी सूर्य आज हजारों की तादाद में हमारे देश के कोने-कोने मे मिलते है । इनके पैरों में वही बूट हैं जिसे मथुरा में मिली कनिष्क मूर्ति के पैरों में हम देखते हैं । उन्होंने गीत और संगीत में भी कितनी ही अपनी चीजें दीं जिन्हें हम रूस और मध्यएसिया के लोकगीतों की तुलना करने पर पहचान सकते हैं । उनके बूटधारी देवता हमारे मन्दिरों में बैठे, यह अनहोनी-सी बात थी । लेकिन अनहोनी होनी हो गई और हमने हजार वर्ष तक उन बूटों के सामने सिर झुकाया ।

संस्कृतियों का समागम हमारे देश में बराबर होता रहा और बराबर वे मिलकर एक होती रहीं, इसे हम अपने इतिहास में बराबर देखते हैं । ८वीं सदी में सिंध पर अरबों, ११ वीं सदी में पंजाब पर तुर्कों के शासन के कायम होने परेक नई संस्कृति का हमारे देश से संपर्क हुआ । यह संस्कृति जातीय नहीं, बल्कि अन्तर्जातीय थी । इस्लाम अन्तर्जातीय संस्कृति का प्रतीक था । वह जातीय भेदभाव को कम से कम सिद्धान्त के तौर पर मानने के लिए तैयार नहीं था । मध्य-एसिया के तुर्क मुसलमान होने से पहले कट्टर बौद्ध थे । बौद्ध के रूप में उन्होंने अरब विजेताओं के दाँत खट्टे किए । कुछ दिन के लिए तुर्कों की तलवार ठंडी हुई । इसी बीच वह बौद्ध से मुसलमान हो गए । फिर तलवार में ज्वाला उठी और ऐसी जबर्दस्त कि उसने अरबों को हटाकर शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली ।

अरबों से हमारा संम्पर्क थोड़े ही समय तक सिन्ध में रहा । उसके बाद इस्लामी लहर हमारे देश में तुर्कों के रूप में आई । पंजाब में प्रथम मुस्लिम शासन स्थापित करने वाला महमूद गजनवी तुर्क था । गोरी दो भाई चन्द वर्षों के लिए बिजली की तरह चमके और लुप्त हो गए । फिर उनके सेनापति कुतुबुद्दीन ने भारत के शासन की बागडोर संभाली । कुतुबुद्दीन ऐबक तुर्क था और उसका दामाद अल्तमश गर्लोक़ । गुलाम तुर्क थे, उनके उत्तराधिकारी खलजी तुर्क थे, उनके उत्तराधिकारी तुगलक भी तुर्क थे । उसके बाद अंतिम मुस्लिम राजवंश मुगल मंगोल नहीं, बल्कि तुर्क था । इन तुर्कों को शताब्दियों पीछे जाकर जब हम देखते है, तो वे बौद्ध मिलते हैं । अगर उसकी जड़ गहराई तक हो तो, धर्म बदलने से संस्कृति का बिलकुल उच्छेद नहीं होता । जो तुर्क हमारे देश में आए, वे इस्लाम के जहादी झंडे को लेकर आए, लेकिन उनके अवचेतन में पुराने संस्कार (संस्कृति) का बिलकुल अभाव हो गया, यह आशा नहीं करनी चाहिए ।

यदि तुर्कों और मंगोलों के साथ एक जबर्दस्त झंडा न होता, तो शायद हमारे यहाँ विलगाव न होने पाता जिसे हम अगली सात या नौ शताब्दियों में देखते हैं । खुसरो फारसी का अतिमहान् कवि है, उसके तीन-चार सबसे बड़े कवियों में से एक है । उसका बाप मध्य-एसिया का तुर्क था जो चिंगेजी मंगोलों के आक्रमण के समय दूसरे हजारों शरणार्थी तुर्क सरदारों की तरह भारत में चला आया । उसकी माँ हिन्दू थी । आरम्भिक शताब्दियों में मुसलमान सभी हिन्दुस्तानी बातों और रिवाजों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे । खुसरो को भारतीय संस्कृति के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौका मिला और बाप की तुर्की-मिश्रित इस्लामी संस्कृति भी उसे दाय-भाग में मिली थी । उसकी फारसी की अनमोल कविताएँ सुरक्षित हैं । अपनी भाषा में भी उसने कविताएँ की होंगी, किन्तु उनको किसी ने लिपिबद्ध नहीं किया । सैकड़ों वर्षों तक वह महज बानी रहीं, उनकी पुरानी भाषा बिलकुल बदल दी गई ।

दो संस्कृतियाँ मिलकर एकरूप बनने जा रही थीं, पर रास्ते में दोनों ओर से बाधाएँ डाली गईं । मुसलमान न हिन्दुओं की रोटी को अछूत मानते थे, न उनके पानी को । लेकिन, हिन्दू मुसलमानों के हाथ का पानी भी पीने के लिए तैयार नहीं थे । हिन्दू अपने समाज के नियम का जरा भी उल्लंघन करता, तो हिन्दू बिरादरी से निकाल दिया जाता । इस्लाम इससे लाभ में रहा । पानी पिला देने भर से वह लाखों को मुसलमान बना सका और ऐसा मुसलमान, जो अपने सगे भाइयों का विरोधी हो जाता । दोनों संस्कृतियाँ अलग-अलग रहने की कोशिश करने लगीं ।

विभिन्न संस्कृतियों का समागम हमेशा शांतिमय तरीकों से नहीं होता। दुनिया मे बौद्धधर्म ही इसका अभिमान कर सकता है कि उसने शांतिमय तरीकों को इस्तेमाल करते सफलता पाई। यह बहुत हद तक सत्य है, लेकिन फिर भी पराई संस्कृति का दूसरे देश में खुलकर स्वागत करने में कुछ बाधाएँ अवश्य उपस्थित होती हैं। बौद्धधर्म ने चीन, जापान, तिब्बत, मध्य-एसिया सभी जगह सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को माना ही नहीं बल्कि वहाँ के संस्कृति की रक्षा की भी कोशिश की। वहाँ की कला, वहाँ के इतिहास ही नहीं, वहाँ के देवताओं को भी अपदस्थ नही होने दिया। इसी कारण, उसे हिंसा का रास्ता नहीं लेना पड़ा। पर, भारत मे तुर्कों के साथ जो संस्कृति आई, वह सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानना नहीं चाहती थी। राजनीतिक प्रभुत्व के लिए जो युद्ध हुए, उन्होंने भीषण रूप धारण किया जो बहुत अधिक दिनों तक जारी रहे। यदि सांस्कृतिक असहिष्णुता साथ में न रहती, तो आक्रामक और प्रतिरोधी जल्द ही किसी निर्णय पर पहुँच जाते। पर, एक भूमि में जब दो संस्कृतियां रहने के लिए आ पहुँचीं तो उन्हें समझौता करना ही था। एक के अनुयायियों को संसार से लुप्त करना मुश्किल था। ऐसा करने पर करोड़ों आदमियों की प्राणहीन लाशें इतनी भयंकर बीमारी पैदा करती जिससे विजेताओं का भी जीवन संकट में पड़ जाता।

इस्लामी और हिन्दू संस्कृतियों के इस भीषण संघर्ष को मिटाने या नरम करने की दोनों तरफ से कोशिश होने लगी। मुसलमानों मे ऐसे सूफी (संत) पैदा हुए जो हिंदुओं और उनकी संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते थे। हिंदुओं में नानक और दूसरे संत इसी रास्ते पर चलने के लिए उपदेश देने लगे। मुसलमान राजनीतिक नेताओं ने भी हिन्दू राजनीतिक नेताओं से मित्रता करनी चाही, लेकिन वह स्थायी न हो पाई।

विदेश से आए लोग धीरे-धीरे भारतीय बनते गये। गुलामों से तुगलकों के जमाने तक तुर्कों की जन्मभूमि बौद्ध-मंगोलों के हाथों में थी, इसलिए वह उस भूमि से क्या आशा कर सकते थे या उसका क्या अभिमान उनके मन में हो सकता था? इससे भी उन्हें समझौते का हाथ बढ़ाने के लिए मजबूर होना पड़ा। पर भारतीय जीवन में पूरे तौर से सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का जबर्दस्त प्रयत्न अकबर से पहले नहीं हो सका। अकबर ने एक स्वप्न देखा जिसको यथार्थ करने का आरम्भ उसने अपने घर से किया। जोधाबाई हिन्दू राजपूतनी और अकबर की रानी थी। मुगल हरम में आकर भी वह मुसलमान नहीं बनी। आज भी फतहपुर-सीकरी में जोधाबाई का महल मौजूद है। यहीं उसके ठाकुर जी कभी रहते थे जिसकी वह भक्तिभाव से आरती उतारती थी। उसका पति मन्दिर में उसी तरह श्रद्धा-सम्मान प्रकट करने पहुँचता, जैसे कोई राजपूत। उसी तरह सिर

में टिका लगवाता और झुककर हाथ में फूल माला लेता । मुसलमान हिन्दू की लड़की से ब्याह करे, यह नई बात नहीं थी । बहुत से मुसलमानो ने हिन्दू लड़कियों को ब्याहा, लेकिन वे ब्याह होते ही मुसलमान हो जातीं । अकबर ने इससे अपने स्वप्न को पूरा होते नही देखा । इसीलिए उसने कहा, ऐसे सम्बन्ध में धर्म न बदला जाय । वह एक ही अंश में सफल हुआ, सो भी सिर्फ अपने घर में । उसने चाहा कि शाहजादियाँ राजपूतों से ब्याह करें और राजपूत महल में अपनी मस्जिद में नमाज पढ़ें, धर्म वैयक्तिक हो और भाव दोनो के एक हों । कितना महान् स्वप्न था और कितना महान् था वह पुरुष ! उसने आज से चार शताब्दियों पहले उस काम को करने के लिए सक्रिय कदम उठाया जो आज २० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे भी बहुतों को शेखचिल्ली का महल-सा मालूम होता है ।

साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृतियों का समागम जल्द फलप्रद हुआ । हिन्दी के प्रथम कवियों को पैदा करने का श्रेय न हिन्दुओं को है, न हिन्दू-शासन को । यह श्रेय मुसलमानों ही को देना पड़ेगा । अपवाद सिर्फ विद्यापति है जो जौनपुर की बादशाहत से कम प्रभावित नहीं थे । जौनपुर ने हिन्दी के महान् कवि जायसी को दिया । कुतबन, मंझन वहीं के नवरत्नों में है । अवधी की कविता के वैभवशाली महल की नींव ही रखने वाले नहीं बल्कि उसकी नींव तैयार करने वाले यही मुस्लिम कवि हैं जिनके ऊपर तुलसीदास ने अपना भव्य प्रासाद बनाया । बँगला के भी आदि कवि बंगाल के मुस्लिम बादशाहों के जमाने ही में हुए । यह दुःख की बात है कि जौनपुर की परम्परा मुसलमानों में बहुत आगे नहीं बढ़ी । बंगाल की परम्परा आगे बढ़ी और वहाँ के मुसलमानों को सदा अपनी भाषा से पूरा स्नेह रहा ।

वर्तमान हैदराबाद में स्थापित बहमनी रियासतों ने हिन्दी की ओर ध्यान दिया, लेकिन उनके लिए मुश्किल यह था कि वह हिन्दी-क्षेत्र से बाहर अवस्थित थीं और फारसी का पक्षपात उनके रास्ते में भारी बाधक था । जब हिन्दी को अपनाने में सफल भी हुई, तो उन्होंने जौनपुर के कवियों के रास्ते के महत्त्व को नही समझ पाये । जौनपुर के कवियों ने जब इस्लाम के सूफी वेदान्त और प्रेममार्ग को अपनी कविता का विषय बनाया, तब भी उन्होंने भाषा, छन्द शुद्ध देशी रखे और कविता की शिल्प-शैली को भी देश की परम्परा के अनुसार रखा । दक्षिण के कवि ऐसा ही करते यदि वे मराठी-तेलुगु के क्षेत्र में न रहकर हिन्दी के क्षेत्र में होते । उन्होंने भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों को शुरू किया । पहले दरवाजे को जरा ही सा खोला, लेकिन अगली पीढ़ियों ने उसे पूरे तौर से खोल दिया । इस प्रकार अनावश्यक और अवांछनीय विदेशी शब्द भारी संख्या में हिन्दी में चले आए । उसे हिन्दी के अपने क्षेत्र (कुरुदेश) के लोग सुनते, तो समझ नहीं पा सकते थे । बीच में एक जबर्दस्त दीवार खड़ी की गई जिस दीवार का पता जायसी

और कुतुबन में नहीं मिलता न बंगाल के कवियो में । छन्द में भी उन्होंने अरबी के छन्दों ही को लिया, फारसी नहीं, अरबी छन्द, क्योंकि पुराने फारसी छन्द अरब-विजय के बाद लुप्त कर दिये गये । यही बात उपमाओं और कविशिल्प में भी हुई । फारसी का मोह छोड़कर देशी भाषा की तरह बड़ा कदम था और उसके फल का लाभ भारत के बहुत बडे क्षेत्र को हुआ, इसका कम महत्व नहीं है । लेकिन, हिन्दी और इस नई शैली का भेद भी साथ-साथ पैदा हो गया जो चार-पांच शताब्दियों बाद आज भी ऐसा रूप लिये हुए है कि समझौते का कोई स्पष्ट रास्ता नही दिखाई पड़ता । पर, ऐसा समझना गलत है । समस्या जब असाध्य और भीषण हो जाती है, तब उसका सुगम हल भी पास ही मिल जाता है ।

इस्लाम के साथ मध्य-एसियायी संस्कृति हमारे देश में आई । उसको भी उसी प्राचीन काल से चली आई सांस्कृतिक गंगा का अभिन्न अंग बनना अनिवार्य था । कितने ही बिलगाव के भाव पैदा करने पर भी वह बहुत-कुछ एक हो गई । शक अपने लम्बे चोगे और घुटनों तक के बूट के साथ हिन्दुस्तान में आए थे । उसी मध्य-एसिया से आने वाले तुर्क भी लम्बे चोगे और लम्बे बूटवाले थे । मुगल-- जो वस्तुतः तुर्क थे-- भी बहुत कुछ उन्हीं के जैसे लिबास में आये थे । लेकिन अकबर, जहाँगीर और उनके वंशजों ने चौबन्दी पहनी । भारतीय सामन्त गुप्तकाल ही में शकों की पोशाक को अपनाते हुए पाजामा पहनने लगे थे । मुगल बेगमें पाजामे के ऊपर पेशवाज पहनती थीं जो कंचुकी और घाघरे का एक में सिला हुआ रूप था । पिछली शताब्दी तक राजपूताने की रानियाँ उसी पोशाक में रहती थी । जिसमें मुगल बेगमें । खाने की बहुत-सी चीजें हमारे लोगों ने बाहर वालों से सीखी और कुछ को बाहर वालो से मिलकर स्वयं बनाया । कला, साहित्य सभी पर कितने ही बाहरी प्रभाव हमने आत्मसात् कर लिये । भारतीय संस्कृति गंगा के प्रवाह की तरह ही बाहरी, कभी निश्चल नहीं रही, कभी विलग नही रहीं । वह सदा देने और लेने के लिए तैयार रहीं । अकबर ने राजनीतिक एकता ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक समन्वय का भी महान् काम किया ।

भाषा का भाग्य

आदमी के भाग्य की तरह भाषा का भाग्य भी खुलता है। किसी भाषा का भाग्य जगता है और फिर सो जाता है। कभी-कभी किसी का सोया भाग्य भी फिर से जाग उठता है। हमारे यहाँ की भाषाओं मे सबसे प्राचीन वह है जो कि ऋग्वेद के रूप में हमारे सामने है। वैदिक आर्यों से पहले ही सभ्यता के मध्याह्न मे पहुँचे लोगों की भाषा की ही सन्तानें दक्षिण की भाषाएँ है जिनमे सबसे पुराने नमूने तमिल के मिलते है, पर वह ईसवी सन् से पहले के नहीं है। ऋग्वेद की भाषा यद्यपि अपने उसी रूप में अक्षुण्ण नहीं है, जैसी कि वह सप्तसिन्धु (यमुना से खैबर, हिमालय से मरुभूमि तक) में ईसापूर्व ११ वी-१२ वी शताब्दी में बोली जाती थी, क्योंकि शताब्दियों तक वह कंठस्थ करके रखी गई। जब कागज पर उतारने में भाषा में क्षेपक और परिवर्तन हो जाते है, तो शताब्दियों मे पॉच पीढ़ी बदलने वाले कंठ कैसे उसे अक्षुण्ण रख सकते थे।

सप्तसिन्धु की भाषा का सर्वश्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक था, क्योकि यही आर्यों की वह पवित्र भूमि थी जिसके नदियों और कूपों तक का यश पाणिनि के समय (ई० पू० ४थी सदी) तक गाया जाता था। वेदकाल में सप्तसिन्धु हमारे देश का सबसे बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र रहा। उपनिषद्-काल में वह जमुना से ही नहीं, गंगा से भी पूर्व बढ़कर कुरु-पंचाल देश तक पहुँच गया और सांस्कृतिक छीटें तो विदेह (तिरहुत) तक पड़ चुके थे। कुरु-पंचाल सप्तसिन्धु से बहुत नजदीक था, बल्कि उसे सप्तसिन्धु का ही बढ़ा हुआ भाग मानना चाहिए। कुरु और पंचाल के जोड़े जनपद थे जिनमें आपस में कितनी ही घनिष्ठता और समानता थी जिसके कारण ये जुड़वाँ माने गये। सारे हिन्दू -काल में हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र यही दोनों जनपद रहे, यह तो नहीं कह सकते क्योंकि बीच में बुद्ध-काल से गुप्त काल (ईसा के पूर्व और पश्चिम की पॉच शताब्दियों-कुल मिलाकर हजार वर्ष) तक मगध केन्द्र रहा। सबसे प्रबल और प्रभावशाली केन्द्र की भाषा का महत्त्व अधिक होना, यह स्वाभाविक है।

सप्तसिन्धु भाषा की प्रधानता आदिम काल में रही, द्वितीय काल में पालि की, तृतीय काल में मगध की भाषा और संस्कृति की, अन्तिम काल में पंचाल की भाषा और संस्कृति की। आदिम काल में सप्तसिन्धु की भाषा की प्रधानता का अवशेष हमारे सामने वेद और ब्राह्मण के रूप में है। उपनिषद्-काल ही में सप्तसिन्धु की अब प्रसिद्धि नहीं थी। उसकी जगह अब कुरु, पंचाल, विदेह, काशी आदि

जनपद प्रसिद्ध हुए। सप्तसिन्धु सबसे पूर्वी भाग, अर्थात् जमुना और सतलुज के बीच का भाग कुरुजांगल के नाम से प्रसिद्ध था। यह इलाका जागल क्यो कहा जाता था ? क्या यहाँ खांडव वन आदि जैसे वन ज्यादा थे, अथवा गगा जमुना के बीच के मुख्य कुरुदेश की अपेक्षा यह अधिक जंगलप्राय था। यह तो निश्चित ही था कि कुरु और कुरु जांगल एक ही लोगों के देश थे और इन दोनों मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि जमुना उसमे विभेद नहीं डाल सकती थी। अधिक आबाद न होने के कारण ही दुर्योधन ने युधिष्ठिर को इस भाग को देकर टरकाना चाहा था और यहाँ पाण्डवो ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली का प्राचीनतम नाम) को बसाया।

बुद्ध-काल मे अब संस्कृत नही, बल्कि पालियों को जीवित प्रचलित भाषा होने का मौका मिला। पालि आजकल यद्यपि एक खास भाषा का नाम पड़ गया है, पर इसे हम उस भाषा-जाति का नाम भी दे सकते है जो कि बुद्ध-काल मे उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न जनपदों में बोली जाती थी और जिनमें से मागधी का ही कुछ थोड़ा-सा परिवर्तित रूप पालि त्रिपिटक में मिलता है। इस समय कुरुदेश की कौरवी पालि भाषा थी। पर पालि ही क्या, प्राकृत और अपभ्रंश काल के भी कौरवी के नमूने हमारे पास तक नहीं पहुँचे है। केवल तुलना से ही हमें मानना पड़ता है कि पालियो के काल में कुरु जनपद में कौरवी पालि रही होगी। प्राकृतों के काल में कौरवी प्राकृत और अपभ्रंशों के काल में कौरवी अपभ्रंश थी।

उपनिषद्-काल के सबसे महान् ऋषि प्रवाहण जैवलि, सत्यकाम जाबाल, याज्ञवल्क्य कुरु-पंचाल के रहने वाले थे। ब्रह्मज्ञान के अखाड़े मे कुश्ती मारने के लिए कुरु-पंचाल के मल्ल विदेह तक पहुँचते थे, यह हमें उपनिषद् बतलाते है। कुरु पंचाल उपनिषदों की भूमि थी। बुद्ध-काल मे भी कुरु की महिमा घटी नही थी। अब भी वह प्रतिभावानों का देश माना जाता था। बुद्ध ने अपने 'महासतिपट्ठान', 'महानिदान' जैसे गम्भीर दार्शनिक सूक्तों का उपदेश कुरुदेश ही में किया था। इतने गम्भीर उपदेशों को और जगह न कर यहाँ क्यों किया, इस शंका का समाधान करते हुए दीर्घ निकाय के 'महासतिपट्ठान' सूक्त की अट्ठकथा (भाष्य) में आचार्य बुद्धघोष ने लिखा है — "कुरुदेशवासी भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका ऋतु आदि के अनुकूल होने से हमेशा स्वस्थ-शरीर स्वस्थ-चित्त होते हैं। चित्त और शरीर के स्वस्थ होने से प्रज्ञाबलयुक्त हो गम्भीर कथा-उपदेश ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए उनको भगवान ने..........इस गम्भीर अर्थयुक्त महास्मृति-प्रस्थान का उपदेश किया।"

"जैसे कि पुरुष सोने की डाली पा उसमें नाना प्रकार के फूलों को रखे, सोने की मंजूषा (पिटारी) पा सात प्रकार के रत्नों को रखे, उसी प्रकार भगवान कुरुदेशवासी परिषद् को पा गम्भीर देशना का उपदेश किया। इसीलिए यहाँ पर

अभी भी गम्भीरार्थ सूत्र उपदेश किये। इस दीर्घनिकाय मे उसको और महानिदान को, मज्झिम-निकाय में सतिपट्ठान, सारोपम्, रुक्खूपम् रट्ठपाल, मागन्दिय, आनेज-सप्पाय और भी सूत्रों का उपदेश किया। इस कुरुदेश में चारों (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका,) परिषद् स्वभाव से ही स्मृति-प्रस्थान की भावना से युक्त हो विहार करती है। दास और कर्मकर (नौकर-चाकर) भी स्मृति-प्रस्थान-सम्बन्धी कथा ही कहते हैं। पनघट और सूत कातने के स्थान आदि मे भी व्यर्थ की बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री—'अम्म! तू किस स्मृति-प्रस्थान की भावना करती है ?— पूछने पर 'कोई नहीं' बोलती है तो उसको धिक्कारते हैं— 'धिक्कार है तेरी जिन्दगी को, तू जीती भी मुर्दे के समान है।' फिर 'अब फिर ऐसा मत कर' उपदेश दे उसे कोई एक स्मृति-प्रस्थान को सिखलाते है। .... ।"

पालि-काल में चाहे कुरु के लोगो की प्रतिभा की ख्याति सारे देश मे भले ही हो, किन्तु उसकी भाषा (कौरवी) ने विशेष स्थान नहीं पाया। उसकी जगह पर मागधी और कोसली (अवधी) प्रधानता प्राप्त करती गई। जब मगध सारे देश को एकताबद्ध करने में कामयाब हुआ, तो मगध की महानगरी पाटलिपुत्र (पटना) भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक केन्द्र बनी शौर मागधी भाषा सम्मिलित राष्ट्रीय भाषा को स्वीकार की गई। तक्षशिला, उज्ज्ञयिनी तक शासन करने वाले वहाँ के उपराज मागधी भाषा को व्यवहार में लाते थे, इसमे सन्देह नहीं। पर स्थानीय भाषाओं को उच्छिन्न करने का इरादा मागधी का नहीं था। तभी तो अशोक के शिलालेखों में स्थानीय भाषाओं का अन्तर मिलता है। मौर्य साम्राज्य की अपनी केन्द्रीय और सम्मिलित भाषा मागधी पालि थी। उसके उत्तराधिकारी शुंगों के काल में भी इसी भाषा की प्रधानता थी। शुंग-शासन में सारा मौर्य साम्राज्य नहीं आ सका। पश्चिम में यवन, दक्षिण में कलिंग और दक्षिण-पश्चिम में आन्ध्र-महाराष्ट्र प्रभुता-सम्पन्न हो गये। पर मध्यदेश की भाषा होने के कारण मागधी पालि इस समय भी सर्वाधिक व्यवहार की भाषा रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। शुंगों के बाद आन्ध्र-भृत्य भी मगध के सांस्कृतिक गौरव को कम नहीं कर सके।

ईसवी-सन् के आरम्भ के साथ शकों की प्रभुता सारे भारत में छा गई। इस समय कुछ समय के लिए मगध राजनीतिक केन्द्र नहीं रहा, लेकिन बौद्धधर्म का केन्द्र होने के लिए कारण उसका सांस्कृतिक महत्त्व इस समय घटा नहीं बल्कि बढ़ा। ईसवी-सन् के आरम्भ के साथ ही पालियो का स्थान प्राकृतों ने लिया।

शकों की शक्ति के ह्रास के साथ फिर मगध को धीरे-धीरे ऊपर उठने का मौका मिला। लिच्छवि —विशेष कर नेपाल-प्रवासी—अपने प्रभाव को बढ़ाते रहे। लिच्छवि दौहित्र समुद्रगुप्त चौथी शताब्दी के मध्य में सारे उत्तरी भारत को एकताबद्ध करने में सफल हुआ। इसके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के

समय कालिदास जैसा कविता का महान् सूर्य प्रकट हुआ। यह प्राकृत के लिए आगे बढ़ने का अच्छा समय था, लेकिन अब "लौटो गुहा मानव की ओर" का नारा लगा था— शिलालेखों, ताम्रशासनों और दूसरे के इस तरह अभिलेखों में संस्कृत का प्रयोग होने लगा। सिक्कों पर सुन्दर संस्कृत पद्य उत्कीर्ण होते थे। लेकिन संस्कृत बोलचाल की भाषा का रुप नहीं ले सकी और न साधारण लोगों के सम्पर्क की भाषा का रुप ही। जिस वक्त दिल्ली-दरबार और सरकार में फारसी का बोलबाला था, उस समय भी राजकाज के मौखिक और चिट्ठी-पुर्जे वाले हजारों काम लोगों की भाषा मे होते थे। प्राकृत-काल में भी यही बात रही इस वक्त की सर्वमान्य प्राकृत मागधी थी। नाटकों में उत्तम पात्रों की भाषा मानकर उसके इसी महत्त्व को प्रकट किया गया है। प्राकृत के अन्त के साथ अब मागधी भाषा का महत्त्व भी घटने लगा। प्रायः हजार वर्ष तक भारत की महाराजधानी होने के बाद पाटलिपुत्र ने अब कान्यकुब्ज के लिए अपना स्थान छोड़ दिया।

गुप्त-साम्राज्य को हेफ्तालों (श्वेत हूणों) ने लगातार प्रहार करके जर्जर कर दिया और इसीलिए उनके सामन्तों में प्रधान मौखरियों ने हूणों के मुकाबिला के लिए कन्नौज में सैनिक अड्डा बना कर पड़े गुप्तों का स्थान लिया। कन्नौज को ही उन्होंने अपनी राजधानी बनाई, सम्भव है, वह स्वयं मगध के रहे हों। अब ५०० ई० से १२०० ई० के करीब तक कन्नौज ने वह स्थान लिया जो इससे पहले पाटलिपुत्र (पटना) का था। इसे संयोग ही कहना चाहिए जो राजधानी-परिवर्तन के साथ भाषा-परिवर्तन का समय आ गया और कन्नौज की प्रधानता के समय प्राकृत नहीं, बल्कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। बोलचाल की सम्भ्रांत भाषा के साहित्यिक भाषा होने में देर नहीं लगती। संस्कृति का जोर होने पर भी प्राकृत को वैसा होते हमने देखा। कान्यकुब्ज-काल में भी सांस्कृतिक और बहुत राजकीय भाषा संस्कृत थी। पर, यह आशा नहीं की जा सकती कि गाँवों और विषयों (जिलों) के नहीं, बल्कि भुक्तियों (प्रदेशों) से दफ्तरों का सब काम संस्कृत में होता रहा होगा। लेकिन, शासक वर्ग के दिमाग में यह ख्याल बड़ी मजबूती से बैठ गया था कि किसी अभिलेख का स्थायित्व (अमरत्व) तभी कायम हो सकता है यदि वह संस्कृत में हो। यह विचार किसी एक आदमी के दिमाग से नहीं पैदा हुआ, बल्कि जातीय तजर्बे ने इसे बतलाया। पालियों के समय देश में भिन्न-भिन्न जगहों की अलग-अलग उसी जाति की अपनी-अपनी बोलियाँ थीं। लेकिन संस्कृत सभी जगह एक तरह की थी। प्राकृतों के समय पहले की बोली (पालियाँ) । अब लुप्त हो चुकी थीं, लेकिन संस्कृत उसी तरह मौजूद थी। अपभ्रंशों के समय अब प्राकृतें नाम -शेष रह गई थीं, लेकिन संस्कृत अपने स्थान पर उसी तरह बैठी थी। यह भावना

हमारे अवचेतन से अब भी पूरी तरह लुप्त नहीं हुई है, इसीलिए कुछ लोग चाहते है कि संस्कृत नवीन भारत की सम्मिलित और राष्ट्र-भाषा हो। लेकिन, किसी भाषा का सरकार-दरबार में चाहे जितना ही महत्त्व हो, पर उस जगह की बोलचाल की भाषा को वह नगण्य नहीं कर सकती थी। खास कर उस जगह की भाषा को जहाँ देश का सबसे बड़ा सांस्कृतिक और राजनीतिक केन्द्र हो।

पालि-युग में मागधी-पालि को, प्राकृत-युग में मागधी-प्राकृत को हम प्रधान स्थान पाते देखते है और आज के उदाहरण से हम समझ सकते है कि संस्कृत से अपरिचित लोगों के लिए— जिनकी ही संख्या सबसे अधिक थी—ये भाषाएँ अपने समय में अन्तर्प्रान्तीय भाषाएँ मानी जाती होंगी। भिन्न-भिन्न जगहों के भिन्न-भिन्न भाषाभाषी व्यापारी आपस में मिलने पर पालि-काल में मागधी-पालि का, प्राकृत-काल में मागधी प्राकृत का व्यवहार करते थे। कान्यकुब्ज की प्रधानता के साथ अब कान्यकुब्ज की अपभ्रंश ने वह स्थान लिया। बोली में अपनी कृति की भंगुरता के डर से महाकवियो ने अपनी कृतियाँ उसमे नहीं प्रस्तुत कीं। जिनका संस्कृत या प्राकृत पर अधिकार था, वह अपभ्रंश मे कविता क्यों करने लगे ? लेकिन बोलचाल की भाषा की उत्कृष्ट कविता निरी रसगुल्ला होती है—ऊपर-नीचे-भीतर एक-एक अंग में मिठास भरी होती है। जब किसी लोककवि ने अपने श्रोताओं को मस्त किया होगा, तो दूसरे अवश्य हसरत की निगाह से उसकी तरफ देखने के लिए मजबूर थे। बाण संस्कृत के अत्यन्त महान् कवि थे, इसमे किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। अपनी तरुण घुमक्कड़-मण्डली में बाण स्वयं संस्कृत के कवि मौजूद थे। प्राकृत के कवि अलग थे और इनके साथ "भाषा कवि ईशान" भी थे। ईशान अपभ्रंश के आदि कवि हैं जहाँ तक हमें ग्रन्थों से मालूम होता है। बाण के पिता मौखरियों के पूज्य थे। सुबन्धु-दण्डी से लेकर नैषधकार श्री हर्ष सभी संस्कृत के महान् कवि अपभ्रंश-काल मे पैदा हुए। यदि चौरासी सिद्धों में से कुछ की अपभ्रंश कृतियाँ नेपाल और तिब्बत मे सुरक्षित न रखी होतीं और जैन भण्डारों ने स्वयम्भू, पुष्पदन्त, कनकामर आदि को मरने दिया होता तो लोग विश्वास भी नहीं करते कि अपने काल में अपभ्रंश बड़ी समृद्ध भाषा रही।

अपभ्रंश-काल कान्यकुब्ज की प्रधानता का काल है। हम देखते रहे है कि देश के सबसे बड़े सांस्कृतिक और राजनीतिक केन्द्र की भाषा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार और साहित्य की भाषा होती आई है। चाहे पूर्वी भारत के सिद्धों की अपभ्रंश हो या मुल्तान के कवि अब्दुर रहमान की, अथवा वर्तमान हैदराबाद (मान्यखेत) के कवि की; सबकी भाषाओं में नाममात्र का अन्तर देखा जाता है। साहित्यिक अपभ्रंश की यह एकता इसी कारण हुई कि वह एक राजनीतिक-सांस्कृतिक केन्द्र-स्थान की भाषा थी और वह केन्द्र-स्थान कान्यकुब्ज (कन्नौज) और उसकी भूमि इस काल में थी। यही मौखरियों के, यही हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य की

राजधानी रही । भारत के सबसे अन्तिम विशाल साम्राज्य गुर्जर-प्रतिहार की राजधानी भी कन्नौज ही रहा । उनके उत्तराधिकारी गहड़वार यद्यपि गुर्जर-प्रतिहार-शासित सारी भूमि के स्वामी नहीं थे, तथापि दिल्ली के पास जमुना से लेकर पूर्व में बिहार मे गण्डक तक और हिमालय से लेकर विन्ध्य के पास तक की सम्पत्ति, जनसंख्या और दूसरी बातों मे बहुत महत्त्व रखने वाले भू-भाग के स्वामी थे । इसीलिए मुसलमानों के हाथ में भारत के जाने से पहले कन्नौज भारत का सबसे बड़ा राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र था, यह कहना अत्युक्ति नहीं है । साहित्यिक अपभ्रश कन्नौज की भूमि की भाषा थी, यह कहना बिल्कुल युक्तियुक्त है ।

इस अपभ्रंश को क्या नाम देना चाहिए ? मध्यदेश का केन्द्र कन्नौज था, इसलिए मध्यदेशीय अपभ्रश भी इसे कह सकते है । पर मध्यदेश में एक ही अपभ्रंश नही रही होगी । आजकल भी हम देखते है कि मध्यदेश (उत्तर प्रदेश) में भोजपुरी जैसी कुछ पूर्वी बोलियाँ बोली जाती है । फिर हिमालय के चरण से लेकर छत्तीसगढ़ तक अवधी है, उसके बाद उसी के समानांतर हिमालय से लेकर सागर-होशंगाबाद तक फैली एक भाषा है जिसमे ही कन्नौज आता है । इसके पश्चिम कौरवी या खड़ाबोली है जिसकी भाषा का उपनिषद्-काल तक हम महत्त्व देख चुके है । यह आजकल प्रायः सारी मेरठ और अम्बाला कमिश्नरियों की बोली हैं । हम और पश्चिम नहीं जाते, लेकिन यह देखना चाहते है कि कौरवी का जिस भाषा से सबसे अधिक घनिष्ठ संबध है, वह उसकी पूर्वी और दक्षिण-पड़ोसी भाषाएँ नहीं है, बल्कि पंजाबी है, अर्थात् पुराने सप्तसिंधु की भाषा की आजकल की प्रतिनिधि भाषा । कन्नौज की अपभ्रंश को क्या नाम देना चाहिए ? कुछ लोग उसे सौरसेनी प्राकृत की संतान होने से इसे सौरसेनी अपभ्रंश भाषा कहते हैं जो गलत नहीं है । लेकिन हमें यह देखना होगा कि पुराने सूरसेन जनपद तक ही यह भाषा सीमित नहीं थी आज भी 'ब्रजभाषा' नाम से एक संकुचित अर्थ हमारे सामने आता है । वस्तुतः एक डेढ़ जिले छोड़ ब्रजभाषा सारे रुहेलखंड, सारी आगरा कमिश्नरी, मेरठ कमिश्नरी के भी एक डेढ़ जिले, भरतपुर-धौलपुर के जिलों, सारे बुन्देलखंड (मध्य-भारत, मध्यदेश और विन्ध्य प्रदेश में बँटे) की एक ही भाषा है जिसमें उतना ही स्थानीय अन्तर है जितना कि अवधी, भोजपुरी या मैथिली की भिन्न-भिन्न बोलियों में कान्यकुब्ज पुराने दक्षिण पंचाल में पड़ता था । उत्तर पंचाल आजकल का रुहेलखण्ड है । दक्षिण पंचाल में कौरवी से दक्षिण गंगा-यमुना के बीच का वह सभी भाग है जिसके पूर्व में अवधी आ जाती है । इस दृष्टि से देखने पर हम उस अपभ्रंश को पंचाली अपभ्रंश कह सकते हैं, यद्यपि यह नाम किसी ने उसे नहीं दिया । जान पड़ता है, साहित्यिक अपभ्रंश को मध्यदेशीय या अन्तर्वेदी अपभ्रंश कहते थे । मुसलमानों के आने तक यही अन्तर्वेदीय अपभ्रंश हमारे यहाँ की सर्वमान्य अन्तर्प्रान्तीय भाषा थी,

अर्थात् पालि और प्राकृत के बाद इसका भाग्य जगा था । इसी भागमान राज्य-राज्येश्वरी की उत्तराधिकारिणी ब्रज और उसकी जुड़वॉ बहने है । ब्रज से पहले इस भाषा में की हुई कविता को ग्वालेरी भाषा का कहा जाता था । ग्वालेरी आज बुन्दुली कही जाती है । ग्वालेरी के स्थान पर ब्रज का नाम कृष्ण-भक्तों ने चलाना शुरू किया और वह चल भी गया । नाम से कुछ नहीं होता है । पूर्वी और पश्चिमी पंजाबी में काफी अन्तर हैं, लेकिन उसके कारण पंजाबी में कोई समस्या नहीं खड़ी होती । इसी तरह ब्रज कहिये, ग्वालेरी कहिये, बुन्देली कहिये या पंचाली, सभी एक ही भाषा हैं ।

स्थानीय अन्तर को बहुत बढा-चढा कर नहीं दिखाना चाहिए । अस्तु, अपभ्रंश-काल में भी तथाकथित ब्रज या ठीक से कहने में मध्यदेशीया अपभ्रंश का प्रमुख स्थान था । बीच में मुसलमानों के प्रताप के कारण दब जाने पर जब तुगलकों के पतन के बाद ग्वालियर में एक शक्तिशाली हिन्दू राजवंश कायम हुआ, तो छूटे सूत्र के छोर को उसने फिर पकड़ा । फिर वहाँ अपनी भाषा के साहित्य को संरक्षण मिला, संगीतज्ञों और कलाकारो को आश्रय मिला और ग्वालियर कुछ दिनों के लिए एक बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र बन गया जिसके कारण ही अपभ्रंश के बाद वाली उसी मध्यदेश की कविता को ग्वालेरी कहा जाने लगा और जिसे कृष्ण-भक्तों ने जबर्दस्ती ब्रज को चौरासी कोश में सीमित करने की कोशिश की ।

* * * * *

साहित्यिक अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रज, मध्यदेशीया या ग्वालेरी अभी भाषा के तौर पर नष्ट नहीं हुई थीं, अपभ्रंश-काल बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ था, उसका सन्धि-काल ईसा की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध था । मुसलमानों ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाना नहीं चाहा, हालाँकि सात सौ वर्षो तक का उसका इतिहास और प्रतापी गहड़वार वंश का राजधानी होना उन्हें इस पर विचार करने के लिए जरूर जोर देता रहा होगा । दिल्ली-विजय दो सौ वर्ष पहले से ही लाहौर मुस्लिम भारत की राजधानी रह चुका था और जिस दिल्ली के पिथौरा को मुसलमानों ने हराया था, वह भी कम शक्तिशाली नहीं था, न उसकी राजधानी दिल्ली इतनी नगण्य थी । गोरी और उसके उत्तराधिकारी लाहौर को एक छोर पर समझकर राजधानी को केन्द्र की ओर ले जाना चाहते थे । लेकिन, कन्नौज तक वह जाने के पक्ष में नहीं थे । शायद इसमें पूर्व की ओर गहड़वारों की ओर से होता विरोध भी कारण रहा हो । जो भी हो, अब ऐतिहासिक काल की राजधानियों पाटलिपुत्र और कान्यकुब्ज के बाद दिल्ली का भाग्य खुला । कुरुभूमि ने इतिहास में अपने अस्तित्व को फिर से स्थापित किया । मुस्लिम शासक अँग्रेजों की तरह ही अपनी भाषा को प्रधानता देना चाहते थे । वह यवनों-शकों की तरह भारत की संस्कृति के सामने आत्म-समर्पण करने वाले नहीं थे, बल्कि उससे आत्म-समर्पण कराना

चाहते थे। ऐसी स्थिति में वह न यहाँ की भाषा और साहित्य को, न यहाँ की विद्या और इतिहास को महत्त्व प्रदान कर सकते थे। पहले तीन मुस्लिम राजवंश तुर्क थे— गुलाम वंश कई तुर्की कबीलों का भानमती का कुनबा था। खिलजी और तुगलक तुर्कों के कबीले थे। तुर्कों के मध्य-एसिया में आने के पहले वहाँ की बोली पारसी थी। तुर्क शताब्दियों से वहाँ बस गये थे, इसलिए पारसी को भी उन्होंने कुछ हद तक अपनाया। अपनाने में दिक्कत भी नहीं थी, क्योंकि पारसी-भाषी लोग पहले ही मुसलमान हो चुके थे। भारत में आने वाले तुर्क दु-भाषी थे -अपनी तुर्की भी बोलते थे और पारसी भी। यहाँ आकर तुर्की को सरकार-दरबार की भाषा बनाना उन्होंने पसन्द नहीं किया जिसका रास्ता पहले ही लाहौर ने बन्द कर दिया था।

फारसी सरकार-दरबार की भाषा मानी गई, लेकिन दिल्ली के आस-पास अर्थात् कुरुदेश के लोगों से शासकों को हर वक्त काम पड़ता था। इसीलिए कौरवी को बिल्कुल उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। अगर तुर्क मध्य-एसिया में रहते दुभाषी हो गये थे, तो अब उन्हें तुर्की का मोह छोडकर फिर दुभाषी बनना पड़ा यह दूसरी भाषा दिल्ली के आस-पास की कौरवी (खड़ीबोली) हुई। कौरवी का भाग्य इस तरह पूरी तौर से नहीं जगा, क्योंकि सरकार-दरबार में फारसी की कदर थी। जबानी काम के लिए जरूर अब कौरवी के लिए रास्ता खुल गया। दिल्लीवासी बड़े-बड़े शासक और सेनापति बन कर भारत के भिन्न-भिन्न भागों में गये, वह कौरवी भाषा को बोलचाल के काम के लिए साथ ले गये। धीरे-धीरे मध्यदेशीया (कन्नौज) भाषा का स्थान कौरवी ने लिया और वह अन्तर्प्रान्तीय भाषा बन गई। उसके पक्ष में शासक वर्ग ही नहीं रहा, बल्कि साधारण लोग भी, जो अपने प्रान्तों की सीमा के बाहर पैर रखते थे, इसे अपनाने लगे। हो नहीं सकता था कि मुस्लिम शासकों के साथ अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए वह कौरवी को स्वीकार करते और अपने सांस्कृतिक कामों के लिए मध्यदेशीया—ग्वालेरी या ब्रज—को। यह सम्मान कौरवी को मिला। इस बड़भागिनी के दिनों के लौटने का अभी यह आरम्भ था।

मुस्लिम शासन का स्थान अँग्रेजी शासन ने लिया; उसने भी बोलचाल के तौर पर कौरवी के महत्त्व को माना, लेकिन हिन्दुओं से ज्यादा खतरा होने के डर से कौरवी के उस रूप या शैली को पसन्द नहीं किया जिसको आज हम हिन्दी कहते हैं। उन्होंने उसके उस रूप को प्रोत्साहन देना चाहा जिसे विदेशी मुस्लिम शासकों ने अपनी आसानी के लिए अपने ज्ञात शब्दों की भरमार करके बनाया था जिसे पहले हिन्दी या हिन्दवी कहा जाता था, लेकिन आज हम उर्दू के नाम से जानते हैं।

बारूद का आविष्कार

बारूद में शोरा, गन्धक और कोयला तीन चीजे मिली रहती है। शोरा और गन्धक का उल्लेख ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मे शेन नुङ् पेन चाऊ चिङ् में मि शेन नुङ् (ओषधि निघट्ठ) में मिलता है। कोयले का ईंधन के तौर पर उपयोग उससे भी पहले होता रहा' है—हाँ, लकड़ी के कोयले का। शोरा मे आग लगाने का ढंग सबसे पहले ताउ हुङ्-चिङ् (ईसवी पाँचवीं शताब्दी के अन्त) ने बतलाया। आग लगाने पर इससे नीली ज्वाला निकले, तो उसे शुद्ध शोरा मानते थे। लेकिन तीनों तत्त्वो को मिला कर बारूद बनाने का आविष्कार उससे तीन या चार शताब्दी बाद ही हो सका।

यह आकस्मिक आविष्कार था। कीमिया बनाने वाले हर तरह का तजुर्बा किया करते थे। उनका उद्देश्य सोना बनाना या मृतसंजीवनी तैयार करना था। छठी शताब्दी के कीमियागर सुन जु-म्याउ ने शोरा, गन्धक तथा चाउ त्सिओ जू बबूल का बीज मिला कर जो चीज तैयार की, वह बारूद थी। नवीं शताब्दी के आरम्भ के कीमियागर चुङ् सु-जु ने शोरा गन्धक मे मा तोउ लिङ् (आरिस्तलोचिया देबिलिस) मिला कर आग लगाई और वह बारूद की तरह जलने लगी।

कीमियागर शुद्ध शोरा और गंधक नहीं इस्तेमाल करते थे, इसलिए उनकी बारूद उतनी ताकतवर नहीं होती थी। लेकिन, युद्ध के लिए नवीं सदी के बाद जब उसे इस्तेमाल करने का ख्याल आया, तो शुद्ध तत्त्वों को मिला कर अधिक शक्तिशाली बारूद बनाई जाने लगी। ६७० ई० में फेन ई-शेङ् और यो ई-फाङ् ने हुवो चियान (अग्निवाण) पहले-पहल बनाया। वाण के फल के पास बारूद रख कर उसमें आग लगा कर छोड़ा जाता था जो धीरे-धीरे जल कर भड़क उठता था। ११वीं सदी में सुङ्०-राजधानी काइ फेङ् में एक बड़ा बारूद-खाना स्थापित किया गया जहाँ बारूद बनाई जाती थी। १०४० ई० में लिखी गई युद्ध-विज्ञान की पुस्तक 'वु चिङ् चुङ्' में सैनिक बारूद के तीनों मूल तत्त्वों का उल्लेख है--शोरा,गन्धक और लकड़ी के कोयला। इसके अतिरिक्त संखिया और अस्फाल्ट के भी मिलाने की बात बतलाई गई है।

लोहे की तोप—जैसे-जैसे गंधक और शोरा अधिक शुद्ध और स्फटिक के रूप में तैयार होने लगे, वैसे-वैसे बारूद की शक्ति बढ़ती गई। १२वीं-१३वीं सदी में किन्वंश का हवाङ्-हो-उपत्यका में शासन था। दक्षिण में सुङ्-वंश की हुकूमत थी। दोनों में संघर्ष हुआ। उस वक्त आग लगाने के लिए बारूद का

उपयोग किया गया। जो लोह-तोप इस समय बनाई गई, वह वस्तुतः दो खोलों वाला बारूद भरा बम था। १२५७ ई० की सुङ्०-सरकारी सूचना से मालूम होता है कि काङ्-लिङ् (हू-पे प्रदेश में) एक महीने में दो हजार 'लोह-तोपे' बनाई जा सकती थी।

११७२ ई०मे चेन पुयेङ ने एक दूसरा नली वाला हथियार बनाया जिसका नाम हुवो-चियाङ् था। यह बन्दूक और तोप की तरफ बढ़ने का पहला कदम था। नली के लिए बाँस इस्तेमाल करते थे जिसका अर्थ है कि वह एक ही बार छोड़ा जा सकता था। वह वस्तुतः ज्वालाक्षेपक यंत्र था। १२५६ ई० में तू हुवो-चियाङ् त्वरित-अग्निनलिका का आविष्कार हुआ जिसमे बारूद के साथ ककड-पत्थर भी डाले जाते थे। इसके छूटते समय तोप जैसी आवाज होती थी। बाँस की नली की जगह काँसे का या लोहे की नली लगाना उसे तोप-बन्दूक मे परिणत करना था जिसका आरंभ तेरहवीं-चौदहवीं सदी में हुआ। बड़े आकार की हुवो चुन् अग्नि-बन्दूक में पत्थर या लोहे की गोलियाँ डाली जाती थी।

खेल-तमाशे के लिए बारूद का इस्तेमाल सातवीं से तेरहवीं सदी तक होता रहा। अरब सौदागर चीन के प्रधान नगरों में व्यापार के लिए पहुँचते थे। वही इसे अपने देश में ले गये और शोरा को ईरानी 'चीनी बर्फ' कहते थे। उसी का अनुवाद अरबी में 'तल्गस-सीन' था। अरब चिकित्सक भी शोरा को इस्तेमाल करते थे।

अरब तेरहवीं सदी के आरम्भ में आतिशबाजी के तौर पर बारूद को चीन से ले गये। वस्तुतः अरबों द्वारा ही चीन से बारूद का ज्ञान अरब और पश्चिम के देशों में गया। मंगोल इसे ले जाने में प्रथम नहीं थे। पर, जहाँ तक शक्तिशाली बारूदी हथियारों का सम्बन्ध है, उसे यूरोप वालों ने ही बनाया।

परिशिष्ट ५

स्रोत ग्रंथ

१. अबुलफजल—आईन अकबरी, अँग्रेजी अनुवाद ब्लाकमेन (जेरेट, कलकत्ता, १८९१ ई०)

२. "—अकबरनामा "बेवरिज (कलकत्ता १८९७-१९०७ ई०)

३. इनायतुल्ला इलाही—तकमील-अकबरनामा, अनुवादक बेवरिज (?)

४. बदायूँनी—मुन्तखबुत्—तवारीख "रैंकिग (लो)

५. निजामुद्दीन अहमद—तबकात-अकबरी

६. हिन्दूशाह फरिश्ता—तारीख-फरिश्ता "(ब्रिग)

७. असदबेग—बकाया (वाकया)

८. नूरुल्हक—जब्दतुत्-तवारीख

९. अहमद आदि—तारीख-अलफी (सहस्त्राब्दी इतिहास)

१०. फैजी सरहिंदी—अकबरनामा

११. मुहम्मद अमीन—अन्फउल्-अखबार

१२. अहमद यादगार—तारीख-सलातीने-अफगना

१३. बायजीद सुल्तान—तारीख-हुमायूँ

१४. जौहर—तारीखुल्-वाकयात (तारीख हुमायूँ)

१५. अली रईस— भारत अफगानिस्तान आदि में भ्रमण (अनुवादक ए० बाम्बेरी, १८९९ ई०)

१६. फैजी—वाकयात

१७. जहाँगीर—तुजुक-जहाँगीरी (रोजर, लन्दन १९०९)

१८. कामगार गैरत—मआसिर-जहाँगीरी

१९. गुलबदन बेगम—हुमायूँनामा

२०. अज्ञात—दबिस्तानुल्-मजाहिब

यूरोपियन लेखक

२१. मोनसेरत—कमन्तेरियस

२२. "—रेलाजम एकबर

२३. पेरुश्ची—इन्फार्मेशन देल रेजो ये स्तातो देल ग्राम रे दि मोगोर

२४. बरतोली—मिशन अलग्रान मोगोर देल पाद्रे रिदाल्फो अकविवा

२५. दुजारिक—इस्तवार दे शोज प्ली मेमोराब्ल..........
२६. देसोसा—ओरियान्त कंकितादो आ येसु ख्रिस्तो.....दा प्राविंसिया दे गोआ
२७ मेक्लेगन—दि जेस्विट मिशन टु दि इम्पेरर अकबर (जे० ए० एस० बी०, १८६६ ई०)
२८ गोल्दी—दि फर्स्ट क्रिश्चियन मिशन टु दि ग्रेट मोगल (डब्लिन, १८६७ ई०)
२६. फिच राल्फ—(यात्रा हेक्ल्येट) प्रिंसिपल नेविगेशन्स
३०. परचज—हिज पिलग्रिमेज आर रिलेशन्स आफ दि वर्ल्ड (हेक्ल्येट)
३१. टेरी—वायेज टु ईस्ट इण्डिया (लन्दन, १६५५ ई०)
३२. टामस रो—दि एम्बेसी टु दि कोर्ट आफ ग्रेट मोगल (हेक्ल्वेट सोसायटी, १८६६ ई०)
३३. डिलेट—दि एम्पेरियो मग्नी मोगोलिस.........(इंडियन एंटिकेरी, १६१४ नवम्बर)
३४. हरबर्ट, टामस—सम यर्स ट्रेवल.........
३५. मेनरिक.........ला मिशन्स.........
३६. मन्देलस्लो—वायज एण्ड ट्रेवल्स..........
३७. बेर्नियर—ट्रेवल्स इन दि मोगल इम्पायर (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६१४ ई०)
३८. मनुची, निकोला—स्तोरिया दी मोगोर (लन्दन, १६०७-८ ई०)
३६. ग्लेडविन, फ्रांसिस—दि हिस्ट्री आफ हिन्दुस्तान............(कलकत्ता, १७८८ ई०)
४०. मोदी, जे०—दि पारसीज ऐट दि कोर्ट आफ अकबर...........(बम्बई १६०३ ई०)
४१. लतीफ, सैयद मुहम्मद—आगरा.........(कलकत्ता, १८६६ ई०)

अन्य ग्रन्थ

४२. अबुलफजल—रुकआत (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
४३. फैजी—नलदमन (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १६३० ई०)
४४. आजाद, शमशुलउल्मा मुहम्मद हुसेन—दरबार-अकबरी (लाहौर)
४५. हरिहर निवास द्विवेदी—मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियर, १६५५ ई०)
४६. राहुल सांकृत्यायन—मध्य एसिया का इतिहास, २ जिल्द (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५६ ई०)

परिशिष्ट ६

समकालीन चित्र

१. ब्रिटिश म्यूजियम—हस्तलेख १८८०१ (पर्शियन हस्तलेख सूचिपत्र पृष्ठ ७७८—अकबर) बच्चा सलीम के साथ। ८२४७० अकबर सिंहासन पर, आयु ६० के करीब।

२. इंडिया आफिस लाइब्रेरी—जान्सन कलेक्शन संग्रह (जिल्द १८ में) तरुण अकबर के दो चित्र। वही जिल्द ५७ में ५३ व्यक्ति-चित्र हैं जिनमें अबुलफजल, बीरबल, मानसिंह आदि चित्रित हैं।

३. ऑक्सफोर्ड बोलडियन लाइब्रेरी—अतिरिक्त १७३, अंक १० और ११ में अकबर के दो वयस्क चित्र।

४. कुमारस्वामी—इंडियन ड्राइंग II, २५ में अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ के चित्र।

५. विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता संग्रह—१६६,१६८,१२०४ में अकबर के तीन चित्र, १०६५ में जोधाबाई के साथ अकबर। १६५ नम्बर वाले चित्र में अकबर के नवरत्नों के चित्र।